प्रकाशकीय

प्रस्तुत प्रकाशन प्राकृत भाषा प्रचार समिति के प्रकाशन विभाग का छट्ठा प्रकाशन है। इसके पूर्व सुबोध प्राकृत व्याकरण भाग १ २, और ३– सुबोध प्राकृत संग्रह, ४–पाइय रयणावली भाग १ ला और पाँचवा पाइय रयणावली भाग २ रा इस प्रकार पांच प्रकाशन प्राकृत भाषा प्रेमियो के कर–कमलो में अर्पित किये जा चुके है।

छट्ठे प्रकाशन के लिये जैन जगत् के देदीप्यमान भास्कर कलिकाल-सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र के सुप्रसिद्ध "प्राकृत व्याकरण" को इसलिये पसन्द किया गया कि प्राकृत भाषा के उच्चतर अभ्यास में इस ग्रन्थरत्न की अतीव उपयोगिता है। इसका विधिवत् अध्ययन कर लेने पर अध्येता प्राकृत भाषा के सभी अवान्तर विकल्पो से परिचित होकर तत्तत्साहित्यकाननो मे स्वच्छन्द संचार कर सकता है।

व्याकरण भाषाका विधान होता है, विधान के बिना अनुशासन की व्यवस्था बन नही सकती, इसीलिये विधायक अपनी विधानसहिता को सर्वांगीण बनाने का प्रयत्न करता है, ताकि अनुशासन की व्यापकता सार्वत्रिक हो।

आचार्य हेमचन्द्र सफल विधान-शास्त्री थे, उन्होने अपने शब्दानुशासन की रचना तत्कालीन आर्ष और लोक भाषा के गभीर अध्ययन के साथ उपलब्ध व्याकरणो को सामने रख कर की, इसी से यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ सर्वांगीण सुन्दर और सभी के लिये उपयोगी बन सका है।

यद्यपि इस व्याकरण के अनेक सस्करण देश और देश के बाहर भी निकल चुके हैं, तथापि सामान्य छात्रो के लिये उपयोगी सस्करण की आवश्यकता रह ही जाती थी इसी लिये प्राकृत भाषा प्रचार समिति के सदुपदेशक श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण सघ के महामहिम आचार्यसम्राट् जैन धर्म दिवाकर पूज्य श्री १००८श्री आनन्द ऋषिजी म के परामर्श से समिति

ने प्रस्तुत व्याकरण के छात्र-सस्करण को तैयार करने का निश्चय करके सूरत से प्रकाशित सस्करण तथा अन्य कई सस्करणो को सामने रख कर उपयोगी सस्करण तैयार कराया है। इसमें छात्रो के अभ्यास की सुविधा के लिये अष्टाध्यायी क्रम से स्वतत्र सूत्रपाठ भी दिये गये है, तथैव प्राकृत भाषा की महत्ता और उपयोगिता पर प्रकाश डालने के लिये गौरवपूर्ण विशिष्ट भूमिका भी भाषाशात्र के महान् पण्डित डॉ० इन्द्रचन्द्रजी शास्त्री एम् ए पी एच् डी द्वारा लिखा कर इस सस्करण को सागोपाग तैयार कराया गया है। शास्त्रीजी का प्राकृत भाषा प्रचार समिति के लिये यह महान् सहयोग है। समिति इसके लिये शास्त्रीजी का हार्दिक अभिनन्दन करती है, तथैव उपयोग में लाये गये सभी संस्करणो के प्रकाशको का हृदय से आभारी है।

महाराजश्री के जयपुर चातुर्मास (स २०२१) मे यह लेखन कार्य सपन्न हुवा था इस ग्रन्थ के महत्त्व को समझ कर वहाँ के सुप्रसिद्ध धर्म-परायण सुश्रावक श्री पूनमचन्दजी हर्षचन्दजी बडेर ने प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में १०००रु का आर्थिक आश्रय देकर इस प्रकाशन के भार को हल्का कर दिया।

माननीय बडेरजी अपने समाज में लब्धप्रतिष्ठ व्यक्ति है, आप सरल स्वभाव के उदार सज्जन पुरुष है। धार्मिक सेवाएँ आपके अन्त करण की एक सहज वृत्ति के रूप में होती है। सन्त-समागम के आप सदैव अभिलाषी रहते है। शिक्षा-क्षेत्र में भी आपकी अच्छी अभिरुचि है।

सुश्रावक बडेरजी को इस उदारतापूर्ण सहयोग के लिये साभार धन्यवाद प्रदान करते है।

इस प्रकार यह छट्ठा प्रकाशन, पाठको के पास पहुँच रहा है छात्र, अध्यापक तथा अन्य सभी जिज्ञासु इस संस्करण से पर्याप्त लाभ उठाकर हमारे उत्साह को वर्द्धमान करेगे, ऐसी शुभ कामना रखते हैं।

बदरीनारायण शुक्ल

मंत्री—प्राकृत भाषा प्रचार समिति, पायर्डी,

प्रस्तावना

क– प्राकृत भाषा की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि–

भारत के विभिन्न स्थानो पर प्राचीन सभ्यताओ के अवशेष मिल रहे हैं। उनसे पता चलता है कि वैदिक आर्यों के आगमन से पहले भी यहाँ कोई विकसित सभ्यता विद्यमान थी, इतिहासकार उसका द्रविड, सुमेर आदि सभ्यताओ के साथ सामजस्य करने का प्रयत्न कर रहे हैं। हम उस चर्चा में नही जाना चाहते।

उन अवशेषो में भाषा एव लिपि की दृष्टि से कुछ संकेत मिले है। किन्तु अभी तक भाषा शास्त्र के अध्ययन में उनका प्रवेश नही हुआ है। इस दृष्टि से वैदिक साहित्य को सर्व प्रथम स्थान दिया जाता है।

प्रत्येक सास्कृतिक तत्त्व की दो अवस्थाएँ होती हैं। प्रथम अवस्था मे उपयोगिता की प्रधानता रहती है। वर्ग विशेष तात्कालिक आवश्यकता के अनुसार तत्त्व विशेष को अपनाता है। द्वितीय अवस्था मे वह तत्त्व आवश्यकता की वस्तु न रह कर शोभा की वस्तु बन जाता हैं। वर्ग विशेष उसके प्रदर्शन के द्वारा अपनी अस्मिता अथवा अहकार का पोषण करने लगता हैं।

उदाहरण के रूप में युद्धप्रिय क्षत्रिय जाति ने आत्म रक्षा के लिए खड्ग रखना प्रारभ किया। किन्तु कालान्तर में वह शोभा की वस्तु बन गया और खतरा न होने पर भी उसे लटकाये रखना गर्व की वस्तु समझा जाने लगा। उत्सव एव सामाजिक मिलन के समय सैनिक वेष भूषा धारण करने का रिवाज हो गया। छत्र का उपयोग धूप एव वर्षा से बचने के

लिए तथा चमर का उपयोग मक्खिया उडाने के लिए प्रारंभ हो गया। किन्तु दोनो वस्तुए राजकीय वैभव का अग बन गई, और आवश्यकता न होने पर भी उनका प्रयोग होने लगा।

भाषा के सम्बन्ध में भी यही बात है। वैदिक भाषा तत्कालीन आर्यों की स्वभाविक बोली थी, उनका कवि-हृदय विभिन्न प्राकृतिक परिवर्तनो को देखकर उच्छ्वसित हुआ और अपनी स्वभाविक बोली में प्रकट होने लगा। उतरवर्ती आर्यों ने उस बोली को अपनी प्रतिष्ठा का प्रतिक बना लिया और सामयिक आवश्यकता न होने पर भी उसके संरक्षण में कटि-बद्ध हो गये।

किन्तु साधारण व्यवहार की भाषा स्वाभाविक प्रवाह के अनुसार परिवर्तित होती रही। उसने पाली एव विभिन्न प्राकृतो का रूप ले लिया। वे भी क्रमश. परम्परा विशेष के साथ सम्बद्ध हो कर प्रतिष्ठा का प्रतीक बनती गई। भगवान् बुद्धने अपना उपदेश पाली में दिया और भगवान् महावीर ने अर्ध मागधी में। दोनो महापुरुषो का उद्देश था कि जनसाधा-रण उनकी भाषा को समझ सके। किन्तु समय बीतने पर वे जनसाधारण की भाषा न रही। फिर भी धर्म-भाषा के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त करती रही। उनका सरक्षण धर्म का अंग बन गया।

समय बीतने पर वैदिक समाज में भाषा के दो रूप हो गये। एक ओर धार्मिक अनुष्ठानो की भाषा थी, जिसे वैदिक अथवा सस्कृत का पूर्व रूप कहा जा सकता है। दूसरी ओर साधारण व्यवहार की भाषा थी। जिसमें प्राकृत के तत्त्व बढते जा रहे थे। वाल्मीकि को संस्कृत का आदि कवि माना जाता है इसका अर्थ है उस से पहले सस्कृत में छन्द रचना वेदो तक सीमित थी। लोक-भाषा में जो कविताएँ बनायी जाती थी उन्हे साहित्य में स्थान नही मिलता था। वाल्मीकि ने सर्व प्रथम लौकिक घटना को लेकर सस्कृत में अनुष्टुप छन्द की रचना की। तभी से सस्कृत वैदिक

क्रिया काण्ड के घेरे से बाहर निकल आयी ।

पाणीनि ने वैदिक और लौकिक सस्कृत के भेद को ध्यान में रखते हुए 'अष्टाध्यायी' की रचना की । जो प्रयोग वैदिक साहित्य तक सीमित थे उनके लिए "छन्दसि" लिख दिया और जो केवल बोलचाल की भाषा तक सीमित थे उन के लिए "भाषायाम्" । फिर भी यह मानना होगा कि पाणीनि का मुख्य क्षेत्र लोक भाषा थी ।

ऊपर बताया गया है कि ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन परम्पराओने अपनी धर्म भाषा के रूप में क्रमश वैदिक, पाली तथा अर्ध-मागधी को अपनाया पाणीनि के पश्चात् वैदिक भाषा ने संस्कृत का रूप ले लिया । ईसा की प्रथम दो शताब्दियो में जैन तथा बौद्ध परम्पराएँ सस्कृत को घृणा की दृष्टि से देखती रही । किसी आचार्य ने सस्कृत में लिखने का संकल्प किया तो उसे दण्डित किया गया । ई पू द्वितीय शताब्दी में महायान् का विकास हुआ और बौद्ध परम्परा में सस्कृत का प्रवेश हो गया । इस शाखा के प्रथम आचार्य नागार्जुन थे । वे शून्यवाद के सस्थापक माने जाते हैं । उन्होंने आगमिक आधारो को छोड कर तर्क के बल पर अपनी मान्यताओ का प्रतिपादन किया । इसके साथ ही धार्मिक जगत् में क्रान्ति आ गई । वैदिक एव जैन परम्पराओ ने भी शास्त्रो की दुहाई छोड कर युक्तिवाद का आश्रय लिया । तीनो सम्प्रदायओ में परस्पर शास्त्रार्थ होने लगे और खण्डन-मण्डन-विषयक ग्रन्थ लिखे जाने लगे । दिङ्नाग (४०० ई.) के पश्चात् यह परिवर्तन और भी उग्र रूप में दिखाई देता है । दूसरे शब्दों में यह कहा जायगा कि श्रद्धा-युग का स्थान तर्क-युग ने ले लिया ।

उस समय भाषा की दृष्टि से धार्मिक परम्पराओ के दो रूप हो गये । एक ओर शास्त्रार्थ एवं पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए तीनों परम्पराओ ने संस्कृत को अपना लिया, दूसरी ओर प्रत्येक परम्परा ने अपने-शास्त्रो और

उनकी भाषा को महत्त्व देना प्रारम्भ किया। ब्राह्मण परम्परा मे वेदों का, बौद्ध परम्परा में पिटकों का और जैन परम्परा में आगमो का अध्ययन चलता रहा।

ब्राह्मण परम्परा वेदो को अनादि अथवा ईश्वरीय ज्ञान मानने लगी। फलस्वरूप उसमें नयी रचनाएँ बन्द हो गईं। इसके स्थान पर नवीन रचनाओं का माध्यम सस्कृत बन गई। इसके विपरीत बौद्ध एवं जैन– परम्पराएं अपने आगमो को अनादि अथवा ईश्वरीय रचना नहीं मानती थी। उनका कथन था कि आदि–प्रवर्तक के उपदेश होने पर भी उनका सकलन उत्तर–वर्ती आचार्यों ने किया। कई आगम ऐसे भी माने जाते है, जिनकी रचना आचार्यों ने स्वतत्र रूप से की। फलस्वरूप आगमो की भाषा एक-सी नहीं रही। उत्तरवर्ती काल में जब प्राकृत ने लोक–भाषा का रूप ले लिया तो उसमे काव्य, नाटक आदि लौकिक रचनाएँ भी होने लगी। काल–क्रम से ज्यों–ज्यो भाषा का रूप बदला, इन प्राकृतों का रूप भी बदलता गया। क्षेत्रीय विशेषताओ के कारण भी उनके अनेक भेद हो गये। उन सबका दिग्दर्शन आगे कराया जायगा।

हेमचन्द्राचार्य ११ सौ ईस्वी में हुए। उस समय तक प्राकृत मे आगमो के अतिरिक्त विशाल साहित्य की रचना हो चुकी थी। धार्मिक प्रकरणो के अतिरिक्त बहुत से काव्य भी रचे गये। हेमचन्द्र ने सस्कृत का व्याकरण पूरा करके प्राकृत साहित्य के लिए भी व्याकरण रचने का निश्चय किया।

उनके सामने यह प्रश्न आया कि प्राकृत में होने वाले परिवर्तनो का मूल किसे रखा जाय ? उदाहरण स्वरूप प्राकृत में पश्चात् के स्थान 'पच्छा' हो जाता है। वैदिक भाषा में भी अनेक स्थानो पर वैदिक व्यजन का लोप हो जाता है और पश्चात् के स्थान पर पच्छा का प्रयोग मिलता है। भाषा के स्वभाविक विकास की दृष्टि से देखा जाय तो प्राकृत "पच्छा,, का मूल वैदिक 'पश्चात्' को ही मानना चाहिए। किन्तु उसका प्रयोग समाप्त हो

जाने के कारण हेमचन्द्र ने 'पश्चात्,, को ही "पच्छा,, का मूल रखा।

प्राकृत व्याकरण के प्रथम सूत्र 'अथ प्राकृतम्' की व्याख्या करते हुए उन्होने लिखा है—'प्रकृति हि सस्कृत, तत् आगत प्राकृत अर्थात् सस्कृत प्रकृति है और उस से आयी हुई भाषा का नाम प्राकृत है। यह व्युत्पत्ति सीखने की दृष्टि से की गई है। वह भाषा के स्वाभाविक विकास को प्रकट नही करती।

इसी प्रकार हेमचन्द्र ने धातुओं के जो आदेश किये हैं उनमें केवल अर्थ का ध्यान रखा है। उदाहरण के रूप में 'गम्' धातु का 'हिण्ड, और 'भ्रम, आदेश किया है। वास्तव में देखा जाय तो 'हिण्ड, और 'भ्रम, स्वतन्त्र धातु हैं। अगले पृष्ठो में हम भाषा के क्रमिक विकास को बताते हुए प्राकृत का निरूपण करेगे।

भारतीय आर्य भाषाएँ

भारतीय सभ्यता का आदिकाल-जातियों का सम्मिश्रण

भारतीय सभ्यता एव सस्कृति का इतिहास प्रारभ करते समय साधारणतया हमारे सामने वेद और तत्कालीन आर्य आते हैं। किन्तु यह एकाङ्गी दृष्टिकोण है। भारत की प्राचीन सभ्यता का निर्माण अनेक जातियो ने मिलकर किया है। उनके रहन-सहन एव सस्कृति में तो परस्पर भेद था ही, भाषाएँ भी ऐसी बोलते थें जिनका आपस में कोई पारिवारिक सम्बन्ध नही था। उन जातियो में मुख्य हैं— आर्य और द्रविड। इन दोनो के समन्वय से भारतीय सभ्यता का जन्म हुआ।

द्रविणो का वर्तमान स्थान दक्षिण, विशेषतया कावेरी का तट है। उनमें अनेक अवान्तर जातियाँ थी जो सभ्यता के विभिन्न स्वरो को प्रकट करती हैं। एक ओर कन्नड, तमिल, तेलगू, मलयालम आदि बोलने वाले

है। सभी कुल रात्रि में रक्षा के लिए कुत्ते पालते थे। सम्भवतया इसी आधार पर कुत्ते का यह नाम हो गया।

इनके अतिरिक्त तिब्बत-चीनी बश की कुछ शाखाएँ भी भारत में आई और द्रविणो तथा आर्यों में समा गई।

वैदिक सभ्यता का जन्म और प्रसार :—

आर्यो का भारत में प्रवेश उत्तर-पश्चिम की ओर से हुआ। पूर्व की ओर बढते हुए उन्होंने पञ्जाब में प्रवेश किया और गगा तक पहुँच गए। ऋग्वेद में जिस 'धार्मिक-स्थिति' का वर्णन है और उसमें जो साहित्यिक अभिव्यक्ति है, उससे प्रतीत होता है कि उस समय आर्य, काबुल और स्वात से लेकर गगा तक फैले हुए थे। उस समय आर्य सभ्यता के दो केन्द्र थे-१ गान्धार अर्थात् पेशावर और २ ब्रह्मावर्त, सरस्वती नदी के तट पर (पटियाला, अम्बाला और कर्नाल)। वैदिक धर्म को भारतीय रूप इस पूर्वी केन्द्र से प्राप्त हुआ। यहाँ पर आर्यों के एक वर्ग ने अग्नि, इन्द्र तथा ऋग्वेद के दूसरे देवताओ की पूजा चलाई। सम्भवतया यहीं पर वैदिक धर्म ने काल क्रम से यज्ञ का रूप धारण किया। यही पर सर्व प्रथम सार्वभौम राजा की कल्पना और स्थापना हुई। ऋग्वेद के सूक्तो का अधिकतर भाग पञ्जाब में रचा गया। किन्तु यह भी सम्भव है कि उसका कुछ भाग आर्यों के साथ बाहर से आया हो। ऋग्वेद एव अवस्ता में छन्द एव विषयो का साम्य इस तथ्य का समर्थन करता है। जिन आर्यों ने वैदिक धर्म की स्थापना की तथा वैदिक साहित्य एव क्रियाकाण्ड को व्यवथित किया, प्रतीत होता है उन्होंने मध्यदेश (गगा के उतरी दोआब) को अपना घर बनाया। यही पर चार वर्णो का विभाजन हुआ और ब्राह्मण धर्म एव सस्कृति की नीव पडी (१००० ई पू से ६०० ई पू तक)। मध्यदेश-वासी आर्य भारत के अत्यन्त समृद्ध प्रदेश पर अधिकार, उच्च सस्कृति और सगठन के कारण क्रमश उत्तर भारत मे सर्वत्र फैल गये। यहाँ के बुद्धि-जीवी ब्राह्मण और उच्च-वर्गीय-क्षत्रियो ने आस-पास के क्षेत्रो पर अपना वर्चस्व स्थापित

कर लिया। धीरे-धीरे मध्यदेश की सभ्यता पूरब मे वाराणसी और मिथिला तक तथा दक्षिण एव पश्चिम मे फैल गई।

यह कहना ठीक नही है कि सभी आर्य धार्मिक एव सांस्कृतिक दृष्टि से वैदिक थे। ऋग्वेद में इस बात के प्रमाण है कि वैदिक आर्यों के युद्ध अनार्यों के साथ ही नही किन्तु उन आर्यों के साथ भी हुए जिनकी मान्यताएँ एवं जीवन पद्धति उनसे भिन्न थी। पूर्व में गंगा के तट पर अवैदिक आर्य पहले से बसे हुए थे, कालान्तर में वैदिक आर्यों ने अपने प्रधान केन्द्र मध्यदेश से आकर उनपर प्रभुत्व कर लिया। इसी प्रकार पूर्वी पञ्जाब के वैदिक आर्यों से विचार-भेद रखने वाले आर्य पश्चिमी तथा दक्षिण-पश्चिमी पञ्जाब में बसे हुए थे। पूर्वी आर्य मध्य देशीय आर्यों से धर्म, रीति-रिवाज तथा अन्य बहुत सी बातो में भिन्न थे।

द्रविड और कौल आदि आर्येतर जातियाँ वैदिक एव अवैदिक दोनो प्रकार के आर्यों से लडी और अन्त में उनसे सन्धि करती गईं। बहुत सी आर्येतर जातियाँ दीर्घकाल तक आर्य सभ्यता एव भाषा से अप्रभावित रही। उत्तरी-भारत तथा पञ्जाब एव उत्तरी गगाघाटी में मध्य काल तक द्रविड एव कौल भाषा बोलने वालो का आस्तित्व भी इस तथ्य को प्रकट करता है। अफगानिस्तान में ब्राहुई बोलने वालो का आस्तित्व भी इस का ज्वलन्त उदाहरण है। साहित्य एव उत्तर-भारतीय स्थानो के नाम भी इसके समर्थक हैं। उदाहरण के रूप में गौड जाति ने, जो कि मध्य-भारत की द्रविड-भाषी जाति थी, उक्त प्रान्त में गोंडा जिले को अपना नाम दिया। किन्तु आर्यो के यहाँ बस जाने पर बहुसख्यक होने पर भी वे आर्यों में समा गए। वे श्रमिक के रूप मे आर्यों की भूमि जोतने लगे अथवा स्वतन्त्र रूप से कृषि, शिल्प आदि धन्धे करने लगे। आर्य लोग उन्हे, विश तथा शूद्र के रूप में घृणा की दृष्टि से देखते थे। द्रविड सभ्यता में आर्यो से हीन न थे। वे चतुर कृषक एव पटु-कलाकार थें। मनुष्य एव जगत् के विषय में अपने दार्शनिक विचार भी रखने थे। उनका आर्यों पर प्रभाव

पडा। पञ्जाव में इन दो जातियो का परस्पर सपर्क, सघर्ष के रूप मे हुआ। गगाघाटी मे वह अपेक्षाकृत निकट एव मित्रता पूर्ण हो गया और अन्त में एक सुलह के रूप में बदल गया। इसमें आर्यों की विजय हुई, क्योकि उत्तरी भारत में उनकी भापा ने द्राविड़ को अभिभूत कर लिया और कालक्रम से दक्षिण मे भी वह सास्कृतिक विचारो की अभिव्यक्ति का सार्वजनिक साधन वन गई। भापा–विजय के कारण आर्य जिस भापा के सम्पर्क में आये उस पर अपना रग चढाते गये। उत्तर-भारत मे यह समन्वय अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

प्राचीन वैदिक काल को लिया जाय तो भारतीय आर्यो की विचार-धारा, सामाजिक सस्थाएँ, वौद्धिक दृष्टिकोण, सक्षेप में समस्त सस्कृति उत्तर–भारतीय हिंदुओ की अपेक्षा हेलेन, इटालियन, सेल्ट, जर्मन तथा स्लाव लोगो से अधिक मिलती है। इन लोगो में हिंदू विचार–धारा के पनपने से वहुत पहले द्रविड भापाएँ, धर्म एव भाषा पर प्रभाव जमा चुकी थी। उदाहरण के रूप मे ऋग्वेद में पुनर्जन्म के सिद्धान्त का कोई सकेत नही मिलता, किन्तु भारतीय धर्मों में इसका जितना महत्व है उतना और किसी सिद्धान्त का नही हैं। सम्भवतया यह आर्येतर प्रभाव है। किन्तु इसने आर्यों में वहुत पहले स्थान प्राप्त कर लिया। जगत् के सम्वन्ध में भी कुछ विचार द्राविड हैं। द्रविड देवता, आर्यों के देवताओ में सम्मिलित हो गये, उनके गुण एव स्वभाव तथा नाम भी आर्य वना दिए गये। इस प्रकार के सगम से एक सयुक्त सस्कृति का प्रारभ हुआ। कालान्तर में उसीका नाम हिंदू–सस्कृति पडा।

इस प्रकार सास्कृतिक क्षेत्र मे द्रविड प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। वोलचाल की भापा में भी वह अवश्य रहा होगा। किन्तु साहित्यिक भाषा में वह नही दिखाई देता। ऋग्वेद की भापा द्रविड प्रभाव से मुक्त है। वह शुद्ध आर्य–भाषा है। पद–रचना, वाक्य–विन्यास, आन्तरिक तत्त्व, सघटन आदि सभी वातो में भारोपीय है, किन्तु ऋग्वेद की ध्वनियाँ द्रविड

प्रभाव से मुक्त नही रह सकी। इसी प्रकार बहुत से द्रविड शब्द भी वैदिक भाषा में आ गये, जो वस्तुएँ आर्यों को विदित नही थी उनके नाम द्रविड भाषा मे लिए गए। इतना ही नही विविध भावो को प्रकट करने के लिए भी नये शब्दो को लिया गया। उदाहरण के रूप मे नीचे कुछ शब्द दिये जाते हैं, जो सम्भवतया द्रविड है –

अणु = लघुत्तम भाग
अरणि = घिस कर आग जलाने वाली लकडी
कटुक = तेज।
कपि = बन्दर।
कर्मार = कारीगर।
कला = छोटा भाग।
कितव = धूर्त।
कुट = कुटी।
कुलारू = मुर्झाया हुआ, हथियारवाला।
कुण्ड = छेद।
नाना = विविध प्रकार के।
नील = नीला।
नीहार = बादल, बर्फ।
पुष्कर = कमल।
पुष्प = फूल।
वल्गु = सुन्दर।

इसी प्रकार पूजन, फल, बिज, बीन, मयूर, रात्रि, रूप आदि शब्द है।
ब्राह्मण ग्रन्थों में आर्येतर शब्द और भी बढ़ गये –

अटवी = जगल।
अजर्क = एक प्रकार का पुष्प।
आडम्बर = ढोल।
कुलाल = कुम्भकार।

इसी प्रकार कम्बल, तण्डुल, तिल, बल्ली, फल, मर्कट, वलक्ष, व्रीहि, वंश आदि हैं।

आर्यभाषा जैसे-जैसे समृद्ध होती गई, भावो को प्रकट करने वाले शब्द वाहर से आने वन्द हो गये। फिर भी पारिभाषिक शब्दो का आगमन चलता रहा। संस्कृत एवं अन्य प्राचीन भाषाओ में परिनिष्ठित एवं परितिष्ठित भावो को प्रकट करने के लिए सुविवानुसार द्रविड परिभाषाएँ अपनाई जाती रही।

प्राचीन आर्य भारती की जिन वोलियो को पश्चिमी जातियाँ वोलती थी एवं जिनका इरान के साथ प्रादेशिक सम्बन्ध भी बना रहा वे इरानी भापा से अधिक समानता रखती हैं। किन्तु आर्य जैसे-जैसे पूर्वकी ओर वढे अन्य भापाओ का सम्मिश्रण होता गया। आर्येतर जातियो ने वडी सख्या में आर्य भापाओ को अपनाया, और उसे अपने अनुकूल वनाने के लिए वहुत से परिवर्तन किये। इस प्रकार आर्य भापा शनैः शनै. वदलने लगी। ई. पू. १००० तक आर्य भापा ने उत्तरी-भारत में विहार तक अपना प्रभाव जमा लिया था। इसी भूमि को 'आर्यावर्त' या 'आर्य-भूमि' कहा गया। व्राह्मण साहित्य से प्रतीत होता है कि उस समय भी कुछ आर्य घुमक्कड थे। पूर्वी पञ्जाव तथा पश्चिमी दोआव के आर्य सजातीय आर्यों के पीछे-पीछे पूर्व की ओर वढे। उन्होने कुरु पाञ्चाल वाशस्, उशीनर, मत्स्य, शूरसेन, कोशल, काशी, तथा विदेह आदि शक्तिशाली राज्यो की स्थापना की। इनमें अन्तिम तीन पूर्व में हैं और शेप गगा के उत्तरी तट पर एव मध्य देश में। वुद्ध से पूर्व-कालीन (१०००-६५० ई पू.) व्राह्मणो में उनका निर्देश है।

भारत की प्राचीन परम्पराएँ, इतिहास एव वीर-गाथाएँ, कविता एव दर्शन, धर्म तथा समाज व्यवस्थाएं इन्ही राज्यो मे विकसित हुई। इन राज्यो की जनता वैदिक एव अवैदिक, आर्य एव आर्येतरो की मिश्रित तथा शुद्ध आर्येतर सभी प्रकार की थी। किन्तु भापा एव सस्कृति की दृष्टि से प्राय. वे सभी आर्य वन गये।

प्रभाव से मुक्त नही रह सकी। इसी प्रकार बहुत से द्रविड शब्द भी वैदिक भाषा में आ गये, जो वस्तुएँ आर्यों को विदित नही थीं उनके नाम द्रविड भाषा मे लिए गए। इतना ही नही विविध भावो को प्रकट करने के लिए भी नये शब्दो को लिया गया। उदाहरण के रूप मे नीचे कुछ शब्द दिये जाते है, जो सम्भवतया द्रविड है–

अणु = लघुत्तम भाग
अरणि = घिस कर आग जलाने वाली लकडी
कटुक = तेज।
कपि = बन्दर।
कर्मार = कारीगर।
कला = छोटा भाग।
कितव = धूर्त।
कुट = कुटी।
कुलारु = मुर्झाया हुआ, हथियारवाला।
कुण्ड = छेद।
नाना = विविध प्रकार के।
नील = नीला।
नीहार = बादल, बर्फ।
पुष्कर = कमल।
पुष्प = फूल।
वल्गु = सुन्दर।

इसी प्रकार पूजन, फल, बिज, बान, मयूर, रात्रि, रूप आदि शब्द है, ब्राह्मण ग्रन्थों में आर्येतर शब्द और भी बढ़ गये–

अटवी = जगल।
अंजर्क = एक प्रकार का पुष्प।
आडम्बर = ढोल।
कुलाल = कुम्भकार।

इसी प्रकार कम्बल, तण्डुल, तिल, वल्ली, फल, मर्कट, वलक्ष, व्रीहि, दांस आदि है।

महाप्राण ऊष्मा नही होते। उन्ही वोलियों के प्रभाव के कारण ऋग्वेद की मूल भाखा को फैलने का अवसर नही मिला। परिणाम स्वरूप सस्कृत के समान ऋग्वेद में भी अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जहाँ पुरातन महाप्राण स्पर्श विद्यमान हैं, या पुन प्रतिष्ठित हो गये। वेद एव कई अन्य बोलियों में 'ड' का 'ल' हो गया परन्तु कुछ बोलियों में वह ज्यो का त्यो वना रहा। सस्कृत में भी 'ड' अपरिवर्तित है। प्राचीन आर्य भारती में बोलियो की विविधता अनेक दूसरे आधारो से भी सिद्ध होती है। सस्कृत में 'गुरू' शव्द मिलता है। पाली तथा प्राकृतो में 'गरू, रूप भी मिलता है। सस्कृत में वही 'गरीयान्, 'गरिष्ठ, आदि तद्धित प्रयोगों में उपलब्ध है। वैदिक तथा सस्कृत में 'पुरूष, शब्द मिलता है। इसका आर्य-भारती रूप 'पूर्ष, प्रतीत होता है, जो कि पू+वृष् से बना है। पाली में इसके 'पोंस, 'पुरिस, एवं 'पोरिस, रूप मिलते हैं। मागधी में 'पोलिश, मिलता है। बहुत से सुबन्त एव तिङन्त पद एवं धातु तथा प्रतिपदिक वेद तथा संस्कृत में नही मिलते किन्तु मध्य आर्य भारती में मिलते हैं। ये सभी इसी तथ्य को प्रकट करते हैं कि वैदिक काल में वे रूप उन वोलियो में प्रचलित थे, जिन्हे वेंद अथवा सस्कृत के रूप में साहित्यिक भाषा बनने का अवसर नही मिला। वैदिक और सस्कृत में स्यात् (सम्भावना लिङ्) रूप मिलता है। इसी से मिलता हुआ लैटिन रूप सिएत (Siet), सित् (Sit) है। किन्तु पाली का 'अस्स, रूप 'अस्यात्, का परिवर्तन है। इसमें मूल धातु का 'अ, न केवल विद्यमान है, प्रत्युत प्रवल हो गया है। वेंद और सस्कृत में 'ददाति, 'दत्त, आदि रूपो में 'दा, धातु का द्वित्व मिलता है। किन्तु प्राकृत और आधुनिक भाषाओ में दाति, दित, देता आदि एक 'द, वाले रूप मिलते हैं।

वैदिक सस्कृत और प्राकृत में परस्पर एव एक ही वैदिक भाषा में भी इस प्रकार की विविधताएँ यह प्रकट करती हैं कि प्रा० आ० भा० में ऋग्वेद की मूल भाषा के अतिरिक्त अनेक वोलियाँ थी। किन्तु इन विविधताओ का क्षेत्र बडा नही है। इसीलिए वैदिक और सस्कृत को समस्त भाषाओ-

प्राचीन आर्य-भारती अथवा वैदिक-भाषा :-

हमारे पास उपर्युक्त प्राचीन बोलियो का प्रतिनिधित्व करने वाली एकमात्र ऋग्वेद की भाषा है। मूल रूप मे यह किसी एक बोली पर आश्रित रही होगी, किन्तु धीरे-धीरे इसमे दूसरी बोलियो के तत्त्व भी आ गये। विशेषरूप से अपने अंतिम काल में जब ऋग्वेद भारतीय आर्यो की सर्वमान्य सम्पत्ति बन गया, इस प्रकार का मिश्रण स्वाभाविक था। जिस बोली पर वैदिक भाषा आधारित थी, वह सम्भवतया पश्चिम की भाषा थी। उस समय आर्य पञ्जाब से आगे नही बढ़े थे। इस बोली की कुछ विशेषताएँ नीचे लिखी हैं :—

१- इसमें केवल 'र' का उच्चारण था, 'ल' का नही था।

२- स्वर मध्यवर्ती महाप्राण स्पर्श अर्थात् घ, झ, ढ, ध, भ, ऊष्मा अर्थात् 'ह' बोले जाते थे।

३- मध्यवर्ती 'ड' और 'ढ' का अस्पर्श अर्थात् ळ और ळ्ह हो गया है।

'ल' के स्थान मे 'र' का प्रयोग इरानी भाषा में भी पाया जाता है, जो कि वैदिक भाषा के पडोस में विद्यमान थी। संस्कृत इसी प्रकार एक मिश्रित भाषा है। इसका आधार भी प्राचीन आर्य-भारती की विविध बोलियाँ है जो कि ई. पू ५०० तक गान्धार या पेशावर से लेकर मध्यदेश तक प्रचलित थी। प्राचीन ध्वनियो को लिया जाय तो वैदिक भाषा पञ्जाब मे अधिक मिलती है। सस्कृत तथा प्राकृत मे बहुत से ऐसे रूप विद्यमान हैं जिससे पता चलता है कि वैदिक काल में ऋग्वेद की आधार भूत बोली के अतिरिक्त दूसरी अनेक बोलियाँ प्रचलित थी। उदाहरण के रूप में मध्य भारत की बोलियो में 'र' और 'ल' दोनो ध्वनियाँ थी। पूर्वी बोली में केवल 'ल' था। उदाहरण-वैदिक श्रीर (समृद्ध), अवेस्ता। श्रीर के सस्कृत मे श्रीर और श्रील दोनो प्रयोग मिलते हैं। ऋग्वेद के अर्वाचीन अश में भी दोनो प्रयोग मिलते हैं। सस्कृत तथा बहुत सी प्राकृतो मे घोष एव अघोष

किन्तु स्वरो की दृष्टि से वैदिक भाषा अपूर्ण है। भारोपीय अ, एँ, ओं, तथा आ, ए भा-इरानी काल में कवल अ और आ रह गये। भारत में आने पर आर्य, कौल और द्राविड भापाओ के सम्पर्क मे आये। उनकी ध्वनियो ने आर्य भारती को प्रभावित किया। उसकी उत्तर-कालीन ध्वनि-व्यवस्था के इतिहास में यह प्रभाव महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। प्राचीन एव सरल स्वर-व्यवस्था जो वैदिक भापा की विशेपता है, वह उत्तरकाल में भी चलती रही और साधारण परिवर्तन के साथ आज भी विद्यमान है। कौल और द्राविड भाषाओ में भी इसी प्रकार सरल स्वर-व्यवस्था है। आर्य भारती के महाप्राणो से कन्नड, तेलगू, सन्थाल आदि सभी भापाएँ, जो इसके सम्पर्क में आई, प्रभावित हुई। वेद की साहित्यिक भाषा में (Spirant) का प्रयोग जिह्वामूलीय और उपध्मानीय को छोडकर नही है। तालव्य (Spirant) 'च', 'श' में वदल गया है। और ग, ञ में। किन्तु वैदिक भाषा की पडोसी होने पर भी अवेस्ता मे इसका वाहुल्य से प्रयोग है जो उल्लेखनीय है। सम्भवतया द्राविड और कौल प्रभाव के कारण वैदिक में इनका प्रयोग कम हो गया। इसी प्रकार ट, ड, ळ, ल आदि मूर्धन्य ध्वनियाँ भी द्रविड से प्रा० आ० भा० में आ गईं।

वैदिक शब्द रूप :-

वैदिक भापा की रूप व्यवस्था अत्यन्त समृद्ध है। इसमें पुरातन भारोपीय का प्रभाव स्पष्ट है। वैदिक भाषा की अभिव्यञ्जना-शक्ति और सौन्दर्य का बहुत वडा आधार उसकी प्रत्यय पद्धति है। किन्तु प्रत्यय जोडते समय धातुओ और प्रातिपदिको में जो परिवर्तन होते हैं, उनके कारण यह अत्यन्त कठिन हो गई है। यह परिवर्तन भारोपीय भाषा में भी विद्यमान था। प्रा० आ० भा० (वैदिक) की तुलना में प्राचीन द्राविड अत्यन्त सरल प्रतीत होती है। प्राचीन द्राविड के धातु रूप, नाम धातु, दो काल, सामान्य भूत और सामान्य भविष्यत् आदि सरलताएँ किसी अन्य भाषा में नही पाई जाती। फिर भी द्रविड भापा सभी भावो को प्रकट करने में

प्रा० आ० (प्राचीन आर्य भाषाओ) का प्रतिनिधि मान लिया गया। अवस्ता और होमर की ग्रीक के साथ वैदिक भाषा का जो आश्चर्यजनक साम्य है, वह भी इसे प्रा० आ० भारती होने का अधिकार देता है। इसी प्रकार मध्य आर्य भारती और नवीन आर्य भारती के साथ तुलना करने पर यही मूल भाषा सिद्ध होती है। यद्यपि यह पूरी तरह नही कहा जा सकता कि म० आ० भा० (मध्य आर्य भारती) और न० आ० भा० (नव्य आर्य भारती) का विकास ऋग्वेद की भाषा या सस्कृत से ही हुआ है, फिर भी इनका मूल रूप ढूडने के लिए ऋग्वेद की भाषा महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। उत्तरकालीन स्वतत्र विकास को छोड दिया जाय तो उनकी ध्वनियाँ और पद ऋग्वेद से मिलते हैं।

इसलिए आर्य भारती के उत्तर-कालीन एव विविध विकास को जानने के लिए ऋग्वेद की भाषा ही मूल श्रोत है। भाषा-विज्ञान के, अनुसार यह भारोपीय परिवार की 'शतम' शाखा के अन्तर्गत है। अर्थात् इस शाखा में क, ख, ग, घ, आदि कण्ठ्य व्यञ्जन, तालव्य, विवृत और ऊष्मा अर्थात् श्, ज्, आदि के रूप मे वदल जाते हैं। यूरोप की भारोपीय भाषा में यह तालूकरण वाल्टो-स्लाविक और अल्वानियन भाषा में ही होता है। ग्रीक, इटालियन, सोल्टिक तथा जर्मन आदि अन्य यूरोपीय प्राचीन भाषाओ में यह परिवर्तन नही होता। किन्तु पिछले एक या डेढ हजार वर्षो से इन भाषाओ के भी नवीन रूपो में यह परिवर्तन पाया जाता है। सौ के लिए प्राचीन भारोपीय शब्द 'कत' है। संस्कृत में यह 'शत, हो गया। अवस्ता में 'सतम्, लिथ्वानियन मे 'शितस्, और प्राचीन स्लाव में 'सूतो'। किन्तु ग्रीक आदि में 'क, विद्यमान है।

ऋग्वेद का ध्वनि-समूह:-

भारोपीय व्यञ्जन वैदिक भाषा मे अव भी विद्यमान हैं। विशेष रूप से महाप्राण व्यञ्जन जितने इसमें हैं, अन्य किसी भाषा मे नही हैं।

किन्तु स्वरो की दृष्टि से वैदिक भाषा अपूर्ण है। भारोपीय अ, एँ, ओं, तथा आ, ए भा–इरानी काल में कवल अ और आ रह गये। भारत में आने पर आर्य, कौल और द्राविड भाषाओं के सम्पर्क में आये। उनकी ध्वनियो ने आर्य भारती को प्रभावित किया। उसकी उत्तर-कालीन ध्वनि-व्यवस्था के इतिहास में यह प्रभाव महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। प्राचीन एव सरल स्वर-व्यवस्था जो वैदिक भाषा की विशेषता है, वह उत्तरकाल में भी चलती रही और साधारण परिवर्तन के साथ आज भी विद्यमान है। कौल और द्राविड भाषाओ में भी इसी प्रकार सरल स्वर–व्यवस्था है। आर्य भारती के महाप्राणो से कन्नड, तेलगू, सन्थाल आदि सभी भाषाएँ, जो इसके सम्पर्क में आई, प्रभावित हुईं। वेद की साहित्यिक भाषा में (Spirant) का प्रयोग जिह्वामूलीय और उपध्मानीय को छोडकर नही है। तालव्य (Spirant) 'च', 'श' में बदल गया है। और ज, ञ में। किन्तु वैदिक भाषा की पडोसी होने पर भी अवेस्ता में इसका बाहुल्य से प्रयोग है जो उल्लेखनीय है। सम्भवतया द्राविड और कौल प्रभाव के कारण वैदिक में इनका प्रयोग कम हो गया। इसी प्रकार ट, ड, ळ, ल आदि मूर्धन्य ध्वनियाँ भी द्रविड से प्रा० आ० भा० में आ गईं।

वैदिक शब्द रूप :–

वैदिक भाषा की रूप व्यवस्था अत्यन्त समृद्ध है। इसमें पुरातन भारोपीय का प्रभाव स्पष्ट है। वैदिक भाषा की अभिव्यञ्जना-शक्ति और सौन्दर्य का बहुत बडा आधार उसकी प्रत्यय पद्धति है। किन्तु प्रत्यय जोडते समय धातुओ और प्रातिपदिको में जो परिवर्तन होते हैं, उनके कारण यह अत्यन्त कठिन हो गई है। यह परिवर्तन भारोपीय भाषा में भी विद्यमान था। प्रा० आ० भा० (वैदिक) की तुलना में प्राचीन द्राविड अत्यन्त सरल प्रतीत होती है। प्राचीन द्राविड के धातु रूप, नाम धातु, दो काल, सामान्य भूत और सामान्य भविष्यत् आदि सरलताएँ किसी अन्य भाषा में नही पाई जाती। फिर भी द्रविड भाषा सभी भावो को प्रकट करने में

समर्थ है। कौल भाषा के भी शब्द--रूप, धातु--रूप, प्रत्यय तथा उपसर्ग अत्यन्त सरल हैं। किन्तु रूपो की वहुलता एव विविधता के कारण यह दुरूह प्रतीत होती है। जब आर्य भाषा बोलने वालो का द्रविड और कौल भाषा बोलने वालो के साथ सम्पर्क हुआ एव द्रविडो तथा कौलों ने आर्य भारती बोलना प्रारंभ किया, उसी से नवीन आर्य भारती का जन्म हुआ। इस प्रकार वैदिक-व्याकरण नवीन बोलियो में आकर सरल बन गया।

ब्राह्मण साहित्य की भाषा

ऋग्वेद की समकालीन होने पर भी अन्य आर्य भाषाएँ कालक्रम से बदलती गईं। किन्तु ऋग्वेद की भाषा स्थिर बनी रही। परिणामस्वरूप शनैः शनैः वह अप्रयुक्त होती गई। किन्तु राष्ट्रीय साहित्य का मूल आधार होने के कारण उसका अध्ययन---अध्यापन चलता रहा। क्रमशः एक नई साहित्यिक भाषा, जो कि वैदिक का ही सरल रूप थी, अस्तित्व में आ गई। वैदिक भाषा बोलने वालो के वशजो ने तथा वैदिक धर्म के अन्य अनुयायियो ने उस नई भाषा को अपना लिया। ब्राह्मण साहित्य की सस्कृत उन आर्यों तथा आर्यीभूत लोगो की भाषा है जो वैदिक धर्म को मानते थे और पञ्जाब से लेकर विहार तक फैले हुए थें। गान्धार, केकय, मद्र तथा मध्यदेश के कुरु एव पाञ्चालो के समान पञ्जाब के आर्य भी वैदिक धर्म के अनुयायी थे। ई० पू० १००० आर्य भाषा विहार तक फैल गई। पूर्व में बसी हुई बहुत आर्येतर जातियाँ भी उसे बोलने लगी। किन्तु उनके उच्चारण में स्वाभाविक भेद था। सुदूर पश्चिम और सुदूर पूर्व में प्राकृत प्रभाव के कारण यह भेद उत्तरोत्तर बढता गया। फिर भी दोनो की भाषाएँ एक दूसरे के समझ में आती थी। सुदूर पश्चिम एव कुरुपाञ्चाल से सम्बद्ध होने पर भी ब्राह्मणो की भाषा सभी के लिए परस्पर व्यवहार का माध्यम बनी हुई थी। आर्यों मे परस्पर विरोधी दो वर्ग थे। कुछ वैदिक धर्म को मानते थे और कुछ नही मानते थे। फिर भी यह निश्चित है कि बुद्ध से पहले चार सौ वर्षो तक उत्तरी भारत एक ही सस्कृति को

मानता था। 'शतपथ्' ब्राह्मण (७०० ई० पू०) मे पञ्जाव द्वारा उत्तरी विहार पर राज्य स्थापन का वर्णन है। माधव विदेघ की कथा (श० ब्रा० १-४-१) इसी वात को प्रकट करती है। एक 'ब्राह्मण, के अनुसार पश्चिमी पञ्जाव या उत्तर के लोग मध्यदेश वालो की अपेक्षा अधिक शुद्ध आर्य भाषा बोलते थें। अशोक के उत्तर–पश्चिमी शिलालेखो से इस वात का समर्थन होता है। उन की भाषा, जहाँ तक ध्वनियों का सम्वन्ध है सस्कृत के अधिक निकट थी। जव कि उसी सम्राट् के पूर्वी शिलालेख सस्कृत से वहुत भिन्न हैं। मध्यदेशीय विद्वानो ने उत्तर–पश्चिमी तथा व्रात्यों की भाषा के विषय में जो मन्तव्य प्रकट किये हैं, उनके अध्ययन से उपर्युक्त वात स्पष्ट हो जाती है। उत्तर मे विद्वत्तापूर्ण भाषा वोली जाती थी। लोग, भाषा सीखने के लिए वहाँ जाते थे। अथवा वहाँ से आने वाले की उपासना करते थें। कहा जाता है कि पाणिनि जव पाटलीपुत्र पहुँचे तो उन्हे वहुत अधिक सम्मान प्राप्त हुआ।

इसमें कोई सन्देह नही कि आर्य–वोलियाँ पूर्व में उत्तरोत्तर मिश्रित होती गई, जव कि पश्चिम मे अपेक्षाकृत शुद्ध बनी रही। पूर्व का यह प्रभाव यजुर्वेद, अथर्ववेद और ब्राह्मणो में ही नही, ऋग्वेद मे भी दृष्टि–गोचर होता है। नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं–

विकट (वैंकट)	विकृत के स्थानपर
म्लेच्छ	म्लेक्ष के स्थानपर
दण्ड	दन्ड ,, ,,
कुरु	कृणु ,, ,,
काट कर्त	गर्त ,, ,,
आढ्य	आर्द्ध्य ऋध् से
नापित	स्ना, पा नहापित

इसी प्रकार 'र, के समीप होने पर मूर्धीकरण, सयुक्त व्यञ्जनो का विलय तथा 'ल, का प्रयोग पूर्वी बोलियो का प्रभाव है। 'स, के स्थान में 'श, का परिवर्तन भी इसी प्रभाव को प्रकट करता है।

प्राकृत का जन्म

पूर्वी भारत मे वैदिक परम्परा का विकास वुद्ध से कुछ शताब्दियो पूर्व हुआ। तब तक वह वाराणसी और उत्तर–विहार से आगे नही पहुँची थी। पश्चिमी आर्यों को दक्षिण विहार का पता तक न था। ऋग्वेद मे केवल एक बार (३-१३-१४) कीकट, मगध का निर्देश आता है। यास्क ने उसे अनार्यों का देश वताया है (६-३२)। उत्तरकालीन सस्कृत मे कीकट और मगध को एक बताया गया है। अथर्ववेद में अग और मगध को सुदूरवर्ती देश वताते हुए कहा है कि वहाँ विचित्र प्रकार के लोग बसते है। आर्यों ने मच्छरो को वहाँ भेज दिया (५-२२-१४) शतपथ् ब्राह्मण मे पूर्वके निवासियो को असुर्य (राक्षसी) प्रकृति का वताया है (१३-८-१-५)। ब्राह्मण प्राच्यो को अपना शत्रु मानते थे। मागध भी उन्ही में गिने जाते थे। इसका अर्थ है कि ब्राह्मण–काल मे मगध, ब्राह्मण या वैदिक परिधि मे वाहर था। यास्क के समय भी वही स्थिति थी। किन्तु महावीर और बुद्ध के समय मगध आर्यों का शक्तिशाली राज्य वन गया। इस का अर्थ है, उस समय तक आर्य मगध में पहुँच चुके थे, और वहाँ आर्य–भाषा का प्रसार हो चुका था। यास्क और वुद्ध में लगभग दो शताब्दियो का अन्तर है। यह सारा परिवर्तन इसी अन्तराल में हुआ। सम्भव है ये आर्य पश्चिमी आर्यों से भिन्न रहे हो और वैदिक सभ्यता का प्रचार पश्चिमी आर्यों तक सीमित हो। भाषा, धर्म, रीति–रिवाज और रहन–सहन में भी ये आर्य पश्चिमी–आर्यों से, कम से कम ब्राह्मण–काल तक भिन्न रहे होगे। यह कहना कठिन है कि इन दोनो का मानव–वश (Rale) भी परस्पर भिन्न था, किन्तु भाषा और सस्कृति मे अवश्य भेद था। सम्भवतया पूर्वी आर्य मिश्रित जाति के रहे हो। यह भी हो सकता है कि यह आर्यो का

वह ममूह हो जो आर्येतर सस्कृति के प्रभाव में आ गया। फिर भी उसने अपनी भाषा नही छोडी। इन्ही को वैदिक परम्परा में 'वर्णशंकर, वताया गया है।

वैदिक परम्परा के आर्य इन अवैदिक आर्यों को 'व्रात्य, कहते थे। इम का अर्थ है व्रतधारी घुमक्कड सन्यासियो को मानने वाले। वे लोग यज्ञ, यागादि वैदिक-अनुष्ठान नही करते थे, इसलिए ब्राह्मणों द्वारा बहिष्कृत माने जाते थे। 'व्रात्य, का दूसरा अर्थ है वह व्यक्ति जिसका पिता क्षत्रिय और माता शूद्र हो। सम्भवतया आर्यों का जो दल पहले-पहल वहाँ पहुँचा वहाँ की स्त्रियो से विवाह करके वही वस गया, उसके लिए यह शब्द प्रयुक्त हुआ हो। प्राच्यो को वैदिक वर्ण--व्यवस्था में ले लिया जाता था किन्तु उन्हे शुद्धि के लिए यज्ञ करना पडता था। प्रात्यस्तोम मे उसी यज्ञ का निरूपण है। व्रात्यो का मुख्य निवास मगध था। उनके धर्म-गुरु सूत होते थे। सम्भवतया सूक्तो के ज्ञाता होने के कारण उनका यह नाम पडा। अर्थात् वे वैदिक सहिता ग्रथो को नही मानते थे किन्तु उन्हें फुटकर सूक्त कण्ठस्थ थे। उत्तरकालीन सस्कृत में भाट, चारण आदि स्तुतिपाठक भी सूत कहे गये और मगध के साथ सम्वन्ध होने के कारण 'मागध, शब्द सूत का पर्याय हो गया।

पूर्वी प्रदेशो में वौद्ध और जैन आदि अवैदिक परम्पराओ का जन्म हुआ। वे भी अपने महापुरुषो और सिद्धान्तो को सम्मान देने के लिए 'आर्य, शब्द का प्रयोग करने लगे। वौद्धो में चार सत्यो को 'आर्य-सत्य, कहा गया है। वैदिक ब्राह्मणो के आने से पहिले वहाँ कई धार्मिक परम्प--राएँ प्रचलित थी। मध्यदेश एव उत्तर-पश्चिमी प्रदेशो से आई हुई वैदिक परम्परा वहाँ की जनता को नही रुची। अथर्ववेद के व्रात्यस्तोम में (XV) व्रात्य-साधुओ को देवत्व का रूप दिया गया है। उनकी विचित्र वेशभूषा एवं अनुयायियो का वर्णन पढकर उलझन सी पैदा हो जाती है उससे पता चलता है कि व्रात्यो में शैव--परम्परा का प्रचार था। यह परम्परा वैदिक

शैव परम्परा से सर्वथा भिन्न थी। व्रात्यस्तोत्र में व्रात्यो की अत्यधिक प्रशसा की गई है, उससे पता चलता है कि या तो उसमें स्वय व्रात्यो का हाथ रहा है या वैदिक आर्य व्रात्यो की साधना से प्रभावित हो गये। अथर्ववेद के सूक्त स्वयं साधना से भरे हैं। वैदिक साहित्य मे अन्यत्र भी साधना तथा साधक का अलौकिक वर्णन करने वाले उद्धरण मिलते है।

साधारणतया व्रात्यो के प्रति ब्राह्मणो का रुख अनुकूल नहीं था। फिर भी उन्होने स्वीकार किया है कि व्रात्य, भाषा की दृष्टि से आर्य हैं। ताण्ड्य ब्राह्मण एव पञ्चविंश ब्राह्मण में व्रात्यो का वर्णन करते हुए कहा गया है–

"अदुरुक्तवाक्य दुरुक्तमाहु ---- अदीक्षिता दीक्षितां वाचं वदन्ति।"

अर्थात् जिस वाक्य को वोलने में कठिनाई नही है, उसे वोलने में कठिन बताते हैं। वे दीक्षित नही हैं फिर भी दीक्षितो की वाणी वोलते हैं। वेवर का मत है कि प्रथम वाक्य में प्राकृतभाषाओ की ओर सकेत है। उसी में सयुक्त व्यञ्जनो का विलय तथा अन्य परिवर्तन उच्चारण की सरलता के लिए होते हैं। यह मत नि सन्देह युक्तिसगत है। इस वाक्य मे हमें सर्वप्रथम प्राकृत के उच्चारण का सकेत मिलता है। शतपथ ब्राह्मण मे प्राच्यो को वेद–विरोधी असुर बताया है। वे युद्ध में 'हेलवो' 'हेलवो' चिल्लाने लगे और हार गये। पतञ्जलि ने इस शब्दको 'हेलय.' के रूप में दिया है, और उसे असुरो का उच्चारण बताया है। शुद्ध उच्चारण 'हे अरय' होना चाहिए, 'र' के स्थान में 'ल' का उच्चारण प्राच्यो की विशेषता है। मागधी उसी का एक रूप है। अशोक–कालीन भाषाओ पर विचार किया जाय तो प्रतीत होता है कि प्राकृत या मागधी का पूर्व में विकास बहुत पहले हो चुका था। सहगौरा का ताम्रलेख ब्राह्मी लिपि का प्राचीनतम लेख है। उसका समय ई० पू० चतुर्थ शताब्दी है। यह स्थान युक्त प्रान्त के गोरखपुर जिले में है और पूर्वी प्रदेश में गिना जाता है।

वहाँ 'भाण्डगलिनि' (भाण्डागारिनि), 'भाल' (भार), 'मथुला' (मथुरा) आदि रूपो में 'र' के स्थान पर 'ल, का उच्चारण है। ताण्ड्य ब्राह्मण के उल्लेख का भी यही आशय प्रतीत होता है। सयोग के सरलीकरण की वृत्तिका मध्यदेशीय एव उत्तर-देशीय आर्यों को ई० पू० आठवी शताब्दी में पता लग गया था।

इससे यह प्रतीत होता है कि आर्य भारती ने प्राकृत का रूप सर्व प्रथम प्राच्यो में ग्रहण किया। उनमें कौशल और मगध विशेषतया व्रात्य-आर्यों के प्रदेश उल्लेखनीय हैं। क्रमश. प्राकृत का उच्चारण पूर्व से पश्चिम की ओर बढता गया। किंतु शिलालेखो के अध्ययन से प्रतीत होता है कि पश्चिमी आर्यों ने पूर्व के इस प्रभाव को रोकने का बहुत प्रयत्न किया। अशोक के समय तक मध्य-देश एव उत्तर-पश्चिमी प्रान्तो की बोलियाँ भी प्राकृत के प्रभाव में आ गई और उनमे परिवर्तन होने लगा। किन्तु कुषा-नकाल तक 'श', 'ष', 'स', और 'र, सयोग का अस्तित्व बना रहा।

बुद्ध (ई० पू० ५००) से पहले आर्य भारती अपने द्वितीय रूप में पहुँच चुकी थी। कौशल और मगध की भाषा प्राचीन रूप को छोड चुकी थी। उसमें इतना परिवर्तन आ चका था कि एक स्वतत्र भाषा का स्थान ले सके। सहिता और ब्राह्मणो की भाषा को 'छन्दस्, कहा जाता था, बुद्ध के समय तक उसमें पर्याप्त परिवर्तन आ गया। ध्वनि और रूपो के अति-रिक्त प्राचीन शब्दो के स्थान पर नये शब्द आ गये, बहुत से शब्दो के अर्थ में परिवर्तन हो गया। आर्य-भारती के द्वितीय अर्थात् मध्ययुग में यह परिवर्तन और भी स्पष्ट प्रतीत होने लगा।

संस्कृत का जन्म :-

जब समस्त आर्यावर्त्त प्राकृत की ओर झुका, वैदिक ऋषियो के क्षेत्र ब्रह्मावर्त्त और मध्यदेश में भी उसका प्रभाव बढने लगा। उस समय वैदिक परम्पराओ की रक्षा एव अध्ययन-अध्यापन के लिए ऐसी भाषा का जन्म

हुआ जो वेदो तथा ब्राह्मणो की भाषा से यथासम्भव मिलती जुलती थी। यह स्वाभाविक था कि मध्य आर्यावर्त्त में भी जब जन-साधारण प्राकृत को अपनाने लगा तो अपने को शुद्ध आर्यों का रक्त मानने वाले ब्राह्मण तथा क्षत्रिय अपनी भाषा को शुद्ध रखने का प्रयत्न करते। इसी के फलस्वरूप साधारण बोलचाल मे सफलता न मिलने पर भी धार्मिक एव सामाजिक अनुष्ठानो में वे अपनी भाषा को सुरक्षित रख सके। उन लोगो पर प्राकृत का प्रभाव सबसे अन्त मे पडा। सामाजिक दृष्टि से भी वे अपने को आर्येतर एव मिश्रित जातियो से पृथक् रखने के लिए प्रयत्नशील रहे। उन जातियो में वैदिक विश, व्रात्य, द्रविड, किरात आदि प्रधान थे।

जहाँ तक ध्वनि का सम्बन्ध है, उत्तर-पश्चिम की भाषा वैदिक-भाषा के निकट तक थी। भौगोलिक दृष्टि से भी उत्तर-पश्चिमी प्रदेश आर्य-भाषा बोलने वालो का मुख्य केन्द्र रहा है। ब्राह्मण काल में मध्य-प्रदेश में ब्राह्मणो के लिए वहाँ का उच्चारण शास्त्रीय था। गान्धार आदि उत्तर-पश्चिम के स्थान विद्या के लिए प्रख्यात थे। उन दिनो तक्षशिला विद्या का विशाल केन्द्र था। ब्राह्मण तथा बौद्ध दोनो परम्पराएँ इस तथ्य को स्वीकार करती हैं। मध्य-देश तथा पूर्वी प्रदेशो के विद्यार्थी अध्ययन के लिए वहा जाया करते थे। ब्राह्मण-काल के अन्त में वैदिक परम्परा के अनुयायी क्षत्रियो एव ब्राह्मणो में एक नई बोली का जन्म होने लगा। यह बोली एक प्रकार से ब्राह्मण भाषा का ही नया रूप थी। उच्चवर्गीय क्षत्रियो तथा पुरोहितो की भाषा का यह मृदु परिस्कार था। इसी को सस्कृत कहा गया। जहाँ तक ध्वनि एव शब्द-परिवर्तन के नियमो का प्रश्न है इस भाषा ने वेद तथा ब्राह्मणो की भाषा का अनुसरण किया। केवल उसमें परिस्कार एव परिपक्वता लाने के कारण इसे 'सस्कृत, कहा गया। वैदिक भाषा पर आश्रित होने के कारण उत्तर-पूर्वी भाषा के साथ इसका घनिष्ठ साम्य था। प्रतीत होता है कि मध्यदेश में उच्च वर्ग की वही भाषा थी जो ई० पू० ७०० -६०० मे गान्धार में रही होगी। सस्कृत भाषा का जन्म भी इसी काल में हुआ। गान्धार से लेकर वाराणसी और पाटलीपुत्र तक

वैदिक परम्परा के अनुयायी इसे पढते और प्रयोग में लाते थे। पतञ्जलि (ई० पू० २००) ने इसे शिष्टों की– विशेप रूप से आर्यावर्त के ब्राह्मणो की– भाषा कहा है। ब्राह्मणो के अध्ययन क्रम में वैदिक–भाषा के अनन्तर इसे महत्त्वपूर्ण स्थान मिला। वे परिश्रम एव गम्भीरता के साथ इसका अध्ययन करने लगे। स्वाभाविक रूप से प्रयोंगो की शुद्धि के विषय मे मत-भेद होने लगे। ई० पू० ५०० में पाणिनि ने इस पर अष्टाध्यायी लिखी उपलब्ध सस्कृत व्याकरणो में यह प्राचीनतम एव प्रौढतम है। पाणिनि उत्तर–पश्चिम गान्धार के निवासी थे। उन्होने अपने व्याकरण में वैदिक भाषा का छन्दस् और वैदिकेतर का लौकिक या भापा–शब्द से निर्देश किया है। यह लौकिक या 'भापा, उत्तर की तत्कालीन वोली से मिलती–जुलती थी। क्रमश सस्कृत को भी अतिमानवी रूप मिल गया और इसे देव–भाषा कहा जाने लगा।

पाणिनी से पहले वैयाकरणो की कई परम्पराएँ थी। पाणिनि ने अष्टाध्यायी मे उन आचार्यों के मत प्रदर्शित किये हैं। व्यक्तिगत नामो के अतिरिक्त दो परम्पराएँ महत्त्वपूर्ण है। वे हैं उदीच्य और प्राच्य, उत्तर–पश्चिमी प्रदेशो मे प्रचलित भापा को उदीच्य कहा गया और पूर्वी प्रदेशो में प्रचलित भाषा को प्राच्य। यह विभाजन सरस्वती नदी के आधार पर किया गया था। उस के पश्चिम का प्रदेश उदीच्य कहलाता था और पूर्व का प्राच्य। काशिकाकार ने (ई० प० ७००) विदेह, अग, वग, मगध, यहाँ तक कि मध्य देशो के पाञ्चालो को भी प्राच्यों में गिना है। सुनीति-कुमार चटर्जी ने सरयू को सरस्वती माना है। वास्तव में यह स्वतत्र नदी थी। पूर्वी पञ्जाब और राजस्थान की सीमाओ पर इसके अवशेप मिल रहे हैं। हिसार जिले (पञ्जाब) का 'सरसा, नामक नगर इसी के तटपर वसा हुआ था। विकानेर जिले के सूरतगढ, रगमहल आदि स्थानों पर प्राचीन सभ्यता के अवशेष मिले हैं। उनसे प्रतीत होता है कि उस समय यह प्रदेश हरा–भरा रहा होगा। कुछ वस्तुएँ नदी तट को भी प्रकट करती हैं।

पाणिनि ने सस्कृत को स्थिर कर दिया, किन्तु उनके अपने समय में यह एक जीवित भाषा थी। वर्तमान हिन्दी के समान उच्चवर्ग इसका-प्रयोग करता था। इसमें प्रादेशिक विभिन्नताएँ भी थी। ऐसे स्थानीय शब्दो एवं मुहावरो का भी प्रयोग होता था जिन्हे साधारण नियम में लाना कठिन था। मध्यकाल के प्रारम्भ तक भारतीय जनता इसे समझती थी। पूर्व में भी जहाँ प्राकृतो का विकास हो चुका था, सर्वसाधारण कम से कम इसे समझता अवश्य था। प्राचीन रूपको मे उच्चवर्गीय क्षत्रिय एव ब्राह्मण सस्कृत बोलते हैं, निम्न-वर्ग एव स्त्रियाँ प्राकृत बोलती है। इससे एक ऐसी स्थिति का पता लगता है जो मध्यकाल के प्रारभ तक विद्यमान थी।

जो वैदिक आर्य पञ्जाब, मध्यदेश एव सम्भवतया पूर्वी भारत मे बसे वे स्थानीय प्रभाव के कारण विविध बोलिया बोलते थे। उनमें जो ऐतिहासिक इतिवृत्त, कहानियाँ अथवा गीत प्रचलित थे उन सबका संग्रह एव सम्पादन किया गया। इस सग्रह की भाषा परिष्कृत थी, वही सस्कृत के नाम से प्रचलित हुई। यही सग्रह रामायण, महाभारत और पुराणों का आधार बना। यद्यपि रामायण एक परिनिष्ठित महाकाव्य है, महाभारत और पुराणो के समान सग्रह नहीं है, फिर भी भाषा की दृष्टि से उसी कोटि मे आता है। इन सग्रहो मे शब्दो के ऐसे प्राचीन रूप मिलते हैं जो पाणिनि को सम्मत नही थे। सस्कृत के उत्तरकालीन वैयाकरणो ने उन रूपो को आर्ष प्रयोग के रूप मे स्वीकृत कर लिया। प्राचीन आर्य भारती का यह सस्कृतीकरण गुप्तकाल तक चलता रहा। कर्मकान्ड एवं धर्म-शास्त्र से सम्बन्ध रखने वाला साहित्य भी सस्कृत मे लिखा जाने लगा। इस प्रकार प्राचीन काल के समाप्त होते-होते सस्कृत साहित्य की नींव पड गई।

साहित्यिक भाषा के रूप मे सस्कृत का प्रसार भारत में सर्वत्र हो गया। पेशावर से लेकर बगाल एव मद्रास तक सस्कृत में साहित्य रचा जाने लगा। किन्तु इसके साथ-साथ प्रत्येक देश की स्थानीय बोली भी

चलती रही और वह उत्तरोत्तर बदलती गई। परिणामस्वरूप संस्कृत प्रादेशिक भाषाओ से दूर होती गई और स्वाभाविक व्यवहार की भाषा न रहकर कृत्रिम भाषा बन गई। इसके आधार पर प्राचीन आर्य-भारती की ध्वनि-व्यवस्था एव रूपो को जाना जा सकता है। सस्कृत व्याकरण इतना परिमिष्ठित हो गया कि भाषा का विकास रुक गया। फिर भी यह नही कहा जा सकता कि इसकी आत्मा भी अपरिवर्तित रही है। संस्कृत साहित्य उन विद्वानो की देन है, जो अपने दैनिक व्यवहार में विविध प्रादेशिक बोलियाँ बोलते थे। उत्तर-पश्चिम, मध्य-देश, पूर्वी भारत और दक्षिण सभी प्रदेशो के विद्वान् सस्कृत में लिखते थे। इस रूप में यह कम से कम पहले पिछले अढाई हजार वर्षों से साहित्य की भाषा है। उन लोगो की संस्कृत मे तत्त-त्कालीन एव तत्द्देशीय प्रभाव आना स्वाभाविक था। ई० पू० ५०० से लेकर आज तक इसकी शब्दावली, वाक्यविन्यास, मुहावरो आदि में बराबर परिवर्तन हो रहा है। कुछ साहित्यकारो ने इसे दुरूह एव कठिन बना दिया। लम्बे-लम्बे समास एव शब्दाडबर इसकी शोभा माने जाने लगे।

इसी पकार सस्कृत स्थानीय भापाओके प्रभाव से भी मुक्त न रह-सकी, प्राकृत के धातु एव रूप सस्कृत में उत्तरोत्तर बढने लगे। द्राविड, कोल, ग्रीक, फारसी आदि अन्य भापाओ के शब्द भी स्थानीय बोलियो के द्वारा सस्कृत में प्रविष्ट हो गयें। वाक्य रचना भी प्राकृत के समान होने लगी। भूतकाल के लिए तिङन्त के स्थान में कृदन्त का प्रयोग बढ गया। शब्दावली, वाक्य-विन्यास एव शैली से अच्छी तरह जाना जा सकता है कि यह महान् भापा कैसे विकसित हुई। आज-कल भी साधारण लेखको की रचनाओ में स्थानीय बोलियो के शब्द एव मुहावरे सरकृत मे सम्मिलित होते रहते है।

मध्यकाल मे आर्य-भारती पूर्णतया प्राकृत के समान हो गई। प्राचीन आर्य-भारती का प्रभाव केवल ध्वनि एव प्रत्ययो तक सीमित रह गया।

प्रतीत होता है कि सस्कृत ब्राह्मण परम्परा तथा पञ्जाब एव मध्यदेश के उच्चवर्गीय क्षत्रियो तक सीमित रही। ब्राह्मण प्रभाव की वृद्धि के साथ-साथ उसे भी पूर्व मे प्रतिष्ठा मिलने लगी। किन्तु बौद्ध और जैन-धर्मो ने अपने प्रचार के लिए जिस भाषा का उपयोग किया वह पूर्वी बोलियो पर आश्रित थी। पश्चिमी एव उत्तरी प्रदेशो मे भी उन्होने अपने धर्म प्रचार के लिए तत्तत्स्थानीय बोलियो को ही आधार बनाया। उन्होने ब्राह्मणो की चिन्ता न करके साधारण जनता मे अपना प्रचार किया और इसके लिए उसी की भाषा को अपनाया। परिणाम स्वरूप संस्कृत के प्रचार मे बाधा आ गई। पाली और अर्द्धमागधी के रूप में दो साहित्यिक भाषाएँ उस के समक्ष खडी हो गई। किन्तु वे अधिक दिन नही ठहर सकी। बोलियो के आधार पर निर्मित भाषाएँ बोलियो के बदल जाने पर जनता के साथ अपना सम्पर्क नही रख सकी। दूसरी ओर सस्कृत उच्चवर्ग की भाषा बनी रही। राजनीतिक परिवर्तन के कारण ब्राह्मण-धर्म का पुनरू-त्थान हुआ और सस्कृत द्विगुणित वेग के साथ फिर उच्च आसन पर आरूढ हो गई। जैन और बौद्ध आचार्यो ने भी अपने साहित्यिक स्तर को ऊचा करने के लिए सस्कृत को अपना लिया। २०० से लेकर ३०० ई० तक बौद्ध-साहित्यिको ने पाली के साथ-साथ संस्कृत मे भी ग्रथ रचना की। वे प्राकृत से सुपरिचित थे और उसी का सस्कृत में रूपान्तर करने लगे। इस विचित्र भाषा को 'गाथा, कहा गया है। कृत्रिम मिश्रण के कारण इसे मिश्रित-सस्कृत या बौद्ध-सस्कृत भी कहते है। इस मे प्राकृत शब्द सस्कृत में रूपान्तरित किए गये हैं। ललितविस्तार, दिव्यावदान और महावस्तु में यही भाषा है। राज्य-व्यवहार तथा घटनाओ को लिपिबद्ध करने में भी यही भाषा अपनाई गई। तत्कालीन शिलालेखो से इस की पुष्टि होती है।

किन्तु क्रमश. मौलिक सस्कृत का पूर्ण आधिपत्य हो गया। रूद्रदामन (२०० ई०) का गिरनार वाला शिलालेख सस्कृत शिलालेखो से प्राचीनतम है। उस समय भारत मे कुछ प्रदेश कम से कम विधि-विधानो के लिए स्थानीय बोलियाँ छोडकर सस्कृत को अपना चुके थे। परिणाम स्वरूप

संस्कृत समस्त भारतीय जनता की राजकीय एव सास्कृतिक भाषा बन गई। इसे पवित्र एव सम्मानित भाषा माना जाने लगा। अप्रत्यक्ष रूप में लौकिक एव विदेशी शब्दो का प्रवेश होने पर भी इसका मूल रूप ज्यों का त्यों बना रहा। प्रतिष्ठा के कारण वह हिमशिखर के समान उच्चतम पद पर आरूढ हो गई। और लौकिक भाषाओ के श्रोत उससे जीवन प्राप्त करने लगे। उन्होने सस्कृत से शब्द ग्रहण किए और विचार भी। प्राचीन आर्य भारती के शब्द मध्यदेशीय आर्य-भारती में स्वाभाविक रूप से बदल गये। वे ही प्राकृत भाषा का मौलिक आधार बने। किन्तु जब सस्कृत को निर्विरोध प्राचीन आर्य भारती का प्रतिनिधि मान लिया गया तो इसके शब्द मध्य आर्यभारती में लिए जाने लगें। इस के द्वितीय तथा तृतीय काल में यह आदान विशेष रूप से हुआ। इस प्रकार लोक-भाषाओं में जो नए तत्त्व आये वे तत्तद्भाषा के स्वाभाविक अंग बन गये। धीरे-धीरे उनमें ध्वनि-परिवर्तन भी होते रहे। आर्य भारती के उत्तर-कालीन इतिहास में यह आदान कई बार हुआ। संस्कृत से सैकडो की संख्या मे शब्दों के आदान के कारण लोक-भाषाओ के स्वाभाविक विकास की गति बदल गई। यह एक उल्लेखनीय तथ्य है, जो कि मध्यकालीन एव नवीन आर्यभाषाओ में दृष्टिगोचर होता है।

अर्ध मागधी तथा अन्य प्राकृत

प्राकृत साहित्य के दो मुख्य अग है, बौद्ध साहित्य और जैन साहित्य। दोनो का उद्गम एक ही काल में और एक ही प्रदेश मे हुआ। फिर भी दोनो की विकास-धाराएँ अलग-अलग है।

पाली-साहित्य विपुल है। परपरा के अनुसार बुद्ध के उपदेशो की तीन आवृत्तियाँ हुई, जिनका समय उनके निर्वाण के बाद २३६ साल तक है। इनके लिए राजगृह, वैशाली और पाटलिपुत्र में तीन परिषदें हुई। इन आवृत्तियो की ऐतिहासिकता विवाद का विषय है, फिर भी एक बात स्पष्ट है कि बुद्ध के उपदेश उनके अनुयायियो ने दो-तीन सदियों में सकलित

किये। संकलनो में मूल के साथ अन्य भावो और भापा का सम्मिश्रण होना स्वाभाविक है। साथ ही यह भी मानना पडता है कि उस समय उपदेशो की स्मृति विद्यमान थी और सगृहीत साहित्य मूल के निकटतम था।

इस आधार पर कहा जा सकता है कि हमारे पास प्राचीनमय प्राकृत का स्वरूप जानने के लिए पर्याप्त सामग्री विद्यमान है। उसका समय ई. पू ५०० से प्रारम्भ होता है। जब हम इस साहित्य को आलोचना की दृष्टि से देखते है तो अनेक तरह की शकाएँ उत्पन्न होती हैं। कहा जाता है कि दूसरी वाचना में दूर-दूर से भिक्षु सम्मिलित हुए थें। स्वाभाविक रूप से अवन्ति, कोशाम्वी, कन्नौज, साकाश, मथुरा आदि स्थानों से आने वाले भिक्षुओ की नीजी भापा परस्पर भिन्न रही होगी। उत्तर और पश्चिम की वोलियाँ पूर्व से वहुत भिन्न थी। विनय-पिटक के संकलन में इन भिन्नभाषी भिक्षुओ का अपना भाग भी अवश्य रहा होगा और उसके फलस्वरूप भापा मे भेद होना स्वाभाविक है। मूल उपदेश कोशल के राजकुमार और मगध के भिक्षुओ की भाषा में थे जिसे 'शिष्ट मागधी' कहा जा सकता है। जब कोई नागरिक दूसरे प्रान्त की बोली बोलता है तो वह उस प्रान्त की शिष्ट भापा ही वोलेगा, वहां की ग्रामीण वोली से वह परिचित नही होता। दूसरी वाचना में वहुत से भिक्षु पश्चिम से आये थे। उनका प्रभाव मूल उपदेशो की शिष्ट मागधी पर पडा।

अशोक के समय यह साहित्य कुछ अशो में लिपिवद्ध हो चुका था। यह वात भाब्रु के लेख से ज्ञात होती है। किन्तु अधिकाश वौद्ध-साहित्य सिंहल-दीप में रचा गया। वौद्ध-साहित्य के विकास में ये घटनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। उन्हे सामने रखकर यह निर्णय करना होगा कि क्या वौद्ध धार्मिक साहित्य की पालीभापा किसी एक भौगोलिक प्रदेश की प्रचलित भाषा हो सकती है ? बहुत से विद्वानो ने पाली को ' सस्कृति-विशेप की भाषा अथवा मिश्रभापा कहा है। संस्कृति की भाषा के मूल में भी किसी न किसी प्रदेश की बोली होती है। अतएव पाली के मूल का विपय विवादास्पद है।

वस्तुत. प्राचीनतम बौद्ध-साहित्य बुद्ध-निर्वाण के लगभग चार सौ वर्ष पश्चात् लिपिबद्ध हुआ, और वह भी अनेक स्थानो के भिक्षुओ की बोली से प्रभावित होकर। इससे यह मानना पडता है कि उपलब्ध पाली-साहित्य पूर्व और पश्चिम की भाषाओ का मिश्रण है। उसमें स्थान तथा काल की भेद–रेखाएँ जानना अत्यन्त कठिन है।

प्राकृत का दूसरा विभाग जैन-आगम साहित्य है। महावीर भी पूर्व में उत्पन्न हुए और पूर्व की भाषा में धर्मोपदेश किया उनका जन्म वैशाली में हुआ, और घूमे मगध में। जैन-परपरा के अनुसार महावीर ने अपना उपदेश अपने पट्टशिष्यों अर्थात् गणधरो को दिया और उन्होने उनका संग्रह किया। ये उपदेश मगध की प्रचलित भाषा मे थे। बुद्ध भी मगध में घूमे किन्तु वे विदेशी थे। उनका जन्म तथा शिक्षा कोशल में हुई। महावीर उत्तर-मगध के निवासी थे। यह भेद उनके भाषा-भेद को समझनेके लिए आवश्यक है।

गणधरो-से सगृहीत महावीर-वाणी हमको तीन वाचना के वाद ही मिली है। जैसे बौद्ध परम्परा मे तीन वाचनाएँ हैं। वैसे जैन परम्परा में भी तीन वाचनाएँ है। प्रथम वाचना महावीर निर्वाण के १६० वर्ष पश्चात् पाटलीपुत्र में हुई। कहा जाता है कि वीर-निर्वाण के १५० वर्ष पश्चात् मगध-पाटलीपुत्र में भयानक दुर्भिक्ष पडा और भद्रबाहु प्रभृति जैन-श्रमण आत्म-रक्षा के लिए अन्यत्र चले गए। कुछ श्रमण वहा भी रहे। दुर्भिक्ष के पश्चात् मालूम हुआ ऐसे आघातो से स्मृति-सचित उपदेश नष्टप्राय हो जायँगे, उनको व्यवस्थित करना आवश्यक है।

तदनुसार पाटलीपुत्र में जैन-श्रमणसघ की परिषद मिली, और आगम-साहित्य की व्यवस्था की गई। यह घटना ई. पू. चौथी शताब्दी की है। इस परिषद के पश्चात् ल. भ ८०० वर्ष तक आगम-साहित्य का कोई सकलन नही हुआ। ४०० ई के लगभग मथुरा में द्वितीय परिषद

हुई। उसके २०० वर्ष पश्चात् तीसरी परिषद् वलभी मे हुई। उसके प्रमुख देवर्धिगणी थे। ई. की छठी शताब्दी की इस आखिरी परिषद के समय अनेक प्रतियो को मिलाकर आधार-भूत पाठ निर्णय करने का प्रयत्न किया गया। भिन्न-२ प्रतियो को मिलाकर जब नई प्रति लिखी जाती है, तब साधारणतया शुद्ध पाठ के स्थान पर मिश्रित पाठ लिखा जाता है।

हमारे सामने यह प्रश्न है। क्या एक हजार वर्ष बीतने पर भी आगमो की भाषा वही रही होगी, जो भगवान् महावीर के समय थी? उत्तर के रूप मे हमारे सामने दो परपराएँ आती है। प्रथम परपरा प्रवर्तक के शब्दों को महत्त्व देती है और यथाशक्ति उसकी रक्षा का प्रयत्न करती है। इसका उदाहरण वैदिक साहित्य है। हजारो वर्ष बीतने पर भी उसने अपने मूल रूपको नही छोड़ा दूसरी परपरा अर्थ को महत्त्व देती है। उसम विभिन्न प्रदेशो के लोग अपनी-२ बोलियों मे प्रवर्त्तक के उपदेशो को प्रकट करते है। जैन-परंपराके प्रतिक्रमण, थोकडे आदि उसके उदाहरण है। ठीक है कि भगवान् महावीर ने शब्दोंपर बल नही दिया किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उत्तरवर्ती काल मे भी वही मनोवृत्ति रही हो। अनुयायी अपनी बात को परपरागत सिद्ध करनें के लिए यथासम्भव प्राचीन भाषा को ही अपनाएँ है। अत. यह कथन ठीक नही जान पड़ता कि वर्तमान आगमो की भाषा देवर्धिगण के समय की है।

एक बात और है, प्रतिक्रमण मे आगमों की तीन श्रेणियां बताई गई है। १)सूत्र २)अर्थ ३)तदुभय साथ ही स्वाध्याय के जो चौदह दोष बताए गए हैं। उनसे ज्ञात होता है कि जैन परंपरा भी मूल-पाठ को महत्त्व देने लगी थी। अतः कुछ विद्वानो का यह कथन उचित नही जान पडता कि वर्तमान आगमो की भाषा देवर्धिकालीन भाषा है।

बौद्ध वाचनाएँ बुद्ध-निर्वाण के पाच सौ वर्ष पश्चात् सम्पन्न होती है, जैन वाचनाएँ महावीर-निर्वाण के एक हजार वर्ष पश्चात्, इस दृष्टि से सभव है कि आगम-साहित्य की भाषा पिटको से अर्वाचीन हो। किन्तु इसमें कुछ तारतम्य भी है। स्थूल दृष्टि से जितने आघात पालि-साहित्य पर होते हैं उतने आगम-साहित्य पर नही होते। पिटक सिंहल द्वीप में लिखे गयें थे, किन्तु उनकी रचनाओ के लिए बीज पाटलीपुत्र मे ही बना। यह सब अल्प समय में हुआ। उस समय बुद्ध के उपदेशो की स्मृति ताजी होगी।

बौद्ध-साहित्य का सकलन जिन तीन सगीतियो में हुआ वे बुद्ध निर्वाण के पश्चात् पाच सौ वर्ष के अन्दर-अन्दर हो गई थी उसके विपरीत जैन वाचनाएँ भगवान् महावीर के एक हजार वर्ष पश्चात् सम्पन्न हुई। इस दृष्टि से देखा जाय तो जैन-आगमो के परिनिष्ठित होने का समय बौद्ध-पिटको के पश्चात् हैं। किन्तु इतने मात्र से जैन-आगमो को अर्वाचीन नही कहा जा सकता। इसके कई कारण है। पहली बात यह है कि सभी आगम भगवान् महावीर का उपदेश अथवा गणधरों की रचना नही है। गणधरो ने केवल अग-साहित्य की रचना की। पश्चात्वर्ती म-स्त आगम आचार्यो द्वारा रचे गये। इसके विपरीत पिटको को भगवान् बुद्ध का उपदेश माना जाता है। यह उपदेश विहार के पाटलिपुत्र, वैशाली आदि नगरो मे हुआ। लगभग ३०० वर्ष पश्चात् राजकुमार महेन्द्र, जो कि उज्जैन का निवासी था उन्हे सिंहलदीप में ले गया और वहा उन्हें अन्तिम रूप मिला। लका के स्थविरो ने तत्कालीन समस्त ज्ञान को पिटको मे सकलित कर लिया। तीनो सगीतियाँ उससे पहले ही हो चुकी थी।

कुरू, पाञ्चाल, मध्यदेश व पश्चिम के अन्य निवासियो की दृष्टि से नीचे लिखे प्रदेश प्राच्य माने जाते थे। कोसल (अवध) काशी (वाराणसी और उसके समीपवर्ती प्रदेश), विदेह (उत्तरी विहार)। उत्तर काल में

मगध और अग (उ० विहार) को भी मम्मिलित कर लिया गया । प्राच्यो के लिए आधुनिक प्रचलित शब्द 'पुरविया, है। पञ्जाबी एव हिन्दी बोलने वाले पश्चिम तथा मध्यदेश के निवासी, पूर्वी-हिन्दी तथा विहारी बोलने वाले पूर्वी प्रदेश के निवासियो को इसी शब्द से पुकारते हैं।

प्राच्य भाषाओ के दो रूप है। पूर्वी और पश्चिमी । पूर्वी प्राच्या के मुख्य लक्षण निम्नलिखित हैं -

वर्णसम्बन्धी विशेषताएँ

१- 'र, के स्थान पर 'ल, वोला जाता है।

२- 'र, से सयुक्त 'त, और 'द, मूर्धन्य हो जाते हैं।

३- वैदिक 'व्य, 'त्य, आदि का स्वरभक्ति के नियमानुसार 'विय, तिय, हो जाता है।

४- श, ष, स स्थान मे केवल दन्त्य 'स, आता है।

रूप सम्बन्धी विशेषताएँ

५- आकारान्त शब्दो का प्रथमा एकवचन, एकाकारान्त होता है जब कि पश्चिमी भाषाओ में 'ओकारान्त, होता है।

६- अकारान्त पुंलिग शब्दो के द्वितीया वहुवचन मे 'आनि, प्रत्यय आता है।

७- सप्तमी एक वचन मे अस्सि, या 'आस्सि, प्रत्यय आता है।

जो पूर्वी प्राच्या--पश्चिमी रूप को लेकर चली, स्थानीय प्रभाव के कारण उसमें और परिवर्तन हो गये। वहाँ केवल तालव्य 'श, ही पाया जाता है।

प्राच्य--वैयाकरणो में पश्चिमी प्राच्या को अर्द्धमागधी कहा गया है और पूर्वी प्राच्या को मागधी। मध्य आर्यभारती के प्रारम्भिक काल में इन भाषाओ के जो रूप थे उन्हे क्रमशः प्राचीन अर्द्धमागधी और प्राचीन

मागधी कहा जा सकता है। बुद्ध की भापा प्राचीन अर्द्ध-मागधी थी और कोशल में वोली जाती थी। पूर्वी आर्यो की वर्तमान भापा इसी पर आधारित है। महावीर और बुद्ध ने इसी में उपदेश दिया। कालान्तर में यह मगध की राजभाषा वन गई। मध्यदेश और पूर्व में अशोक के जो शिलालेख प्राप्त हुए है, उनकी भी यह भापा है। ई. पू. चतुर्थ शताब्दि में प्राच्यो के विशाल साम्राज्य का प्रभाव युनानी लेखो में भी मिलता है, आश्चर्य नही है कि कुछ काल के लिए उनकी भाषा को भी उच्च पद मिल गया हो और मध्यप्रदेश तथा दूसरे पश्चिम प्रदेशो की भापाएँ तिरस्कृत हो गई हो। मौर्य-काल, विशेषतया अशोक के समय, यह प्राच्या समस्त भारत की राजभापा थी। गिरनार, शाहवाजगढी और मानसेरा के शिलालेखो को देखने से यह निर्विवाद सिद्ध होता है। अशोक तक के ब्राह्मी शिलालेख, जो कि पिशावा, सोहगौरा और पूर्वी प्रदेशो मे मिले हैं। तथा वौद्ध नाटको के अग जो कि मध्य-एशिया में मिले हैं और प्राचीन कुषान काल से सवन्ध रखते हैं, इस भाषा के प्राचीनतम लेख हैं।

वुद्ध और महावीर के मौलिक उपदेश इसी प्राच्या में हुए। अशोक के पश्चात् वुद्ध के उपदेश पश्चिमी भाषा में अनुदित हुए। यह भाषा मध्यप्रदेश की शौरसेनी का प्राचीन रूप है। साधारणतया एक बोली का दूसरी वोली मे रूपान्तर करते समय मौलिक वोली के बहुत से रूप अपना लिए जाते हैं। इसी प्रकार प्राच्या के भी अनेक रूप पश्चिमी रूपान्तर में अक्षुण्ण रहे और नवीन भाषा का आधार वन गये। बुद्ध के उपदेशो का जिस पश्चिमी भापा में अनुवाद हुआ उसे 'पाली' कहा गया। जिसका अर्थ है पवित्त या मूलपाठ। पाली व्याकरण से पता लगता है कि इसका मूल आधार मध्यप्रदेश की भापा थी। पाली बौद्धो के लिए दैवी भाषा वन गई, क्योकि वुद्ध ने मगध में जन्म लिया, वही उपदेश दिया। उनके उपदेशो की भापा कुछ परिवर्तिज होने पर भी मागधी कही गई। सर्वप्रथम लकाद्वीप के वौद्धो ने इसे यह नाम दिया। इस नाम से पाली का मगध के साथ सम्वन्ध प्रकट होता है। परिणाम स्वरूप पाली के मूल स्थान के विपय में पर्याप्त भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो गईं।

पाली की ध्वनियाँ तथा रूप मध्यकाल की बोलियों के साथ जितने मिलते हैं उतने मागधी या अन्य भाषाओं के साथ नहीं मिलते। बौद्ध ग्रन्थों की भाषा से समानता रखने वाली एक बोली ई. पू. द्वितीय शताब्दि में स्थिर हो चुकी थी, यह तथ्य खारवेल के लेखों से सिद्ध होता है। साहित्यिक भाषा के रूप में पाली की प्रतिष्ठा मध्यआर्य भारती काल (ई पू. ७०० से ७०० ई।) में हुई। इस संक्रमण काल में मध्यदेश की जो बोली संस्कृत से प्रतिस्पर्धा रखती थी, वही पाली के रूप में वह साहित्यिक भाषा बन गई। जातकों के रूप में संग्रहित उत्तर-भारत की लोक कथाओं और बौद्ध धर्म एवं दर्शन ने इस भाषा को साहित्यिक भाषा का रूप दे दिया। उत्तर-पश्चिमी, पश्चिमी तथा मध्यभारत के बौद्ध विहारों में इसका अध्ययन होने लगा। मौर्यों के पतन के साथ इसकी प्रतिद्वन्दिनी पूर्वी अर्द्धमागधी का भी अन्त हो गया और उत्तर-भारत की यह एकमात्र बोली रह गई।

कनिष्क काल (१००–४०० ई.) में उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त एवं गान्धार की बोलियाँ भी महत्वपूर्ण रही। इसके दो कारण थे। प्रथम यह कि वह शासकों की भाषा थी। दूसरा यह कि उन दिनों तक्षशिला विश्वविद्यालय संस्कृति और भाषाओं के अध्ययन का प्रमुख केन्द्र था, जहाँ समस्त भारत से विद्यार्थी अध्ययन के लिए आते थे। स्वाभाविक रूप से स्नातकों पर स्थानीय बोली का प्रभाव पड़ता था और वे समस्त भारत के सांस्कृतिक जीवन पर प्रभाव डालते थे। उत्तर पश्चिमी बोलियाँ बोलने वाले भी पाली का प्रयोग करते थे। परिणाम स्वरूप इसमें उत्तर-पश्चिमी शब्द एवं रूप बड़ी संख्या में आ गये। उनमें दरिस्तानी और पिशाची भाषाओं का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। अन्य आर्य बोलियों से भी शब्द एवं रूप लिये गये। उनमें गुजरात और मालवा का प्रभाव उल्लेखनीय है। उदाहरण के रूप में 'द्व' के स्थान से 'ब' और 'त्म' के स्थान में 'त्त' इसी का प्रभाव जान पड़ता है। पाली का विकास सिंहल में भी हुआ। सम्भव है इसके निर्माण में सिंहली का प्रभाव भी रहा हो। उपर्युक्त

'ब' और 'प्प' को सिंहली प्रभाव भी कहा जा सकता है। लंका की आर्य भाषा प्राचीन-मध्य आर्य भारती काल की गुजराती का ही एक रूप है। जब पाली साहित्यिक भाषा बन गई तो इस पर संस्कृत का प्रभाव भी पड़ा, वही इसके लिए नमूना बनी। पञ्चम शताब्दी के पश्चात् पाली भारत लंका, बर्मा और श्याम की एक कृत्रिम भाषा बन गई। इस रूप मे इसकी तुलना संस्कृत के साथ की जा सकती है।

इस प्रकार मध्यदेश की बोलीने पाली का रूप लेकर बौद्ध-साहित्य से पश्चिमी प्राच्या अर्थात् अर्द्धमागधी को पृथक् कर दिया। किन्तु जैन-साहित्य में महावीर की अर्द्धमागधी अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित है। प्राचीनतम जैन-आगम अर्द्धमागधी भाषा में है, जो आर्य भारती के मध्यकाल की द्वितीय अवस्था है। इसलिए पाली से अर्वाचीन है। इस पर भी पश्चिमी बोलियो का पर्याप्त प्रभाव है। 'र, का उच्चारण इसी का उदाहरण है। फिर भी स्थूल रूप में कहा जा सकता है कि वह कोसल की भाषा का प्रतिनिधित्व करती है।

पूर्वी प्राच्या या मागधी का जन्म प्रतीत होता है प्राच्या से हुआ। इसकी एक विशेषता तालव्य 'श' है। यह प्राच्या पर स्थानीय बोली का प्रभाव है। यह परिवर्तन प्राचीन काल में ही हो चुका था, किन्तु इसका सर्वप्रथम उल्लेख अशोक के समकालीन शुतनुका के शिलालेख मे मिलता है। किन्तु अशोक ने मगध के होने पर भी अपने शिलालेखो में इसका प्रयोग नही किया। सम्भवतया 'श' का उच्चारण ग्राम्य माना जाता था, इसलिए राजकीय लेखो में उसे स्थान नही मिला। संस्कृत नाटको से भी यही प्रमाणित होता है। वहा 'श' का उच्चारण नीच पात्रो तक सीमित है। मध्य-एशिया से जो नाट्यांश मिले हैं, उनमें यह विशेषता पाई गई है। वे प्राचीन मागधी के प्राचीनतम उदाहरण हैं।

शुतनुका शिलालेख छोटा नागपुर, सरगुजा के पास रामगढ़ पहाड़ियो

की जोगीमारा नामक गुफा में उपलब्ध हुआ है। यह वर्तमान मागधी का प्राचीनतम नमूना है। नीचे उसे उध्दृत किया जाता है।

शुतनुक नाम देवदशिक्यि
त कमयिथ बलनशेये
देव दिने नम लुपदखे

शुतनुका नाम देव-दाशिक्यी, त कामयित्था वालानशेये देवदिन्ने लूपदक्खे।

संस्कृत–सुतनुका नाम देवदासिका, ता अकामयत् वाराणसेयो देवदत्तो नाम रूपदक्षः।

हिन्दी–सुतनुका नाम की देवदासी थी। उसे वाराणसी का निवासी रूप बनानें में चतुर देवदत्त, चाहता था।

उपर्युक्त शिलालेख ब्राह्मी-लिपि में है और ई पू. तृतीय शताब्दी की एक बोली को उपस्थित करता है। अशोक के शिलालेख भी सम्भवतः उसी समय से सम्बन्ध रखते हैं। उन में तत्कालीन बोलियो के तीन रूप मिलते हैं।

१. शाहबाज गढी और मानसेरा में उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त की बोली है। इस की ध्वनियाँ आर्य-भारती के प्राचीन काल से मिलती हैं।

२ गिरनार में दक्षिण-पश्चिमी अर्थात् गुजरात की बोली। इसमें प्राचीन भाषा के लक्षण मिलते हैं।

३. पूर्वी बोली, कुछ परिवर्तन के साथ।

यह लेख तत्कालीन बोल-चाल की भाषा को पूर्ण रूप से उपस्थित करता है। दूसरे शिलालेखो में राजकीय प्राच्या को अपनाया गया और प्राचीन विशेषताओ को छोड़ दिया गया। इस प्रकार मागधी राजभाषा

के रूप में स्थिर होती गई । शुतनुका शिलालेख मे मागधी बोली का एक रूप है–(काल्सी, तोप्रा, मेरठ और वैराट् भाब्रा)

मध्यदेश में अशोक के जो शिलालेख मिले हैं उनमें मध्यदेश की भाषा प्रतीत नही होती। उनकी भाषा मागधी का ही दूसरा रूप है। मालूम पडता है मागधी ने राजभाषा का रूप लेकर मध्यदेश की भाषा को उसे अपने क्षेत्र में भी दबा लिया। किन्तु राजकीय क्षेत्र से बाहर इसने अपना वैशिष्ठ्य स्थिर रखा। 'र्' प्रयोग प्रथमा एक वचन में 'ओ बहुवचन में 'ए, आदि वैशिष्ठ्य बोलचाल में बने रहे। धीरे-धीरे उसने प्राच्या को हरा दिया और पाली के रूप में आधिपत्य कर लिया। कालान्तर में मध्यदेश की भाषा ने इसका पूरा बदला ले लिया। सक्रमण काल और मध्य आर्य भारती के द्वितीय युग से लेकर शौरसेनी, अपभ्रंश, व्रजभाषा और वर्तमान हिन्दी पर इसी का आधिपत्य है। युक्त प्रान्त और बिहार के पूर्वी प्रदेशो में इसी का प्रचार है।

अशोक के उत्तरवर्ती जो शिलालेख मध्यदेश (मथुरा) मालवा (साची) तथा दक्षिण (नासिक और कार्ले की गुफाएँ) में प्राप्त हुए है, ऐसी बोली को प्रकट करते है जो न्यूनाधिक रूप में प्राच्य भाषा के प्रभाव से मुक्त हैं। प्रतीत होता है स्थानीय बोलियो का प्रभाव फिर से आ गया। मध्य–देश में ऐसे शिलालेख भी मिलते है जिन पर उत्तर-पश्चिमी बोली का प्रभाव है। सम्भवतया राजनीतिक कारणो से ऐसा हुआ हो। सक्रमण काल के जो लेख मिले हैं वे कई कारणो से तत्कालीन बोलियो के परस्पर भेद को प्रदर्शित करने में असमर्थ है। उस के कई कारण है। प्रथम कारण है लेखन में असावधानी। दूसरा पडोसी एव शासकीय बोलियो का प्रभाव। तीसरा सस्कृतीकरण की ओर झुकाव। इस दृष्टि से सक्रमण काल के शिलालेख अशोक के शिलालेखो से बहुत पीछे हैं। अशोक के शिलालेख न्यूनाधिक रूप में अपने समय की स्थिति को प्रामाणिक रूप में उपस्थित करते है, किन्तु सक्रमण काल के शिलालेख वास्तविक स्थिति को प्रकट नही करते।

ईसा की प्रथम शताब्दि में आर्य भारत के सामाजिक जीवन में बोलियो कें पारस्परिक भेद स्पष्ट रूप से प्रतीत होने लगे। प्राचीन आर्य भारती के अन्तिम काल (ई. पू ८००–६००) में मध्य देश के लेख उदीच्यो की भाषा शुद्धि का उल्लेख करते हैं और पूर्व निवासी व्रात्यो की प्राकृत बोलियो को घृणा से देखते है। किन्तु ईसा के पश्चात् तथा कुछ पहले भी सस्कृत नाटककार अपनी रचनाओ में स्वाभाविकता लाने के लिए बोलियो के भेद को आवश्यक मानने लगे। तदनन्तर भारतीय नाटक में तत्तत्कालीन एव तत्तद्देशीय सामाजिक व्यवस्था चित्रित करने के लिए तत् तत् लोक-भाषा का प्रयोग होने लगा। इस दृष्टि से सस्कृत के पश्चात् दूसरा स्थान शौरसेनी का है। जो लोग सभ्य एव सस्कृत माने जाते थे किन्तु सस्कृत नही बोलते थे, वे प्रायः शौरसेनी बोलते हैं। दक्षिण की महाराष्ट्री प्राकृत में दो स्वरो के मध्यवर्ती स्पर्श व्यञ्जन का प्राय लोप हो जाता है। इसलिए वह स्वाभाविक रूप से सगीतमय बन गई है। परिणामस्वरूप साधारण वार्तालाप में शौरसेनी का प्रयोग करने वाले भी पद्य में महाराष्ट्री का प्रयोग करते हैं। मागधी अपनी विशेपताओ के कारण आर्य-भारती से अपेक्षाकृत अधिक भिन्न थी। उस देश के निवासियों के प्रति ब्राह्मण परम्परा में स्वाभाविक घृणा रही है। अत उसका नीच एव असस्कृत पात्रों म प्रयोग किया गया। बौद्ध–नाटको के उपलब्ध अशो में अर्द्धमागधी का प्रयोग भी मिलता है किन्तु उतरकालीन नाटको में इसका स्थान शौरसेनी नें ले लिया। सक्षेप मे कहा जा सकता है कि सक्रमण और मध्य आर्य–भारती के द्वितीय काल में शौरसेनी, महाराष्ट्री तथा मागधी ने नाटको में स्थान जमा लिया। उसके पश्चात् अन्य बोलियो का प्रयोग बहुत कम हुआ है। नाटक में शौरसेनी आदि का प्रयोग का मुख्य ध्येय था, साधारण वर्ग के चित्रण मे तदनुरूप वातावरण उपस्थित करना। काला–न्तर मे इस बात का ध्यान नही रखा गया कि पात्र अपने प्रदेश की बोली का वास्तविक प्रतिनिधित्व करता हैं या नही। लाक्षणिक ग्रन्थो के

अनुसार पात्र के अनुरूप बोली रूढ हो गई और उसने कृत्रिम रूप ले लिया। परिणाम स्वरूप नाटकों के आधार पर किसी बोली के वास्तविक रूप का निर्धारण नही किया जा सकता। सबसे पहला प्राकृत व्याकरण वररूचि (५०० ई.) का है। उसके सामने भी यही लक्ष है कि नाटक में महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची कैसी होनी चाहिए। उसे इस बात का ध्यान नही है कि इन भाषाओ का वास्तविक रूप क्या था। उत्तर-कालीन वैयाकरण भी उन्ही सिद्धान्तो पर चलते हैं। और नाटककार व्याकरण में प्रतिपादित रूपो को ही आदर्श मानते है। उनके सामने और कोई आधार नही था।

अर्द्धमागधी और जैन-आगम
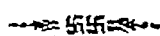
जैन-परम्परा में अर्द्धमागधी का मूर्धन्य स्थान है। वह मानती है कि भगवान महावीर ने अपना उपदेश इसी भाषा में दिया था। समस्त जैन-आगमो की यही भाषा कही जाती है। स्वय आगमो में इसका उल्लेख मिलता है। उदाहरण–

"भगव च ण अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ"
(समवाय-अगसूत्र पृ० ६०समिति)

प्रश्न–"देवा ण भते कयराए भासाए भासंति ? कयरा वा भासा भासिज्जमाणी विसिस्सन्ति ?

उत्तर–गोयमा! देवा ण अद्धमागहाए भासाए भासति, सा वि य ण अद्धमागाही भाषा भासिज्जमाणि विसिस्सइ।"
(भगवती-अगसूत्र शतक ५, उद्देश ४)

" तए ण समणे भगव महावीरे कूणिअस्स वभसारपुत्तस्स अद्धमागाए भासाए भासति ।

(औपपातिक उपाग-सूत्र पृ० ७७)

प्रश्न– से कि त भासरिया ?

उत्तर- भासारिया जे ण अद्धमागहाए भासाए भासेति।

(प्रज्ञापना उपाग सूत्र पृ० ५६ समिति)

किन्तु हेमचन्द्र ने अर्द्धमागधी को स्वतत्र स्थान नही दिया । इसका मुख्य कारण यह है कि कुछ अपवादो को छोडकर वह मागधी से मिलती है । केवल उन अपवादो के कारण जैन-शास्त्रो की भापा को स्वतत्र रूप देना हेमचन्द्र को उचित नही लगा । फिर भी उसने आर्य-प्राकृत के नाम से उसका उल्लेख किया है । वास्तव मे देखा जाय तो तथाकथित अर्द्धमागधी में मागधी की एक ही विशेपता है, और वह है प्रथमा के एकवचन मे एकारान्त रूप । जैसे-समणे, महावीरे, देवे, जीवे इत्यादि । जैन-आगमो में इसके अतिरिक्त मागधी का कोई चिन्ह नही मिलता । अत हेमचन्द्र ने उसे महाराष्ट्री में ही समाविष्ट कर लिया । और जहाँ भिन्नता थी उसे आर्ष-प्राकृत के रूप में वता दिया । 'ए' का प्रयोग भी सर्वत्र नही मिलता । आचाराग प्राचीनतम आगम है । उसमे भी कई स्थानो पर 'ओ' का प्रयोग है । उत्तरवर्ती सूत्रो में तो इसीका वाहुल्य है ।

उदाहरण—

निक्खतो, उद्देसो, अप्पमावो, विरामगधो, उवरओ, उवेहमाणो आलीणगुत्तो, सहिओ, नाणागमो, सथवो दोसो, हव्वहाओ, दुरूणुचरो, गग्गो

(आचारांग-सूत्र पृप्ट-४१- १२४, १२७, १३० १५५, १६८, १८३, १८४, १८५, १९०, १९२)

प्राचीन काल को मध्यकाल में परिवर्तित करने वाले दो मुख्य तत्त्व है । पहला स्वरमध्यवर्ती स्पर्शो का लोप और दूसरा महाप्राण

व्यञ्जनो का 'ह, के रूप में शिथिली भाव। इन दो परिवर्तनो के कारण भारतीय भाषाएँ उत्तरोत्तर बदलती गई। यदि क, च, ट, त, प, का उच्चारण शिथिलता के साथ किया जाय तो वे ग, ज, ड, द और ब के रूप में घोष बन जाएँगे, बशर्ते कि वे दो स्वरो के बीच हो। शौरसेनी भाषा इस स्थिति को प्रकट करती है। यदि शिथिलता और बढ जाय तो स्पर्श व्यञ्जन अस्पर्श अर्थात् ऊष्मा या अन्तःस्थ हो जाएँगे। परिणाम स्वरूप महाप्राण प्राय 'ह, का रूप ले लेते हैं और अल्पप्राणो में नीचे लिखे परिवर्तन आ जाते है—

क, ग, च, ज, त, द, प	=	य
ट, ड	=	ल अथवा र
ब	=	व

इस प्रकार आने वाले य और व लघुश्रुति माने जाते है, अर्थात् उनका उच्चारण करते समय वायु स्थान--विशेष को स्पष्ट रूप से स्पर्श नही करती और व्यञ्जन एक तरह से लुप्त हो जाते हैं।

अघोष व्यञ्जनों के स्थान में घोष का प्रयोग इ० पू० तृतीय शताब्दी मे अशोक के शिलालेखो में मिलता है— उदाहरण--

'अप,	के स्थान मे	'अंद,	(सहस्त्रभ्य शिलालेख)
'अचल,	,, ,, ,,	'अजल,	(पौली ,,)
'लोक,	,, ,, ,,	'लोग,	(जौगढ ,,)
'लिपि,	,, ,, ,,	'लिबि,	(दिल्ली--तोप्रा ,,)
अन्तियोक (ग्रीक)	,, ,, ,,	अन्तियोग	(कालसी)
रथितर	,, ,, ,,	रथिदर	(कागडाघाटो)

स्वर मध्यवर्ती मूर्धन्य स्पर्शो का शिथिलीकरण 'ल, या 'र, के रूप में हुआ। मूर्धन्य उच्चारण में जीभ उपर थी और मुड़कर मुख की छत

को स्पर्श करती है। इसका अर्थ है एक वार ध्वनि अवरुद्ध रुक जाती है, जवकि दूसरे व्यञ्जनो की ध्वनि खुली रहती है।

मक्रमण काल (ई० पू० २०० से २०० ई० तक) के शिलालेखो मे घोपीकरण का यह तत्त्व और भी वढ गया है और लोप के उदाहरण भी मिलने लगे। मध्यकालीन आर्य-भापा के द्वितीय युग मे लोपो की सख्या और वढ गई। उदाहरण—

अनाथपिण्डिक	-- अनाथपिण्डिय	वर्हुत
मघादेविया	-- मखादेव	
अवयेसि, अवाओंएसि, अवादोसि	-- अवादयत्	२०० ई०पू०

पढमे	--	प्रथमे	
चउत्थ, चओउत्थ	--	चतुर्थ	खारवेल
रध	--	रथ	ई० पू० २००
वितध	--	वितथ	
भारध	--	भारत	
ञावक	--	ज्ञापक	

छात्रव	क्षत्रप	ई० प्रथम शताब्दी का प्रारम्भ
अन्तेपुर	अन्त पुर	
थुव	स्तूप	
नाकर अस्स	नागर कस्य	

यहाँ 'ग' के स्थान में 'क' दर्दी 'या पैशाची का प्रभाव है।

आयरिय	आचार्य	मथुरा
वेय उदिनो	वेगोदीर्ण	
वियय	विजय	

अप्रतिठविन	अप्रनिष्ठापिन	तक्षशिला १०० ई०

कार्ले गुफा (२०० ई०) के शिलालेखो में अघोष स्पर्शो के स्थान में 'ह, पाया जाता है।

सस्कृत के प्राचीन नाटको की प्राकृतें १०० से ५०० ई० में बोली जाने वाली लोक--भाषाओ पर आश्रित हैं। उनमें अघोष स्पर्श घोष हो गये हैं और वे मौलिक घोषो के साथ विद्यमान है। मागधी तथा शौरसेनी में यह परिवर्तन नियम सा वन गया। उनमें 'क, और 'ग, का लोप हो जाता है और 'त, एव 'द्, 'द, के रूप में पाये जाते है। किन्तु महाराष्ट्री में त, द एव च, ज का भी लोप हो जाता हैं। आधुनिक भाषाओ में हिन्दी और वगाली क्रमश. शौरसेनी एवं मागधी से विकसित हुई है। प्राचीन आर्य भापा के जो अघोष स्पर्श साहित्यिक प्राकृतो में घोष हो गये थे वे इन भाषाओ में कही लुप्त हो गये और कहीं घोष के रूप में पाये जाते हैं।

उदाहरण–

प्रा. आ. भा.	मागधी	शौरसेनी	अपभ्रश	हिन्दी	वगाली
शतम्	शद	सद	सड	सौ	शड
पाद	पाद	पाद	—	पाव	पा
चलति	येलति	चलदि	—	चले	चाले

प्राकृत का प्राचीनतम व्याकरण वररूचि का प्राकृत–प्रकाश है। उसने मागधी तथा शौरसेनी की उस स्थिति को प्रकट नही किया जिसमें अल्पप्राण व्यञ्जनो का प्राय लोप हो जाता है। उसने इतना ही बताया है कि शौरसेनी में भी 'त, और 'थ, का क्रमश 'द, और 'ध, हो जाता है, और मागधी के लिए कहा है कि इस विषय में वह शौरसेनी का अनुसरण करती है। उत्तर–कालीन सस्कृत के लेखको ने सस्कृत शब्दो का प्राकृत रूपान्तर करते समय वररूचि तथा शूद्रक एव कालिदास के प्रयोगो का अनुसरण किया है। किन्तु शौरसेनी–अपभ्रश में ऐसे प्रयोगों की विशाल सख्या है जिनमें इन व्यञ्जनो का लोप हो गया है। यह अपभ्रश आधुनिक भाषाओ के साथ मध्य–कालीन भापाओ की कड़ी जोड़ती हैं।

मध्यवर्ती या अन्तिम व्यञ्जन का लोप तभी हो सकता है जब वह शिथिलता या आलस्य के साथ बोला जाय। इस प्रकार बोलने से जिह्वा का विभिन्न स्थानो के साथ स्पर्श नही हो पाता और व्यञ्जन के स्वर में विवृत स्वर का उच्चारण होने लगता है। वह अनुच्चारित रह जाता हैं। या शिथिल उच्चारण वाला व्यञ्जन बन जाता है। उत्तर भारत में परिवर्तन का क्रम नीचे लिखे अनुसार उपस्थित किया जा सकता है–

१ शिथिल उच्चारण के कारण स्पर्श, घोष हो गए।

२ आलस्यपूर्ण उच्चारण के कारण घोष विवृत या अस्पर्श घोष हो गए।

३ अन्त में उनका सर्वथा लोप हो गया।

जैन अर्द्धमागधी में ऐसे स्थानोंपर लघुश्रुति 'य' आता है। यह स्थिति लोप तथा अस्पर्श घोष के बीच की मालूम पड़ती है। सिल्वनलेवी ने बहुंत के शिलालेखो (ई पू २००) में इस तथ्य का उल्लेख किया हैं। उदाहरण–सं. अवादयत्। शौ अवादेसि। शिला. अवायेसि ।

सक्रमण कालीन लेख भी इस तथ्य को प्रकट करते हैं। जैन-अर्द्ध-मागधी में य श्रुति की परम्परा बोली के इतिहास की वास्तविक स्थिति को प्रकट करती है। प्रतीत होता है साधारण बोलचाल में 'य' श्रुति रही होगी। इस का अर्थ है कि मध्य आर्य भारती के द्वितीय युग में वररूचि तथा प्राचीन नाटककारों ने अघोष के स्थान में जो ग, द, व, एव घ, ध, अ का प्रयोग किया है, वह शिथिलीकरण का ही एक रूप है।

प्रत्यय एव रूपो की समानता तथा ध्वनि एव वाक्य-रचना के सादृश्य से प्रतीत होता है कि बंगाल, आसाम, उडीसा तथा बिहार की बोलियाँ आर्यभारती के किसी एक ही प्राचीन रूप से प्रस्फुटित हुई हैं। यह रूप उत्तर भारत के पूर्वी भाग में प्रचलित होगा। इस रूप को मागधी नाम दया गया हैं। प्राचीन आर्य भारती का मध्य आर्य भारती में मागधी और

उसकी पडोमिन अर्द्धमागधी ने मिलकर प्राच्या भाषा-समूह का निर्माण किया। मागधी की कुछ प्राचीनतम ध्वनियां उससे उद्बुद्ध भाषाओं में अभी तक विद्यमान है। उदाहरण के रूप में श, ष, और स के स्थान में 'श' तथा र के स्थान मे 'ल'। कुछ ध्वनियां मागधी के भोजपुरिया, मैथिली, मगधी, उडिया तथा आसामी-बगाली में विभाजन से पहले तक चलती रही और उसके पश्चात् प्रादेशिक प्रभाव के अनुसार बदल गई, फिर भी अपने वैशिष्ट्य को प्रकट करती रही। पद निर्माण और वाक्य निर्माण में भी मागधी की अपनी विशेषता है। उदाहरण के रूप मे:--

१ षष्ठी के लिए कअ, केर या कर का प्रयोग ।

२ कर्मवाच्य कृदन्त के लिए इल्ल, ऐल्ल, या अल्ल का प्रयोग ।

३ भविष्यत् कृदन्त् बनाने के लिए एब्ब या अब्ब ।

४ भूत काल में कर्तृप्रधान वाक्य रचना ।

उपर्युक्त विशेषताएँ आर्य-भारती के इतिहास में बिल्कुल नई थी, किन्तु पूर्व की वर्तमान भाषाओ मे भी मिलती है। मागधी का यह उत्तर-कालीन रूप जिसमें उपर्युक्त विषशताएँ प्रविष्ट हुई, अपभ्रश-मागधी कहा जा सकता हैं। इस उत्तरकालीन मागधी के आधारभूत लेख नही मिलते। फिर भी प्राचीन बगाली, उडिया एव मैथिली आदि पूर्वी भाषाओं की शौरसेनी एव पश्चिमी अपभ्रंश बोलियों के साथ तुलना करने पर उसकी कल्पना की जा सकती है। पश्चिम में अर्धभारती के जो रूप मिलते है उनसे प्राच्या (मागधी और अर्द्धमागधी) की ध्वनियो में पर्याप्त भेद है। रूप-निर्माण में भी कही-कही भेद हैं।

पैशाची भाषा कश्मीर के पास हिमालय की तलहटी में बोली जाती थी। गुणाढ्य ने अपनी बृहद् कथा इसी मे रची थी। नाटको तथा अन्य साहित्य से पता चलता है कि वहा के रहने वाले क्रूर तथा बलिष्ठ होते थे। स्वाभाविक रूप से उनकी प्रकृति मृदु को कठोर बनाने की रहती थी। इसी कारण मृदु

मध्यवर्ती या अन्तिम व्यञ्जन का लोप तभी हो सकता है जब वह शिथिलता या आलस्य के साथ बोला जाय। इस प्रकार बोलने से जिह्वा का विभिन्न स्थानो के साथ स्पर्श नही हो पाता और व्यञ्जन के स्वर में विवृत स्वर का उच्चारण होने लगता है। वह अनुच्चारित रह जाता हैं। या शिथिल उच्चारण वाला व्यञ्जन बन जाता है। उत्तर भारत में परिवर्तन का क्रम नीचे लिखे अनुसार उपस्थित किया जा सकता है—

१ शिथिल उच्चारण के कारण स्पर्श, घोष हो गए।

२ आलस्यपूर्ण उच्चारण के कारण घोष विवृत या अस्पर्श घोष हो गए।

३ अन्त में उनका सर्वथा लोप हो गया।

जैन अर्द्धमागधी में ऐसे स्थानोपर लघुश्रुति 'य' आता है। यह स्थिति लोप तथा अस्पर्श घोष के बीच की मालूम पडती है। सिल्वनलेवी ने बर्हुत के शिलालेखो (ई पू २००) में इस तथ्य का उल्लेख किया है। उदाहरण–सं. अवादयत्। शो अवादेसि। शिला. अवायेसि।

सक्रमण कालीन लेख भी इस तथ्य को प्रकट करते हैं। जैन-अर्द्ध-मागधी में य श्रुति की परम्परा बोली के इतिहास की वास्तविक स्थिति को प्रकट करती है। प्रतीत होता है साधारण बोलचाल मे 'य' श्रुति रही होगी। इस का अर्थ है कि मध्य आर्य भारती के द्वितीय युग में वररूचि तथा प्राचीन नाटककारो ने अघोष के स्थान में जो ग, द, ब, एव घ, ध, अ का प्रयोग किया है, वह शिथिलीकरण का ही एक रूप है।

प्रत्यय एवं रूपो की समानता तथा ध्वनि एव वाक्य-रचना के सादृश्य से प्रतीत होता है कि बंगाल, आसाम, उडीसा तथा बिहार की बोलियाँ आर्यभारती के किसी एक ही प्राचीन रूप से प्रस्फुटित हुई हैं। यह रूप उत्तर भारत के पूर्वी भाग में प्रचलित होगा। इस रूप को मागधी नाम दया गया है। प्राचीन आर्य भारती का मध्य आर्य भारती में मागधी और

उसकी पडोसिन अर्द्धमागधी ने मिलकर प्राच्या भाषा-समूह का निर्माण किया। मागधी की कुछ प्राचीनतम ध्वनिया उससे उद्‌बुद्ध भाषाओं में अभी तक विद्यमान हैं। उदाहरण के रूप में श, ष, और स के स्थान में 'श' तथा र के स्थान में 'ल'। कुछ ध्वनियाँ मागधी के भोजपुरिया, मैंथिली, मगधी, उडिया तथा आसामी-बगाली में विभाजन से पहले तक चलती रही और उसके पश्चात् प्रादेशिक प्रभाव के अनुसार बदल गई, फिर भी अपने वैशिष्ट्य को प्रकट करती रही। पद निर्माण और वाक्य निर्माण में भी मागधी की अपनी विशेषता है। उदाहरण के रूप में --

१ षष्ठी के लिए कअ, केर या कर का प्रयोग ।

२ कर्मवाच्य कृदन्त के लिए इल्ल, ऐल्ल, या अल्ल का प्रयोग ।

३ भविष्यत् कृदन्त् बनाने के लिए एब्ब या अब्ब ।

४ भूत काल में कर्तृप्रधान वाक्य रचना ।

उपर्युक्त विशेषताएँ आर्य-भारती के इतिहास में बिल्कुल नई थी, किन्तु पूर्व की वर्तमान भाषाओ में भी मिलती है। मागधी का यह उत्तर-कालीन रूप जिसमें उपर्युक्त विषशताएँ प्रविष्ट हुई, अपभ्रश-मागधी कहा जा सकता हैं। इस उत्तरकालीन मागधी के आधारभूत लेख नही मिलते। फिर भी प्राचीन बगाली, उडिया एव मैथिली आदि पूर्वी भाषाओ की शौरसेनी एव पश्चिमी अपभ्रश बोलियो के साथ तुलना करने पर उसकी कल्पना की जा सकती है। पश्चिम में अर्धभारती के जो रूप मिलते है उनसे प्राच्या (मागधी और अर्द्धमागधी) की ध्वनियो में पर्याप्त भेद है। रूप-निर्माण में भी कही-कही भेद हैं।

पैशाची भापा कश्मीर के पास हिमालय की तलहटी में बोली जाती थी। गुणाढ्य ने अपनी बृहद् कथा इसी में रची थी। नाटको तथा अन्य साहित्य से पता चलता है कि वहा के रहने वाले क्रूर तथा बलिष्ठ होते थे। स्वाभाविक रूप से उनकी प्रकृति मृदु को कठोर बनाने की रहती थी। इसी कारण मृदु

व्यञ्जन को कठोर बना देते थे। अर्थात् तृतिय को प्रथम या द्वितीय में बदल देते थे। वही पर खरोष्ठी का जन्म हुवा जिसका अर्थ है वह भाषा जिसके उच्चारण के लिए ओठो को कठोर बनाना पडता हो। अपभ्रश का कोई स्वतत्र रूप नही है। जो परिवर्तन व्याकरण के नियमो में आवद्ध नही हुए वे सभी अपभ्रंश में सम्मिलित हो गये। पतञ्जलि के समय जो अपभ्रश थी उसने वररूचि एव उत्तरवर्ती वैयाकरणो के समय साहित्यिक प्राकृत का रूप ले लिया। उनके समय जो अपभ्रश थी, वह भी कालान्तर में साहित्यिक भाषा बन गई। दूसरे शब्दो में यो कहा जायेगा कि अपभ्रश का इतिहास भाषा के स्वतन्त्र प्रवाह को प्रकट करता है।

जब हिंदी, गुजराती, पञ्जावी आदि नवीन आर्यभाषाओ की प्राचीन आर्यभाषाओ के साथ तुलना की जाती है तो वे एकदम भिन्न प्रकार की पतीत होती है। वैदिक सस्कृत तथा प्राकृतो में प्रकृति और प्रत्यय मिलकर एक पद बन जाते है। किन्तु आधुनिक भाषाओ में विभक्ति को प्रकट करने के लिए पृथक् शब्द रहता है। इसी प्रकार कालको प्रकट करने वाले शब्द धातु से पृथक अस्तिव रखते हैं। सस्कृत में 'रामम्' 'रामेण, या 'रामाय, एक पद है। किन्तु हिन्दी में इनके स्थान पर 'रामको, 'रामके द्वारा या 'रामके लिए, बोला जाता है और दो या अधिक पदो का प्रयोग होता है। इस प्रकार भाषा का रूप ही बदल गया। इसके दो कारण हैं—पहला कारण है मध्यकालीन भाषाओ के प्रथम व द्वितीय अर्थात् सक्रमण काल में किए गये परिवर्तन। दूसरा कारण है मध्यकालीन आर्य भाषाओ में उत्तरोत्तर प्रत्ययो की न्यूनता। नवीन भाषाओ में प्राचीन आर्य भाषाओ के प्रत्यय अत्यल्प सख्या में बचे है।

प्राकृत के उत्तर कालीन भेद

व्याकरण की दृष्टि से प्राकृत शब्दो को तीन श्रेणियो में विभक्त किया जाता है।

(१) तत्सम— जिन शब्दो का उच्चारण सस्कृत के ही समान होता है।

(२) तद्भव– जिन शब्दो का निर्माण सस्कृत शब्दो में परिवर्तन के द्वारा किया जाता है।

(३) देश्य– वे शब्द जिनका सस्कृत के साथ सबध नही है। वे आर्येतर जातियो की भाषा को प्रकट करते हैं।

निम्नलिखित श्लोक प्रथम प्रकार के उदाहरण हैं :–

" चारूसमीरण रमणे हरिणकलककिरणावलीव विलास ।
आवद्ध राम मोहा वेलमूलं विभावरी परिहीणा "॥

देश्य के उदाहरण इस प्रकार हैं–

" रे खेआलुअ खोसल इमाण खोट्टीन मज्झभावडीओ ।
छुट्टिस्ससि कह व तुमं अकुटिओ टक्कराहि फुड "॥
(देशीनाममाला)

प्राकृत व्याकरण का सबध द्वितीय प्रकार के साथ है। प्रथम प्रकार सस्कृत के अन्तर्गत हो जाता है। तृतीय प्रकार के शब्दो का निर्माण प्राकृत भाषा के नियमो में नही आता क्योकि वे अपना स्वतन्त्र आस्तित्व रखते हैं। किन्तु उनके रूप विभिन्न 'प्राकृतो' के समान ही चलते है।

हेमचन्द्र ने छ. प्राकृतो का वर्णन किया है–

महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका-पैशाची, और अपभ्रश। किन्तु प्राकृतो की सख्या इससे अधिक रही होगी।

विश्वनाथ ने नीचे-लिखे भेद गिनाये है–

शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी, अर्द्धमागधी, प्राच्या, अवन्तिका दाक्षिणात्य, शाकारि, वाल्हिकी, द्राविडी, आभीरी, और चाण्डाली।

इनमे शाकारि ओर चाण्डाली का पात्र-विशेष के साथ सम्बन्ध है। सस्कृत नाटको मे 'शकार' एक पात्र को कहा जाता है। वह राजा की किसी रखैल का भाई होता है और इसी आधार पर मनमानी करता रहता है। वात-वात में 'बहनोई जी को कह दूगा' की धमकियाँ देता है।

उसकी भापा में 'श' का अधिक प्रयोग होता है। इसलिए उसे 'शकार, कहा जाता है। इसी प्रकार जिस भापा को चण्डाल का अभिनय करने वाला वोलना है उसे चाण्डाली कहा गया। द्राविडी प्राकृत नाटक में द्रविड तत्वों के सम्मिकरण को प्रकट करती है। यह भी सम्भव है कि दक्षिण के नाटककारों ने लौकिक भापाओं मे उत्तर के स्थान पर दक्षिण का पुट दिया हो। प्रस्तुत गणना में महाराष्ट्री और दाक्षिणात्या को अलग-अलग गिनाया गया है। इससे ज्ञात होता है कि महाराष्ट्री दक्षिण की भापा न होकर राज-परिवार की भापा मानी जाती होगी। अर्थात् अन्त पुर में रहने वाली स्त्रियाँ विभिन्न प्रान्तो से आने पर भी इसी में परस्पर व्यवहार करती होगी। गीत भी इसी में गाये जाते होगे।

लकेश्वर ने अपने 'प्राकृत कामधेनु' में नीचे लिखी भाषाएँ गिनाई हैं– उदीचि, महाराष्ट्री, मागधी, मिश्र-अर्द्धमागधी, शाकाभिरी, श्रावस्ती, द्राविडी, ओड्रिया, पाश्चात्या, प्राच्या, वाल्हीका, रन्तिका, दाक्षिणात्या, पैशाची, आवन्ती और शौरसेनी।

प्राकृत चन्द्रिका मे महाराष्ट्री, आवन्ती, शौरसेनी, अर्द्धमागधी, वाल्हीकी, मागधी, दाक्षिणात्यजा और अपभ्रश के अतिरिक्त अपभ्रश के २७ भेद भी दिये हैं–(१)व्राचडा (२)लोटा (३) वैदर्भा (४)उपनागरा (५)नागर (६)वारवर (६)आवन्त्या (८)पाञ्चला (९)टक्क (१०)मालव (११)कैकय (१२)गोड(१५)औड्र(१६)दैव(हैव और हैमवत?) (१७) पाश्चात्या (१८)पाड्य (१९)कुन्तल (२०)सैम्हल (२१)कालिग (२२) प्राच्या (२३)कर्णाटक (२४)काच्य (२५)द्राविड (६२)गूरज (२७) आभीर (२८)मध्यदेशीय और वैंडाल।

इस गणना में कुछ भेद प्रादेशिक विशेपता को प्रकट करते हैं और कुछ जातीय विशेपता को। बहुत से भेदो का सम्वन्ध दक्षिणी भापाओं के साथ है। किन्तु यह नही कहा जा सकता कि इन सबका

साहित्य मे प्रयोग होता था अथवा ग्रन्थकारो के सामने स्पष्ट चित्रण था। भेदो को बढ़ाते जाना भारतीय आचार्यो की स्वाभाविक मनोवृत्ति रही है। अलकार, नायिका-भेद तथा अन्य बातो में यह स्पष्ट दिखाई देती है। सम्भवतया इसी मनोवृत्ति को लेकर भाषाओ के भेद भी बढते चले गये। किन्तु इससे तत्कालीन जाति-भेदो और प्रादेशिक भेदो को जानने में अवश्य सहायता मिलती है।

लक्ष्मीधर ने पैशाची का प्रयोग नीचे लिखे स्थानो में बताया है— पाड्या, केकय, वाल्हीक, सह्य, नेपाल, कुन्तल, सुदेश, भोट, गान्धार, हैव (हेमवत?) और कन्नोजन (कम्बोज अथवा कन्नौज)।

प्रस्तुत गणना में सम्मिलित प्रदेशो का कोई भौगोलिक अथवा जातीय सम्बन्ध नही है। बहुतों की गणना केवल पर्वतीय होने के कारण कर दी गई। इन गणनाओ मे कही-कही परस्पर विरोध भी है। इससे जान पडता है कि इनका कोई प्रामाणिक आधार नही रहा, केवल जनश्रुतियो के आधारपर गणना कर दी गई। बहुत से वैयाकरण यह भी नही बता सके कि इन बोलियो में परस्पर क्या भेद है और इस बातको सूक्ष्म भेद-कहकर टाल दिया गया।

कुछ आचार्यो ने दाक्षिणी भाषाओ को भी प्राकृत अथवा अपभ्रश में गिना है।

एक बात और है। वैयाकरणो ने शौरसेनी, मागधी और महाराष्ट्री प्राकृत के जो लक्षण दिये है वे स्थानीय--शिलालेखो से नही मिलते। इससे ज्ञात होता है कि वैयाकरणो के समय इन भाषाओने कृत्रिम रूप ले लिया था, और वे केवल साहित्य तक सीमित हो गई थी। नाटको और प्रहसनो में उनका प्रयोग हास्य-रस के लिए होता था। भाषा की ऐतिहासिकता के साथ उनका कोई सबध नही था।

प्राकृत व्याकरणो का मुख्य लक्ष नाट्य-साहित्य रहा है। सस्कृत नाटको में राजा, राज-पुरोहित, मत्री आदि उत्तम पात्र संस्कृत बोलते है।

और मध्यम तथा जघन्य कोटी के पात्र विभिन्न प्रकार की प्राकृत बोलते हैं अधिकतर प्राकृत व्याकरण उन्ही के ज्ञान के लिए रचे गये। बताने की आवश्यकता नही है कि इन प्राकृतो का मूल-बोलियो के साथ विशेष सबध नही था। बौद्धो और जैनो का आगम-साहित्य पाली एव अर्द्धमागधी मे है। किन्तु ब्राह्मण विद्वानो ने प्राकृत व्याकरण लिखते समय उनका पर्यालोचन नही किया। वे केवल नाटको तक ही सीमित रहे। बहुत से नियम जनश्रुतियो के आधार पर भी बनाये गये।

प्राकृत व्याकरणों का परिचय

卐 ◆ ◆ ◆ 卐

दो शाखाएँ– विद्वानो ने प्राकृत की दो शाखाएँ मानी है– पश्चिमी और पूर्वी। प्रथम को वाल्मीकी और द्वितीय को वररूचि की परम्परा कहा जाता है। पश्चिमी परम्परा का प्रतिनिधि त्रिविक्रम (१३०० ई०) कृत प्राकृत व्याकरण हैं। कहा जाता है कि इसे महाकवि वाल्मीकि ने रचा था। किन्तु इस अनुभूति का कोई प्रामाणिक आधार नही है। लक्ष्मीधर कृत 'षड्भाषाचन्द्रिका' तथा सिंहराज कृत 'प्राकृत रूपावतार भी इसी शाखा में आते हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो पश्चिमी परम्परा का प्रथम व्याकरण हेमचन्द्र की रचना है। इसका परिचय आगे दिया जायेगा।

पूर्वी शाखा का प्रथम व्याकरण वररूचिकृत 'प्राकृत प्रकाश' है। इस पर प्रथम टीका कात्यायन (६००–७०० ई०) की 'प्राकृत-मञ्जरी' है। दूसरी 'मनोरमा' नामक टीका काश्मिरी विद्वान् भामह (७००-८०० ई०) की है। वररूचि विक्रमादित्य (चन्द्रगुप्त ३७६-४१४) के नवरत्नो में गिने जाते हैं। कुछ विद्वानो का मत है कि कात्यायन वररूचि का ही

दूसरा नाम था। प्रस्तुत व्याकरण की रचना उन्ही दिनो हुई जब कालिदास (४००–५०० ई०) के नाटक मच पर खेले जा रहे थे। यह बताने की आवश्यकता नही है कि इसका मुख्य आधार वे नाटक ही रहे होगे। इस शाखा के दूसरे व्याकरण निम्नलिखित हैं--

१) प्राकृत कामधेनु-इस पर लकेश्वर कृत 'प्राकृत लकेश्वर,-नामक टीका है। २) क्रमदीश्वर कृत 'सक्षिप्त सार' का अतिम अध्याय। ३) वसन्तराज कृत 'प्राकृत सजीवनी,। ४) पुरोषतम (१२वी शदी) कृत 'प्राकृत अनुशासन, ५) रामशर्मा (१७वी शदी) कृत 'प्राकृत-कल्पतरू' ६) मार्कण्डेय (१७ शदी) कृत 'प्राकृत-सर्वस्व,। मार्कण्डेय ने शाकल्य, भरत, कोहल, वररुचि, भामह, वसन्तराज आदि आचार्यों का उल्लेख किया हैं।

प्रस्तुत दो शाखाओ मे मुख्य भेद नीचे लिखे अनुसार है–

१) दोनो शाखाओं के गण एक दूसरे से भिन्न हैं।

२) दोनो ने पैशाची का जो स्वरूप वताया हैं वह एक दूसरे से नही मिलता।

पश्चिमी शाखा में पैशाची के अनेक भेद हैं। वहाँ पूर्वी-पैशाची का निरूपन चूलिका--पैशाची के रूप में आया है और उसे कोई महत्व नही दिया गया।

पूर्वी शाखा में पैशाची के ७ भेद हैं और किसी का पश्चिमी शाखा के साथ सादृश्य नही है।

कुछ अन्य व्याकरण निचे लिखे अनुसार हैं–

चण्ड कृत	प्राकृत-लक्षण
हृषीकेश कृत	प्राकृत-व्याकरण
दुर्गाचार्य कृत	षड्भाषा रूपमालिका
शेषकृष्ण कृत	प्राकृत चन्द्रिका
अप्पयदीक्षित कृत	प्राकृत-मणि-दीप
तथा कथित, पाणिनि कृत	प्राकृत-लक्षण

षड्भाषा मञ्जरी, षड्भाषाविचार, षड्भाषा सुवन्तादर्श आदि।

प

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र मे कुछ प्राकृतो का वर्णन किया है किन्तु खडित होने के कारण इस आधार पर कोई निश्चित धारणा नही बनाई जा सकती। वररूचि के समय प्राकृत जीवित भाषा थी। अतः उसके व्याकरण का विशेष महत्व है। उतरवर्ती व्याकरण प्राकृत में रचे गये साहित्य के आधार पर लिखे गये।

वररुचिकृत प्राचीन 'प्राकृत-प्रकाश, मे ९ अध्याय है। उनमें एक ही प्रकारका प्राकृत वर्णन है। वररुचि तथा कात्यायन ने प्रादेशिक भेदों के आधार पर प्राकृत के भेद स्वीकार नही किये। उत्तरकालीन वैयाकरणो ने इस प्राकृत को महाराष्ट्री कहा है। प्रतीत होता है वर्तमान हिंदी के समान इसे उत्तर भारत के सभी नागरिक समझते थे। छन्दोवद्ध रचनाएँ इसी में होती थी। 'प्राकृत-प्रकाश, का दशवाँ अध्याय पैशाची और ग्यारहवां मागधी के साथ सम्वद्ध है। किन्तु ये दोनो वररूचि की रचना नही है। प्रतीत होता है उन्हे भामह अथवा वररूचि के पश्चातवर्ती किसी अन्य आचार्य ने रचा। इसका बारहवाँ अध्याय शौरसेनी से सम्वद्ध है किन्तु भामह ने उस पर टीका नही लिखी। प्रतीत होता है वह उसके भी पश्चात् जोडा गया।

卐~卐

हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण

अब हम प्रस्तुत प्राकृत व्याकरण की कुछ चर्चा करेंगे। हेमचद्र ने 'हेम शब्दानुशासन' नाम से व्याकरण की रचना की। इस में आठ अध्याय है। प्रथम सात अध्यायों का सम्बन्ध संस्कृत के साथ है और अष्टम का प्राकृत के साथ। इनपर हेमचद्र ने स्वयं व्याख्या भी लिखी है।

अष्टम अध्याय का प्रथम सूत्र,-"अथ प्राकृतम्. है। इसकी व्याख्या मे हेमचंद्र ने लिखा है. 'प्रकृति हि संस्कृतं तत आगतं प्राकृतम्,। अर्थात् संस्कृत 'प्रकृति, है और उनसे आयी हुई भाषा का नाम 'प्राकृत, है।

समें प्राकृत भाषा का मूल संस्कृत को बताया गया है। हम ऊपर बता चुके हैं कि वेदो की भाषा के पश्चात् पाली एव प्राकृत का स्वतन्त्र विकास हुआ। वह सस्कृत का परिवर्तन नही है। हेमचद्र का उपर्युक्त कथन इस बातको प्रकट करता है कि उनके समय में प्राकृत बोलचाल की भाषा न रहकर साहित्यिक भाषा वन गई थी। जिस प्रकार सस्कृत ने बोलचाल की भाषा न रहनें पर भी साहित्यिक भाषा का रूप ले लिया और ब्राह्मण वर्ग उसके अध्ययन एव लेखन में लगा रहा उसी प्रकार जैन–परम्परा में भी प्राकृत साहित्य की भाषा बन गई। जैन विद्वान एक ओर अपने धर्मग्रथो का अध्ययन करने के लिए उसका पठन-पाठन आवश्यक मानते थे, दूसरी ओर संस्कृत.की प्रतिस्पर्धा में लौकिक साहित्य की रचना भी करते थे। इतना ही नही जन-सम्पर्क की दृष्टि से भी प्राकृत सस्कृत की तुलना में अधिक व्यापक होती जा रही थी। फिर भी अध्ययन का प्रारभ सस्कृत से ही होता था। ब्राह्मण वर्ग लौकिक संस्कृत के पश्चात्, वैदिक संस्कृत पढता था और जैन–साधु सस्कृत का ज्ञान हो जाने के पश्चात् प्राकृत एवं आगमो का अध्ययन करते थें। अध्ययन की सुविधा को लक्ष में रखकर ही हेमचद्र ने सस्कृत को प्राकृत का मूल बताया।

प्रस्तुत प्राकृत व्याकरण में छ प्राकृतो का निरूपण है–१) महाराष्ट्री २) शौरसेनी ३) पैशाची ४) चूलिका--पैशाची ५) मागधी और ६) अपभ्रश। सर्व प्रथम महाराष्ट्री का निरूपण है और उसके पश्चात् अन्य प्राकृतो की विशेषताएँ बतलाई गई है। तुलनात्मक अध्ययन के लिए उचित होगा कि एक ही नियमका पर्यालोचन समस्त प्राकृतो की दृष्टि से कर लिया जाये। इससे यह पता चल जायेगा कि क्रमिक विकास की दृष्टि से किस प्राकृत का स्थान पहले है और किसका पीछे। कुछ प्राकृते क्रमिक विकास के स्थान पर स्थानीय भेद को प्रकट करती हैं। इस दृष्टि से महाराष्ट्री प्राकृत का प्रतिनिष्ठित रूप है। मागधी,शौरसेनी आदि का स्थान उससे पहले है। इस बात को नीचे लिखे उदाहरण द्वारा जाना जा सकता है–

महाराष्ट्री में स्वर मध्यवर्ती क,ग,च,ज,त,द, प 'व,य और व का प्राय

लोप हो जाता है । शौरसेनी में 'त, का 'द, होता है, मागधी में 'ज, का 'य पैशाची में 'द, का 'त, और अपभ्रश मे 'क,का 'ग, ।

भाषा-विज्ञान के अनुसार हमारे उच्चारण में उत्तरोत्तर शिथिलता आते जाती है । इस दृष्टि से कठोर व्यञ्जन, मृदु हो जाते हैं और अन्त में स्पर्श अस्पर्शो मे वदल जाते हैं । इस क्रम से 'क' की द्वितीय अवस्था ग, है, तृतीय 'य, (लघुश्रुति) और 'अ, । मागधी में 'स, के स्थान मे 'श, और 'र, के स्थान में 'ल, आ जाता है । यह वात वहाँ की स्थानीय विशेषता को प्रकट करती है । मगध में अव भी ' मन्दिर, को ' मन्दिल , कहते हैं और प्राय' 'स, का तालव्य उच्चारण करते हैं । महाराष्ट्री में प्रथमा का एकवचन 'देवो' होता है, मागधी में इसके स्थान पर 'देवे, आता है । यह भी तालूकरण, का ही एक प्रभाव है ।

हेमचद्र ने सस्कृत शव्दो के प्राकृत में जो आदेश किये है वे भाषा विज्ञान से मेल नही खाते । उदाहरण स्वरूप 'गम, धातु का 'हिण्ड, या 'भम्म, नहीं वन सकता । हेमचद्र ने केवल अर्थ का ध्यान रखा है । भाषा विज्ञान की दृष्टि से अध्ययन करने के लिये उचित होगा कि मूल धातुओं की खोज की जाय । पाणिनि के धातु-पाठ में 'हिण्डिगतौ, स्वतंत्र धातु है । जिसके रूप– 'हिण्डति, इत्यादि चलते है । इसी प्रकार 'भ्रम, धातु भी स्वतत्र है । यदि इस प्रकार भी सदृश्य धातुओका ध्यान रखा जाय । तो अध्ययन अधिक वैज्ञानिक हो सकेगा ।

卐卐

प्राकृत व्याकरणों की सूची

व्याकरण का नाम	रचयिता
१ प्राकृत प्रकाश	वररूचि
२ प्राकृत लक्षण	चण्ड
३ प्राकृत व्याकरण	हेमचद्र

४ प्राकृत संजीवनी	वसंतराज इसका उल्लेख मार्कण्डेय कृत 'प्राकृत सर्वस्व में है।
५ प्राकृत कामधेनु	लकेश्वर
६ प्राकृत-व्याकरण	समतभ्रद्र
७ प्राकृत व्याकरण वृत्ति	त्रिविक्रम देव
८ प्राकृत प्रक्रियावृति (ढूढिका)	उदय सौभाग्य
९ प्राकृत वोध	नरचन्द्र
१० प्राकृत कल्पतरू	रामतर्कवागीश
११ प्राकृत-चद्रिका	कृष्णपडित(शेषकृष्ण)
१२ प्राकृत चद्रिका	वामनाचार्य
१३ प्राकृत मनोरमा	भामह, इसका उल्लेख भामह के प्राकृत-सर्वस्व में है।
१४ प्राकृतरूपावतार	सिहराज
१५ प्राकृत-दीपिका	चंडीवर शर्मा
१६ प्राकृत-मञ्जरी	कात्यायन
१७ प्राकृत सर्वस्व	मार्कण्डेय
१८ प्राकृतानद	रघुनाथ शर्मा
१९ प्राकृत प्रदीपिका	नरसिह
२० प्राकृत मणि दीपिका	चिन्नवोम्मभूपाल
२१ प्राकृत मणिदीप	अप्पयज्वन्
२२ षड्भाषा मञ्जरी	---
२३ षड्भाषा वार्तिक	---
२४ षड्भाषा चन्द्रिका	लक्ष्मीधर
२५ षड्भाषा चन्द्रिका	भामकवि
२६ षड्भाषा सुवतादर्श	------
२७ षड्भाषा रूपमालिका	दुर्गणाचार्य
२८ संक्षिप्तसार प्राकृत पाद	क्रमदीश्वर
२९ प्राकृत व्याकरण	शुभचद्र

ग— आचार्य हेमचन्द्र

(१०८९–११७३ ई०)

जैन–साहित्य मे हेमचन्द्र का मूर्धन्य स्थान है। उनकी बहुमुखी प्रतिभा ने साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र को समृद्ध किया। व्याकरण, कोश, काव्य, अलकार, दर्शन, योग आदि कोई विषय ऐसा नही है जिन पर उनका महत्वपूर्ण ग्रन्थ न हो। सस्कृत तथा प्राकृत पर उनका एक-सा आधिपत्य था। इस व्यापक ज्ञान के कारण उन्हे 'कलिकालसर्वज्ञ' कहा जाता है।

गुजरात में अणहिलपुर (पाटन) नाम का नगर है जो - - (?) ई० मे सोलकी वश को राजधानी थी - - (?) ई० में वहाँ जयसिह सिद्धराज एव कुमारपाल नामक प्रतापी राजा हुए। हेमचन्द्र उन्ही के समकालीन थे। सिद्धराज ने हेमचन्द्र का निर्माण किया और कुमारपाल ने उनकी प्रतिभा के सर्वतोमुखी विस्तार में योगदान दिया। 'प्रभावकचरित, के उल्लेखो से ज्ञात होता है कि जयसिह सिद्धराज के पितामह भीमदेव (प्रथम) (ई० १०२१–६४) के समय पाटन अन्तर्देशीय व्यापार का महत्वपूर्ण केन्द्र था। सास्कृतिक दृष्टि से भी उसका महत्व कम नही था। शैवाचार्य, ज्ञानदेव, पुरोहित, सोमेश्वर, सुराचार्य, मध्यदेश के ब्राह्मण–पडित श्रीधर और श्रीपति, जयराशिभट्ट के 'तत्त्वोपप्लव, की 'युक्तियो के बल से पाटन की सभा मे वाद करने वाला भृगुकच्छ का कौलकवि, जैनाचार्य शातिसूरि आदि इसी समय हुए। कर्ण सुन्दरी नाटिका के रचयिता काश्मिरी पडित विल्हड ने और नवागगीरीकाकार अभयदेवसूरि ने कर्णदेव के राज्य में पाटन को सुशोभित किया था।

आचार्य हेमचन्द्र के जीवन–परिचय का मुख्य आधार "कुमारपाल–प्रतिबोध" नामक ग्रन्थ है। प्रभावक चरित में हेमचन्द्राचार्य का जन्म वि० स० ११४५ (ई० स० १०८९) है। उनका जन्म वैश्य जाति के मोढ वश में हुआ था। पिता का नाम चच्च (अथवा चाचिग), और

माता का नाम चाहिणी (अथवा पाहिणी) था। निवासस्थान धन्धुका नामक ग्राम था। बाल्यावस्था में उनका नाम 'चगदेव' था। प्राचीन समय में यह सामान्य परिपाटी थी कि किसी महापुरुष के गर्भ में आने पर उसकी माता द्वारा अद्भुत स्वप्न दर्शन का वर्णन किया जाता था। सोमप्रभसूरि ने भी हेमचन्द्र की माता द्वारा स्वप्नदर्शन का वर्णन किया है। उन्होने उनकी मृत्यु के १२ वर्ष पश्चात् प्रभावक चरित की रचना की। इससे पता चलता है कि मृत्यु के कुछ ही वर्ष पश्चात् हेमचन्द्र की गणना चमत्कारी पुरुषों में होने लगी थी।

प्रभावक चरित के अनुसार चगदेव ५ वर्ष की अवस्था (१०८४ ई.) में ही श्रमणसंघ में सम्मिलित हो गये थे। जिनमंडनकृत 'कुमारपाल' प्रबन्ध के अनुसार वे ९ वर्ष (१०८९ ई.) में तथा प्रबंध-चिन्तामणि, पुरातन प्रबन्ध सागर और प्रबध-कोष में आठ वर्ष की आयु में दीक्षित हुए थे। कुछ ही समय पश्चात् श्री देवचन्द्र सूरि ने उन्हे गणधर पद दे दिया और उनका नाम 'हेमचन्द्र' रखा प्रतीत होता है। चच्च, माहेश्वरी थे। पीछे के ग्रथो में उन्हे मिथ्यात्वी बताया गया है, किन्तु चाहिनी जैन प्रतीत होती है। अतिम जीवन में वह दीक्षित हो गई थी। सोमचन्द्र को २१ वर्ष की आयु (१११० ई.) में सूरिपद मिला। उस समय से वे हेमचन्द्र के नाम से विख्यात हुए। 'कुमारपाल-प्रतिबोध' के अनुमार यह महोत्सव नागौर (मारवाड) में हुआ था। हेमचन्द्र के गुरु देवचन्द्र लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् थे। 'स्थानाग सूत्र' पर उनकी टीका है। सम्भवतया हेमचन्द्र ने उन्ही से विद्या ग्रहण की। 'त्रिपष्ठिशलाकापुरुप' में हेमचन्द्र का कथन है—

"तत्प्रसादादधिगतज्ञानसम्पन्नमहोदय।" प्रभावक चरित में हेमचन्द्र के जीवन के साथ बहुत सी चमत्कारपूर्ण घटनाएँ वर्णित है। कहा जाता है उन्होने ब्राह्मी अर्थात् सरस्वती की आराधना करने के लिए काश्मीर जाने का निश्चय किया किंतु खभात से बाहर निकलते ही रैवत विहार में उनका साक्षात्कार हो गया। सम्भवतया उन्होने काश्मीरी ब्राह्मणों

वीर चरित, के अतिरिक्त प्रभाचन्द्रसूरिकृत प्रभावक चरित, (वि० सं० १३३४, ई० स० १२७८), मेरुतुगकृत 'प्रबन्ध चिन्तामणि, (वि० स० १३६१ = १३०५ ई०), राजशेखर कृत 'प्रबन्ध-कोश, और जिनमण्डन उपाध्याय कृत 'कुमारपाल प्रबन्ध, का साधन के रूप में उपयोग किया था। आज हमें इनके अलावा सोमप्रभसूरि कृत 'कुमारपाल प्रतिबोध, और 'शतार्थ काव्य, यश.पाल कृत 'मोहराज पराजय, (वि० स० १२२९-३२), और अज्ञात-कर्तृक 'पुरातन प्रबंध सग्रह, उपलब्ध हैं। इनमे से सोमप्रभसूरि तथा यशःपाल, आचार्य हेमचन्द्र के लघुवयस्क समकालीन थ।

इस सामग्री में से 'कुमारपाल प्रतिबोध, (वि० स० १२४१) को आचार्य की जीवन-कथा के लिए मुख्य आधार ग्रथ मानना चाहिए और दूसरे ग्रंथो को पूरक मानना चाहिए। सोमप्रभसूरि के कथनानुसार उनके पास ज्ञेय सामग्री खूब थी, पर उस सामग्री मे से उन्होने अपने रस के विषय के अनुसार ही उपयोग किया है। इसलिए हम जिसे जानना चाहे ऐसा बहुत सा वृतान्त गूढ ही रहता है।

डा० बूलर का कथन है कि सर्वदर्शन-सग्रह के रूप मे हेमचन्द्र की यह चतुराई थी, किन्तु अनेक आचार्यो ने अनेकान्त का प्रतिपादन सर्व-दर्शन-सग्रह के रूप में किया है। हेमचन्द्र की दृष्टि भी इसी प्रकार की रही है। ऐसी दृष्टि में उसे केवल चतुराई कहना उचित नहीं जान पडता। स० ११९१ से लेकर जयसिंह की मृत्यु अर्थात् ११९९ वि० स० के प्रारभ तक हेमचन्द्र का जयसिंह के साथ सतत सम्पर्क रहा। उस समय उनकी आयु ५४ वर्ष की थी।

उसके पश्चात् हेमचन्द्र का परिचय कुमारपाल के साथ हुआ। यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि इसका प्रारभ कब हुआ। विद्वानो की यह धारणा है कि कुमारपाल, शासन पर बैठने के पश्चात् कुछ समय तक युद्धों में व्याप्त रहा। यह परिचय उसके पश्चात् ही प्राप्त हुआ होगा। जयसिंह के साथ उनका परिचय समवयस्क सहयोगी के समान था। किन्तु

कुमारपाल के साथ वह गुरु--शिष्य का हो गया। कुमारपाल का अंतिम जीवन व्रतधारी श्रावक के समान हो गया था, फिर भी यह नही कहा जा सकता कि उसने कुल–क्रमागत शिव–पूजा छोड दी थी। हेमचन्द्र के उप– देश से कुमारपाल ने अपने राज्य में वहुत से सुधार किये। द्यूत तथा मद्य– पान पर रोक लगाई। उन दिनो जो व्यक्ति निस्सतान मर जाता था उसकी सपत्ति पर राज्य का अधिकार हो जाता था। कुमारपाल ने इस प्रथा को भी वन्द कर दिया। इसी प्रकार यज्ञ-यागादि में होने वाली पशु हिंसा वन्द कर दी गई। विशेप पर्वों पर 'अमारि' घोपणा हो गई थी। कहा जाता है कुमारपाल ने वहुत से जैन--मन्दिर भी वनवाये थे।

उदयन और वाग्भट्ट सिद्धराज के मत्री थे। हेमचन्द्र का उनके साथ घनिष्ठ सवध था। कहा जाता है कि कुमारपाल का कोई पुत्र न था। फलस्वरूप उसके सामने उत्तराधिकारी का प्रश्न आया और वह हेमचन्द्र के पास गया, आचार्य ने उन्हे अपने दौहित्र प्रतापमल्लको उत्तराधिकारी वनाने का परामर्श दिया। उस समय 'वसाह' नामक जैन महाजन भी उपस्थित था। उसने यह परामर्श दिया कि कुछ भी हो निजी वंशज को ही गद्दी देनी चाहिए। अन्य कोई उल्लेख ऐसा नही मिलता जो हेमचन्द्र की राज्यकार्य में रुचि वताता हो।

प्रभावकचरित के अनुसार हेमचन्द्र ८४ वर्ष की आयु (११७९ ई०) में दिवगत हुए।

हेमचन्द्र का व्यक्तित्व

प्रभाव की दृष्टि से हेमचन्द्र का व्यक्तित्व दो क्षेत्रो में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम क्षेत्र उनके पाडित्य एव साहित्य-साधना का है। सस्कृत-साहित्य के इतिहास में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रत्येक विपय में उनकी मौलिक रचनाएँ अपनी विपेपता रखती है। द्वितीय क्षेत्र धर्मगुरु एव समाज--निर्माता का है। दो प्रभावशाली राजाओ के साथ निकट सम्बन्ध होने के कारण उन्होने वहुत से सामाजिक सुधार किए। उनका उल्लेख ऊपर आ चुका है। इस विपय में भी उनका क्षेत्र जैन--परम्परा

विद्याध्ययन किया था। इसी बात को दैवी रूप दे दिया गया। गुजरात में काश्मीरी पंडितो का आगमन विल्हड के जीवन-वृतान्त से सिद्ध होता है। 'मुद्रितकुमुदचन्द्र' नामक नाटक में भी जयसिंह की सभा मे उत्साहनामक विद्वान् का अस्तित्व बताया गया है। व्याकरण लिखनें से पूर्व हेमचन्द्र को अन्य व्याकरणों की आवश्यकता हुई थी, इसके लिए उत्साह् पडित काश्मीर गये और वहाँ से आठ व्याकरण लायें। 'सिद्धहेम' पूरा होने पर उत्साह पडित को शारदा देश भेजा गया। 'काव्यानुशासन में हेमचन्द्र ने अभिनव गुप्त का बहुमानपूर्वक उल्लेख किया है। ये बाते उनका काश्मीरी विद्वानो के साथ सम्पर्क सिद्ध करती हैं। उस समय प्रसिद्ध विद्वानो के साथ 'पद--वाक्य-प्रमाण- पारायण' विशेषण जोड़ा जाता था। इसमें तीन विद्याओं का उल्लेख है, पद अर्थात् व्याकरण शास्त्र। वाक्य अर्थात् काव्य शास्त्र और प्रमाण अर्थात् तर्क शास्त्र। राज--दरबार में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए तीनों पर आधिपत्य आवश्यक माना जाता था। हेमचन्द्र की रचनाओ से ज्ञात होता है कि वे भी तीनो में लब्ध--प्रतिष्ठ थे।

राजस्थान में भ्रमण करने पर भी हेमचन्द्र का मुख्य ध्येय गुजरात ही रहा है। ऊपर बताया जा चुका है कि अणिहिल्लपुर अर्थात् पाटण उन दिनो महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक केन्द्र था। इसी दृष्टि से हेमचन्द्र ने भी उसी को अपना कार्य क्षेत्र बनाया होगा। 'प्रभावक--चरित और प्रबंध--चिन्ता--मणि के अनुसार कुमुदचन्द्र के साथ, वादिदेवसूरि का जो शास्त्रार्थ हुआ उसमें हेमचन्द्र भी उपस्थित थें। उस समय उनकी आयु २१ वर्ष की थी और आचार्य पद को १० वर्ष हो चुके थे।

हेमचन्द्र और जयसिंह का प्रथम--मिलन अणहिल्लपुर के किसी संकुचित ग्राम में हुआ था। एक ओर से जयसिंह अपनें हाथी पर जा रहें थे। और दूसरी ओर से वे आ रहे थें। जयसिंह को कुछ सकोच हुआ और उसने अपना हाथी रोक दिया। हेमचन्द्र ने विशिष्ट पदो में जयसिंह का अभिनन्दन किया और नि:शक होकर हाथी ले जाने के लिए कहा। किन्तु

यह बताना कठिन है कि प्रस्तुत घटना कहाँ तक ऐतिहासिक है। जब सिद्ध-राज जयसिंह मालवा पर विजय प्राप्त करके लौटे तो विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायो के आचार्य उन्हे आशीर्वाद देने गये। उनमें हेमचन्द्र भी थे। उन्होंने नीचे लिखे श्लोक द्वारा आशीर्वाद दिया था।

भूमिं कामगवि! स्वगोमयरसैरासिञ्च रत्नाकरा
मुक्तास्वस्तिकमातनुध्वमुडुप त्वं पूर्णकुंभी भव।
धृत्वा कल्पतरोर्दलानि सरलैर्दिग्वारणास्तोरणान्या-
धत्तस्वकरैर्विजित्य जगती नन्वेति सिद्धाधिप.।

यह घटना ई० स० ११३६ (वि० सं० ११९१-९२) की है।

जयसिंह और हेमचन्द्र के परस्पर सबध का परिचय 'कुमारपालप्रति-बोध' से मिलता है। जयसिंह कट्टर शैव था। फिर भी हेमचन्द्र के प्रति अनुराग उसके विद्याप्रेम को प्रकट करता है। दूसरी ओर हेमचन्द्र ने अपनी रचनाओ में स्थान-स्थान पर उसका स्मरण किया है। प्राकृत 'द्वयाश्रय, काव्य का तो कथानायक ही वह है। धर्म के मत-भेद होने पर भी इन दोनो का मिलन विद्यानुराग के उज्ज्वल आदर्श को उपस्थित करता है। प्रबन्धचिन्तामणि में सर्वदर्शनमान्यतानामक प्रकरण है। उसमें सिद्धराज विभिन्न दार्शनिको मे देवत्व और पात्रत्व के सबध में जिज्ञासा करता है। सभी अपने अपने मत का समर्थन और दूसरे का खडन करते है, किन्तु हेमचन्द्र ने सभी के समन्वय पर बल दिया। सम्भवतया उनकी इसी बात ने सिद्धराज को प्रभावित किया होगा। अपने मत का समर्थन करने के लिए उन्होने पुराणो से एक कथानक भी उद्धृत किया है।

डा० ब्यूलर ने १८८१ ई० में आचार्य हेमचन्द्र पर गवेषणापूर्ण निबन्ध लिखा था। उसमें उन्होने आचार्य हेमचन्द्र के अपने ग्रन्थ 'द्वया— काव्य' 'सिद्धहेम की प्रशस्ति' और 'त्रिषष्ठीशलाका पुरुषचरित' में

वीर चरित, के अतिरिक्त प्रभाचन्द्रसूरिकृत प्रभावक चरित, (वि० सं० १३३४, ई० स० १२७८), मेरुतुगकृत 'प्रबन्ध चिन्तामणि, (वि० स० १३६१ = १३०५ ई०), राजशेखर कृत 'प्रबन्ध-कोश, और जिनमण्डन उपाध्याय कृत 'कुमारपाल प्रबन्ध, का साधन के रूप में उपयोग किया था। आज हमें इनके अलावा सोमप्रभसूरि कृत 'कुमारपाल प्रतिबोध, और 'शतार्थ काव्य, यश.पाल कृत 'मोहराज पराजय, (वि० स० १२२९-३२), और अज्ञात-कर्तृक 'पुरातन प्रबंध संग्रह, उपलब्ध हैं। इनमें से सोमप्रभसूरि तथा यशःपाल, आचार्य हेमचन्द्र के लघुवयस्क समकालीन थ ।

इस सामग्री में से 'कुमारपाल प्रतिबोध, (वि० स० १२४१) को आचार्य की जीवन-कथा के लिए मुख्य आधार ग्रथ मानना चाहिए और दूसरे ग्रंथो को पूरक मानना चाहिए। सोमप्रभसूरि के कथनानुसार उनके पास ज्ञेय सामग्री खूब थी, पर उस सामग्री में से उन्होंने अपने रस के विषय के अनुसार ही उपयोग किया है। इसलिए हम जिसे जानना चाहे ऐसा वहुत सा वृतान्त गूढ़ ही रहता है।

डा० बूलर का कथन है कि सर्वदर्शन-सग्रह के रूप मे हेमचन्द्र की यह चतुराई थी, किन्तु अनेक आचार्यों ने अनेकान्त का प्रतिपादन सर्व-दर्शन-सग्रह के रूप में किया है। हेमचन्द्र की दृष्टि भी इसी प्रकार की रही है। ऐसी दृष्टि में उसे केवल चतुराई कहना उचित नहीं जान पड़ता। स० ११९१ से लेकर जयसिंह की मृत्यु अर्थात् ११९९ वि० स० के प्रारभ तक हेमचन्द्र का जयसिंह के साथ सतत सम्पर्क रहा। उस समय उनकी आयु ५४ वर्ष की थी।

उसके पश्चात् हेमचन्द्र का परिचय कुमारपाल के साथ हुआ। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इसका प्रारभ कब हुआ। विद्वानो की यह धारणा है कि कुमारपाल, शासन पर बैठने के पश्चात् कुछ समय तक युद्धों में व्याप्त रहा। यह परिचय उसके पश्चात् ही प्राप्त हुआ होगा। जयसिंह के साथ उनका परिचय समवयस्क सहयोगी के समान था। किन्तु

कुमारपाल के साथ वह गुरु--शिष्य का हो गया। कुमारपाल का अंतिम जीवन व्रतधारी श्रावक के समान हो गया था, फिर भी यह नही कहा जा सकता कि उसने कुल--क्रमागत शिव--पूजा छोड दी थी। हेमचन्द्र के उप-देश से कुमारपाल ने अपने राज्य में बहुत से सुधार किये। द्यूत तथा मद्य-पान पर रोक लगाई। उन दिनो जो व्यक्ति निस्सतान मर जाता था उसकी सपत्ति पर राज्य का अधिकार हो जाता था। कुमारपाल ने इस प्रथा को भी वन्द कर दिया। इसी प्रकार यज्ञ-यागादि मे होने वाली पशु हिंसा बन्द कर दी गई। विशेष पर्वो पर 'अमारि' घोषणा हो गई थी। कहा जाता है कुमारपाल ने बहुत से जैन--मन्दिर भी बनवाये थे।

उदयन और वाग्भट्ट सिद्धराज के मत्री थे। हेमचन्द्र का उनके साथ घनिष्ठ सबध था। कहा जाता है कि कुमारपाल का कोई पुत्र न था। फलस्वरूप उसके सामने उत्तराधिकारी का प्रश्न आया और वह हेमचन्द्र के पास गया, आचार्य ने उन्हे अपने दौहित्र प्रतापमल्लको उत्तराधिकारी बनाने का परामर्श दिया। उस समय 'वसाह' नामक जैन महाजन भी उपस्थित था। उसने यह परामर्श दिया कि कुछ भी हो निजी वंशज को ही गद्दी देनी चाहिए। अन्य कोई उल्लेख ऐसा नही मिलता जो हेमचन्द्र की राज्यकार्य में रुचि वताता हो।

प्रभावकचरित के अनुसार हेमचन्द्र ८४ वर्ष की आयु (११७९ ई०) में दिवगत हुए।

हेमचन्द्र का व्यक्तित्व

प्रभाव की दृष्टि से हेमचन्द्र का व्यक्तित्व दो क्षेत्रो में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम क्षेत्र उनके पाडित्य एव साहित्य-साधना का है। सस्कृत-साहित्य के इतिहास में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रत्येक विषय में उनकी मौलिक रचनाएँ अपनी विशेषता रखती है। द्वितीय क्षेत्र धर्मगुरु एव समाज--निर्माता का है। दो प्रभावशाली राजाओ के साथ निकट सम्बन्ध होने के कारण उन्होने बहुत से सामाजिक सुधार किए। उनका उल्लेख ऊपर आ चुका है। इस विषय मे भी उनका क्षेत्र जैन--परम्परा

मूल-सूत्राणि

प्राकृत व्याकरणस्य प्रथमः पादः

१ अथ प्राकृतम् । २ वहुलम् । ३ आर्षम् । ४ दीर्घ-ह्रस्वौ मिथो-वृत्तौ । ५ पदयो. सधिर्वा । ६ न युवर्णस्यास्वे । ७ एदोतो स्वरे । ८ स्वरस्योद्वृत्ते । ९ त्यादे. । १० लुक् । ११ अन्त्यव्यञ्जनस्य । १२ न श्रदुदो । १३ निर्दुरोर्वा । १४ स्वरेन्तरश्च । १५ स्त्रियामादविद्युत । १६ रो रा । १७ क्षुधो हा । १८ शरदादेरत् । १९ दिक्-प्रावृपो सः । २० आयुरप्सर-सोर्वा । २१ ककुभो ह' । २२ धनुपो वा । २३ मोनुस्वारः । २४ वा स्वरे मश्च । २५ ङ-ञ-ण-नो व्यञ्जने । २६ वक्रादावन्त । २७ क्त्वा-स्यादेर्ण-स्वोर्वा । २८ विंशत्यादेर्लुक् । २९ मासादेर्वा । ३० वर्गेन्त्यो वा । ३१ प्रावृट्शरत्तरणय पुंसि । ३२ स्नमदाम-शिरो-नभ । ३३ वाक्ष्यर्थ-वचनाद्याः । ३४ गुणाद्या क्लीवे वा । ३५ वेमाञ्जल्याद्या स्त्रियाम् । ३६ वाहोरात् । ३७ अतो डो विसर्गस्य । ३८ निष्प्रती ओत्परी माल्य-स्थोर्वा । ३९ आदे. । ४० त्यदाद्यव्ययात् तत्स्वरस्य लुक् । ४१ पदादपेर्वा । ४२ इतेः स्वरात् तश्च द्विः । ४३ लुप्त य-र-व-श-ष-सा-श-ष-सा दीर्घ । ४४ अत समृद्धयादौ वा । ४५ दक्षिणे हे । ४६ इ' स्वप्नादौ । ४७ पक्काङ्गार-ललाटे वा । ४८ मध्यम-कतमे द्वितीयस्य । ४९ सप्तपर्णे वा । ५० मयट्यइर्वा । ५१ ईर्हरे वा । ५२ ध्वनि-विष्वचोरु' । ५३ वन्द्र-खण्डिते णा वा । ५४ गवये वः । ५५ प्रथमे प-थोर्वा । ५६ ज्ञो णत्वे-भिज्ञादौ । ५७ एच्छय्यादौ । ५८ वल्ल्युत्कर-पर्यन्ताश्चर्ये वा । ५९ ब्रह्मचर्ये च । ६० तोन्तरि । ६१ ओत्पद्मे । ६२ नमस्कार-परस्परे द्वितीयस्य । ६३ वार्पौ । ६४ स्वपावुच्च । ६५ नात्पुनर्यादाई वा । ६६ वालाव्वरण्ये लुक् । ६७ वाव्ययोत्खातादावदात' । ६८ घञ् वृद्धेर्वा । ६९ महाराष्ट्रे । ७० मासादिष्वनुस्वारे । ७१ शामाके मः । ७२ इः सदादौ वा । ७३ आचार्ये चोच्च । ७४ ई स्त्यान-खल्वाटे । ७५ उ. सास्ना-स्तावके । ७६ उद्वासारे । ७७ आर्यायां र्य. श्वश्वाम् । ७८ एद्-

ग्राह्ये । ७९ द्वारे वा । ८० पारापते रोवा । ८१ मात्रटि वा । ८२ उदोद्वार्द्रे । ८३ ओदाल्या पंक्तौ । ८४ ह्रस्व. सयोगे । ८५ इत एद्वा । ८६ किंशुके वा । ८७ मिरायाम् । ८८ पथिपृथिवी-प्रतिश्रुन्मूषिक-हरिद्रा-विभीतकेष्वत् । ८९ शिथिलेङ्गुदे वा । ९० तित्तिरौ र. । ९१ इतौतो वाक्यादौ । ९२ ईर्जिह्वा-सिंह-त्रिंशद्विंशतौ त्या । ९३ र्लुकिनिर. । ९४ द्विन्योरुत् । ९५प्रवासीक्षौ । ९६ युधिष्ठिरे वा । ९७ ओच्च द्विधाकृग. । ९८ वा निर्झरे ना । ९९ हरीतक्यामी-तोत् ।१०० आत्कश्मीरे ।१०१ पानीयादिष्वित् ।१०२ उज्जीर्णे । १०३ ऊर्हीन-विहीने वा ।१०४ तीर्थे हे ।१०५ एत्पीयूषापीड-विभीतक-कीदृशेदृशे । १०६ नीड-पीठे वा । १०७ उतोमुकुलादिष्वत् । १०८ वोपरौ । १०९ गुरौ के वा । ११० इर्भ्रुकुटौ । १११ पुरुषे रो. । ११२ ई क्षुते । ११३ उत्सुभग-मुसले वा । ११४ अनुत्साहोत्सन्ने त्सच्छे । ११५ र्लुकिदुरो वा । ११६ ओत्सयोगे । ११७ कुतूहले वा ह्रस्वश्च । ११८ अदूत. सूक्ष्मे वा । ११९ दुकूले वा लश्च द्वि । १२० ईर्वोद्व्यूढे । १२१ उर्भ्रू-हनुमत्कण्डूयवातूले । १२२मधूके वा ।१२३ इदेतौ नूपुरे वा । १२४ ओत्कूष्माण्डी-तूणीर-कूर्पर-स्थूल-ताम्बूल गुडूचीमूल्ये । १२५ स्थूणा-तूणे वा । १२६ ऋतोत् । १२७ आत्कृशा-मृदुक-मृदुत्वे वा । १२८ इत्कृपादौ । १२९ पृष्ठे वानुत्तरपदे । १३० मसृण-मृगाङ्क-मृत्यु-शृङ्ग-धृष्टे वा । १३१ उदृत्वादौ । १३२ निवृत्त-वृन्दारके वा । १३३ वृषभे वा । १३४ गौणान्त्यस्य । १३५ मातुरिद्वा । १३६ उदूदो-न्मृषि । १३७ इदुतौ वृष्ट-वृष्टि-पृथङ्-मृदग-नप्तृके । १३८ वा बृहस्पतौ । १३९ इदेदोद्वृन्ते । १४० रि केवलस्य । १४१ ऋणर्ज्वृषभर्त्वृषौ वा । १४२ दृश क्विप्-टक्सक. । १४३ आदृते ढि । १४४ अरिर्दृप्ते । १४५ लृत इलि.क्लृप्तक्लृन्ने । १४६ एत इद्वावेदना-चपेटा-देवर-केसरे । १४७ ऊ स्तेने वा । १४८ ऐत एत् । १४९ इत्सैन्धव-शनैश्चरे । १५० सैन्ये वा । १५१ अइर्दैत्यादौ च । १५२ वैरादौ वा । १५३ एच्च दैवे । १५४ उच्चैर्नीच-स्यैअ. । १५५ ईद्धैर्ये । १५६ ओतोद्वान्योन्य-प्रकोष्ठातोद्य-शिरोवेदना-मनोहर-सरोरुहे क्तोश्च व. । १५७ ऊत्सोच्छवासे । १५८ गव्यउ-आअः १५९ औत ओत् । १६० उत्सौन्दर्यादौ । १६१ कौक्षेयके वा । १६२ अउः

पौरादौ च । १६३ आच्च गौरवे । १६४ नाव्यावः । १६५ एत्त्रयोदशादौ स्वरस्य सस्वरव्यञ्जनेन । १६६ स्थविर-विचकिलायस्कारे । १६७ वा कदले । १६८ वेत. कर्णिकारे । १६९ अयौ वैत् । १७० ओत्पूतर-बदर-नवमालिका-नवफलिका-पूगफले । १७१ न वा मयूख-लवण-चतुर्गुण चतुर्थ-चतुर्दश-चतुर्वार-सुकुमार-कुतूहलोदूखलोलूखले । १७२ अवापोते । १७३ ऊच्चोपे । १७४ उमो निषण्णे । १७५ प्रावरणे अङ्गवाऊ । १७६ स्वरादसंयुक्तस्या-नादे । १७७ क-ग-च-ज त-द-प-य-वा प्रायो लुक् । १७८ यमुना-चामुण्डा-कामुकातिमुक्तके मोनुनासिकश्च । १७९ नावर्णात्पि । १८० अवर्णो यश्रुति । १८१ कुब्ज-कर्पर-कीले क खोपुष्पे । १८२ मरकत-मदकले ग कन्दुके त्वा-दे. । १८३ किराते च । १८४ शीकरे भ-हौ वा । १८५ चन्द्रिकाया मः । १८६ निकष-स्फटिक-चिकुरे ह. । १८७ ख-घ-थ-ध-भाम् । १८८ पृथकि धो वा । १८९ शृङ्खले ख क. । १९० पुन्नाग-भागिन्योर्गो मः । १९१ छागे ल । १९२ ऊत्वे दुर्भग-सुभगे व । १९३ खचित-पिशाचयोश्च. स-ल्लौ वा । १९४ जटिले जो झो वा । १९५ टो ड । १९६ सटा-शकट-कैटभे ढ । १९७ स्फटिके ल । १९८ चपेटा-पाटौ वा । १९९ ठो ढ. । २०० अङ्कोठे ल्ल. । २०१ पिठरे हो वा रश्च ड । २०२ डो ल. । २०३ वेणौ णो वा । २०४ तुच्छे तश्च छौ वा । २०५ तगर-त्रसर-तूवरे ट. । २०६ प्रत्यादौ ड. । २०७ इत्वे वेतसे । २०८ गर्भितातिमुक्तके ण । २०९ रुदिते दिना ण्णः । २१० सप्ततौ र । २११ अतसी-सातवाहने ल । २१२ पलिते वा । २१३ पीते वो ले वा । २१४ वितस्ति-वसति-भरत-कातर-मातुलिङ्गे ह. । २१५ मेथि-शिथिर-शिथिल-प्रथमे थस्य ढ. । २१६ निशीथ-पृथिव्योर्वा । २१७ दशन-दष्ट-दग्ध- दोला-दण्ड-दर-दाह-दम्भ दर्भ-कदन दोहदे दो वा ड । २१८ दश-दहो २१९ संख्या-गद्गदे र । २२० कदल्यामद्रुमे । २२१ प्रदीपि-दोहदे ल. । २२२ कदम्बे वा । २२३ दीपौ धो वा । २२४ कदर्थिते व । २२५ ककुदे ह । २२६ निषधे धो ढः । २२७ वौषधे । २२८ नो ण । २२९ वादौ २३० निम्ब-नापिते-ल-ण्हं वा । २३१ पो व । २३२ पाटि-परुष-परिघ-परिखा-पनस-पारिभद्रे फ. । २३३ प्रभूते वः । २३४ नीपापीडे मो वा ।

२३५ पापर्द्धो र । २३६ फो भही । २३७ बो व । २३८ विसिन्या भ । २३९ कवन्धे म यौ । २४० कैटभे भो व । २४१ विषमे मो ढो वा । २४२ मन्मथे वः । २४३ वाभिमन्यौ । २४४ भ्रमरे सो वा । २४५ आदेर्यो जः । २४६ युष्मद्यर्थपरे त । २४७ यष्टया ल । २४८ वोत्तरीयानीय-तीय-कृद्ये ज्ज । २४९ छायाया हो कान्तौ वा । २५० डाह-वौ कतिपये । २५१ किरि-भेरे रो ड. । २५२ पर्याणे डा वा । २५३ करवीरे ण । २५४ हरिद्रादौ ल । २५५ स्थूले लो र । २५६ लाहल-लाङ्गल-लाङ्गूले वादेर्ण । २५७ ललाटे च । २५८ शबरे वो म । २५९ स्वप्न निव्योर्वा । २६० श-षो स । २६१ स्नुषाया ण्हो न वा । २६२ दश-पाषाणे हः । २६३ दिवसे स । २६४ हो घोनुस्वारात् । २६५ षट्-शमी-शाव-सुधा-सप्तपर्णेष्वादेश्छ । २६६ शिराया वा । २६७ लुग् भाजन-दनुज-राजकुले ज सस्वरस्य न वा । २६८ व्याकरण-प्राकारागते कगो । २६९ किसलय-कालायस-हृदये य । २७० दुर्गादेव्युदुम्बर-पादपतन-पादपीठेन्तर्द । २७१ यावत्तावज्जीवितावर्तमानावट-प्रावारक-देवकुलैवमेवे व ।

प्राकृत व्याकरणस्य द्वितीय. पादः

१ संयुक्तस्य । २ शक्त-मुक्त-दष्ट-रुग्ण-मृदुत्वे को वा । ३ क्षः ख क्वचित्तु छ-झौ । ४ ष्कस्कयोर्नाम्नि । ५ शुष्क स्कन्दे वा । ६ क्ष्वेटकादौ । ७ स्थाणावहरे । ८ स्तम्भे स्तो वा । ९ थ-ठावस्पन्दे । १० रक्ते गो वा । ११ शुल्के ङ्गो वा । १२ कृत्ति-चत्वरे च । १३ त्योऽचैत्ये । १४ प्रत्यूषेपूश्च हो वा । १५ त्व-थ्व-द्व-ध्वा च-छ-ज-झा क्वचित् । १६ वृश्चिके श्चेर्ञ्चुर्वा । १७ छोऽक्ष्यादौ । १८ क्षमायां कौ । १९ ऋक्षे वा । २० क्षणे उत्सवे । २१ ह्रस्वात् थ्य-श्च-त्स-प्सामनिश्चले । २२ सामर्थ्योत्सुकोत्सवे वा । २३ स्पृहायाम् । २४ द्य-य्य-र्या ज. । २५ अभिमन्यौ ज-ञ्जौ वा । २६ साध्वस-ध्य-ह्या झ । २७ ध्वजे वा । २८ इन्धौ झा । २९ वृत्त-प्रवृत्त-मृत्तिका-पत्तन-कदर्थिते ट । ३० र्तस्याधूर्तादौ । ३१ वृन्ते ण्टः । ३२ ठोस्थि-विसंस्थुले । ३३ स्त्यान-चतुर्थार्थे वा । ३४ ष्टस्यानुष्ट्रेष्टा-सदष्टे । ३५ गर्ते ड । ३६

ंमर्द-वितर्दि-विच्छर्द-च्छर्दि-कपर्द-मर्दितेर्दस्य। ३७ गर्दभे वा। ३८ कन्द-रिका-भिन्दिपाले ण्ड । ३९ स्तब्धे ठ-ढौ। ४० दग्ध-विदग्ध-वृद्धि-वृद्धे ढ। ४१ श्रद्धर्द्धि-मूर्धार्धेन्ते वा। ४२ म्नज्ञोर्ण । ४३ पञ्चाशत्पञ्चदश-दत्ते। ४४ मन्यौ न्तो वा। ४५ स्तस्य थोऽसमस्तस्तम्बे । ४६ स्तवे वा। ४७ पर्यस्ते थ-टौ। ४८ वोत्साहे थो हश्च रः। ४९ आश्लिष्टे ल-धौ। ५० चिह्ने-न्धो वा। ५१ भस्मात्मनो पो वा। ५२ ड्म-क्मो । ५३ ष्प-स्पयो फः। ५४ भीष्मे ष्मः। ५५ श्लेष्मणि वा। ५६ ताम्राम्रे म्ब । ५७ ह्वो भो वा। ५८ वा विह्वले वौ वश्च। ५९ वोर्ध्वे। ६० कश्मीरे म्भो वा। ६१ न्मो म । ६२ ग्मो वा। ६३ ब्रह्मचर्य-तूर्य-सौन्दर्य शौण्डीर्ये र्यो र । ६४ धैर्ये वा। ६५ एतः पर्यन्ते। ६६ आश्चर्ये। ६७ अतो रिआर-रिज्जरीअ। ६८ पर्यस्त-पर्याण-सौकुमार्ये -ल्लः। ६९ बृहस्पति-वनस्पत्योः सो वा। ७० वाष्पे होऽश्रुणि। ७१ कार्षापणे। ७२ दुःख-दक्षिण-तीर्थे वा। ७३ कूष्माण्ड्यां ष्मो लस्तु ण्डो वा। ७४ पक्ष्म-श्म-ष्म-स्म-ह्मां म्हः। ७५ सूक्ष्म-श्न-ष्ण-स्न-ह्न-ह्ण-क्ष्णां ण्हः। ७६ ह्लो ल्हः। ७७ क-ग-ट-ड-त-द-प-श-ष-स-ᳵक-ᳵपामूर्ध्वं लुक्। ७८ अधो म-न-याम्। ७९ सर्वत्र लवरामवन्द्रे। ८० द्रो रो न वा। ८१ धात्र्याम्। ८२ तीक्ष्णे णः। ८३ ज्ञो ञः। ८४ मध्याह्ने हः। ८५ दशार्हे। ८६ आदेः श्मश्रु-श्मशाने। ८७ श्चो हरिश्चन्द्रे। ८८ रात्रौ वा। ८९ अनादौ शेषादेशयोर्द्वित्वम्। ९० द्वितीयतुर्ययोरुपरि पूर्वः। ९१ दीर्घे वा। ९२ न दीर्घानुस्वारात्। ९३ र-होः। ९४ धृष्टद्युम्ने णः। ९५ कर्णि-कारे वा। ९६ दृप्ते। ९७ समासे वा। ९८ तैलादौ। ९९ सेवादौ वा। १०० शार्ङ्गे ङात्पूर्वोत्। १०१ क्ष्मा श्लाघा-रत्नेन्त्यव्यञ्जनात्। १०२ स्नेहा-ग्न्योर्वा। १०३ प्लक्षे लात्। १०४ र्ह-श्री-ह्री-कृत्स्न-क्रिया-दिष्ट्यास्वित्। १०५ र्श-र्ष-तप्त वज्रे वा। १०६ लात्। १०७ स्याद् भव्य-चैत्य-चौर्यसमेषु यात्। १०८ स्वप्ने नात्। १०९ स्निग्धे वादितौ। ११० कृष्णे वर्णे वा। १११ उच्चार्हति। ११२ पद्म-छद्म-मूर्ख-द्वारे वा। ११३ तन्वीतुल्येषु। ११४ एकस्वरे श्व -स्वे। ११५ ज्यायामीत्। ११६ करेणू-वाराणस्यो र-णोर्व्यत्ययः। ११७ आलाने लनोः। ११८ अचलपुरे च-लोः। ११९ महाराष्ट्रे ह-रोः

१२० हृरदे हृदो । १२१ हरिताले र-लोर्न वा । १२२ लघुके ल-होः । १२३ ललाटे ल-डो. । १२४ ह्ये ह्यो । १२५ स्तोकस्य थोक्क-थोव-थेवा. । १२६ दुहितृ-भगिन्योर्धूआ-बहिण्यौ । १२७ वृक्ष-क्षिप्तयो रुक्ख-छूढौ । १२८ वनिताया विलया । १२९ गौणस्येपत् कूरः । १३० स्त्रिया इत्थी । १३१ धृतेर्दिहि । १३२ मार्जारस्य मञ्जर-वञ्जरौ । १३३ वैडूर्यस्य वेरुलिअं १३४ एण्हि एत्ताहे इदानीम । १३५ पूर्वस्य पुरिम । १३६ त्रस्तस्य हित्थ-तट्ठौ । १३७ बृहस्पतौ वहो भय । १३८ मलिनोभय-शक्ति-छुप्तारब्ध-पदातेर्म-इलावह-सिप्पि-छिक्काढत्त-पाइक्कं । १३९ दष्ट्राया दाढा । १४० बहिसो बाहिबाहिरौ । १४१ अधसो हेट्ठ । १४२ मातृ-पितुः स्वसुः सिआ-छौ । १४३ तिर्यचस्तिरिच्छि । १४४ गृहस्य घरोऽपतौ । १४५ शीलाद्यर्थस्येर. । १४६ क्त्वस्तुमत्तूणतुआणाः। १४७ इदमर्थस्य केरः। १४८ पर-राजभ्या क्क-डिक्कौ च । १४९ युष्मदस्मदोञ एच्चय. । १५० वर्तेर्व्वः । १५१ सर्वागादीनस्येक. । १५२ पथो णास्येकट् । १५३ ईयस्यात्मनो णय । १५४ त्वस्य डिमा-त्तणौ वा । १५५ अनङ्कोठात्तैलस्य डेल्लः । १५६ यत्तदेतदोतोरित्तिअ एतल्लुक् च । १५७ इदकिमश्च डेत्तिअडेत्तिल-डेद्दहा. । १५८ कृत्वसो हुत्त । १५९ आलिवल्लोल्लालवन्त मन्तेत्तेर-मणा मतो. । १६० त्तो दो तसो वा । १६१ त्रपो हि-ह-त्थाः । १६२ वैकाद् सि सिअ इआ । १६३ डिल्ल-डुल्लौ भवे । १६४ स्वार्थे कश्च वा । १६५ ल्लो नवैकाद्वा । १६६ उपरे सव्याने । १६७ भ्रु वो मया डमया । १६८ शनैसो डिअम् । १६९ मनाको न वा डय च । १७० मिश्राड्डालिअ । १७१ रो दीर्घात् । १७२ त्वादे. सः । १७३ विद्युत्पत्र-पीतान्धाल्ल । १७४ गोणादय । १७५ अव्ययम् । १७६ त वाक्योपन्यासे । १७७ आम अभ्युपगमे । १७८ णवि वैपरीत्ये । १७९ पुणरुत्तं कृतकरणे । १८० हन्दि विषाद-विकल्प-पश्चात्ताप-निश्चय-सत्ये । १८१ हन्द च गृहाणार्थे । १८२ मिव पिव विव व्व व विअ इवार्थे वा । १८३ जेण तेण लक्षणे । १८४ णइ चेअ चिअ च्च अवधारणे । १८५ बले निर्धारण-

अजाते पुस । ३३ किं यत्तदोऽस्यमामि । ३४ छाया-हरिद्रयो । ३५ स्वस्रादेर्डा । ३६ ह्रस्वोमि । ३७ नामन्त्र्यात्सौ मः । ३८ डो दीर्घो वा । ३९ ऋतोद्वा । ४० नाम्न्यर वा । ४१ वाप ए । ४२ ईदूतोह्रस्वः । ४३ क्विपः । ४४ ऋतामुदस्यमौसु वा । ४५ आर. स्यादौ । ४६ आ अरा मातु । ४७ नाम्न्यरः । ४८ आसौ न वा । ४९ राज्ञः । ५० जस-शस्-ङसि-ङसा णो । ५१ टो णा । ५२ इर्जस्य णो-णा-ङौ । ५३ इणममामा । ५४ ईद्भिस्भ्यसाम्सुपि । ५५ आजस्यटा-ङसि-ङस्सु सणाणोष्वण् । ५६ पुस्यन आणो राजवच्च । ५७ आत्मनष्टो णिआ णइओ । ५८ अत सर्वादेर्डेर्जसः । ५९ ङे स्सि म्मि-त्था । ६० न वानि-दमेतदो हिं । ६१ आमो डेसिं । ६२ कितद्भ्या-डाम । ६३ कियत्तद्भ्यो ङस । ६४ ईद्भ्य. स्सासे । ६५ ङेर्डाहे डाला इआ काले । ६६ ङसेर्म्हा । ६७ तदो डो । ६८ किमो डिणो डीसौ । ६९ इदमेतत्कि-यत्तद्भ्यष्टो डिणा । ७० तदो ण स्यादौ क्वचित् । ७१ किम. कस्त्रतसोश्च । ७२ इदम इम । ७३ पु-स्त्रियोर्न वायमि-मिआ सौ । ७४ स्सिस्सयोरत् । ७५ ङेर्मेनह । ७६न त्थ । ७७ णोम्-शस्टा-भिसि । ७८ अमेणम् । ७९ क्लीवेस्यमेदमिणमो च । ८० किम किं । ८१ वेद तदेतदो ङसाम्भ्या से-सिमो । ८२ वैतदो ङसेस्त्तो त्ताहे । ८३ त्थे च तस्य लुक् । ८४ एरदीतौ म्मो वा । ८५ वैमेणमिणमो-सिना । ८६ तदश्च त सोक्लीवे । ८७ वादसो दस्य होनोदाम । ८८ मुः स्यादौ । ८९ म्मावयेऔ वा । ९० युष्मदस्त तु तुव तुह तुम सिना । ९१ भे तुब्भे तुज्झ तुम्ह तुय्हे उय्हे-जसा । ९२ त तु तुम तुव तुह तुमे तुए अमा । ९३ वो तुज्झ तुब्भे तुय्हे उय्हे भे शसा । ९४ भे दि दे ते तइ तए तुम तुमइ तुमए तुमे तुमाइ टा । ९५ भे तुब्भेहिं उज्झेहिं उम्हेहिं तुय्हेहिं उय्हेहिं भिसा । ९६ तइ-तुव-तुम-तुह-तुब्भा ङसौ । ९७ तुय्य तुब्भ तहिन्तो ङसिना । ९८ तुब्भ-तुय्होय्होम्हा भ्यसि । ९९ तइ-तु-ते-तुम्ह-तुह-तुह-तुव तुम-तुमे-तुमो-तुमाइ-दि-दे-इ-ए-तुब्भोब्भोय्हा ङसा । १०० तु वो भे तुब्भ तुब्भं तुब्भाण तुवाण तुमाण तुहाण उम्हाण आमा । १०१ तुमे तुमए तुमाइ

तइ तए डिना । १०२ तु-तुव-तुम-तुह-तुब्भा ङौ । १०३ सुपि । १०४ब्भो म्ह-ज्झौ वा । १०५ अस्मदो म्मि अम्मि अम्हि ह अह अहय सिना । १०६ अम्ह अम्हे अम्हो मो वय भे जसा । १०७ णे ण मि अम्मि अम्ह मम्ह मं मम मिमं अहं अमा । १०८ अम्हे अम्हो अम्ह णे शसा । १०९ मि मे ममं ममए ममाइ मइ मए मयाइ णे टा । ११० अम्हेहि अम्हाहि अम्ह अम्हे णे भिसा । १११ मइ-मम-मह-मज्झा ङसौ । ११२ ममाम्हौ भ्यसि । ११३ मे मइ मम मह मह मज्झ मज्झ अम्ह अम्ह ङसा । ११४ णे णो मज्झ अम्ह अम्हं अम्हे-अम्हो अम्हाण ममाण महाण मज्झाण आमा । ११५ मि मइ ममाइ मए मे ङिना । ११६ अम्ह-मम-मह-मज्झा ङौ । ११७ सुपि । ११८ त्रेस्ती तृतीयादौ । ११९ द्वेर्दो वे । १२० दुवे दोण्णि वेण्णि च जस्-शसा । १२१ त्रेस्तिण्णि । १२२ चतुरश्चत्तारो चउरो चत्तारि । १२३ सङ्ख्याया आमो ण्ह ण्हं । १२४ शेषे दन्तवत् । १२५ न दीर्घो णो । १२६ ङसेर्लुक् । १२७ भ्यसश्च हि । १२८ ङेर्ड्डे. । १२९ एत् । १३० द्विवचनस्य वहुवचनम् । १३१ चतुर्थ्यो. पष्ठी । १३२ तादर्थ्यङेर्वा । १३३ वधाड्ढाइश्च वा । १३४ क्वचिद् द्वितीयादे । १३५ द्वितीया-तृतीययोः सप्तमी । १३६ पञ्चम्योस्तृतीया च । १३७ सप्तम्या द्वितीया । १३८ क्यङोर्यलुक् । १३९ त्यादीनामाद्यत्रयस्याद्यस्येचेचौ । १४० द्वितीयस्य सि से । १४१ तृतीयस्य मि । १४२ वहुष्वाद्यस्य न्ति न्ते हरे । १४३ मध्यमस्येत्था-हचौ । १४४ तृतीयस्य मो-मु-मा । १४५ अत एवै च् से । १४६ सिनास्ते सि । १४७ मि-मो-मैर्म्हि-म्हो-म्हा वा । १४८ अत्थिस्त्यादिना । १४९ णेरदेदावावे । १५० गुर्वादेरविर्वा । १५१ भ्रमेराडो वा । १५२ लुगावी क्त-भाव-कर्मसु । १५३ अदेल्लुक्यादेरत आ । १५४ मौ वा । १५५ इच्च मो-मु-मे वा । १५६ क्ते । १५७ एच्च क्त्वा-तुम्-तव्य-भविष्यत्सु । १५८ वर्तमाना-पञ्चमी-शतृषु वा । १५९ ज्जा-ज्जे । १६० ईअ-इज्जौक्यस्य । १६१ दृशि-वचेर्डीस-डुच्च । १६२ सी ही हीअ भूतार्थस्य । १६३ व्यञ्जनादीअ. । १६४ तेनास्ते-रास्यहेसी । १६५ ज्जात्सप्तम्या इर्वा ।

तइ तए डिना । १०२ तु-तुव-तुम-तुह-तुब्भा ङौ । १०३ सुपि । १०४ब्भो म्ह-ज्झौ वा । १०५ अस्मदो म्मि अम्मि अम्हि ह अहं अहय सिना । १०६ अम्ह अम्हे अम्हो मो वय भे जसा । १०७ णे ण मि अम्मि अम्ह मम्ह म मम मिमं अहं अमा । १०८ अम्हे अम्हो अम्ह णे शसा । १०९ मि मे ममं ममए ममाइ मइ मए मयाइ णे टा । ११० अम्हेहि अम्हाहि अम्ह अम्हे णे भिसा । १११ मइ-मम-मह-मज्झा ङसौ । ११२ ममाम्हौ भ्यसि । ११३ मे मइ मम मह महं मज्झ मज्झं अम्ह अम्हं ङसा । ११४ णे णो मज्झ अम्ह अम्हं अम्हे-अम्हो अम्हाण ममाण महाण मज्झाण आमा । ११५ मि मइ ममाइ मए मे ङिना । ११६ अम्ह-मम-मह-मज्झा ङौ । ११७ सुपि । ११८ त्रेस्ती तृतीयादौ । ११९ द्वेर्दो वे । १२० दुवे दोण्णि वेण्णि च जस्-शसा । १२१ त्रेस्तिण्णि । १२२ चतुरश्चत्तारो चउरो चत्तारि । १२३ सख्यायां आमो ण्ह ण्हं । १२४ शेषे दन्तवत् । १२५ न दीर्घो णो । १२६ ङसेर्लुक् । १२७ भ्यसश्च हि । १२८ ङेर्डे. । १२९ एत् । १३० द्विवचनस्य बहुवचनम् । १३१ चतुर्थ्याः षष्ठी । १३२ तादर्थ्यङेर्वा । १३३ वधाड्डाइश्च वा । १३४ क्वचिद् द्वितीयादे । १३५ द्वितीया-तृतीययोः सप्तमी । १३६ पञ्चम्यास्तृतीया च । १३७ सप्तम्या द्वितीया । १३८ क्यङोर्यलुक् । १३९ त्यादीनामाद्यत्रयस्याद्यस्येचेचौ । १४० द्वितीयस्य सि से । १४१ तृतीयस्य मि । १४२ बहुष्वाद्यस्य न्ति न्ते इरे । १४३ मध्यमस्येत्था-हचौ । १४४ तृतीयस्य मो-मु-मा । १४५ अत एवै च् से । १४६ सिनास्ते सि । १४७ मि-मो-मैर्म्हि-म्हो-म्हा वा । १४८ अत्थिस्त्यादिना । १४९ णेरदेदावावे । १५० गुर्वादेरविर्वा । १५१ भ्रमेराडो वा । १५२ लुगावी क्त-भाव-कर्मसु । १५३ अदेल्लुक्यादेरत आ । १५४ मौ वा । १५५ इच्च मो-मु-मे वा । १५६ क्ते । १५७ एच्च क्त्वा-तुम्-तव्य-भविष्यत्सु । १५८ वर्तमाना-पञ्चमी-शतृषु वा । १५९ ज्जा-ज्जे । १६० ईअ-इज्जौक्यस्य । १६१ दृशि-वचेर्डीस-ड्डुच्च । १६२ सी ही हीअ भूतार्थस्य । १६३ व्यञ्जनादीअ. । १६४ तेनास्ते-रास्यहेसी । १६५ ज्जात्सप्तम्या इर्वा ।

१६६ भविष्यति हिरादि । १६७ मि-मो-मु-मे स्सा हा न वा । १६८ मो-मु-माना हिस्सा हित्था । १६९ मे· स्स । १७० कृ-दो हं । १७१ श्रु-गमि-रुदि-विदि-दृशि-मुचि-वचि-छिदि-भिदि-भुजा सोच्छं गच्छं रोच्छ वेच्छ दच्छ मोच्छ वोच्छ छेच्छ भेच्छं भोच्छ । १७२ सोच्छादय इजादिषु हिलुक् च वा । १७३ दु सु मु विध्यादिष्वेकस्मिंस्त्रयाणाम् । १७४ सोर्हिर्वा । १७५ अत इज्जस्विज्जहिज्जे-लुको वा । १७६ बहुणु न्तु ह मो । १७७ वर्तमाना-भविष्यन्त्योश्च ज्ज ज्जा वा । १७८ मध्ये च स्वरान्ताद्वा । १७९ क्रिया-तिपत्ते. । १८० न्त माणौ । १८१ शत्रानश. । १८२ ई च स्त्रियाम् ।

प्राकृत व्याकरणस्य चतुर्थः पादः

१ इदितो वा । २ कथेर्वज्जर-पज्जरोप्पाल-पिसुण-सघ-बोल्ल चव जम्प-सीस-साहाः । ३ दु खे-णिव्वर । ४ जुगुप्सेझुण दुगुच्छ दुगुञ्छा. । ५ वुभुक्षि-वीज्योर्णीरव-वोज्जौ । ६ ध्या गोर्झा-गौ । ७ ज्ञो जाण-मुणौ । ८ उदो ध्मो धुमा । ९ श्रदो धो दह । १० पिबे पिज्ज-डल्ल-पट्ट-घोट्टाः । ११ उद्वातेरोरुम्मा वसुआ । १२ निद्रातेरोहीरोङ्घौ । १३ आघ्रेराइग्घ. । १४ स्नातेरब्भुत्त· । १५ सम. स्त्य खा. । १६ स्थष्ठा थक्क चिट्ठ निरप्पाः । १७ उदष्ठ कुक्कुरौ । १८ म्लेर्वा पव्वायौ । १९ निर्मो-निमाण-निम्मवौ । २० क्षेर्णिज्झरो वा । २१ छदेर्णुम-नूम सन्नुम-ढक्कौम्वाल पव्वाला । २२ निव्रि-पत्योणिहोड. । २३ दूडो दूम. । २४ धवलेर्दुम· । २५ तुलेरोहामः । २६ विरिचेरोलुण्डोल्लुण्डपल्हत्था. । २७ तडेराहोड-विहोडौ । २८ मिश्रेर्वीसाल मेलवौ । २९ उद्धलेर्गुण्ठः । ३० भ्रमेस्तालिअण्ट-तमाडौ । ३१ नशे-विउड-नासव-हाख-विप्पगाल-पलावा. । ३२ दृशेर्दाव-दंस-दक्खवा । ३३ उद्घटेरुग्ग. । ३४ स्पृह सिह । ३५ संभावेरासघः । ३६ उन्नमेरुत्थघो-ल्लाल-गुलुगुञ्छोप्पेल्ला. । ३७ प्रस्थापेः पट्ठव-पेण्डवौ । ३८ विज्ञपेर्वोक्का-वुक्कौ । ३९ अर्पेरल्लिववचच्चुप्प-पणामा. । ४० यापेर्जव. । ४१ प्लावेरो-म्वाल-पव्वालौ । ४२ विकोशे. पक्खोडः । ४३ रोमन्थेरोग्गाल-वग्गोलौ ।

४४ कमेणिहुवः । ४५ प्रकाशेर्णुव्व । ४६ कम्पेर्विच्छोल । ४७ आरोप-वंलः । ४८ दो ले-रङ्खोलः । ४९ रञ्जे राव । ५० घटे परिवाड. । ५१ वेष्टे परिआल । ५२ क्रिय किणो वेस्तु क्के च । ५३ भियो भा-वीहो । ५४ आली झोल्ली । ५५ निलीङेर्णिली अणिलुक्क-णिरिग्घ-लुक्क-लिक्क-ल्हिक्का । ५६ विलोडेर्विरा । ५७ रुते रुञ्ज-रुण्टौ । ५८ श्रुटेर्हणः । ५९ धूगेर्धुवः । ६० भुवेर्हो-हुव-हवाः । ६१ अविति हु । ६२ पृथक् स्पष्टे णिव्वडः । ६३ प्रभौ हुप्पो वा । ६४ क्ते हू । ६५ कृगेः कुण । ६६ काणेक्षिते णिआर. । ६७ निष्टम्भावष्टम्भे निट्ठुह-सदाण । ६८ श्रमे वावम्फः । ६९ मन्युनौष्ठमालिन्ये णिव्वोल । ७० शैथिल्य-लम्बने-पयल्ल. । ७१ निष्पाताच्छोटे णीलुञ्छ । ७२ क्षुरे कम्म । ७३ चाटौ गुलल. । ७४ स्मरेर्झरझूर-भर भल-लढ-विम्हर-सुमर-पयर-पम्हुहा । ७५ विस्मु पम्हुस-विम्हर-वीसरा । ७६ व्याहृगे कोक्क पोक्को । ७७ प्रसरेः पयल्लोवेल्लौ । ७८ महमहो गन्धे । ७९ निस्सरेर्णीहर-नील-धाडवरहाडाः । ८० जाग्रेर्जग्ग । ८१ व्याप्रेराअड्ड । ८२ संवृगे साहर-साहट्टौ । ८३ आदृङे सन्नामः । ८४ प्रहृगे सार. । ८५ अवतरेरोह-ओरसौ । ८६ शकेश्चय-तर-तीर-पारा. । ८७ फक्कस्थक्क । ८८ श्लाघ. सलह । ८९ खचेर्वेअडः । ९० पचेः सोल्ल पउलौ । ९१ मुचेग्छड्डावहेड-मेल्लोस्सिक्क-रेअव-णिल्लुञ्छ-धसाडा. । ९२ दुःखे णिव्वल. । ९३ वञ्चेर्वेहव-वेलव-जूरवोमच्छा । ९४ रचेरुग्ग-हावह-विडविड्डा. । ९५ समारचेरुवहत्थ-सारव-समार-केला या. । ९६ सिचेः सिञ्च-सिम्पौ । ९७ प्रच्छ पुच्छ । ९८ गर्जेर्बुक्क । ९९ वृषे ढिक्क । १०० राजेरग्घ-छज्ज-सह-रीर रेहा. । १०१ मस्जेराउड्ढ-णिउड्ढ-वुड्ड-खुप्पाः । १०२ पुञ्जेरारोल-वमालौ । १०३ लस्जेर्जीह । १०४ तिजेरोसुक्क. । १०५ मृजेरुग्घुस-लुञ्छ-पुञ्छ-पुस-फुस-पुस-लुह-हुल- रोसाणा. । १०६ भञ्जेर्वेमय-मुसुमूर-मूर-सूर-सूड-विर-पविरञ्ज-करञ्ज-नीरञ्जा. । १०७ अनुव्रजे पडिअग्ग. । १०८ अर्जेर्विढव. । १०९ युजो-जुञ्ज-जुज्ज-जुप्पाः । ११० भुजो-भुञ्ज-जिम-जेम--कम्माण्ह-चमढ-समण-चड्डा. । १११ वोपेन कम्मवः

११२ घटेर्गढ । ११३ समो गल. । ११४ हासेन स्फुटेर्मुर । ११५ गण्डो-
श्चञ्च-चिञ्चअ-चिञ्चिलल-रीड टिविडिक्का. । ११६ तुडेस्तोड-तुट्ट-खुट्ट-
खुडोक्खुडो-ल्लूक्क-णिल्लुक्क-लुक्कोल्लूरा । ११७ घूर्णो-घुल-घोल-घुम्म-
पहल्ला । ११८ विवृते-र्ढस । ११९ क्वथेरट्ट । १२० ग्रन्थेर्गण्ठ । १२१
मन्थेर्घुसल-विरोली । १२२ ह्लादेरवअच्छ । १२३ नं. सदो मज्ज । १२४
छिदेर्दुहाव-णिच्छल्ल-णिज्झोड-णिव्वर-णिल्लूर-लूरा । १२५ आङा ओअ-
न्दोद्दालो । १२६ मृदो-मल-मढ-परिहट्ट-खड्ड-चड्ड-मड्ड-पन्नाडा । १२७ स्प-
देश्चुलुचुल. । १२८ निर पदेर्वल । १२९ विसवदेर्विअट्ट-विलोट्ट-फसा. ।
१३० शदो-झड-पक्खोडी । १३१ आक्रन्देर्णीहर । १३२ खिदेर्जूर विसूरी।
१३३ रुधेरुत्थङ्घः । १३४ निषेधेर्हक्क । १३५ क्रुधेर्जुरः । १३६ जनो-
जा-जम्मौ । १३७ तनेस्तड-तड्ड-तड्डव-विरल्ला । १३७ तृपस्थिप्प । १३९
उपसर्पेरल्लिअ । १४० सन्तपेर्झङ्ख । १४१ व्यापेरोअग्ग । १४२ समापेः
समाण । १४३ क्षिपेर्गलत्थाड्डुक्ख-सोल्ल-पेल्ल-णोल्ल-छुह-हुल-परी-घत्ता ।
१४४ उत्क्षिपेर्गुलगुञ्छोत्थघाल्लत्थोब्भुत्तो-स्सिक्क-हक्खुवा । १४५ माक्षिपे-
र्णीरव । १४६ स्वपे कमवस-लिस-लोट्टा । १४७ वेपेरायम्बायज्झौ ।
१४८ विलपेर्झङ्ख-वडवडौ । १४९ लिपो-लिम्प । १५० गुप्येर्विर-णडौ ।
१५१ क्रपोवहोणि । १५२ प्रदीपेस्तेअव-सन्दुम-सन्धुक्काब्भुत्ता । १५३
लुभे. सभाव । १५४ क्षुभे खउर-पड्डुहौ । १५५ आङो-रभे-रम्भ-ढवौ ।
१५६ उपालम्भेर्झङ्ख-पच्चार-वेलवा । १५७ अवेर्जृम्भो जम्भा । १५८
भाराक्रान्ते नमेर्णिसुढ । १५९ विश्रमेर्णिव्वा । १६० आक्रमेरोहा-वोत्था-
रच्छुन्दाः । १६१ भ्रमेष्टिरिटिल्ल-ढुण्ढुल्ल-ढण्ढल्ल-चक्कम्म-भम्मड-भमड-
भमाड-तल-अण्ट-झण्ट-झम्प-भुम-गुम-फुम-फुस-ढुम-ढुस-परी-परा । १६२
गमेरई-अइच्छाणुवज्जावज्जसोक्कुसोक्कुस-पच्चड्ड-पच्छन्द-णिम्मह-णी-णीण-
णीलुक्क-पदअ-रम्भ-परिअल्ल-वोल-परिअल-णिरिणास-णिवहावसेहावहरा
१६३ आङा अहिपच्चुअ । १६४ समा अब्भिड । १६५ अभ्याङोम्मत्थ. ।
१६६ प्रत्याङा पलोट्ट । १६७ शमे. पडिसा-परिसामौ । १६८ रमे. सखुड्ड

खेड्ढोवमाव-किलिकिञ्च-कोट्टम-मोट्टाय-णीसर-वेल्लाः । १६९ पूरेरग्घा-डाग्घवोद्धुमाङ्गुमाहिरेमाः । १७० त्वरस्तुवर-जअडो । १७१ त्यादिशत्रो-स्तूर. । १७२ तुरोत्यादौ । १७३ क्षरः खिर-झर-पज्झर-पच्चड-णिच्चल-णिट्टूआः । १७४ उच्छल-उथल्ल । १७५ विगलेस्थिप्प-णिट्टुहौ । १७६ दलि-वल्योर्विसट्टवम्फौ । १७७ भ्रंशे फिड-फिट्ट-फुड-फुट्ट-चुक्क-भुल्लाः । १७८ नशेर्णिरणास-णिवहावसेह-पडिसा-सेहावहराः । १७९ अवात्काशो वास । १८० सदिशेरप्पाहः । १८१ दृशो निमच्छापेच्छा-वयच्छावयज्झ। वज्ज-सव्वव--देक्खो-अक्खावक्खावअक्ख-पुलोअ-पुलअ-निआवआस-पासाः • १८२ स्पृश फास-फंस-फरिस-छिव-छिहालुङ्खालिहा. । १८३ प्रविशेरिअ. । १८४ प्रान्मृश-मुषोर्म्हुस । १८५ पिषेर्णिवह-णिरिणास-णिरिणज्ज-रोञ्चचड्डाः । १८६ भषेर्भुक्कः । १८७ कृषेः कड्ढ-साअड्ढाञ्चाणच्छायञ्छाइञ्छाः । १८८ असावक्खोड. । १८९ गवेषेर्ढुण्ढुल्ल-ढण्ढोल-गमेस-घत्ता । १९० श्लिषे. सामग्गावयास-परिअन्ता । १९१ म्रक्षेश्चोप्पड । १९२ काङ्क्षे-राहाहिलङ्घाहिलङ्ख-वच्च-वम्फ-मह-सिह-विलुम्पा. । १९३ प्रतीक्षेः सामय-विहीर-विरमाला । १९४ तक्षेस्तच्छ-चच्छ-रम्प-रम्फा । १९५ विकसेः कोआस-वोसट्टौ । १९६ हसेर्गुञ्ज । १९७ स्रंसेर्ल्हस-डिम्भौ । १९८ त्रसे-र्डर-वोज्ज-वज्जा. । १९९ न्यसो णिम-णुमौ । २०० पर्यस पलोट्ट-पल्लट्ट-पल्हत्था । २०१ निःश्वसेर्झङ्ख । २०२ उल्लसेरूसलोसुम्भ-णिल्लस-पुल-आअ-गुञ्जोल्लारोआ । २०३ भासेर्भिसः । २०४ ग्रसेर्घिस. । २०५ अवा-द्गाहेर्वाहः । २०६ आरुहेश्चड-वलग्गौ । २०७ मुहेर्गुम्म-गुम्मडौ । २०८ दहेरहिऊलालुङ्खौ । २०९ ग्रहो-वल-गेण्ह-हर-पङ्ग-निरुवाराहिपच्चुआ. । २१० क्त्वा-तुम्-तव्येषु घेत् । २११ वचो वोत् । २१२ रुद-भुज-मुचातो-न्त्यस्य । २१३ दृशस्तेन ट्ठ । २१४ आ कृगो भूत-भविष्यतोश्च । २१५ गमिष्यमासा छ । २१६ छिदि-भिदो न्द । २१७ युध-बुध-गृध-क्रुध-सिध-मुहा ज्झ । २१८ रुधोन्ध-म्भौ-च । २१९ सद-पतोर्ड । २२० क्वथ-वर्धाढ । २२१ वेष्ठ । २२२ समो ल्ल. । २२३ वोद । २२४ स्विदा ज्ज. । २२५ व्रज-नृत-मदा च्च. । २२६ रुद-नमोर्व । २२७ उद्विज. । २२८ खाद-धावोर्लुक् । २२९ सृजो र. । २३० शकादीना द्वित्वम् । २३१

स्फुटि-चलेः । २३२ प्रादेर्मीलेः । २३३ उवर्णस्यावः । २३४ ऋवर्णस्यारः । २३५ वृषादीनामरिः । २३६ रुषादीना दीर्घं । २३७ युवर्णस्य गुणः । २३८ स्वराणा स्वराः । २३९ व्यञ्जनाददन्ते । २४० स्वरादनतो वाः । २४१ चि-जि-श्रु-हु-स्तु-लू-पू-धूगा णो ह्रस्वश्च । २४२ नवा कर्म-भावे व्वः क्यस्य च लुक् । २४३ म्मश्चे । २४४ हन्खनोन्त्यस्य । २४५ ब्भो दुह-लिह-वह-रुधामुच्चात । २४६ दहो ज्झ । २४७ बन्धो न्धः । २४८ समनूपाद्रुधेः । २४९ गमादीना द्वित्वम् । २५० हृ कृ तृ ज्रामीर । २५१ अर्जेविढप्प. । २५२ ज्ञो णव्व-णज्जौ । २५३ व्याहृगेर्वाहिप्पः । २५४ आरभेराढप्पः । २५५ स्निह-सिचो सिप्पः । २५६ ग्रहेर्घेप्प. । २५७ स्पृशेच्छिप्पः । २५८ क्तेनाप्फुण्णादय । २५९ धातवोर्थान्तरेपि । २६० तो दोनादौ शौरसेन्यामयुक्तस्य । २६१ अध. क्वचित् । २६२ वादेस्तावति । २६३ आ आमन्त्र्ये सौवेनो नः । २६४ मो वा । २६५ भवद्भगवतोः । २६६ न वा र्यो य्य । २६७ थो धः । २६८ इह-हचोर्हस्य । २६९ भुवो भः । २७० पूर्वस्य पुरवः । २७१ क्त्व इय दूणौ । २७२ कृ गमो डडुमः । २७३ दिरिचेचोः । २७४ अतो देश्च । २७५ भविष्यति स्सि । २७६ अतो डसेर्डादो-डादू । २७७ इदानीमो दाणि । २७८ तस्मात्ता. । २७९ मोन्त्याण्णो वेदेतो । २८० एवार्थे य्येव । २८१ हञ्जे चेटयाह्वाने । २८२ हीमाणहे विस्मय निर्वेदे । २८३ णं नन्वर्थे । २८४ अम्महे हर्षे । २८५ हीही विदूषकस्य । २८६ शेषं प्राकृतवत् । २८७ अत एत्सौ पुंसि मागध्याम् । २८८ र-सोर्ल-शौ । २८९ स षो सयोगे सोग्रीष्मे । २९० ट्ट-ष्ठयोस्ट । २९१ स्थ र्थयोस्त । २९२ ज-द्य या य । २९३ न्य-ण्य-ज्ञ-ञ्जा-ञ्ज. । २९४ व्रजो ज । २९५ छस्य श्चोनादौ । २९६ क्षस्य ‿ क । २९७ स्क. प्रेक्षा-चक्षो । २९८ तिष्ठश्चिष्ठ. । २९९ अवर्णाद्वा ङसो डाह । ३०० आमो डाहँ वा । ३०१ अह वयमोर्हगे । ३०२ शेष शौरसेनीवत् । ३०३ ज्ञो ञ्ञ. पैशाच्चाम् । ३०४ राज्ञो वा चिञ् । ३०५ न्य-ण्योञ्ञ । ३०६ णो नः । ३०७ तदोस्त । ३०८ लो ळ. । ३०९ श-षो सः । ३१० हृदये यस्य पः । ३११ टोस्तुर्वा । ३१२ क्त्वस्तूनः । ३१३ द्धून-त्थूनौ ष्ट्वः ।

३१४ र्यं-स्न-ष्ठां-रिय-सिन-सटा क्वचित्। ३१५ क्यस्येय्य.। ३१६ कृगो डीर·। ३१७ यादृशादेर्दुस्ति। ३१८ इचेच.। ३१९ आत्तेश्च। ३२० भविष्यत्येय्य एव। ३२१ अतोडसेर्डातो-डातू। ३२२ तदिदमोष्ठा नेन स्त्रियां तुनाए। ३२३ शेष शौरसेनीवत्। ३२४ न क-ग-च-जादि-षट्शम्यन्त-सूत्रोक्तम्। ३२५ चूलिका--पैशाचिके तृतोय-तुर्ययोराद्य-द्वितीयो। ३२६ रस्य लो वा। ३२७ नादि-युज्योरन्येषाम्। ३२८ शेष प्राग्वत्। ३२९ स्वराणां स्वरा. प्रायोपभ्रशे। ३३० स्वादौ दीर्घ-ह्रस्वौ। ३३१ स्यमोरस्योत्। ३३२ सौ पुंस्योद्वा। ३३३ एट्टि। ३३४ ङिनेच्च। ३३५ भिस्येद्वा। ३३६ ङसेर्हे-हू। ३३७ भ्यसो हु। ३३८ ङस सु-हो-स्सव.। ३३९ आमो हं। ३४० हु चेदुद्भ्याम्। ३४१ ङसि-भ्यस्ङीनां हे-हु-हयः। ३४२ आट्टो णानुस्वारौ। ३४३ ए चेदुत.। ३४४ स्यम्-जस्-शसा लुक्। ३४५ षष्ठ्या। ३४६ आमन्त्र्ये जसो हो.। ३४७ भिस्सुपेर्हि। ३४८ स्त्रिया जस्-शसोरुदोत्। ३४९ ट ए। ३५० ङस्-ङस्योर्हे:। ३५१ भ्यसामोर्हु। ३५२ ङेर्हि। ३५३ क्लीवे जस्-शसोरिं। ३५४ कान्तस्याउस्यमो.। ३५५ सर्वादेर्ङसेर्हां। ३५६ किमो डिहे वा। ३५७ ङेर्हिं। ३५८ यत्तत्किभ्यो ङसो डासुर्न वा। ३५९ स्त्रिया डहे। ३६० यत्तद स्यमोर्ध्रु त्र। ३६१ इदम इमु. क्लीवे। ३६२ एतदा स्त्री-पुक्लिबे एह एहो एहु। ३६३ एइर्जस्-शसो·। ३६४ अदस ओइ। ३६५ इदम आय.। ३६६ सर्वस्य साहो वा। ३६७ किम काइ-कवणौ वा। ३६८ युष्मद सौ तुहु। ३६९ जस्-शसोस्तुम्हे तुम्हइं। ३७० टा-ङयमा पइ तइ। ३७१ भिसा तुम्हेहिं। ३७२ ङसि-ङस्भ्या तउ तुज्झ तुध्र। ३७३ भ्यसाम्भ्यां तुम्हह। ३७४ तुम्हासु सुपा। ३७५ सावस्मदो हउ। ३७६ जस् शसोरम्हे अम्हइ। ३७७ टा-ङयमा मइ। ३७८ अम्हेहिं भिसा। ३७९ महु मज्झु ङसि-ङस्भ्याम्। ३८० अम्हहं भ्यसाम्भ्याम्। ३८१ सुपा अम्हासु। ३८२ त्यादेराद्य-त्रयस्य सवन्धिनो हिं न वा। ३८३ मध्य-त्रयस्याद्यस्य हि। ३८४ वहुत्वे हु। ३८५ अन्त्य-त्रयस्याद्यस्य उ। ३८६ वहुत्वे हु। ३८७ हि-स्वयोरिदुदेत्। ३८८ वर्त्स्यति-स्यस्य स.। ३८९ क्रिये. कीसु। ३९० भुव. पर्याप्तौ हुच्चः।

३९१ ब्रूगो ब्रूवो वा। ३९२ व्रजेर्वुञ्ज । ३९३ दृशेः प्रस्सः। ३९४ ग्रहे-र्गृण्ह । ३९५ तक्ष्यादीना छोल्लादय । ३९६ अनादौ स्वरादसंयुक्ताना क-ख-त-थ-प-फा-म-घ-द-ध-ब-भा । ३९७ मोनुनासिको वो वा। ३९८ वाधा रो लुक् । ३९९ अभूतोपि क्वचित् । ४०० आपद्विपत्सपदा द इ । ४०१ कथ-यथा-तथा--थादेरेमेहेधाडितः । ४०२ यादृक्तादृक्कीदृगीदृशा दादेर्डेह । ४०३ अता डइमः। ४०४ यत्र-तत्र-योस्त्रस्य डिदेत्थवत्तु। ४०५ एत्थुकुत्रात्रे । ४०६ यावत्तावतोर्वादे मंउ महिं । ४०७ वा यत्तदोतोर्डेवडः। ४०८ वेद-किमोर्यादि । ४०९ परस्परस्यादिर । ४१० कादि-स्थैदोतो-रुच्चार-लाघवम् ४११ पदान्ते उ-हुं-हिं-हंकाराणाम् । ४१२ म्हो म्भो वा । ४१३ अन्यादृशोन्नाइसावराइसौ। ४१४ प्रायस प्राउ-प्राइव-प्राइम्व-'पग्गिम्वा.। ४१५ वान्यथोनुः । ४१६ कुतसः कउ कहन्तिहु । ४१७ ततस्त-दोस्तो । ४१८ एव--पर--सम--ध्रुव--मा--मनाक-एम्व पर समाणु ध्रु वु म मणाउ। ४१९ किलाथवा-दिवा-सह नेह किराहवइ दिवे सहु नाहिं। ४२० पश्चादेवमेवैवेदानी-प्रत्युतेतस पच्छइ एम्वइ जि एम्वहिं पच्चलिउ एत्तहे । ४२१ विषण्णोक्त-वर्त्मनो वुन्न-वुत्त-विच्च । ४२२ शीघ्रादीना वहि-ल्लादय । ४२३ हुहुरु-घुग्गादय शब्द-चेष्ठानुकरणयो । ४२४ घइमादयो-नर्थका । ४२५ तादर्थ्ये केहिं--तेहिं--रेसि--रेसिं--तणेणा । ४२६ पुनर्विन स्वार्थेडु । ४२७ अवश्यमोर्डें-डौ । ४२८ एकशसो डि । ४२९ अ-डड-डुल्ला स्वार्थि-क-लुक् च । ४३० योगजाश्चैषाम् । ४३१ स्त्रिया तदन्ताड्डी । ४३२ आन्तान्ताड्डा । ४३३ अस्येदे । ४३४ युष्मदादेरीयस्य डार । ४३५ अतो-र्डेत्तुल । ४३६ त्रस्य डेत्तहे । ४३७ त्व तलो प्पण । ४३८ तव्यस्य इए-व्वउ एव्वउ एवा । ४३९ क्त्व इ-इउ-इवि-अवय । ४४० एप्प्येप्पिण्वेव्ये-विणवः। ४४१ तुम एव मणाणहमणहिं च । ४४२ गमेरेप्पिण्वे-प्प्योरेर्लुग् वा । ४४३ तृनोणअ । ४४४ इवार्थे न-नउ-नाइ-नावइ-जणि-जणव । ४४५ लिङ्गमतन्त्रम् । ४४६ शौरसेनीवत् । ४४७ व्यत्ययश्च । ४४८ शेष सस्कृ-तवत्सिद्धम् ।

अर्हम्

श्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितम्

प्राकृत व्याकरणम्

अथ प्राकृतम् ॥१॥ ॥१॥ अथशब्द आनन्तर्यार्थोऽधिकारार्थश्च। प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतं। संस्कृतानन्तरं प्राकृतम् अधिक्रियते। संस्कृताऽनन्तरं प्राकृतस्यानुशासनं सिद्धसाध्यमानभेदसंस्कृतयोनेरेव तस्य लक्षणं न देश्यस्य इति ज्ञापनार्थं। संस्कृतसमं तु संस्कृतलक्षणेनैव गतार्थं॥ प्राकृते च प्रकृतिप्रत्ययलिङ्गकारकसमास-संज्ञादयः संस्कृतवद् वेदितव्याः। लोकाद् इति च वर्त्तते, तेन ऋ ॠ लृ लॄ ऐ औ ङ ञ श ष विसर्जनीयप्लुतवर्ज्यो वर्णसमाम्नायो लोकाद् अवगन्तव्य. ॥ ङ-ञौ स्ववर्ग्यसंयुक्तौ भवत एव। ऐदौतौ च केषांचित्। कैतवम्। कैअव। सौन्दर्यम्। सौअरियं। कौरवाः। कौरवा। तथा 'अस्वर' 'व्यञ्जनं' 'द्विवचनं' 'चतुर्थीबहुवचनं' च न भवति॥

बहुलम् ॥ १ ॥ २ ॥ बहुलम् इति 'अधिकृतं वेदितव्यम्' आशास्त्रपरिसमाप्तेः। ततश्च "क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव 'भवति' तच्च यथास्थानं दर्शयिष्यामः"

आर्षम् ॥ १ ॥ ३ ॥ ऋषीणाम् इदम् 'आर्षम्' आर्षं प्राकृतं बहुलं भवति। तदपि यथास्थानम् दर्शयिष्यामः। आर्षे हि सर्वे विधयो विकल्प्यन्ते॥

अथ स्वरसन्धिः ।

लुक् ॥ १ ॥ १० ॥ पूर्वस्वरस्य 'बहुलं लुक् स्यात् स्वरे परे' त्रिदशेशः । तिअसीसो । निःश्वासोच्छ्वासौ । नीसासूसासो ।

आदेः ॥ १ ॥ ३९ ॥ आदेरित्यधिकारः कगचजेत्यादिसूत्रात प्राग् अविशेषेण वेदितव्यः ।

त्यदाद्यव्ययात् तत्स्वरस्य लुक् ॥ १ ॥ ४० ॥ त्यदादेरव्ययाच्च परस्य तयोरेव त्यदाद्यव्यययोः आदिस्वरस्य बहुलं लुक् भवति । वयम् अत्र । अम्हे एत्थ । अम्हेत्थ । यदि इयम् । जइ इमा । जइमा । यदि अहम् । जइ अहं । जइहं ।

पदादपेर्वा ॥ १ ॥ ४१ ॥ पदात् परस्य अपेरादिस्वरस्य लुक् वा भवति ॥ तद् अपि । 'तंपि । तमपि' किम् अपि । 'किं पि' । 'किमवि' केन अपि । 'केणवि' केणावि । कथम् अपि । कहपि । कहमवि ॥

इतेः स्वरात् तश्च द्विः ॥ १ ॥ ४२ ॥ पदात्परस्य इतेरादिस्वरस्य लुक् भवति स्वरात्परश्च तकारो द्विर्भवति ॥ किमिति । किंति । यद् इति । जंति । दृष्टम् इति । दिट्ठं ति । न युक्तम् इति । न जुत्तं त्ति ॥ स्वरात् । तथा इति । तहत्ति । झग् इति । झत्ति । प्रिय इति । पिओ त्ति । पुरुष इति । पुरिसो त्ति ॥ पदादित्येव । इति विन्ध्यगुहा निलयाया । इअविंझ-गुहानिलयाए ।

लुप्त यरव-शषसां 'शषसां' दीर्घः ॥ १ ॥ ४३ ॥ प्राकृतलक्षणवशात् लुप्ताः आद्या उपर्यधो वा । यरवशषसा येषां शषसां । तेषाम् आदिस्वरस्य दीर्घो भवति ॥ पश्यति । इति स्थिते ।

अधो मनयाम् ॥ २ ॥ ७८ ॥ संयोगान्ते वर्त्तमानानां मनयां लुक् भवति (म) युग्मं । जुग्गं । रश्मिः । रस्सी । स्मरः । सरो । स्मेरं । सेरं । (न)नग्नः । नग्गो । लग्नः । लग्गो(य)कुड्यं । कुड्डं । बाह्यः ।

वाहो ॥ इति यकारस्य लुकि पूर्वेण दीर्घः। पासइ॥ कश्यपः। कासवो॥ आवश्यकं। आवासयं॥ रलोपे। विश्राम इति स्थिते।

सर्वत्र लवराम् अवन्द्रे ॥ २ ॥ ७९ ॥ बन्द्रशब्दादन्यत्र संयुक्तस्योर्ध्वम् अधश्च सर्वत्र स्थितानां लवरां लुक् भवति॥ ऊर्ध्वं। ल। उल्का। उक्का॥ वल्कलं॥ वक्कलं॥ (ब) शब्दः। सद्दो॥ अब्दः। अद्दो। लुब्धकः। लोद्धओ। (र) अर्कः। अक्को। वर्गः। वग्गो। (अधः)। श्लक्ष्णं। सण्हं। विक्लवः। विक्कवो। पक्वम्। पक्कं। पिक्कं। ध्वस्तः। धस्थो। चक्रं। चक्कं। ग्रहः। गहो। रात्रिः। रत्ती॥ इत्यनेन रलोपः। विश्राम। वीसामो। मिश्रं। मीसं। संस्पर्शः। संफासो। 'वलोपे'। अश्वः। आसो। विश्वसिति। वीससइ। विश्वासः। वीसासो। 'शलोपे' दुश्शासनः। दूसासणो। मनश्शिला। मणासिला 'षस्य यलोपे' शिष्य। सीसो। पुष्यः। पूसो। मनुष्यः। मणूसो 'रलोपे' कर्षक। कासओ। वर्षा। वासा। वर्ष। वासो 'वलोपे' विष्वाणः। वीसाणो। विष्वक्। वीसु 'षलोपे' निष्षिक्तः। नीसित्तो 'सस्य यलोपे' सस्यं। सासं। कस्यचित्। कासइ। 'रलोपे' उस्रः। ऊसो। विस्रंभः। वीसंभो। 'वलोपे' विकस्वरः। विकासरो। निःस्वः। नीसो। 'सलोपे' निस्सहः। नीसहो॥ न दीर्घानुस्वारात्। २।९२। इति प्रतिषेधात्। सर्वत्र अनादौ शेषादेशयोर्द्वित्वमिति आप्तस्य द्वित्वस्याभाव॥

अतः समृद्ध्यादौ वा ॥ १ ॥ ४४ ॥ समृद्ध्यादिशब्देषु आदेरकारस्य दीर्घो वा भवति। समृद्धिः। सामिद्धी-समिद्धी। प्रसिद्धिः। पासिद्धी पसिद्धी। प्रकटं। पायडं-पयडं। प्रतिपत्। पाडिवआ-पडिवआ। प्रसुप्तः। पासुत्तो पसुत्तो। प्रतिसिद्धिः। पाडिसिद्धी-पडिसिद्धी। सदृक्। सारिच्छो-सरिच्छो। मनस्विन्। माणंसी-मणंसी। मनस्विनी। माणंसिणी-मणंसिणी। अभियाति। आहिआइ-अहिआइ। प्ररोहः। पारोहो-परोहो। प्रवासिन्। पावासू-पवासू। 'प्रवासीक्षौ' इति

इकारस्य उत्त्वम्)। प्रतिस्पर्द्धिन्। पाडिप्फद्धी–पडिप्फद्धी। आकृति-गणोऽयम्। तेन अस्पर्शः। आफसो। परकीयं। पारकेरं–पारक्कं। प्रवचनम। पावयणं। चतुरन्तम् चाउरंत इत्यादयोऽपि भवन्ति।

दुःखदक्षिणतीर्थे वा ॥ २ ॥ ७२ ॥ एषु संयुक्तस्य हो वा भवति। इति क्षस्य हः ॥

दक्षिणे हे ॥ १ ॥ ४५ ॥ दक्षिणशब्दे आदेरस्य हे परे दीर्घो भवति। दक्षिण.। दाहिणो। हे इति किं। दक्खिणो ॥

स्वप्ने नात् ॥ २ ॥ १०८ ॥ स्वप्नशब्दे नकारात् पूर्वम् इद् आगमो भवति। स्वपिन इति जाते ॥

इः स्वप्नादौ ॥ १ ॥ ४६ ॥ स्वप्नादिशब्देषु आदेरस्य इत्त्वं* भवति ॥ स्वप्न.। सिविणो। सिमिणो। स्वप्ननीव्योर्वा। इति पस्य म)। आर्षे उकारोऽपि सुमिणो। ईषद्। ईसि। वेतसो। वेडिसो। व्यलीकं। विलिअं। मृदङ्गो। मुइंगो। व्यजनं–वियणं। कृपण.। किविणो। उत्तमः। उत्तिमो। मरिचः। मिरिअं। दत्तं–दिण्णं। बहुलाधिकारात् णत्वाभावे न भवति। दत्तं। देवदत्तं। इत्यादि ॥

पक्वाङ्गारललाटे वा ॥ १ ॥ ४७ ॥ एषु आदेरत इत्त्वं वा भवति। पक्वम्। पिक्कं–पक्कं। अङ्गारः। इंगालो–अङ्गारो।

ललाटे च ॥ १ ॥ २५७ ॥ ललाटे च आदेर्लस्य णो भवति, चकार आदेरनुवृत्त्यर्थः। इति आदिलकारस्य णः। णलाट इति जाते।

---

*अत्र च बहुषु पुस्तकेषु एक एव तकारो दृश्यते, तदशुद्धमिति, न परिभावनीयं, तत्र भाव्यमानः सवर्णान् न गृह्णातीति अभिप्रायेण केवलं इशब्दात् त्वप्रत्ययः ॥ अत्र तु भाव्यमानोऽपि सवर्णान् गृह्णातीति तपरत्वविशिष्टात् इत् शब्दात् त्वप्रत्ययः, तथा च तकारद्वयश्रुतिः, यत्र तु अत्रापि एक एव तकारस्तत्र केवलेभ्य-इकारादिभ्य स्त्वप्रत्ययो ज्ञातव्यः।

ललाटे लडोः ॥२॥ १२३ ॥ ललाटशब्दे लकारडकारयोर्व्य-त्ययो भवति वा। णिडालं-णलाडं। णलाडं णडालं ॥

मध्यमकतमे द्वितीयस्य ॥ १ ॥ ४८ ॥ मध्यमशब्दे कतम-शब्दे च द्वितीयस्य अत इत्त्वं भवति ॥ मध्यमः। मज्झिमो। साध्वसध्यह्यां 'झ' इति ध्यस्य झः ॥ कतमः। कइमो ॥

सप्तपर्णे वा ॥ १ ॥ ४९ ॥ सप्तपर्णे द्वितीयस्य अत इत्त्वं वा भवति ॥

षट्शमीशावसुधासप्तपर्णेष्वादेश्छः ॥१॥ २६५ ॥ एषु आदे-र्वर्णस्य छो भवति। षष्ठः। छट्ठो। षष्ठी। छट्ठी। षट्पदः। छप्पओ। षण्मुख। छंमुहो। शमी। छमी। शावः। छावो। सुधा। छुहा। सप्तपर्णः। छत्तिवण्णो। छत्तवण्णो।

मयस्यइ-र्वा ॥ १ ॥ ५० ॥ मयट्प्रत्यये आदेरतः स्थाने अइ र्वा भवति। विषमय.। विसमइओ। विसमओ।

ईर्हरे वा ॥ १ ॥ ५१ ॥ हरशब्दे आदेरत ईर्वा भवति। हरः। हीरो। हरो ॥

ध्वनिविष्वचोरुः ॥ १ ॥ ५२ ॥ अनयोरादेरस्य उत्त्वं भवति ॥ ध्वनि.। झुणी। विष्वक्। वीसुं। कथं सुणओ इति चेद्। शुनक इति प्रकृत्यन्तरस्य, श्वन्शब्दस्य तु सा साणो इति प्रयोगौ भवतः ॥

चण्डखण्डिते णा वा ॥१॥५३॥ अनयोरादेरस्य णकारेण सहितस्य उत्त्वं वा भवति ॥ चण्डं। चुडं। चंडं। खंडितः। खुडिओ। खंडिओ ॥

गवये वः ॥ १ ॥ ५४ ॥ गवयशब्दे वकाराकारस्य उत्त्व भवति। गवयः। गउओ। गउआ ॥

प्रथमे पथोर्वा ॥ १ ॥ ५५ ॥ प्रथमशब्दे पकारथकारयोरकारस्य युगपद् क्रमेण च उकारो वा भवति ॥ प्रथमम् । पुढुमं । पढुमं । पुढमं । पढमं । मेथिशिरेत्यादिना थस्य ढ. ॥

ज्ञो णत्वेऽभिज्ञादौ ॥ १ ॥ ५६ ॥ अभिज्ञादिषु ज्ञस्य णत्वे कृते ज्ञस्यैव अत उत्त्वं भवति ॥ अभिज्ञः ॥ अहिण्णू । ज्ञाम्नोर्न इति ज्ञस्य नत्वं ॥ सर्वज्ञ. । सव्वण्णू । कृतज्ञः । कयण्णू । आगमज्ञः । आगमण्णू । णत्वे इति किं । अहिज्जो । सव्वज्जो । अभिज्ञादौ इति किं । प्राज्ञः । पण्णो । येषां ज्ञस्य णत्वे उत्त्वं दृश्यते तेऽभिज्ञादयः ।

एच् छय्यादौ ॥ १ ॥ ५७ ॥ शय्यादिशब्देषु आदेरस्य एत्त्वं भवति । शय्या । सेज्जा । द्यर्य्यां ज इति य्यस्य जत्वम् ॥ सुन्दरम् । सुंदेरं । कन्दुकं । गेंदुअं । अत्र । एत्थ । अत्र आर्षे पुरेकंमं ॥

वल्ल्युत्करपर्यन्ताश्चर्ये वा ॥ १ ॥ ५८ ॥ एषु आदेरस्य एत्त्वं वा भवति ॥ वल्ली । वेल्ली । उत्करः । उक्केरो । उक्करो ॥

एतः पर्य्यन्ते ॥ २ ॥ ६५ ॥ पर्यन्ते एकारात्परस्य र्यस्य रो भवति ॥ पर्य्यन्त. । पेरंतो 'पज्जंतो' ।

आश्चर्ये ॥ २ ॥ ६६ ॥ आश्चर्ये एतः परस्य र्यस्य रो भवति । आश्चर्यम् । 'अच्छेरं' ॥

अतो रिआर-रिज्ज-रीअं ॥ २ ॥ ६७ ॥ आश्चर्येऽकारात्परस्य र्यस्य रिअ अर रिज्ज रीअं एते आदेशा भवन्ति । अच्छरिअं अच्छअरं अच्छरिज्जं अच्छरीअं ॥ अत. किम् । अच्छेरं ॥

ब्रह्मचर्ये च ॥ १ ॥ ५९ ॥ ब्रह्मचर्ये शब्दे चस्य अत एत्त्वं भवति । ब्रह्मचर्यं । ब्रह्मचर्येत्यादिना र्यस्य रः । बम्हचेरं ।

तोऽन्तरि ॥ १ ॥ ६० ॥ अन्तःशब्दे तस्य अत एत्त्वं भवति। 'अन्तःपुरम् । अंतेउरं ' ' अन्तश्चारी । अंतेआरी ' क्वचिन्न भवति । अन्तर्गतम् । अंतग्गयं । अन्तर्विश्रम्भनिवेसितानाम् । अंतोवीसंभनिवेसिआणं ॥

ओत् पद्मे ॥ १ ॥ ६१ ॥ पद्मशब्दे आदेरत ओत्त्वं भवति ॥ 'पद्मं । पोम्मं' पद्म छद्म इति विश्लेषे न भवति 'पउमं' ॥

नमस्कारपरस्परे द्वितीयस्य ॥ १ ॥ ६२ ॥ अनयोर्द्वितीयस्य अत ओत्त्वं भवति । नमस्कारः । नमोक्कारो । परस्परं । परोप्परं ॥

वार्पौ ॥ १ ॥ ६३ ॥ अर्पयतौ धातौ आदेरस्य ओत्त्वं वा भवति । अर्पयति । ओप्पेइ अप्पेइ । अर्पितम् । ओप्पिअं अप्पिअं ॥

स्वपावुच्च ॥ १ ॥ ६४ ॥ स्वपितौ धातौ आदेरस्य ओत् उत च भवति । स्वपिति । सोवइ सुवइ ।

नात् पुनरादाई वा ॥ १ ॥ ६५ ॥ नञः परे पुनःशब्दे आदेरस्य आद् आइ इत्यादेशौ वा भवतः ॥ न पुन. । नउणा नउणाइ । पक्षे नउण नउणो । केवलस्याऽपि दृश्यते पुणाइ ॥

वाऽलाब्वरण्ये लुक् ॥ १ ॥ ६६ ॥ अलाब्वरण्यशब्दयोः आदेरतो लुक् वा भवति । अलाबु । अलाउं लाउं लाऊ अलाऊ । अरण्यं । रण्णं अरण्णं । अत इत्येव । आरण्यकुञ्जर इव बल्गयन् । आरण्ण कुंजरो व्व वेल्लंतो ॥

वाऽव्ययोत्खातादावदातः ॥ १ ॥ ६७ ॥ अव्ययेषु उत्खातादिषु च शब्देषु आदेराकारस्य अद् वा भवति ॥ अव्यये । यथा । जह जहा । तथा । तह तहा । अथवा । अहव अहवा । व वा । ह हा इत्यादि । उत्खातादिषु । उत्खातम् । उक्खयं उक्खायं । चामरः । चमरो चामरो ।

कालकः। कलओ, कालओ। स्थापितः। ठविओ, ठाविओ। प्रतिस्थापितः। परिट्ठविओ, परिट्ठाविओ। संस्थापितः। संठविओ, संठाविओ। प्राकृतम्। पययं, पायय। तालवृन्तम्। तलविण्टं, तालविण्टं, तलवोण्टं, तालवोण्ट। हालिक.। हलिओ, हालिओ। नाराच.। नराओ, नाराओ। बलाका। बलया, बलाया। कुमारः। कुमरो, कुमारो। खादिरम्। खइरं, खाइरं इत्यादि। केचिद् ब्राह्मणपूर्वाह्णयोरपि इच्छन्ति। बम्हणो बाम्हणो। पुव्वण्हो पुव्वाण्हो। अत एव ज्ञापकात् ह्रस्वः संयोगे इति ह्रस्वोऽपि न भवति॥ दावाग्निः। दवग्गी दावग्गी। चाटुः। चडु चाडु। इति तु शब्दभेदात् सिद्धम्॥

घञ् वृद्धेर्वा॥ १॥ ६८॥ घञ् निमित्तो यो वृद्धिरूप आकारस्तस्यादिभूतस्य अद् वा भवति॥ प्रवाहः। पवहो पवाहो। प्रहारः। पहरो पहारो। प्रचारः प्रकारो वा। पयरो पयारो। प्रस्ताव.। पत्थवो पत्थावो। क्वचिन्न भवति। रागः। राओ॥

महाराष्ट्रे॥ १॥ ६९॥ महाराष्ट्रशब्दे आदेराकारस्य अद् भवति॥

महाराष्ट्रे हरोः॥ २॥ ११९॥ महाराष्ट्रशब्दे हरोर्व्यत्ययो भवति॥ मरहट्ठं मरहट्ठो॥

मांसादिष्वनुस्वारे॥ १॥ ७०॥ मांसादिषु अनुस्वारे सति आदे-रात अद् भवति॥ मांसम्। मंसं। पांसु। पंसू। पांसनः। पंसणो। कांस्यम्। कंसं। कांसिकः। कंसिओ। वांशिकः। वंसिओ। पांडवः पंडवो। सांसिद्धिकः। संसिद्धिओ। सांयात्रिकः। संयत्तिओ। इत्यादि। अनुस्वार इति किम्। मास। पासू।

श्यामाके मः॥ १॥ ७१॥ श्यामाके मस्य आत अद् भवति॥ श्यामाक.। शामाक इति स्थिते॥

शषोः सः ॥ १ ॥ २६० ॥ शकारषकारयोः सो भवति ॥ सामञ्ञे ॥ शब्द. । सद्दो । कुशः । कुसो । नृशंसः । निसंसो । वंशः । वंसो । श्यामा । सामा । शुद्धं । सुद्धं । दश । दस । शोभते । सोहइ । विशति । विसइ । (ष) षण्डः । सण्डो । निषधः । निसढो । कषायः । कसाओ । घोषयति । घोसइ । उभयोरपि । शेषः । सेसो । विशेषः । विसेसो ।

इः सदादौ वा ॥ १ ॥ ७२ ॥ सदादिशब्देषु आत इत्वं वा भवति । सदा । सइ सया । निशाकरः । निसिअरो । निसाअरो । कूर्पासः । कुप्पिसो कुप्पासो ॥

आचार्ये चोऽच्च ॥ १ ॥ ७३ ॥ आचार्यशब्दे चस्य आत इत्वं अत्वं च भवति ॥ आचार्यः । आइरिओ आयरिओ । स्याद् भव्यचैत्यचौर्यसमेत्यादिना इदागमः ॥

ईः स्त्यानखल्वाटे ॥ १ ॥ ७४ ॥ स्त्यानखल्वाटयोरादे - रात ईर्भवति ॥ खल्वाट. । खल्लीडो ॥

स्त्यानचतुर्थार्थे वा ॥ २ ॥ ३३ ॥ एषु संयुक्तस्य ठो वा भवति ॥ स्त्यानम् । ठीणं थीणं । चतुर्थः । चउट्ठो चउत्थो । अर्थं । अट्ठो प्रयोजनम् । अत्थो धनम् ॥

उः सास्नास्तावके ॥ १ ॥ ७५ ॥ अनयोरादेरात उत्वं भवति ॥ सास्ना ! सुण्हा । सूक्ष्मस्नश्नेत्यादिना स्नस्य ण्ह आदेशः ॥

स्तस्य थोऽसमस्तस्तम्बे ॥ २ ॥ ४५ ॥ समस्तस्तम्बवर्जिते स्तस्य थो भवति ॥ स्तावकः । थुवओ । हस्तः । हत्थो । स्तुति. । थुई । स्तोत्रम् । थोत्तं । स्तोकम् । थोअं । प्रस्तरः । पत्थरो । प्रशस्तः । पसत्थो । अस्ति । अत्थि । स्वस्ति । सत्थि । असमस्तस्तम्बे इति किं । समत्तो । तम्बो ॥

उद् वासरे ॥ १ ॥ ७६ ॥ आसारशब्दे आदेरात ऊद् वा भवति। आसारः। ऊसारो आसारो।

आर्यायां र्यः श्वश्र्वाम् ॥ १ ॥ ७७ ॥ आर्याशब्दे श्वश्र्वा वाच्यायां र्यस्य अत ऊर्भवति ॥ आर्या। अज्जू। द्यर्यय्येत्यादिना र्यस्य जः। श्वश्र्वामिति किम्। अज्जा ॥

एद् ग्राह्ये ॥ १ ॥ ७८ ॥ ग्राह्ये शब्दे आदेरात एद् भवति। ग्राह्यम्। गेज्झं ॥

द्वारे वा ॥ १ ॥ ७९ ॥ द्वारशब्दे आत एद् वा भवति। द्वारम्। देरं। पक्षे।

पद्मछद्मभूर्खद्वारे वा ॥ २ ॥ ११२ ॥ एषु संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात् पूर्वम् उदागमो वा भवति। दुआरं दारं वारं। पद्म। पउमं पोम्मं। छद्म। छउमं छम्मं। मूर्खः। मुरुक्खो। अत्र पूर्वं ह्रस्वः, तत उदागम। मुक्खो। कथं तर्हि 'नेरइओ नारइओ।' नैरयिक नारकिकशब्दयोर्भविष्यति। आर्षे अन्यत्रापि पश्चात्कर्म। पच्छेकम्मं। असहाय्यः। असहेज्ज देवासुरी।

पारापते रो वा ॥ १ ॥ ८० ॥ पारापतशब्दे रस्थस्य आत एत् वा भवति ॥ पारापतः। पारेवओ, पारावओ ॥

मात्रटि वा ॥ १ ॥ ८१ ॥ मात्रट् प्रत्यये आत एद् वा भवति ॥ एतावन्मात्रम्। एत्तिअमेत्तं एत्तिअमत्तं। वहुलाधिकारात् क्वचिन् मात्रशब्देऽपि भोजनमात्रम्। भोयणमेत्तं ॥

उदोद् वार्द्रे ॥ १ ॥ ८२ ॥ आर्द्रशब्दे आदेरात उद् ओच्च वा भवत। आर्द्रम्। उल्ल पक्षे अल्लं। इरिद्रादौ लः इति रस्य ल ॥ अद्दं। वाष्पसलिलप्रवाहेण आर्द्रयति। वाह सलिल पवहेण उल्लेइ ॥

ओद् आल्यां पंक्तौ ॥ १ ॥ ८३ ॥ आलीशब्दे पंक्तिवाचिनि आत ओत्वं भवति। आली। ओली। पंक्ताविति किम्। आली सखी ॥

ह्रस्वः संयोगे ॥ १ ॥ ८४ ॥ दीर्घस्य संयोगे परे यथा दर्शनं ह्रस्वो भवति ॥

ताम्राम्रे म्बः ॥ २ ॥ ५६ ॥ अनयोः संयुक्तस्य मयुक्तो बो भवति। आम्रं। 'अम्बं'। 'ताम्रं। तम्बं'। 'विरहाग्निः। विरहग्गी। आस्यं। अस्सं। "ईत्। 'मुनीन्द्रः। मुणिंदो। 'तीर्थं' तित्थं। ऊत्। 'गुरूल्लापः'। गुरुल्लावो। 'चूर्ण.'। चुण्णो। एत्। 'नरेन्द्रः'। नरिन्दो। 'म्लेच्छः'। मिलिच्छो। लाद् इत्यनेन लात् पूर्वम् इदागमः 'दृष्टैकस्तनपृष्ठ''। दिट्ठिक्कत्थणवट्ठं। ओत्। 'अधरोष्ठ.। अहरुट्ठं। नीलोत्पलं ॥नीलुप्पलं। संयोगे इति किम्। 'आयासं'। ईसरो'। ऊसवो।

इत एद्वा ॥ १ ॥ ८५ ॥ स्योग इति वर्त्तते। संयोगे पर आदेरिकारस्य एकारो वा भवति। पिण्डम्। पेण्डं पिण्ड। धम्मिल्लम्। धम्मेल्लं धम्मिल्लं। सिंदूरम्। सेन्दूरं सिन्दूरं। विष्णु। वेण्हू। विण्हू। पिष्टम्। पेट्ठं पिट्ठं। बिल्वम्। वेल्लं बिल्लं। क्वचिन्न भवति। चिन्ता।

किंशुके वा ॥ १ ॥ ८६ ॥ किंशुकशब्दे आदेरित एकारो वा भवति। किंशुकम्। केसुअं किंसुयं। मांसादेरिति वा अनुस्वार लोपः ॥

मिरायाम् ॥ १ ॥ ८७ ॥ मिराशब्दे इत एकारो भवति। मेरा ॥

पथि पृथिवी प्रतिश्रुन्मूषिक-हरिद्राबिभीतकेष्वत् ॥ १ ॥ ८८ ॥ एषु आदेरितो अकारो भवति। पथि। पहो ॥

निशीथपृथिव्योर्वा ॥ १ ॥ २१६ ॥ अनयो थस्य ढो वा भवति। निशीथ.। निसीढो निसीहो। पृथिवी। पुढवी पुहई। प्रतिश्रुत्। पडंसुआ। वक्रादावंतः इति अनुस्वारस्य आगमः। मूषिकः। मूसओ

हरिद्रा । हलद्दी हलद्दा । विभीतकः । वहेडओ । एत् पीयूष-केति ईकारस्य एकारः । पथं किर देसित्ते ति तु पथिशब्दसमानार्थस्य पन्थशब्दस्य भविष्यति । हरिद्रायां विकल्प इत्यन्ये । हलिद्दी हलिद्दा ।

शिथिलेंगुदे वा ॥ १ ॥ ८९ ॥ अनयोरादेरितो अत् वा भवति । शिथिलं, प्रशिथिलम् । सढिलं पसढिलं । सिढिलं पसिढिलं । इंगुदम् । अंगुअं इंगुअं । निर्मितशब्दे तु वा आत्वं न विधेयं निर्मातनिर्मितशब्दाभ्यामेव सिद्धेः ॥

तित्तिरौ रः ॥ १ ॥ ९० ॥ तित्तिरिशब्दे रस्येतो अद् भवति । तित्तिरिः । तित्तिरो ।

इतौ तौ वाक्यादौ ॥ १ ॥ ९१ ॥ वाक्यादिभूते इतिशब्दे यस्तस्तत्सम्बन्धिन इकारस्य अकारो भवति । इति कथितावसाने । इअ जंपियावसाणे । इति विकसित-कुसुमसर । इअ विअसिअ-कुसुमसरो । वाक्यादावितिकिम् । प्रियः इति । पियो त्ति । पुरुष. इति । पुरिसो त्ति ।

ईर्जिह्वा सिंह त्रिंशद् विंशतौ त्या ॥ १ ॥ ९२ ॥ जिह्वादिषु इकारस्य तिशब्देन सह ईर्भवति । जिह्वा । जीहा । सिंहः । सीहो । त्रिंशद् । तीसा । विंशतिः । वीसा । 'बहुलाधिकारात् क्वचिन्न भवति' सिंहदत्तो सिंहराओ ॥

लुंकि निरः ॥ १ ॥ ९३ ॥ निरुपसर्गस्य रेफलोपे सति इत ईकारो भवति । निः सरति । नीसरइ । निःश्वासः । नीसासो । लुंकीति किं । निर्णय. । निण्णओ । निस्सहानि अंगानि । निस्सहाइं अंगाइं ।

द्विन्योरुत् ॥ १ ॥ ९४ ॥ द्वि शब्दे नावुपसर्गे च इत उद् भवति (द्वि) द्विमात्रं । दुमत्तो । द्विजातिः । दुआई । द्विविधं । दुविहो । द्विरेफो । दुरेहो । द्विवचनं । दुवयणं । बहुलाधिकारात् क्वचित् विकल्पः । द्विगुणो । दुउणो विउणो । द्वितीयः दुइओ । विइओ । क्वचिन्न भवति ।

द्विज. । दिश्रो । द्विरद. । दिरश्रो । क्वचिद् श्रोत्वमपि । दोवयण (नि) निमज्जति णुमज्जइ । निमग्नो णुमग्गो । क्वचिन्न भवति । निपतति निवडइ ॥

प्रवासीक्षौ ॥ १ ॥ ९५ ॥ अनयोरादेरित उत्व भवति । प्रवासिकः पावासुश्रो । इक्षुः । उच्छू ॥

युधिष्ठिरे वा ॥ १ ॥ ९६ ॥ युधिष्ठिरशब्दे आदेरित उत्वं वा भवति । युधिष्ठिरः । जहुट्ठिलो । जहिट्ठिलो 'हरिद्रादौ ल' इति रस्य लत्वम् ॥

ओच्च द्विधा कृगः ॥ १ ॥ ९७ ॥ द्विधाशब्दे कृग्धातोः प्रयोगे इत ओत्वं चकाराद् उत्वं च भवति । द्विधा क्रियते । 'दोहा किज्जइ' दुहा किज्जइ । द्विधा कृतम् । दोहा इश्रं 'दुहा इश्र' । कृग इति किं । द्विधा गतम् । दिहा गयं । क्वचित् केवलस्यापि । द्विधापि स सुरवधूसार्थः । दुहावि सो सुरवहूसत्थो' ।

वा निर्झरे ना ॥ १ ॥ ९८ ॥ निर्झरशब्दे नकारेण सह इत ओकारो वा भवति । निर्झरः । श्रोज्झरो निज्झरो ॥

हरीतक्यामीतोऽत् ॥ १ ॥ ९९ ॥ हरीतकीशब्दे आदेरीकारस्य अद् भवति । हरीतकी । हरडई ॥

आत् कश्मीरे ॥ १ ॥ १०० ॥ कश्मीरशब्दे ईत आद् भवति । कश्मीराः । कम्हारा ॥

पानीयादिष्वित् ॥ १ ॥ १०१ ॥ पानीयादिषु शब्देषु ईत इद् भवति । पानीयम् । पाणिश्रं । अलीकम् । अलिश्रं । जीवति । जिश्रइ । जीवतु । जिश्रउ । व्रीडितम् । विलिश्रं । करीष । करिसो । शिरीषः । सिरिसो । द्वितीयम् । दुइश्रं । तृतीयम् । तइश्रं । गभीरम् । गहिरम् । उपनीतम् । उवणिश्रं । आनीतम् । आणिश्रं । प्रदीपितम् ।

पलिविअं । अवसीदतम् । ओसिअन्तं । प्रसीद । पसिअ । गृहीतम् । गहिअं । वाल्मीकः । वम्मिओ । तदानीम् । तयाणि । इति पानीयादय; । बहुलाधिकाराद् एषु क्वचिन्नित्यं क्वचिद् विकल्प । तेन पाणीअं अलीअं, जीअइ, करीसो, उवणीओ इत्यादि सिद्धम् ॥

उर्जीर्णे ॥ १ ॥ १०२ ॥ जीर्णशब्दे ईत उद् भवति । जीर्णे सुरा । जुण्णसुरा । क्वचिन्न भवति । जीर्णभोजनमात्रे । जिण्णे भोअणमत्ते ॥

ऊर्हीनविहीने वा ॥ १ ॥ १०३ ॥ अनयोरीत ऊत्वं वा भवति । हीनः । हूणो हीणो । विहीनः । विहूणो विहीणो । विहीन इति किं । पहीणजरमरणा ॥

तीर्थे हे ॥ १ ॥ १०४ ॥ तीर्थशब्दे हकारादेशे सति ईत ऊत्वं भवति । तीर्थम् । तूहं । ह इति किं, तित्थं ॥

एत् पीयूषापीड-विभीतककीदृशेदृशे ॥ १ ॥ १०५ ॥ एषु ईत एत्त्वं भवति । पीयूषम् । पेऊसं ॥

नीपापीडे मो वा ॥ १ ॥ २३४ ॥ अनयोः पस्य मो वा भवति । नीपः । नीमो नीवो । आपीडः । आमेळो आवेडो । बिभीतकः । बहेडओ । पथिपृथिवीत्यादिना इकारस्य अत्वम् । कीदृशः । केरिसो । ईदृशः । एरिसो ॥

नीडपीठे वा ॥ १ ॥ १०६ ॥ अनयोरीत एत्वं वा भवति । नीडम् । नेडं नीडं । पीठम् । पेढं पीढं ॥

उतो मुकुलादिष्वत् ॥ १ ॥ १०७ ॥ मुकुलादिषु शब्देषु आदेरुतोऽत्त्वं भवति । मुकुलं । मउलं । मउलो । मुकुरं । मउरं । मुकुटं । मउडं । अगुरुं । अगरुं । गुर्वी । गरुई । युधिष्ठिरः । जहुट्ठिलो । सौकु-

मार्यम् । सोअमल्ल । गुडूची । गलोई । इति मुकुलादयः । क्वचिदा-कारोऽपि । विद्रुत. । विद्दाओ ।।

वोपरौ ॥ १ ॥ १०८ ॥ उपरौ उतोऽद् वा भवति । उपरि । अवरिं उवरिं ॥

गुरौ के वा ॥ १ ॥ १०९ ॥ गुरौ स्वार्थे के 'सति' आदेरुतोऽद् वा भवति । गुरुकः । गरुओ गुरुओ । क इति किं, गुरू ॥

इर्भ्रुकुटौ ॥ १ ॥ ११० ॥ भ्रुकुटौ आदे-रुत इर्भवति । भ्रुकुटि. । भिउडी ॥

बाहोरात् ॥ १ ॥ ३६ ॥ बाहुशब्दस्य स्त्रियाम् आकारोऽन्त्यादेशो भवति । बाहुना येन धृतः एकेन । बाहाए जेण धरिओ एक्काए । स्त्रिया-मिति किं । वामेतरो बाहु. । वामेअरो बाहू ।

पुरुषे रोः ॥ १ ॥ १११ ॥ पुरुषशब्दे रोरुत इर्भवति । पुरुष. । पुरिसो । पौरुष । पउरिसं ।

ईः क्षुते ॥ १ ॥ ११२ ॥ क्षुतशब्दे आदेरुत ईत्वं भवति । क्षुतम् । छीअं ।

ऊत् सुभगमुसले वा ।। १ ॥ ११३ ॥ अनयोरादेरुत ऊद् वा भवति ।

ऊत्वे दुर्भग-सुभगे वः ॥ १ ॥ १९२ ॥ अनयोरूत्वे सति गस्य वो भवति । दुर्भग । दूहवो । सुभगः । सूहवो । ऊत्व इति किं । सुहओ । मुसलम् । मूसलं मुसलं ॥

अनुत्साहोत्सन्ने त्सच्छे ॥ १ ॥ ११४ ॥ उत्साहोत्सन्नवर्जिते शब्दे यौ त्सच्छौ तयोः परयोरादेरुत ऊद् भवति । (त्स) । उत्सुकः । ऊसुओ । उत्सवः । ऊसओ उत्सिक्त. । ऊसित्तो' । उत्सरति । ऊसरइ

(च्छ) । उद्गताः शुका यस्मात् सः उच्छुकः । ऊसुओ । उच्छ्वसति । ऊससइ । अनुत्साहोत्सन्ने इति किम्, । उच्छाहो । उच्छन्नो ॥

लुकि दुरो वा ॥ १ ॥ ११५ ॥ दुरुपसर्गस्य रेफस्य लोपे सति उत ऊत्वं वा भवति । दुःसहः । दूसहो दुसहो । 'ऊत्वे दुर्भगसुभगे व' इति गस्य वो । दूहवो दुहओ । लुकि इति किम्, दुस्सहो विरहो ॥

ओत् संयोगे ॥ १ ॥ ११६ ॥ संयोगे परे आदेरुत ओद् भवति । तुण्डं । तोण्डं । मुण्डं । मोण्डं । पुष्करं । पोक्खरं । कुट्टिमं । कोट्टिमं । पुस्तकः । पोत्थओ । लुब्धकः । लोद्धओ । मुस्ता । मोत्था । मुद्गरः । मोग्गरो । पुद्गलं । पोग्गलं । कुष्ठ. । कोण्ढो । कुन्तः । कोन्तो । व्युत्क्रांत । वोक्कंतं ॥

कुतूहले वा ह्रस्वश्च ॥ १ ॥ ११७ ॥ कुतूहलशब्दे उत ओद् वा भवति तत्संनियोगे ह्रस्वश्च वा । कुतूहलम् । कोऊहल्लं कोउहल्लं कुऊहलं ॥

अदूतः सूक्ष्मे वा ॥ १ ॥ ११८ ॥ सूक्ष्मशब्दे ऊतोऽद् वा भवति । सूक्ष्मम् । सण्हं सुण्हं । आर्षे सुहुमं ॥

दुकूले वा लश्च द्विः ॥ १ ॥ ११६ ॥ दुकूलशब्दे ऊकारस्य अत् वा भवति, तत्सन्नियोगे च लकारो द्विर्भवति । दुकूलम् । दुअल्लं दुऊलं । आर्षे दुगुल्लं ।

ईर्वोद्व्यूढे ॥ १ ॥ १२० ॥ उद्व्यूढशब्दे ऊत ईत्वं वा भवति । उद्व्यूढम् । उव्वीढं उव्वूढं ॥

उभ्रू-हनूमत्कण्डूयवातूले ॥ १ ॥ १२१ ॥ एषु ऊत उत्वं भवति । भ्रूमया । भुमया । हनूमन् । हणुमंतो । कण्डूयति । कण्डुअइ । वातूलः । वाउलो ॥

मधूके वा ॥ १ ॥ १२२ ॥ मधूकशब्दे ऊत उद् वा भवति । मधूकम् । महुअं । महूअं ॥

इदेतौ नूपुरे वा ॥ १ ॥ १२३ ॥ नूपुरशब्दे ऊत इत एत् च वा भवतः । नूपुरम् । निउरं । नेउरं । पक्षे । नूउरं ।

ओत् कूष्माण्डी-तूणीर-कूर्पर-स्थूल-ताम्बूल-गुडूची-मूल्ये ॥ १ ॥ १२४ ॥ एषु ऊत ओद् भवति ॥

कूष्माण्ड्यां ष्मो लस्तु ण्डो वा ॥ २ ॥ ७३ ॥ कूष्माण्ड्यां ष्मा इत्येतस्य हो भवति, ण्ड इत्यस्य तु वा लो भवति । कूष्माण्डी । कोहली । कोहण्डी । तूणीरम् । तोणीरं । कूर्परं । कोप्परं ॥

स्थूले लो रः ॥ १ ॥ २५५ ॥ स्थूले लस्य रो भवति । स्थूलम् । थोरं, कथं थूलभद्दो । स्थूरस्य हरिद्रादिलत्वे भविष्यति । ताम्बूलम् । तम्बोलं । गुडूची । गलोई । मूल्यम् । मोल्लं ।

स्थूणा-तूणे वा ॥ १ ॥ १२५ ॥ अनयोरूत ओत्त्वं वा भवति । स्थूणा । थोणा । थूणा । तूणम् । तोणं । तूणं ॥

ऋतोऽत् ॥ १ ॥ १२६ ॥ आदेर्ऋकारस्य अत् भवति । घृतं । घयं । तृणं । तणं । कृतं । कयं । वृषभ. । वसहो । मृगः । मओ । घृष्टः । घट्ठो । द्विधा कृतिमिति कृपादिषु पाठात् । दुहाइअं ॥

आत् कृशामृदुकमृदुत्वे वा ॥ १ ॥ १२७ ॥ एषु आदेर्ऋत आद् वा भवति । कृशा । कासा । किसा । मृदुकम् । माउक्कं । सेवादौ वा, इति कस्य द्वित्वम् । मउअं । मृदुत्वम् । माउक्कं । मउत्तणं ॥

इत् कृपादौ ॥ १ ॥ १२८ ॥ कृपादिषु शब्देषु आदेर्ऋत इत्त्वं भवति । कृपा । किवा । हृदयं । हियय । मृष्टम् । मिट्ठं रसे एव' । अन्यत्र मट्ठ । दृष्टम् । दिट्ठं । दृष्टिः । दिट्ठी । सृष्टम् । सिट्ठं । सृष्टिः ।

सिट्ठी। गृष्टिः। गिठी। वक्रादावन्त इति अनुस्वारागम.। पृथ्वी। पिच्छी। भृगुः। भिऊ। भृङ्गः। भिंगो। भृङ्गारः। भिंगारो। शृङ्गारः। सिंगारो। शृगालः। सिआलो। घृणा। घिणा। घुसृणम्। घुसिण। वृद्ध कविः। विद्ध कई। समृद्धि.। समिद्धी। ऋद्धि। इद्धी। गृद्धिः। गिद्धी। कृशः। किसो। कृशानुः। किसाणू। कृसरा। किसरा। कृच्छ्रम्। किच्छं। तृप्तम्। तिप्पं। कृपित। किसिओ। नृप.। निवो। कृत्या। किच्चा। कृतिः। किई। धृतिः। धिई। कृपः। किवो। कृपणः। किविणो। कृपाणम्। किवाणं। वृश्चिकः। विञ्चुओ। वृत्तम्। वित्तं। वृत्ति.। वित्ती। हृतम्। हिअं। व्याहृतम्। वाहित्तं। बृंहितः। विंहिओ। बृसी। बिसी। ऋषिः। इसी। वितृष्णः। विइण्हो। स्पृहा। छिहा। सकृत्। सइ। उत्कृष्टम्। उक्किट्ठं। नृशंसः। निसंसो। इति कृपादय। क्वचिन्न भवति रिद्धी।

पृष्ठे वानुत्तरपदे ॥ १ ॥ १२९। पृष्ठशब्देऽनुत्तरपदे ऋत इद् वा भवति। पृष्ठि.। पिट्ठी। पट्ठी। पृष्ठपरिस्थापितम्। पिट्ठि-परिट्ठविअं। अनुत्तरपदे इति किं। महीपृष्टम्। महिवट्ठं॥

मसृण-मृगाङ्क-मृत्यु-शृङ्ग-धृष्टे वा ॥ १ ॥ १३० ॥ एषु ऋत इद् वा भवति। मसृणम्। मसिणं। मसणं। मृगाङ्कः। मिअङ्को। मयङ्को। मृत्युः। मिच्चू। मच्चू। शृङ्गम्। सिङ्गं। सङ्गं। धृष्ट.। धिट्ठो। धट्ठो।

उद् ऋत्वादौ ॥ १ ॥ १३१ ॥ ऋतु इत्यादिषु शब्देषु आदे ऋत उद् भवति। ऋतुः। उऊ। परामृष्टः। परामुट्ठो। स्पृष्टः। पुट्ठो। प्रवृष्ट.। पवुट्ठो। पृथिवी। पुहवी। प्रवृत्ति.। पउत्ती। प्रावृष्। पाउसो। प्रावृतः। पाउओ। भृतिः। भुई। प्रभृति। पहुडी। प्राभृतम्। पाहुडं। परभृतः। परहुओ। निभृतम्। निहुअं। निवृतम्। निउअं। विवृतम्। विउअं। संवृतम्। संवुअं। वृत्तान्तः। वुत्तन्तो। निर्वृतम्। निव्वुअं। निर्वृतिः। निव्वुई। वृन्दं। वुन्दं। वृन्दावनः। वुन्दावणो। वृद्धः।

वुड्ढो। दग्ध विदग्ध वृद्धि वृद्धे ढः। इति द्धस्य ढः। वृद्धिः। वुड्ढी। ऋषभः। उसहो। मृणालम्। मुणालं। ऋजुः। उज्जू। जामातृकः। जामाउओ। मातृकः। माउओ। मातृका। माउआ। भ्रातृकः। भाउओ। पितृकः। पिउओ। पृथ्वी। पुहुवी। इति ऋत्वादयः।

निवृत्तवृन्दारके वा ॥ १ ॥ १३२ ॥ अनयोऋत उद् वा भवति। निवृत्तम्। निवुत्तं निअत्त। वृन्दारकाः। वुन्दारया। वन्दारया।

वृषभे वा* वा ॥ १ ॥ १३३ ॥ वृषभे ऋतो वेन सह उद् वा भवति। वृषभ। उसहो। वसहो॥ *तृतीयान्तपदम्

गौणान्त्यस्य ॥ १ ॥ १३४ ॥ गौणशब्दस्य योऽन्त्य ऋत् तस्य उद् भवति। मातृमण्डलम्। माउमंडलं। मातृगृहम्। माउहरं। पितृगृहम्। पिउहरं। गृहस्य घरपतौ। इति गृहस्य घरादेशः। मातृस्वासा। माउसिआ। पितृस्वसा। पिउसिआ। पितृवनम्। पिउवणं। पितृपतिः। पिउवई॥

मातुरिद् वा ॥ १ ॥ १३५ ॥ मातृशब्दस्य गौणस्य ऋत इद् वा भवति। मातृ गृहम्। माइहर। माउहरं। क्वचिद्गौणस्यापि माईणं॥

उदूदोत् मृषि ॥ १ ॥ १३६ ॥ मृषाशब्दे ऋत उत् ऊत् ओच्च भवन्ति। मृषा। मुसा। मूसा। मोसा। मृषावादः। मुसावाओ। मूसावाओ। मोसावाओ॥

इदुतौ वृष्ट-वृष्टि-पृथङ्-मृदङ्ग-नप्तृके ॥ १ ॥ १३७ ॥ एषु ऋत इकारोकारौ भवतः। वृष्टः। विट्ठो। वुट्ठो। वृष्टिः। विट्ठी। वुट्ठी। पृथक्। पिहं। पुहं। मृदङ्गः। मिइंगो। इः स्वप्नादौ। इति दस्य इः। मुइंगो। नप्तृक। नत्तिओ। नत्तुओ॥

वा बृहस्पतौ ॥ १ ॥ १३८ ॥ बृहस्पतिशब्दे ऋत इदुतौ वा भवतः॥

ष्पस्पयोः फः ॥ २ ॥ ५३ ॥ ष्पस्पयोः फो भवति। बृह-

स्पतिः। बिहप्फई। बुहप्फई। वहप्फई। पुष्पं। पुप्फं। शष्पं। सप्फं। निष्पेषः। निप्फेसो। निष्पापः। निप्फावो। स्पन्दनं। फन्दणं। प्रति-स्पर्द्धिन्। पाडिप्फद्धी। बहुलाधिकारात् क्वचिद् विकल्पः। बुहप्फई। बुहप्पई। क्वचिन्न भवति निष्प्रभः। निप्पहो। निष्पुंसनम्। णिप्पुंसणं। परस्परम्। परोप्परं।

इदेदोद् वृन्ते ॥ १ ॥ १३९ ॥ वृन्तशब्दे ऋत इत् एत् ओत च भवन्ति।

वृन्ते ण्टः ॥ २ ॥ ३१ ॥ वृन्ते मयुक्तस्य ण्टो भवति। वृन्तम्। विण्टं। वेण्टं। वोण्टं। तालवृन्तम्। तालवेण्ट ॥

रिः केवलस्य ॥ १ ॥ १४० ॥ केवलस्य व्यञ्जनेन असंयुक्तस्य ऋत रिरादेशो भवति। ऋद्धिः। रिद्धी। ऋक्षः। रिच्छो ॥

ऋणर्ज्वृषभर्त्वृषौ वा ॥ १ ॥ १४१ ॥ ऋण ऋजु ऋषभ ऋतु ऋषिषु ऋतो रिर्वा भवति। ऋणम्। रिणं। अणं। ऋजुः। रिज्जू। उज्जू। ऋषभः। रिसहो। उसहो। ऋतु। रिऊ। उऊ। ऋषिः। रिसी। इसी ॥

दृशेः क्विप्टक्सकः ॥ १ ॥ १४२ ॥ क्विप् टक् सक् इत्येतदन्तस्य दृशेर्धातोर्ऋतो रिरादेशो भवति। सदृग् वर्णः। सरिवण्णो। सदृग्रूपः। सरिरूवो। सदृग्बन्दीनाम्। सरिबन्दीणं। सदृशः। सरिसो सदृक्षः। सरिच्छो। एवं एतादृशः। एवं एआरिसो। भवादृशः। भवारिसो। यादृशः। जारिसो। तादृशः। तारिसो। कीदृश। केरिसो। ईदृशः। एरिसो। अन्यादृशः। अन्नारिसो। अस्मादृश। अम्हारिसो। युष्मादृशः। तुम्हारिसो। टक् सक् साहचर्यात् त्यदाद्यन्यादिसूत्रविहितः। क्विबिह गृह्यते ॥

आदृते ढिः ॥ १ ॥ १४३ ॥ आदृतशब्दे ऋतो ढिरादेशो भवति। आदृतः। आढिओ ॥

अरिर्दृप्ते ॥ १ ॥ १४४ ॥ दृप्तशब्दे ऋतोऽरिरादेशो भवति। दृप्तः। दरिओ। दृप्तसिंहेन। दरिअसीहेण ॥

लृत इलिः क्लृप्त-क्लृन्ने ॥ १ ॥ १४५ ॥ अनयोर्लृत इलिरादेशो भवति। क्लृप्तकुसुमोपचारेषु। किलित्त-कुसुमोवयारेसु। धाराक्लृन्नपात्रम्। धाराकिलिन्नवत्तं ॥

एत इद् वा वेदना-चपेटा-देवर-केसरे ॥ १ ॥ १४६ ॥ वेदनादिषु एत इत्त्वं वा भवति। वेदना। विअणा। वेअणा। चपेटा। चविडा। चवेडा। विकटचपेटाविनोदा। विअडचवेडाविणोआ। देवर। दिअरो। देवरो। महा-महितदशनकेसरम्। मह-महिय दसणकिसरं। केसरं। महिला। महेला। इति तु महिला-महेलाशब्दाभ्यां सिद्धम् ॥

ऊः स्तेने वा ॥ १ ॥ १४७ ॥ स्तेने एत ऊद् वा भवति। स्तेनः। थूणो। थेणो ॥

ऐत एत् ॥ १ ॥ १४८ ॥ आदौ वर्तमानस्य ऐकारस्य एत्त्वं भवति। शैला। सेला। सैन्यं। सेन्नं। त्रैलोक्यं। तेलोक्कं। ऐरावणः। एरावणो। कैलाश। केलासो। वैद्य। वेज्जो। कैटभ। केढवो। वैधव्य। वेहव्वं ॥

इत् सैन्धवशनैश्चरे ॥ १ ॥ १४९ ॥ एतयोरैत इत्त्वं भवति। सैन्धवं। सिंधवं। शनैश्चर। सणिच्छरो ॥

सैन्ये वा ॥ १ ॥ १५० ॥ सैन्यशब्दे ऐत इद् वा भवति। सैन्यम्। सिन्नं। सेन्नं।

अइर्दैत्यादौ च ॥ १ ॥ १५१ ॥ सैन्यशब्दे दैत्यादिषु च ऐतो अइ इत्यादेशो भवति। एत्त्वापवादः। सैन्यम्। सइन्नं। दैत्यः। दइच्चो। दैन्यम्। दइन्नं। ऐश्वर्यम्। अइसरिअं। भैरव। भइरवो।

वैजवनः । वइजवणो । दैवतं । दइवयं । वैतालीयं । वइआलीअं । वैदेशः । वइएसो । वैदेहः । वइएहो । वैदर्भः । वइदब्भो । वैश्वानरः । वइस्साणरो । कैतवं । कइअवं । वैशाखः । वइसाहो । वैशालः । वइसालो । स्वैरम् । सइरं । चैत्यं । चइत्तं इत्यादि । विश्लेषे न भवति । चैत्यं । चेइअं । आर्षे । (चैत्यवन्दनम्) । चीवन्दणं ॥

वैरादौ वा ॥ १ ॥ १५२ ॥ वैरादिषु ऐत अइरादेशो वा भवति । वैरं । वइरं । वेरं । कैलाशः । कइलासो । केलासो । कैरवम् । कइरवं । केरवं । वैश्रमणः । वइसवणो । वेसवणो । वैशम्पायनः । वइसंपायणो । वेसंपायणो । वैतालिकः । वइ आलिओ । वेआलिओ । वैशिक । वइसिअं । वेसिअं । चैत्रः । चइत्तो । चेत्तो । इत्यादि ।

एच्च दैवे ॥ १ ॥ १५३ ॥ दैवशब्दे ऐत एत् अइश्च आदेशो भवति । दैवम् । देव्वं । दइव्वं । दइवं ॥

उच्चैर्नीचै-स्यअः ॥ १ ॥ १५४ ॥ अनयोरैत अअ इत्यादेशो भवति । उच्चैः । उच्चअं । नीचैः । नीचअं । उच्चनीचाभ्यां के सिद्धं । उच्चैर्नीचैसोस्तु रूपान्तरनिवृत्त्यर्थं वचनम् ॥

ईद् धैर्ये ॥ १ ॥ १५५ ॥ धैर्यशब्दे ऐत ईद् भवति । धैर्यं हरति विषादः । धीरं हरइ विसाओ ।

ओतोऽद् वाऽन्योन्यप्रकोष्ठातोद्य-शिरोवेदना-मनोहर-सरोरुहे क्तोश्च वः ॥ १ ॥ १५६ ॥ एषु ओतो ऽत्वं वा भवति, तत्संनियोगे । च यथासम्भवं ककारतकारयो-र्वादेशो भवति । अन्योन्यम् । अन्नन्नं । अन्नुन्नं । प्रकोष्ठः । पवट्ठो । पउट्ठो । आतोद्यं । आवज्जं । आउज्जं । शिरोवेदना । सिर विअणा । सिरो विअणा । मनोहरम् । मणहरं । मणोहरं । सरोरुहम् । सररुहं । सरोरुहं ॥

ऊत् सोच्छ्वासे ॥ १ ॥ १५७ ॥ सोच्छ्वासशब्दे ओत ऊद् भवति । सोच्छ्वासः । सूसासो ॥

गव्यउ-आअः ॥ १ ॥ १५८ ॥ गोशब्दे ओत अउ आअ इत्यादेशौ भवतः। गवयः। गउओ। गउआ। गाओ। हरस्य एषा गौः। हरस्स एसा गाई ॥

औत ओत् ॥ १ ॥ १५९ ॥ औकारस्यादेरोद् भवति। कौमुदी। कोमुई। यौवनं। जोव्वणं। कौस्तुभः। कोत्थुहो। कौशाम्बी। कोसंबी। क्रौञ्चः। कोंचो। कौशिकः। कोसिओ ॥

उत् सौन्दर्यादौ ॥ १ ॥ १६० ॥ सौन्दर्यादौ औत उद् भवति। सौन्दर्यम्। सुन्देरं। सुन्दरिअं। मौञ्जायनः। मुंजायणो। शौण्डः। सुण्डो। शौद्धोदनिः। सुद्धोअणी। दौवारिकः। दुवारिओ। सौगन्ध्यम्। सुगंधत्तणं। त्वस्योपलक्षणत्वात्। 'त्वस्य डिमोत्तणौ वा' इति यस्यापि त्तणः। पौलोमी। पुलोमी। सौवर्णिकः। सुवण्णिओ ॥

कौक्षेयके वा ॥ १ ॥ १६१ ॥ कौक्षेयकशब्दे औत उद् वा भवति। कौक्षेयकम्। कुच्छेअयं ॥

अउः पौरादौ च ॥ १ ॥ १६२ ॥ कौक्षेयके पौरादिषु च औत अउरादेशो भवति। कौक्षेयकम्। कउच्छेअयं। पौरः। पउरो। पौरजनः। पउरजणो। कौरवः। कउरवो। कौशलं। कउसलं। पौरुषं। पउरिसं। सौधं। सउहं। गौडः। गउडो। मौलिः। मउली। मौनं। मउणं। सौराः। सउरा। कौलाः। कउला ॥

आच्च गौरवे ॥ १ ॥ १६३ ॥ गौरवशब्दे औत आत्त्वम् अउश्च भवति। गौरवं। गारवं। गउरवं ॥

नाव्यावः ॥ १ ॥ १६४ ॥ नौशब्दे औत आवादेशो भवति। नौः। नावा।

एत् त्रयोदशादौ स्वरस्य सस्वरव्यञ्जनेन ॥ १ ॥ १६५ ॥ त्रयोदश इत्येवं प्रकारेषु संख्याशब्देषु आदेः स्वरस्य परेण स स्वरव्यञ्जनेन-

सह एत् भवति । त्रयोदश । तेरह । संख्या-गद्गदे रः इति दस्य रः। दशपाषाणयोर्ह इति शस्य हः । त्रयोविंशतिः । तेवीसा । त्रयस्त्रिंशत्। तेतीसा ॥

स्थविरविचकिलायस्कारे ॥ १ ॥ १६६ ॥ एषु आदेः स्वरस्य परेण सस्वर-व्यञ्जनेन सह एत् भवति । स्थविरः । थेरो । विचकिलम् । वेइल्लं । मुग्धविचकिलप्रसून-पुञ्जा । मुद्ध-विअइल्ल-पसूण पुंजा । इत्यपि दृश्यते । अयस्कारः । एक्कारो ॥

वा कदले ॥ १ ॥ १६७ ॥ कदलशब्दे आदेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह एद् वा भवति । कदलम् । केलं । कयलं । कदली । केली । कयली ॥

वेतः कर्णिकारे ॥ १ ॥ १६८ ॥ कर्णिकारे इतः परेण सस्वर-व्यञ्जनेन सह एद् वा भवति । कर्णिकारः । कण्णेरो । कण्णिआरो ॥

अयौ वैत् ॥ १ ॥ १६९ ॥ अयिशब्दे आदेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह ऐत् वा भवति । अयि बिभेमि । ऐ बीहेमि । अयि उन्मत्तिके । अइ उम्मत्तिए । वचनाद् ऐकारस्यापि प्राकृते प्रयोगः ॥

ओत् पूतर-बदर-नवमालिका-नवफलिका-पूग-फले ॥ १ ॥ १७० ॥ पूतरादिषु आदेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह ओत् भवति । पूतरः । पोरो । बदरम् । बोरं । बदरी । बोरी । नवमालिका । नोमालिआ । नवफलिका । नोहलिआ । पूगफलम् । पोप्फलं । पूगफली । पोप्फली ॥

वा मयूख-लवण-चतुर्गुण-चतुर्थ-चतुर्दश-चतुर्वार-सुकुमार-कुतूहलोदूखलोलूखले ॥ १ ॥ १७१ ॥ मयूखादिषु आदेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह ओद् वा भवति। मयूखः। मोहो। मऊहो। लवणम्। लोणं। लवणं । इनिलवणोद्गमाः । इअ लवणुग्गमा । चतुर्गुणः । चउग्गुणो ।

चतुर्थः। चोत्थो। चउत्थो। चतुर्थी। चोत्थी। चउत्थी। चतुर्दशः। चोद्दहो। चउद्दहो। चतुर्दशी। चोद्दसी। चउद्दसी। चतुर्वारः। चोव्वारो। चउव्वारो। सुकुमारः। सोमालो। सुकुमालो। कुतूहलम्। कोहल्लं। कोउहल्लं। तथा मन्ये कुतूहलेन। तह मन्ने कोहलीए। उदूखलः। ओहलो। उऊहलो। उलूखलम्। ओक्खलं। उलूहलं। मोरो। मऊरो। इति तु मोर मयूर शब्दाभ्यां सिद्धम्॥

अवापोते च॥ १॥ १७२॥ अवापयो-रुपसर्गयोरुत इति विकल्पार्थ निपाते च आदेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह ओद् वा भवति। (अव)। अवतरति। ओअरइ। अवयरइ। अवकाशः। ओआसो। अवयासो। (अप)। अपसरति। ओसरइ। अवसरइ। अपसारितं। ओसारिअं। अवसारिअं (उत) उतवनम्। ओवणं। उअवणं। उतघन। ओघणो। उअघणो। क्वचिन्न भवति। अवगतम्। अवगयं। अपशब्द.। अवसद्दो। उतरविः। उअरवी॥

ऊच् चोपे॥ १॥ १७३॥ उपशब्दे आदेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह ऊत् ओत् चादेशौ वा भवतः। उपहसितम्। ऊहसिअं। ओहसिअं। उवहसिअं। उपाध्यायः। ऊज्झाओ। ओज्झाओ। उवज्झाओ। उपवासः। ऊआसो। ओआसो। उववासो।

उमो निषण्णे॥ १॥ १७४॥ निषण्णशब्दे आदेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह उम आदेशो वा भवति। निषण्णः। णुमण्णो। णिसण्णो॥

प्रावरणे अङ्ग्वाऊ॥ १॥ १७५॥ प्रावरणशब्दे आदेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह अङ्गु आउ इत्यादेशौ वा भवतः। प्रावरणम्। पंगुरणं। पाउरणं। पावरणं॥

निष्प्रती ओत्परी माल्यस्थोर्वा॥ १॥ ३८॥ निरप्रति

इत्येतौ माल्यशब्दे स्थाधातौ च परे यथासंख्यम् ओत्परि इत्येवं रूपौ वा भवत. । अभेदनिर्देशः सर्वादेशार्थः । निर्माल्यम् । ओमालं । निम्मल्लं । निर्माल्यकं वहति । ओमालयं वहइ । प्रतिष्ठा । परिट्ठा । पइट्ठा । प्रतिष्ठितम् । परिट्ठियं । पइट्ठिअं ॥

दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ ॥ १ ॥ ४ ॥ वृत्तौ समासे स्वराणां दीर्घह्रस्वौ बहुलं भवतः । मिथः परस्पर तत्र ह्रस्वस्य दीर्घ. । अन्तर्वेदि । अंतावेई । सप्तविंशतिः । सत्तावीसा । क्वचिन्न भवति । युवति जनः । जुवइजणो । क्वचिद् विकल्पः । वारि-मतिः । वारीमई । वारिमई । भुज यन्त्रम् । भुजयन्तं । भुआयतं । भुअयन्तं । प्रतिगृहम् । पई-हरं । पइहरं । वेणु-वनम् । वेलूवणं । वेलुवणं । वेणौ णो वा, इति णस्य लः । दीर्घस्य । ह्रस्वः । नितम्ब शिलास्खलित वीचि मालस्य ! निअंबसिल खलिअ वीइ मालस्स । क्वचिद् विकल्पः । यमुनातटं । जउंणअडं । जउंणा अडं । नदी-स्रोतम् । नइ सोत्तं । नई सोत्तं । गौरी-गृहम् । गोरि हरं । गोरी हरं । वधू-मुखम् । बहुमुहं । वहूमुहं । इति स्वरसन्धिप्रकरणम् ।

अथ प्रकृतिभावः ।

पदयोः सन्धिर्वा ॥ १ ॥ ५ ॥ संस्कृतोक्तः सन्धिः सर्वः प्राकृते पदयोर्व्यवस्थितविभाषया भवति । व्यासऋषि. । वासइसी । वासेसी । विषमातपः । विसमायवो । विसमआयवो । दधीश्वरः । दहिईसरो । दहीसरो । स्वादूदकं । साउउअयं । साऊअयं । पदयोरिति किं । पादः । पाओ । पतिः । पई । वृक्षात् । वच्छाओ । मुग्धया । मुद्धाइ । मुद्धाए । कांक्षति । महइ । महए । बहुलाधिकारात् क्वचिद् एक पदेऽपि, करिष्यति । काहिइ । काही । द्वितीयः । विइओ । वीओ ॥

न युवर्णस्याऽस्वे ॥ १ ॥ ६ ॥ इवर्णस्य उवर्णस्य चास्वे व

परे सन्धिर्न भवति। न वैरिवर्गेऽपि अवकाशः। न वेरिवग्गे वि[1] अवआसो। वन्दामि आर्यवैर। वंदामि अज्जवइरं॥

दणु[2] इंदरुहिरलित्तो सहइ उइंदो नहप्पहावलि अरुणो
संज्झावहु अवऊढो नववारिहरोव्व विज्जुलापडिभिन्नो॥

युवर्णस्येति किं। गूढो[3]-अरतामरसानुसारिणी भमरपंतिव्व। अस्व इति किं। पृथिवीशः। पुहवीसो॥

एदोतोः स्वरे॥ १॥ ७॥ एकारौकारयोः स्वरे परे सन्धिर्न भवति।

वहुआए नहुल्लिहणे[4] आबंधंतीइ कंचुअं अंगे।
मयरद्धअसरधोरणि धाराच्छेअव्व दीसन्ति॥ १॥
उवमासु[5] अपज्जत्तेभकलभदंता-वहासमूरु जुअं।
तं चेअ मलिअविसदंड विरसं आलक्खिमो एण्हिं॥ २॥
अहो आश्चर्यम्। अहो अच्छरिअं। एदोतोरिति किं॥
अत्थालोअणतरला[6] इयरकईण भमंति बुद्धीओ।
अत्थ च्चिअ निरारंभमिंति हिअय कइंदाणं।

---

१ अत्र वि इत्यस्य अवकाशे परत. सन्धिर्न जातः। २ दनुजेन्द्ररुधिर-लिप्तः शोभते उपेन्द्र. नखप्रभावल्यरुणः। संध्यावध्ववगूढो नववारिधर इव विद्युत्प्रभाभिन्न॥ अत्र दणु इत्यादीनां सन्धिर्न जातः। ३ गूढोदरतामरसानु-सारिणी भ्रमरपङ्क्तिरिव॥ अत्र गूढ उदर इत्यादिषु सन्धिर्भवत्येव। प्रा० व्या० ३

४ वधूकाया नखोल्लेखने आबध्नन्त्याः कन्चुकमङ्गे॥
मकरध्वजशरघोरणि धाराच्छेदा इव दृश्यन्ते॥

अत्र नखोल्लेखने इति एकारस्य आबध्नन्त्या इति परे सन्धिर्न भवति।

५ उपमासु अपर्याप्तेभकलभदन्तापहासं उरुयुग्मं, तदेव मर्दितविसदण्ड-विरसम् आलक्ष्याम इदानीम्॥ अत्र मो इति ओकारस्य सन्धिर्न भवति॥ ६ अर्थालोचनतरला इतरकवीना भ्रमन्ति बुद्धयः। अत्र किल निरारम्भा यन्ति हृदये कवीन्द्राणाम्॥ अत्र कवि इन्द्र इत्यत्र सन्धिर्भवत्येव।

स्वरस्योद्वृत्ते ॥ १ ॥ ८ ॥ व्यञ्जनसंपृक्तः स्वरो व्यञ्जने लुप्ते योऽवशिष्यते स उद्वृत इहोच्यते। उद्वृत्ते स्वरे परे स्वरस्य सन्धिर्न भवति। गयणे[1] च्चिय गंधउडि कुणंति तुह कउलनारीओ। निशाचरः। निसाअरो। निसिअरो। रजनीचरः। रयणीअरो। मनुजत्त्वम्। मणुअत्तं। बहुलाधिकारात् क्वचित् विकल्पः। कुम्भकारः। कुंभारो। कुंभआरो। सु-पुरुषः। सूरिसो। सुउरिसो। क्वचित्सन्धिरेव। शालवाहनः। सालाहणो। चक्रवाकः। चक्काओ। अत एव प्रतिषेधात् समासेऽपि स्वरस्य सन्धौ भिन्नपदत्वम्॥

त्यादेः ॥ १ ॥ ११ ॥ त्यादीनां स्वरस्य स्वरे परे सन्धिर्न भवति॥ भवति इह। होइ इह॥

अथ व्यंजनसन्धिः

अन्त्यव्यञ्जनस्य ॥ १ ॥ ११ ॥ लुगित्यनुवर्त्तते। शब्दानां यद् अन्त्यव्यञ्जनं तस्य लुक् भवति॥ यावत्-जाव। तावत्-ताव। यशस्-जसो। जन्मन्-जम्मो। तमस्, तमो। समासे तु वाक्य विभक्त्यपेक्षायाम् अन्त्यत्वम् अनन्त्यत्वं च। तेनोभयमपि भवति। वाक्यापेक्षया अनन्त्यत्वं, विभक्त्यपेक्षया च अन्त्यत्वम् इति। सद्-भिक्षुः। सभिक्खू। सद्जनः। सज्जणो। एतद् गुणाः। एअगुणा। तद्-गुणाः। तग्गुणा।

न श्रदुदोः ॥ १ ॥ १२ ॥ श्रद् उद् इत्येतयोरन्त्यव्यञ्जनस्य लुग् न भवति॥ श्रद्धितम्। सद्दहिअं। श्रद्धा। सद्धा। उद्गतम्। उग्गयं। उद्नतम्। उन्नय॥

---

[1] गगने एव गन्धपुटीं कुर्वन्ति तव कौलनार्यः॥ अत्र गन्ध उडिमिति इत्यत्र टकार उद्वृतस्वरः तस्मिन् परे सन्धिर्न।

निर्दुरोर्वा ॥ १ ॥ १३ ॥ निर् दुर् इत्येतयोरन्त्यव्यञ्जनस्य लुग् वा भवति। निःसहं। निस्सहं । नीसहं। दुःसहः। दुस्सहो। दूसहो। दुःखितः। दुक्खिओ। दुहिओ ॥

स्वरेऽन्तरश्च ॥ १ ॥ १४ ॥ अन्तरो निर्दुरोश्चान्त्यव्यञ्जनस्य स्वरे परे लुग् न भवति ॥ अन्तरात्मा। अंतरप्पा 'भस्मात्मनोः पो वा।२।५२ इति त्मस्य पः।। निरंतरं। निरवशेषम् । निरवसेसं। दुरुत्तरं। दुरवगाहं। क्वचिद् भवत्यपि। अन्तरोपरि। अन्तोवरि ॥ रस्य विसर्गे कृते 'अतो डो विसर्गस्य' इति विसर्गस्थाने डिदोकारः ॥

स्त्रियाम् आद् अविद्युतः ॥ १ ॥ १५ ॥ स्त्रियां वर्त्तमानस्य शब्दस्य अन्त्यव्यञ्जनस्य आत्वं भवति, विद्युच्छब्दं वर्जयित्वा। लुगपवादः ॥ सरित् । सरिआ । प्रतिपत् । पाडिवआ । सम्पत्। संपआ। बहुलाधिकारात् ईषत्स्पृष्टतरयश्रुतिरपि। सरिया, पाडिवया, संपया। अविद्युत इति किं। विज्जू ॥

रो रा ॥ १ ॥ १६ ॥ स्त्रियां वर्त्तमानस्य अन्त्यरेफस्य रा इत्यादेशो भवति ॥ आत्वापवादः । गिर् । गिरा। पुर् । पुरा। धुर्। धुरा ॥

क्षुधो हा ॥ १ ॥ १७ ॥ क्षुध् शब्दस्य अन्त्यव्यञ्जनस्य हादेशो भवति। क्षुध्। छुहा ॥

शरदादे-रत् ॥ १ ॥ १८ ॥ शरदादे-रन्त्यव्यञ्जनस्य अद् भवति ॥ शरद्। सरओ। भिषक्। भिसओ।

दिक्प्रावृषोः सः ॥ १ ॥ १९ ॥ एतयोरन्त्यव्यञ्जनस्य सो भवति ।। दिक्। दिसा प्रावृट्। पाउसो ॥

आयुरप्सरसोर्वा ॥ १ ॥ २० ॥ अनयोरन्त्यव्यञ्जनस्य सो

श्च भवति । दीर्घायुष् । दीहाउसो, दीहाऊ । अप्सरस् । अच्छरसा । ह्रस्वात् थ्य-श्च-त्स-प्साम् अनिश्चले । इति प्सस्य छः । अच्छरा ॥

ककुभो हः ॥ १ ॥ २१ ॥ ककुभ् शब्दस्य अन्त्यव्यञ्जनस्य हो भवति । ककुभ् । कउहा ॥

धनुषो वा ॥ १ ॥ २२ ॥ धनुःशब्दस्य अन्त्यव्यंजनस्य हो वा भवति, धनुष् । धणुहं, धणू ॥

मोऽनुस्वारः ॥ १ ॥ २३ ॥ अन्त्यमकारस्य अनुस्वारो भवति ॥ जलं । फलं । वृक्षं । वच्छं । गिरिं पेच्छ । क्वचिदनन्त्यस्यापि वणमि वणम्मि ॥

वा स्वरे मश्च ॥ १ ॥ २४ ॥ अन्त्यमकारस्य स्वरे परेऽनुस्वारो वा भवति ॥ पक्षे लुगपवादो मस्य मकारश्च भवति । वंदे उसभं अजिअं, उसभमजिअं च वंदे । बहुलाधिकाराद् अन्त्यस्यापि व्यजनस्य मकारः । साक्षात् । सक्खं । 'शाऽव्ययोत्खातादावदातः' इति आ इत्यस्य अः ॥ यत् । जं । तत् । तं । विष्वक् । वीसुं । 'ध्वनिविष्व-च्वोरु. । १।५२ इति अकारस्य उत्वम् । पृथक् । पिहं । सम्यक् । सम्मं । ऋधक् । इह । इहक आश्लेष्टुकम् इहय आलेट्ठुयं इत्यादि ॥

ङञणनो व्यञ्जने ॥ १ ॥ २५ ॥ ङञणन इत्येषां स्थाने व्यंजने परेऽनुस्वारो भवति । (ङ) । पङ्क्तिः । पंती । पराङ् मुखः । परंमुहो (ञ) कञ्चुकः । कंचुओ । लाञ्छनं । लंछणं (ण) । षण्मुखः । छंमुहो । उत्कण्ठा । उक्कंठा (न) । सन्ध्या । संझा । विन्ध्यः । विंझो ॥

वक्रादावन्तः ॥ १ ॥ २६ ॥ वक्रादिषु यथादर्शनं प्रथमादेः स्वरस्यान्त आगमरूपोऽनुस्वारो भवति । वक्र । वंकं । त्र्यस्रम् । तंसं । अश्रु । अंसू । श्मश्रु । मंसू । पुच्छं । पुंछं । गुच्छ । गुंछं । मूर्द्धा मुंढा । पर्शुः । पंसू । बुध्नम् । बुंधं । कर्कोटः । कंकोडो । कुड्मल

कुंपल । 'ड्मक्मो. ।२।५२' इति ड्मस्य पः । दर्शनम् । दंसण । वृश्चिकः । विंछिओ । गृष्टिः । गिंठी । मार्जारः । मंजारो । एष्वाद्यस्य । वयस्यः । वयंसो । मनस्विन् । मणंसी । मनस्विनी । मणंसिणी । मनःशिला । मणंसिला । प्रतिश्रुत्-पडंसुआ । पथिपृथिवीत्यादिना, इकारस्य अकारः । एषु द्वितीयस्य उपरि । अवरि । अतिमुक्तकम् । अणिउंतयं अइमुंतयं । इत्यादि अनयोस्तृतीयस्य क्वचिच्छन्दपूरणेऽपि । देवं नागसुवण्णं । क्वचिन्न भवति । गिट्ठी । मज्जारो । मणसिला । आर्षे । मणोसिला, अइमुत्तयं ॥

क्त्वा स्यादेर्णस्वो-र्वा ॥ १ ॥ २७ ॥ क्त्वायाः स्यादीनां च यौ णसू तयोरनुस्वारोऽन्त्यो वा भवति ॥ क्त्वा । कृत्वा । काऊणं क्त्वस्तुमत्तूण तुआणा, इति क्त्वस्तूणादेश. । काऊण काउआणं काउआण । स्यादि । वृक्षेन । वच्छेण वच्छेण। वृक्षेषु । वच्छेसुं वच्छेसु । णस्योरिति किं । करिअ अग्गिणो ॥

विंशत्यादे-र्लुक् ॥ १ ॥ २८ ॥ विंशत्यादेरनुस्वारस्य लुक् भवति ॥ विंशति. । वीसा । त्रिंशत् । तीसा । संस्कृतं सक्कयं । संस्कारः । सक्कारो इत्यादि ॥

मांसादे-र्वा १ ॥ २९ ॥ मांसादेरनुस्वारस्य लुक् वा भवति । मांसम् । मासं । मंसं । मांसलम् । मासलं । मंसलं । कांस्यम् । कासं । कंसं । पांसुः । पासू । पंसू । कथम् । कह । कहं । एवम् । एव । एवं । नूनम् । नूण, । नूणं । इदानीम् । इआणि । इआणिं । दानीम् । दाणि । दाणिं । किम् करोमि । कि करेमि किं करेमि । संमुखं । समुहं । संमुहं । किंशुकं । किसुअं । किंसुअं । सिंहः । सीहो । सिंघो इत्यादि ॥

वर्गेऽन्त्यो वा ॥ १ ॥ ३० ॥ अनुस्वारस्य वर्गे परे प्रत्यासत्ते-स्तस्यैव वर्गस्य अन्त्यो वा भवति । पङ्क. । पङ्को । पंको । शङ्खः । सङ्खो ।

संखो। अङ्गणम्। अङ्गणं। अंगणं। लङ्घनम्। लङ्घणं। लघणं। कञ्चुकः। कञ्चुओ। कंचुआ। लाञ्छनम्। लञ्छणं। लंछणं। अञ्जितम्। अञ्जिअं। अंजिअं। सन्ध्या। सञ्झा। संझा। कण्टकः। कटंओ, कण्टओ। उत्कण्ठा। उक्कण्ठा, उक्कठा। काण्डम्। काण्डं। कंडं। षण्ढः। सण्ढो, संढो। अन्तरम्। अन्तरं, अंतरं। पंथः। पन्थो, पंथो। चन्द्रः। चन्दो, चंदो। बान्धवः। बन्धओ, बंधओ। कम्पते। कम्पइ, कंपइ। काँर्प्ताते। वम्फइ, वंफइ। कदंबः। कलम्बो, कदंवे वा इति दस्य ल.। कलंवो। आरंभः। आरम्भो। आरंभो। वर्गे इति किं। संशयः। संसओ। संहरति। संहरइ। नित्यमिच्छन्ति अन्ये॥

स्वरादसंयुक्तस्यानादेः॥ १॥ १७६॥ अधिकारोऽयं। यद् इत ऊर्ध्वम् अनुक्रमिष्यामस्तत् स्वरात् परस्य असंयुक्तस्य अनादेर्भवतीति वेदितव्यम्॥

कग-चज-तद-पयवां प्रायो लुक्॥ १॥ १७७॥ स्वरात्परेषाम् अनादिभूतानाम् असंयुक्तानां कगचजतदपयवां प्रायो लुक् भवति। (क) तीर्थंकर·। तित्थयरो। लोकः। लोओ। शकटं। सयढं। सटा शकट कैटभे ढः। इति टस्य ढ.। (ग) नगः। नओ। नगरम्। नयरं। मृगाङ्कः। मयङ्को। (च) शची। सई। कचग्रहः। कयग्गहो। काचमणिः। कायमणो। (ज) प्रजापतिः। पयावई। (त) रसातलम्। रसायलं। पातालम्। पायालं। यतिः। जई। (द) गदा। गया। मदनः। मयणो। (प) रिपुः। रिऊ। सुपुरुषः। सुउरिसो। (य) नयनम्। नयणं। दयालु.। दयालू। वियोगः। विओओ। (व) लावण्यम्। लायण्णं। प्रायो ग्रहणात् क्वचिन्न भवति। सुकुसुमं। सुकुसुमं। प्रयागजल। पयागजलं। सुगतः। सुगओ। अगुरुः। अगुरू। सचापम्। सचावं। व्यजनम्। विजणं। सुतारम्। सुतारं। विदुरः। विदुरो। सपापम्। सपावं। समवायः। समवाओ। देवः। देवो। दानवः। दाणवो। स्वरादित्येव शंकर। संकरो। संगमः। संगमो। नक्तंचरः। नक्कंचरो। धनंजयः।

धणंजओ। द्विषंतपः धिसंतओ पुरंदर.। पुरंदरो। संवृत. संवुडो। संवर.। संवरो। असंयुक्तस्य इत्येव। अर्कः अक्को। वर्गः वग्गो। अर्वः। अव्वो। अर्च। अच्चो। वज्रम्। वज्जं। धूर्तः। धुत्तो। उद्दाम.। उद्दामो। विप्र.। विप्पो। कार्यम्। कज्जं। सर्वम्। सव्वं। क्वचित् संयुक्तस्यापि नक्कंचरो। नक्कंचरो। अनादेरित्येव। कालः। कालो। गन्धः। गन्धो। चोर।चोरो। जारः। जारो। तरु। तरू। दव.। दवो। पापम्। पावं। वर्ण। वण्णो। यकारस्य आदि भूतस्य जत्वं तु वक्ष्यते। समासे तु वाक्यविभक्त्य-पेक्षया भिन्नपदत्वमपि विवताते। तेन तत्र यथा दर्शनम् उभयमपि भवति। सुखकर.। सुहकरो। सुहयरो। आगमिक। आगमिओ। आय-मिओ। जलचर। जलचरो। जलयरो। बहुतरः। बहुतरो। बहुअरो। सुखदः। सुहदो। सुहओ। इत्यादि। क्वचिदादेरपि। स पुन.। स उण। स च। सो अ। चिह्नम्। इन्ध। चिह्नेन्धोवा इति ह्नस्य धः। क्वचिच्चस्य जः। पिशाची। पिसाजी। एकत्वम्। एगत्तं। एकः। एगो। अमुकः। अमुगो। असुक। असुगो। श्रावकः। सावगो। आकारः। आगारो। तीर्थकरः। तित्थगरो। आकर्ष। आगरिसो। लोकस्य उद्योतकरा। लोगस्सउज्जो-अगरा। इत्यादिषु तु व्यत्ययश्च। इत्येवकस्य गत्वम्। आर्षे अन्यदपि दृश्यते आकुञ्चनम्। आउंटणं। अत्र चस्य टत्वम्।

यमुना-चामुण्डा-कामुकातिमुक्तके मोऽनुनासिकश्च ॥ १ ॥ १७८ ॥ एषु मस्य लुक् भवति, लुकि च सति मस्य स्थानेऽनुनासिको भवति। यमुना। जउँणा। चामुण्डा। चाउँण्डा। कामुक। काउँओ। अतिमुक्तकम्। अणिउँत्तयं। क्वचिन्न भवति। अइमुंतयं। अइमुत्तअं॥

नावर्णात् पः ॥ १ ॥ १७९ ॥ अवर्णात् परस्य अनादेः पस्य लुक् न भवति। शपथः। सवहो। पोत्रः। इति पस्य वकारादेशः। शाप.। सावो। अनादेरित्येव। परपुष्ट.। परउट्ठो॥

अवर्णो य श्रुतिः ॥ १ ॥ १८० ॥ कगचजेत्यादिना लुकि सति शेषोऽवर्णोऽवर्णात्परो लघुप्रयत्नतर यकारश्रुतिर्भवति । (क) तीर्थङ्करः । तित्थयरो । शकटम् । सयढं । नगरम् । नयरं । मृगाङ्क । मयंको । कच ग्रहः । कयग्गहो । काचमणिः । कायमणी । रजतम् । रयय । प्रजापतिः । पयावई । रसातलम् । रसायलं । पातालम् । पायालं । मदनः । मयणो । गदा । गया । नयनम् । नयणं । दयालुः । दयालू । लावण्यम् । लायण्णं । अवर्ण इति किं ? शकुनः । सउणो । प्रगुणः । पउणो । प्रचुरं । पउरं । राजीवं । राईवं । निहतः । निहओ । निनदः । निनओ । वायुः । वाऊ । कपिः । कई । अवर्णा दित्येव । लोकस्य । लोअस्स । देवरः । देअरो । क्वचिद् भवति । पिबति । पियइ ।

कुब्ज-कर्पर-कीलके कः खोऽपुष्पे ॥ १ ॥ १८१ ॥ एषु कस्य खो भवति पुष्पं चेत् कुब्जाभिधेयं न भवति । कुब्जः । खुज्जो । कर्परम् । खप्परं । । कीलकः । खीलओ, अपुष्प इति किं । बन्धितुं कुब्जकप्रसूनम् । बंधेउं कुज्जयपसूणं । आर्षेऽन्यत्रापि । कासितम् । खासियं । कसित । खसिअं ॥

मरकत-मदकले गः कन्दुके त्वादेः ॥ १ ॥ १८२ ॥ अनयो कस्य गो भवति कन्दुके त्वाद्यस्य कस्य । मरकतम् । मरगयं । मदकलः मयगलो । कन्दुकम् । गेंदुअं । एच्छय्यादौ । १ । ५७ । इति अकारस्य एत्वम् ॥

किराते चः ॥ १ ॥ १८३ ॥ किराते कस्य चो भवति किरातः । चिलाओ । हरिद्रादौ लः ।१।२५४। इति रस्य लः । पुलिन्दे एव अयं विधिः, कामरूपिणि तु नेष्यते । नमामो हरकिरातं । नमिमो हरकिरायं ॥

शीकरे भहौ वा ॥ १ ॥ १८४ ॥ शीकरे कस्य भहौ वा भवतः । सीकरः । सीभरो, सीहरो । पक्षे सीअरो ॥

चन्द्रिकायां मः ॥ १ ॥ १८५ ॥ चन्द्रिकाशब्दे कस्यमो भवति। चंद्रिका। चन्दिमा ॥

निकष-स्फटिक चिकुरे हः ॥ १ ॥ १८६ ॥ एषु कस्य हो भवति। निकषः। निहसो ॥

स्फटिके लः ॥ १ ॥ १८७ ॥ स्फटिके टस्य लो भवति। स्फटिक.। फलिहो । चिकुरः। चिहुरो। चिहुरशब्दः संस्कृतेऽपीति दुर्गः ॥

खघथधभाम् ॥ १ ॥ १८७ ॥ स्वरात्परेषाम् असंयुक्तानाम् अनादिभूतानां ख-घ-थ-ध-भाम् प्रायो हो भवति। (ख) शाखा। साहा। मुखम्। मुंह। मेखला। मेहला। लिखति। लिहइ। (घ) मेघ। मेहो। जघनम्। जहणं। माघ। माहो। श्लाघते। लाहइ। (थ) नाथ.। नाहो। आवसथः। आवसहो। मिथुनम्। मिहुणं। कथयति। कहइ। (ध) साधुः। साहू। व्याध.। वाहो। बधिरः। बहिरो। बाधते। बाहइ। इन्द्रधनुः। इन्दहणू। (भ) सभा। सहा। स्वभाव.। सहावो। नभम्। नहं। स्तन-भरः। थणहरो। शोभते। सोहइ। स्वरादित्येव। शंख.। संखो। संघः। संघो। कन्था। कंथा। वन्धः। बंधो। खम्भ.। खंभो। असंयुक्तस्य इत्येव। आख्याति। अक्खाइ। अर्घ्यते। अग्घइ। कथ्यते। कत्थइ। सिध्यकः। सिद्धओ। बन्ध्यते। बंधइ। लभ्यते। लब्भइ। अनादेरित्येव। गर्जन्ति खे मेघा.। गज्जंते खे मेहा। गच्छति घनः। गच्छइ घणो। प्राय इत्येव, सर्षपखल.। सरिसवखलो। प्रलयघनः। पलयघणो। अस्थिरो। जिनधर्मः। अथिरोजिणधम्मो। प्रणष्टभयोनभः। पणट्ठभओ नभं ॥

पृथकि धो वा ॥ १ ॥ १८८ ॥ पृथक्शब्दे थस्य धो वा भवति। पृथक्। पिधं। पुधं। पिहं। पुहं ॥

शृङ्खले खः कः ॥ १ ॥ १८९ ॥ शृङ्खलशब्दे खस्य को भवति। शृङ्खलम्। संकलं ॥

पुन्नाग-भागिन्योर्गो मः ॥ १ ॥ १९० ॥ अनयो-र्गस्य मो भवति। पुन्नागानि वसन्ते। पुन्नामाइं वसंते। भागिनी। भामिणी ॥

छागे लः ॥ १ ॥ १९१ ॥ छागे गस्य लो भवति। छाग.। छालो। छागी। छाली ॥

खचितपिशाचयोश्चः सल्लौ वा ॥ १ ॥ १९३ ॥ अनयो-श्चस्य यथासंख्यं स ल्ल इत्यादेशौ वा भवतः। खाचित.। खसिओ। खइओ। पिशाचः। पिसल्लो। पिसाओ।

जटिले जो झो वा ॥ १ ॥ १९४ ॥ जटिले जस्य झो वा भवति ॥

टो डः ॥ १ ॥१९५॥ स्वरात्परस्य असंयुक्तस्य अनादे. टस्य डो भवति। जटिल.। झडिलो। जडिलो। नटः। नडो। भट.। भडो। घटः। घडो। घटति। घडइ। स्वरादित्येव। घंटा। असंयुक्तस्येत्येव। खट्वा. खट्टा। अनादेरित्येव। टक्क.। टक्को। क्वचिन्न भवति। अटति। अटइ ॥

सटा-शकट-कैटभे ढः ॥ १ ॥ १९६ ॥ एषु टस्य ढो भवति। सटा। सढा। शकटः। सयढो ॥

कैटभे भो वः ॥ १ ॥ २४० ॥ कैटभे भस्य वो भवति। कैटभ.। केढवो ॥

चपेटा पाटौ वा ॥ १ ॥ १९८ ॥ चपेटाशब्दे एयन्तपटिधातौ च टस्य लो वा भवति। चपेटा। चविला। चविडा। पाटयति। फालेइ। फाडेइ ॥

ठो ढः ॥ १ ॥ १९९ ॥ स्वरात्परस्यासंयुक्तस्यानादेः ठस्य ढो भवति । मठः । मढो । शठ । सढो । कमठः । कमढो । कुठार. । कुढारो । पठति । पढइ । स्वरादित्येव, वैकुण्ठः । वेकुंठो । असयुक्तस्येत्येव, तिष्ठति । चिट्ठइ । अनादेरित्येव । हृदये तिष्ठति । हिअए ठाइ ।

अङ्कोठे ल्लः ॥ १ ॥ २०० ॥ अङ्कोठे ठस्य द्विरुक्तो ल्लो भवति । अङ्कोठतैलघृतम् । अंकोल्ल तेल्लतुप्पं । अङ्कोठतैलतुप्पं देश्योऽयं शब्दः ।

पिठरे हो वा रश्च डः ॥ १ ॥ २०१ ॥ पिठरे ठस्य हो वा भवति । तत्सन्नियोगे च रस्य डो भवति । पिठरः । पिहडो । पिढरो ॥

डो लः ॥ १ ॥ २०२ ॥ स्वरात्परस्यासयुक्तस्य अनादे-र्डस्य प्रायो लो भवति । वडवा मुख । वलयामुहं । गरुड. । गरुलो । तडागं । तलायं । क्रीडति । कीलइ । स्वरादित्येव । मुण्ड । मोड । कुण्डं । कोडं । असंयुक्तस्य इत्येव । खड्गः । खग्गो । अनादेरित्येव । रमते डिम्भ. । रमइ डिंभो । प्रायोग्रहणात् । क्वचित विकल्पः । वडिशम् । वडिसं । वलिसं । दाडिमम् । दालिम । दाडिमं । गुड. । गुलो । गुडो । नाडी । णाली । नाडी । नडम् । णलं । णड । आपीड. । आवेडो । आमेलो । नीपापीडे मो वा इति पस्य म. । एत्पीयू पेत्यादिना ईकारस्य एत्त्वम् च । क्वचिन्न भवति । निबिडं । गौड. । गउडो । पीडितम् । पीडिअं । नीडम् । नीडं । उडुः । उडू । तडित् । तडी । इत्यादि ।

वेणौ णो वा ॥ १ ॥ २०३ ॥ वेणौ णस्य लो वा भवति । वेणु. । वेलू । वेणू ।

तुच्छे तश्चछौ वा ॥ १ ॥ २०४ ॥ तुच्छशब्दे तस्य चछ इत्यादेशौ वा भवतः । तुच्छ । चुच्छं । छुच्छं । तुच्छं ॥

तगर-त्रसर-तूवरे टः ॥ १ ॥ २०५ ॥ एषु तस्य टो भवति। तगरः। टगरो। त्रसरः। टसरो। तूवरः। टूवरो॥

प्रत्यादौ डः ॥ १ ॥ २०६ ॥ प्रत्यादिषु तस्य डो भवति। प्रतिपन्नं। पडिवन्नं। प्रतिभासः। पडिहासो। प्रतिहारः। पडिहारो। प्रतिस्पर्द्धि। पाडिप्फद्धी। प्रतिसारः। पडिसारो। प्रतिनिवृत्तं। पडिनियत्तं। प्रतिमा। पडिमा। प्रतिपदा। पडिवया। प्रतिश्रुत्। पडंसुआ। प्रतिकरोति। पडिकरइ। प्रभृति। पहुडि। प्राभृतम्। पाहुडं। व्यापृतः। वावडो। पताका। पडाया। विभीतकः। वहेडओ। हरीतकी। हरडई। हरीतक्यामीतोऽत् इति ईकारस्य अः। मृतकम्। मडयं। आर्षे। दुष्कृतं। दुक्कडं। सुकृतं। सुकडं। आहृतम्। आहडं। अवहृतम्। अवहडं। इत्यादि। प्राय इत्येव। प्रतिसमयं। पइसमयं। प्रतीपं। पईवं। संप्रति। संपइ। प्रतिष्टानं। पइट्ठाणं। प्रतिष्ठा। पइट्ठा। प्रतिज्ञा। पइण्णा। इत्यादि॥

इत्वे वेतसे ॥ १ ॥ २०७ ॥ वेतसे तस्य डो भवति इत्वे सति। वेतसः। वेडिसो। इः स्वप्नादौ इत्यस्य इः। इत्व इति किं। वेअसो, अत्र इत्व इति व्यावृत्तिबलात् इःस्वप्नादौ, इति इकारो न भवति॥

गर्भितातिमुक्तके णः ॥ १ ॥ २०८ ॥ अनयोस्तस्य णो भवति। गर्भितः। गब्भिणो। अतिमुक्तकम्। अणिउंतयं। यमुना चामुण्डातिमुक्तेत्यादिना मलोपः। कथचिन्न भवति। अइमुत्तयं। कथम् एरावणो। ऐरावणशब्दस्य भविष्यतीविशेषः। एरावओ इति तु ऐरावतशब्दस्य॥

रुदिते दिना ण्णः ॥ १ २०९ ॥ रुदिते दिना सह तस्य द्विरुक्तो ण्णो भवति। रुदितम्। रुण्णं। अत्र केचिद् ऋत्वादिषु द इत्यारब्धवन्तः। स तु शौरसेनी मागधीविषय एव दृश्यते, इति नोच्यते। प्राकृते हि। ऋतुः। रिऊ। उऊ। रजतं। रययं। एतद्। एअं। गतः। गओ। आगतः। आगओ। सांप्रतं। संपयं। यतः। जओ। ततः।

तओ । कृतं । कयं । हृत । हयं । हताशः । हयासो । श्रुतः । सुओ । आकृतिः । आकिई । निर्वृतः । निव्वुओ । तात । ताओ । कतर । कयरो । द्वितीय । दुइओ इत्यादयः प्रयोगा भवन्ति । न पुनः । उदू रयदं इत्यादि । क्वचिद् भावेऽपि व्यत्ययश्च इत्येव सिद्धम् दिही इत्येतदर्थं तु धृतेर्दिहिः, इति वक्ष्यामः ॥

सप्ततौ रः ॥ १ ॥ २१० ॥ सप्ततौ तस्य रो भवति । सप्ततिः । सत्तरी ॥

अतसी-सातवाहने लः ॥ १ ॥ २११ ॥ अनयोस्तस्य लो भवति । अतसी । अलसी । शातवाहनः । सालाहणो । सालवाहणो । सातवाहनी भाषा । सालाहणी भासा ॥

पलिते वा ॥ १ ॥ २१२ ॥ पलिते तस्य लो वा भवति । पलितम् । पलिल । पलिअ ॥

पीते वो ले वा ॥ १ ॥ २१३ ॥ पीते तस्य वो वा भवति । स्वार्थलकारे परे । पीतलम् । पीवलं । पीअलं । ल इति किं पीतम् । पीअं ।

वितस्ति-वसति-भरत-कातर-मातुलिङ्गे हः ॥ १ ॥ २१४ ॥ एषु तस्य हो भवति । वितस्ति । विहत्थी । वसति । वसही । बहुलाधिकारात् क्वचिन्न भवति । वसई । भरतः । भरहो । कातर । काहलो । मातुलिङ्ग । माहुलिंगं । मातुलुङ्गशब्दस्य तु माउलुंग ॥

मेथि-शिथिर-शिथिल प्रथमे थस्य ढः ॥ १ ॥ २१५ ॥ एषु थस्य ढो भवति । हस्यापवादः । मेथि । मेढी । शिथिर । सिढिलो । शिथिल । सिढिलो । प्रथमः । पढमो ॥

प्रदीपि-दोहदे लः ॥ १ ॥ २२१ ॥ प्रपूर्वे दीप्यतौ धातौ दोहदशब्दे च दस्य लो भवति । प्रदीपयति । पलीवेइ । प्रदीप्तम् । पलित्त ॥

दशनदष्ट-दग्धदोला-दण्डदर-दाहदम्भ-दर्भ-कदनदो-हदे दो वा डः ॥ १ ॥ २१७ एषु दस्य डो वा भवति। दशनम्। डसणं, दसण। दष्ट.। डट्ठो। दट्ठो। दग्धः। डड्ढो। दड्ढो। दोला। डोला। दोला। दण्ड.। डण्डो। दण्डो। दर। डरो। दरो। दाह.। डाहो। दाहो। दम्भः। डम्भो। दम्भो। दर्भ.। डब्भो। दब्भो। कदनम्। कडणं। कयणं। दोहदः। डोहलो। दोहलो। दरशब्दस्य च भयार्थ वृत्तेरेव भवति। अन्यत्र दर दलिअ।

दंशदहोः ॥ १ ॥ २१८ ॥ अनयो र्धात्वो-र्दस्य डो भवति। दशति। डसइ। दहति। डहइ॥

संख्या-गद्गदे रः ॥ १ ॥ २१९ ॥ संख्यावाचिनि गद्गद्शब्दे च दस्य रो भवति। एकादशः। एआरह। द्वादश। बारह। त्रयोदश। तेरह। गद्गदम्। गग्गर। अनादेरित्येव ते दस, असयुक्तस्य इत्येव चतुर्दश। चउदह॥

कदल्याम् अद्रुमे ॥ १ ॥ २२० ॥ अद्रुमवाचिनि कदलीशब्दे दस्य रो भवति। कदली। करली। अद्रुम इति किं। कयली। केली॥

कदम्बे वा ॥ १ ॥ २२२ ॥ कदम्ब शब्दे दस्य लो वा भवति। कदम्ब। कलंबो। कयंबो।

दीप्यौ धो वा ॥ १ ॥ २२३ ॥ दीप्यतौ दस्य धो वा भवति। दीप्यते। धिप्पइ। दिप्पइ॥

कदर्थिते वः ॥ १ ॥ २२४ ॥ कदर्थिते दस्य वो भवति। कदर्थित। 'वृत्तप्रवृत्तमृत्तिकापत्तनकदर्थिते ट.' इति थस्य ट। कवट्टिओ॥

ककुदे हः ॥ १ ॥ २२५ ॥ ककुदे दस्य हो भवति। ककुदं। कउहं॥

निषधे धो ढः ॥ १ ॥ २२६ ॥ निषधे धस्य ढो भवति, निषधः। निसढो ॥

औषधे ॥ १ ॥ २२७ ॥ औषधे धस्य ढो वा भवति । औषधम्। ओसढं ओसहं ॥

नो णः ॥ १ ॥ २२८ ॥ स्वरात्परस्यासंयुक्तस्यानादे र्नस्य णो भवति ॥ कनकम् । कणयं । मदनः । मयणो । वचनं । वयणं । नयनम् । नयणं । मानयति । माणइ । आर्षे आरनालम् । आरनालं । अनिलः । अनिलो । अनलः । अनलो । इत्याद्यपि ।

वादौ ॥ १ ॥ २२९ ॥ असंयुक्तस्य आदौ वर्तमानस्य नस्य णो वा भवति ॥ नर. । णरो । नरो, । नदी । णई । नई । नेति । णेइ । नेइ । असंयुक्तस्येत्येव । न्याय. । नाओ ॥

निम्ब-नापिते ल-ण्हं वा ॥ १ ॥ २३० ॥ अनयो-र्नस्य ल ण्ह इत्यादेशौ वा भवतः ॥ निम्ब.। लिम्बो । निम्बो । नापित. । ण्हा-विओ । नाविओ ॥

पो वः ॥ १ ॥ २३१ ॥ स्वरात्परस्यासंयुक्तस्यानादेः पस्य प्रायो वो भवति । शपथः । सवहो । शाप । सावो । उपसर्गः । उवसग्गो । प्रदीप । पईवो । काश्यपः । कासवो । पापम् । पावं । उपमा । उवमा । कपिलम् । कविलं । कुणपम् । कुणवं । कलाप. । कलावो । कपालम् । कवालं । महिपाल. । महिवालो । गोपायति । गोवइ । तपति । तवइ । स्वरादित्येव । कम्पते । कंपइ । असंयुक्तस्य इत्येव । अप्रमत्तः । अप्पमत्तो । अनादेरित्येव । सुखेनपठति । सुहेण पढइ । प्राय इत्येव । कपि. । कई । ऋतु. । रिऊ । एतेन पकारस्य प्राप्तयो-र्लोपवकारयोर्यस्मिन् कृते श्रुतिसुखमुत्पद्यते स तत्र कार्य. ॥

पाटि परुष परिघ परिखा पनस पारिभद्रे फः ॥ १ ॥ २३२॥ ण्यन्ते पटिधातौ परुषादिषु च पस्य फो भवति। पाटयति। फालेइ। पाटौ लो वा इति टस्य लः फाडेइ। परुषः। फरुसो। परिघः। फलिहो। परिखा। फलिहा। पनसः। फणसो। पारिभद्रः। फालिहद्दो।

प्रभूते वः ॥ १ ॥ २३३ ॥ प्रभूते पस्य वो भवति। प्रभूतम्। वहुत्तं।

पापर्द्धौ रः ॥ १ ॥ २३४ ॥ पापर्द्धौ अपदादौ पकारस्य रो भवति। पापर्द्धिः। पारद्धी।

फो भहौ ॥ १ ॥ २३६ ॥ स्वरात्परस्यासंयुक्तस्यानादेः फस्य भहौ भवत., क्वचिद्भः। रेफः। रेभो। शिफा। सिभा। क्वचित्तु हः मुक्ताफलं। मुत्ताहलं। क्वचिदुभावपि। सफलं। सभलं, सहलं। शेफालिका। सेभालिआ, सेहालिआ। शफरी। सभरी; सहरी। गुफति। गुभइ। गुहइ। स्वरादित्येव। गुम्फति। गुंफइ। असंयुक्तस्येत्येव। पुष्पम्। पुप्फं। अनादेरित्येव। तिष्ठतिफणी। चिट्ठइफणी। प्राय इत्येव। कृष्ण फणी। कसण फणी।

बो वः ॥ १ ॥ २३७ ॥ स्वरात्परस्यासंयुक्तस्यानादेर्बस्य वो भवति ॥ अलाबूः। अलावू। अलाबू। अलाऊ। शबलः। सवलो ॥

बिसिन्यां भः ॥ १ ॥ २३८ ॥ बिसिन्यां बस्य भो भवति, बिसिनी। भिसिणी। स्त्रीलिङ्गनिर्देशादिह न भवति। बिसतन्तुपेलवानाम्। बिसतन्तु-पेलवाणं ॥

कबन्धे म-यौ ॥ १ ॥ २३९ ॥ कबन्धे बस्य मयौ भवतः, कबन्धः। कमन्धो। कयन्धो ॥

विषमे मो ढो वा ॥ १ ॥ २४१ ॥ विषमे मस्य ढो वा भवति ॥ विषमः। विसढो। विसमो ॥

मन्मथे वः ॥ १ ॥ २४२ ॥ मन्मथशब्दे मस्य वो भवति ॥ मन्मथः । वम्महो ॥

वाभिमन्यौ ॥ १ ॥ २४३ ॥ अभिमन्युशब्दे मस्य वो वा भवति ॥ अभिमन्युः । अहिवन्नू । अहिमन्नू ॥

भ्रमरे सो वा ॥ १ ॥ २४४ ॥ भ्रमरशब्दे मस्य सो वा भवति ॥ भ्रमरः । भसलो । भमरो ॥

आदे-र्यो जः ॥ १ ॥ २४५ ॥ पदादेर्यस्य जो भवति ॥ यशः । जसो । यमः । जमो । याति । जाइ । आदेरिति किम् । अवयवः । अवयवो । विनयः । विणओ, बहुलाधिकारात् सोपसर्गस्यानादेरपि । संयमः । संजमो । संयोगः । संजोगो । अपयशः । अवजसो । क्वचिन्न भवति । प्रयोगः । पओओ । आर्षे लोपोऽपि । यथाख्यातं । अह-क्खायं यथाजातम् । अहाजायं ॥

युष्मदर्थपरे तः ॥ १ ॥ २४६ ॥ युष्मच्छब्देऽर्थपरे यस्य तो भवति ॥ युष्मादृशः । तुम्हारिसो । युष्मदीयः । तुम्हकेरो । अर्थपरइति किं । युष्मदस्मत्प्रकरणम् । जुम्हदम्हपयरणं ॥

यष्ट्यां लः ॥ १ ॥ २४७ ॥ यष्ट्यां यस्य लो भवति । यष्टिः । लट्ठी । वेणु-यष्टि । वेणुलट्ठी । इक्षु यष्टिः । उच्छु लट्ठी । मधु यष्टिः । महुलट्ठी ॥

वोत्तरीयानीयतीयकृद्ये ज्जः ॥ १ ॥ २४८ ॥ उत्तरीयशब्दे अनीयतीयकृद्यप्रत्ययेषु च यस्य द्विरुक्तो जो वा भवति ॥ उत्तरीयम् । उत्तरिज्जं । उत्तरीअं । (अनीये) ॥ करणीयम् । करणिज्जं । करणीअं विस्मयनीयम् । विम्हयणिज्जं विम्हयणीअं । यापनीयम् । जवणिज्जं । जवणीअं । (तीय) द्वितीयः । विइज्जो । बीओ (कृद्य) पेया । पेज्जा । पेआ ।

छायायां होऽकान्तौ वा ॥ १ ॥ २४९ ॥ अकान्तौ वर्तमाने छायाशब्दे यस्य हो वा भवति ॥ वृक्षस्यछाया । वच्छस्स छाही । वच्छस्स छाया । आतपाभावः । सच्छायम् । सच्छाहं । सच्छायं । अकान्ताविति किम् ? मुखच्छाया । मुहच्छाया । कान्तिरित्यर्थः ॥

डाहवौ कतिपये ॥ १ ॥ २५० ॥ कतिपयशब्दे यस्य डाह व इत्यादेशौ पर्यायेण भवतः ॥ कतिपयम् । कइवाहं । कइअवं ॥

किरिभेरे रो डः ॥ १ ॥ २५१ ॥ अनयो रस्य डो भवति । किरिः । किडी । भेरः । भेडो ॥

पर्याणे डा वा ॥ १ ॥ २५२ ॥ पर्याणे रस्य डा इत्यादेशो वा भवति ॥ पर्याणम् । पडायाणं । पल्लाणं ॥ पर्यस्तपर्याणसौकुमार्येल्लः इति यस्य लत्वम् ।

करवीरे णः ॥ १ ॥ २५३ ॥ करवीरे प्रथमस्य रस्य णो भवति । करवीरः । कणवीरो ॥

हरिद्रादौ लः ॥ १ ॥ २५४ ॥ हरिद्रादिषु शब्देषु असंयुक्तस्य रस्य लो भवति । हरिद्रा । हलिद्दी । दरिद्राति । दलिद्दाइ । दरिद्रः । दलिद्दो । दारिद्र्यम् । दालिद्दं । हारिद्रः । हलिद्दो । युधिष्ठिरः । जहुट्ठिलो । शिथिरः । सिढिलो । मुखरः । मुहलो । चरणः । चलणो । वरुणः । वलुणो । करुण । कलुणो । अङ्गारः । इङ्गालो । सत्कारः । सक्कालो । सुकुमारः । सोमालो । किरातः । चिलाओ । परिखा । पलिहा । परिघः । पलिहो ॥ पारिभद्रः । फालिहद्दो । कातरः । काहलो । रुग्णः । लुक्को । अपद्वारम् । अवद्दालं । भ्रमरः । भसलो । जठरम् । जढलं । बठरः । बढलो । निष्ठुरः । निट्ठुलो । इत्यादि । बहुलाधिकारात् चरणशब्दस्य पादार्थवृत्तेरेव ।

अन्यत्र चरणकरणं । भ्रमरे ससंनियोगे एव, अन्यत्र भमरो । तथा जढरं । वढरो । निट्ठुरो । इत्यादि ।

लाहल-लाङ्गल-लाङ्गूले वादे र्णः ॥ १ ॥ २५६ ॥ एषु आदे-र्लस्य णो वा भवति ॥ लाहलः । णाहलो । लाहलो । लांगलम् । णंगलं । लङ्गलं । लाङ्गूलम् । णङ्गूलं । लङ्गूलं ॥

शबरे बो मः ॥ १ ॥ २५७ ॥ शबरे बस्य मो भवति, शबरः । समरो ॥

स्वप्ननीव्योर्वा ॥ १ ॥ २५८ ॥ अनयोर्वस्य मो वा भवति, स्वप्नः । सिमिणो । सिविणो । नीवी । नीमी । नीवी ॥

स्नुषायां ण्हो न वा ॥ १ ॥ २६१ ॥ स्नुषाशब्दे षस्य ण्हः णकाराक्रान्तो हो वा भवति । स्नुषा । सुण्हा । सुसा ॥

दश–पाषाणे हः ॥ १ ॥ २६२ ॥ दशन्शब्दे पाषाणशब्दे चशषोर्यथादर्शनं हो वा भवति । दशमुखः । दहमुहो । दसमुहो । दशबलः । दहबलो । दसबलो । दशरथः । दहरहो । दसरहो । दश । दह, दस । एकादश । एक्कारह । द्वादश । बारह । त्रयोदश । तेरह । पाषाणः । पाहाणो, पासाणो ।

दिवसे सः ॥ १॥ २६३ ॥ दिवसे सस्य हो वा भवति ॥ दिवसः । दिवहो । दिवसो ॥

हो घोऽनुस्वारात् ॥ १ ॥ २६४ ॥ अनुस्वारात् परस्य हस्य घो वा भवति । सिंहः । सिंघो । सीहो । संहारः । संघारो । संहारो । क्वचिदननुस्वारादपि । दाहः । दाघो ॥

शिरायां वा ॥ १ ॥ २६६ ॥ शिराशब्दे आदेश्छो वा भवति । शिरा । छिरा । सिरा ।

छायायां होऽकान्तौ वा ॥ १ ॥ २४९ ॥ अकान्तौ वर्तमाने छायाशब्दे यस्य हो वा भवति ॥ वृक्षस्यछाया। वच्छस्स छाही। वच्छस्स छाया। आतपाभावः। सच्छायम्। सच्छाहं। सच्छायं। अकान्ताविति किम् ? मुखच्छाया। मुहच्छाया। कान्तिरित्यर्थः ॥

डाहवौ कतिपये ॥ १ ॥ २५० ॥ कतिपयशब्दे यस्य डाह व इत्यादेशौ पर्यायेण भवतः ॥ कतिपयम्। कइवाहं। कइअवं ॥

किरिभेरे रो डः ॥ १ ॥ २५१ ॥ अनयो रस्य डो भवति। किरिः। किडी। भेरः। भेडो ॥

पर्याणे डा वा ॥ १ ॥ २५२ ॥ पर्याणे रस्य डा इत्यादेशो वा भवति ॥ पर्याणम्। पडायाणं। पल्लाणं ॥ पर्यस्तपर्याणसौकुमार्येल्लः इति यस्य लत्वम्।

करवीरे णः ॥ १ ॥ २५३ ॥ करवीरे प्रथमस्य रस्य णो भवति। करवीरः। कणवीरो ॥

हरिद्रादौ लः ॥ १ ॥ २५४ ॥ हरिद्रादिषु शब्देषु असंयुक्तस्य रस्य लो भवति। हरिद्रा। हलिद्दी। दरिद्राति। दलिद्दाइ। दरिद्रः। दलिद्दो। दारिद्र्यम्। दालिद्दं। हारिद्रः। हलिद्दो। युधिष्ठिरः। जहुट्ठिलो। शिथिरः। सिढिलो। मुखरः। मुहलो। चरणः। चलणो। वरुणः। वलुणो। करुण। कलुणो। अङ्गारः। इङ्गालो। सत्कारः। सक्कालो। सुकुमारः। सोमालो। किरातः। चिलाओ। परिखा। पलिहा। परिघः। पलिहो॥ पारिभद्रः। फालिहद्दो। कातरः। काहलो। रुग्णः। लुक्को। अपद्वारम्। अवद्दालं। भ्रमरः। भसलो। जठरम्। जढलं। बठरः। बढलो। निष्ठुरः। निट्ठुलो। इत्यादि। बहुलाधिकारात् चरणशब्दस्य पादार्थवृत्तेरेव।

अन्यत्र चरणकरणं। भ्रमरे ससंनियोगे एव, अन्यत्र भ्रमरो। तथा जढरं। वढरो। निट्ठुरो। इत्यादि।

लाहल-लाङ्गल-लाङ्गूले वादे र्णः ॥ १ ॥ २५६ ॥ एषु आदे-र्लस्य णो वा भवति॥ लाहलः। णाहलो। लाहलो। लांगलम्। णंगलं। लङ्गलं। लाङ्गूलम्। णङ्गूलं। लङ्गूलं॥

शबरे बो मः ॥ १ ॥ २५७ ॥ शबरे बस्य मो भवति, शबरः। समरो॥

स्वप्ननीव्योर्वा ॥ १ ॥ २५९ ॥ अनयोर्वस्य मो वा भवति, स्वप्नः। सिमिणो। सिविणो। नीवी। नीमी। नीवी॥

स्नुषायां ण्हो न वा ॥ १ ॥ २६१ ॥ स्नुषाशब्दे षस्य ण्हः णकाराक्रान्तो हो वा भवति। स्नुषा। सुण्हा। सुसा॥

दश–पाषाणे हः ॥ १ ॥ २६२ ॥ दशन्शब्दे पाषाणशब्दे चशषोर्यथादर्शनं हो वा भवति। दशमुखः। दहमुहो। दसमुहो। दशबलः। दहबलो। दसबलो। दशरथः। दहरहो। दसरहो। दश। दह, दस। एकादशः। एआरह। द्वादश। बारह। त्रयोदश। तेरह। पाषाणः। पाहाणो, पासाणो।

दिवसे सः ॥ १॥ २६३ ॥ दिवसे सस्य हो वा भवति॥ दिवसः। दिवहो। दिवसो॥

हो घोऽनुस्वारात् ॥ १ ॥ २६४ ॥ अनुस्वारात् परस्य हस्य घो वा भवति। सिंहः। सिंघो। सीहो। संहारः। संघारो। संहारो। क्वचिदननुस्वारादपि। दाहः। दाघो॥

शिरायां वा ॥ १ ॥ २६६ ॥ शिराशब्दे आदेश्छो वा भवति। शिरा। छिरा। सिरा।

लुग् भाजनदनुजराजकुले जः सस्वरस्य न वा ॥१॥२६७॥ एषु सस्वरस्य जकारस्य लुग् वा भवति। भाजनम्। भाणं भायणं। दनुजवधः। दणुवहो। दणुअवहो। राजकुलम्। राउलं। रायउलं॥

व्याकरणप्राकारागते कगोः ॥ १ ॥ २६८ ॥ एषु कस्य गस्य च सस्वरस्य लुग् वा भवति। व्याकरणम्। वारणं, वायरणं। प्राकारः। पारो, पायारो। आगतः। आओ, आयओ॥

किसलयकालायसहृदये यः ॥ १ ॥ २६९ ॥ एषु सस्वरस्य यकारस्य लुग् वा भवति। किसलयम्। किसलं, किसलयं। कालायसम्। कालासं, कालायसं, महार्णवसमाः सहृदयाः॥ महण्णव-समासहिआ॥ यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते जाला ते सहिअएहिं-घेप्पंति॥ निरासनाऽर्पित हृदयस्य हृदयम्। निसमणुप्पिय-हिअस्स हिअयं॥

दुर्गादेव्युदुम्बर-पादपतनपादपीठेऽन्तर्दः ॥ १ ॥ २७० ॥ एषु सस्वरस्य दकारस्य अन्तर्मध्ये वर्तमानस्य लुग् वा भवति॥ दुर्गादेवी। दुग्गावी, दुग्गाएवी। उदुम्बरः। उम्बरो, उउम्बरो। पादपतनम्। पावडणं। पायवडणं। पादपीठम्। पावीढं। पायवीढं। अन्तरिति किं। दुर्गादेव्यामआदौ मा भूत्॥

यावत्तावज्जीवितावर्त्तमानावट-प्रावारकदेवकुलैवमेवे वः ॥१॥ ॥ २७१ ॥ यावदादिषु सस्वरवकारस्य अन्तर्वर्त्तमानस्य लुग् वा भवति॥ यावत्। जा, जाव। तावत्। ता, ताव। जीवितम्। जीअं, जीविअं। आवर्तमानः। अत्तमाणो। आवत्तमाणो। अवटः। अडो, अवडो। प्रावारकः। पारओ, पावारओ। देवकुलम्। देउलं। देवउलं। एवमेव। एमेव। एवमेव। अन्तरित्येव, एवमेव इत्यन्तस्य न भवति॥

———

अधुना संयुक्तव्यंजनसन्धिर्विधीयते

संयुक्तस्य ॥ २ ॥ १ ॥ अधिकारोऽयं ज्यायामीत् (२ ॥ ११५) इति यावत्, यदित ऊर्ध्वम् अनुक्रमिष्यामः तत्संयुक्तस्येति वेदितव्यम् ॥

कग-टड-तद-प-शषस≍क≍पाम् ऊर्ध्वं लुक् ॥ २ ॥ ७७ ॥ संयोगस्य ऊर्ध्वं वर्तमानानाम् एषां वर्णानां लुग् भवति ॥ (क) भुक्तं । भुत्तं । सिक्थम् । सित्थं । (ग) दुग्धं । दुद्धं । मुग्धम् । मुद्धं (ट) षट्पदः । छप्पओ । कट्फलम् । कप्फलं । (ड) खड्ग । खग्गो । षड्जः । सज्जो । (त) उत्पलम् । उप्पलं । उत्पादः । उप्पाओ । (द) मद्गुः । मग्गू । मुद्गरः । मोग्गरो । (प) सुप्तः । सुत्तो । गुप्तः । गुत्तो । (श) श्लक्ष्णम् । लण्हं । निश्चलः । णिच्चलो । श्च्योतति । चुअइ । (ष) गोष्ठिः । गोट्ठी । षष्ठः । छट्ठो । निष्ठुरः । निट्ठुरो । (स) स्खलितः । खलिओ । स्नेहः । नेहो । ≍क । दु≍खम् । दुक्खं । ≍प । अन्त≍पातः । अंतप्पाओ ।

अनादौ शेषादेशयो-र्द्वित्वम् ॥२॥८६॥ पदस्यानादौ वर्तमानस्य लुग्मात् शेषस्य संयुक्तादेशस्य च द्वित्वं भवति ॥ (शेष) कल्पतरुः । कप्पतरु भुक्तम् । भुत्तं । दुग्धम् । दुद्धं । नग्नः । नग्गो । उल्का । उक्का । अर्कः । अक्को । मूर्खः । मुक्खो । आदेश । दष्टः । डक्को । यक्षः । जक्खो । रक्तः । रग्गो । कृत्तिः । किच्ची । रुक्मी । रुप्पी । क्वचिन्न भवति कृत्स्नः । कसिणो । अनादाविति किं । स्खलितम् । खलिअं । स्थविरः । थेरो । स्तम्भः । खम्भो । द्वयोस्तु द्वित्वमस्ति एवेति न भवति, वृश्चिकः । विंचुओ, भिन्दिपालः । भिण्डिवालो ॥

शक्तमुक्तदष्टरुग्णमृदुत्वे को वा ॥ २ ॥ २ ॥ एषु संयुक्तस्य को वा भवति । शक्तः । सक्को । सत्तो । मुक्तः । मुक्को । मुत्तो । दष्टः । डक्को । 'दशनदष्टदग्धदोलादण्डेत्यादिना' दस्य ड । रुग्णः ।

लुक्खो लुग्गो। 'अनेनाकुणादयः' इति ए लुक्॥ मृदुत्वं। माउक्कं। आत्कृशामृदुकमृदुत्वे वा, इति ऋकारस्य आत्वम्। माउत्तणं॥

क्षः खः क्वचित्तु छझौ ॥ २ ॥ ३ ॥ क्षस्य खो भवति क्वचित्तु छझावपि ॥ क्षयः। खओ। लक्षणम्। लक्खणं। क्वचित्तु छझौ अपि। क्षीणम्। खीणं। छीणं। झीणं। क्षीयते। झिज्जइ ॥

छोऽक्ष्यादौ ॥ २ ॥ १७ ॥ अक्ष्यादिषु संयुक्तस्य क्षस्य छो भवति। खस्यापवादः। अक्षिम्। अच्छि। इक्षुः। उच्छू। प्रवासीक्षौ। । १ । ६५ । इति इकारस्योकारः। लक्ष्मीः। लच्छी। कक्षः। कच्छो। क्षुतम्। छीअं। ईः क्षुते। १। ११२। इति उकारस्य इत्वं। क्षीरम्। छीरं। सदृशः। सरिच्छो। वृक्षः। वच्छो। मक्षिका। मच्छिआ। क्षेत्रम्। छेत्तं। क्षुधा। छुहा। क्षुधो हा इति धो हादेशः। दक्षः। दच्छो। कुक्षिः। कुच्छी। वक्षस्। वच्छं। क्षुण्णः। छुण्णो। कक्षा। कच्छा। क्षारः। छारो। कौक्षेयकम्। कुच्छेअयं। क्षुरः। छुरो। उक्षा। उच्छा। क्षतम्। छयं। सादृश्यम्। सारिच्छं। क्वचित् स्थगित-शब्देऽपि। छइअं॥ आर्षे। इक्खू खीरं। सारिक्ख इत्याद्यपि दृश्यते।

ऋक्षे वा ॥ २ ॥ १६ ॥ ऋक्षशब्दे संयुक्तस्य छो वा भवति। ऋक्षम्। रिच्छं। रिक्खं। ऋक्षः। रिच्छो, रिक्खो। कथं छूढं क्षिप्तमिति। वृक्षक्षिप्तयोरुक्खछूढौ इति भविष्यति॥

क्षमायां कौ ॥ २ ॥ १८ ॥ कौ पृथिव्यां वर्तमाने क्षमाशब्दे संयुक्तस्य छो भवति॥ क्षमा। क्षमा श्लाघारत्नेऽन्त्य व्यञ्जनात् इति अकारागमः छमा। पृथिवी, लाक्षणिकस्यापि क्ष्मादेशस्य भवति॥ क्ष्मा। छमा, काविति किं। खमा क्षान्तिः॥

क्षण उत्सवे ॥ २ ॥ २० ॥ क्षणशब्दे उत्सवाभिधायिनि संयुक्तस्य छो भवति॥ क्षणः। छणो, उत्सव इति किं। खणो॥

ष्कस्कयोर्नाम्नि ॥ २ ॥ ४ ॥ अनयोर्नाम्नि संज्ञायां खो भवति ॥ (ष्क) पुष्करं। पोक्खर। पुष्करिणी। पोक्खरिणी। निष्कम्। निक्खं। (स्क) स्कन्धः। खंधो। स्कन्धावारः। खन्धावारो। अवस्कन्दः। अवक्खन्दो। नाम्नि इति किम्। दुष्करम्। दुक्करं। निष्कम्पम्। निक्कम्पं। निष्क्रयः। निक्कओ। नमस्कार। नमोक्कारो। संस्कृतम्। सक्कयं। सत्कार.। सक्कारो।

शुष्कस्कन्दे वा ॥ २ ॥ ५ ॥ अनयोः ष्कस्कयोः खो वा भवति ॥ शुष्कम्। सुक्खं, सुक्कं। स्कन्दः। खन्दो, कंदो ॥

क्ष्वेटकादौ ॥ २ ॥ ६ ॥ क्ष्वेटकादिषु संयुक्तस्य खो भवति ॥ क्ष्वेटकः। खेडओ। क्ष्वेटकशब्दो विषपर्यायः,। क्ष्वोटकः। खोडओ। स्फोटकः। खोडओ। स्फेटकः। खेडओ। स्फेटिकः। खेडिओ ॥

स्थाणावहरे ॥ २ ॥ ७ ॥ स्थाणौ संयुक्तस्य खो भवति हरश्चेद् वाच्यो न भवति ॥ स्थाणुः। खाणू। अहर इति किम्। स्थाणुः रेखा। थाणुणो रेहा ॥

स्तम्भे स्तो वा ॥ २ ॥ ८ ॥ स्तम्भशब्दे स्तस्य खो वा भवति ॥ स्तम्भः। खंभो, थंभो। काष्ठादिमयः ॥

थठावस्पन्दे ॥ २ ॥ ९ ॥ स्पन्दाऽभाववृत्तौ स्तम्भे स्तस्य थठौ भवतः। स्तम्भः। थंभो, ठंभो ॥ स्तम्भ्यते। थंभिज्जइ। ठंभिज्जइ ॥

रक्ते गो वा ॥ २ ॥ १० ॥ रक्तशब्दे संयुक्तस्य गो वा भवति ॥ रक्तः। रग्गो। रत्तो ॥

शुल्के ङ्गो वा ॥ २ ॥ ११ ॥ शुल्कशब्दे संयुक्तस्य ङ्गो भवति ॥ शुल्कम्। सुङ्गं, सुक्कं ॥

क्तिचत्वरे चः ॥ २ ॥ १२ ॥ अनयोः संयुक्तस्य चो भवति ॥ कृत्तिः । किच्ची । चत्वरम् । चच्चरं ॥

त्योऽचैत्ये ॥ १ ॥ १३ ॥ चैत्यवर्जिते: त्यस्य चो भवति । सत्यम् । सच्चं । प्रत्यय. । पच्चओ ॥ अचैत्य इति किम् ॥ चइत्तं ॥

प्रत्यूषे षश्च हो वा ॥ २ ॥ १४ ॥ प्रत्यूषे त्यस्य चो भवति तत्संनियोगे च षस्य हो वा भवति । प्रत्यूषः॥ पच्चूहो । पच्चूसो ॥

त्वथ्वद्ध्वां चछजझाः क्वचित् ॥ २ ॥ १५ ॥ एषां यथा-संख्यम् एते क्वचिद् भवन्ति ॥ भुक्त्वा । भोच्चा । ज्ञात्वा । णच्चा । श्रुत्वा । सोच्चा ॥ पृथ्वी । पिच्छी ॥ विद्वान् । विज्जं ॥ बुद्ध्वा । बुज्झा ॥

मोच्चा सयलं पिच्छि विज्जं बुज्झा अणण्णयग्गामि ।
चइऊण तवं काउं सन्ती पत्तो सिवं परमं ॥

वृश्चिके श्चेञ्चुर्वा ॥ २ ॥ १६ ॥ वृश्चिके श्चे' स स्वरस्य स्थाने ञ्चुरादेशो वा भवति । छस्यापवादः ॥ वृश्चिकः । विञ्चुओ । विंचुओ ॥ पक्षे विञ्छिओ ॥ 'वक्रादावन्तः, इति अनुस्वारागमः ।

ह्रस्वात् थ्यश्चत्सप्साम् अनिश्चले ॥ २ ॥ २१ ॥ ह्रस्वात् परेषां थ्यश्चत्सप्सां छो भवति ॥ निश्चले तु न भवति ॥ (थ्य) पथ्यम् पच्छं । पथ्या । पच्छा । मिथ्या । मिच्छा । (श्च) पश्चिमम् । पच्छिमं । आश्चर्यम् । अच्छेरं । वल्ल्युत्कर पर्यन्ताश्चर्ये वा इति एकारादेशः पश्चात् । पच्छा (त्स) उत्साहः । उच्छाहो । मत्सरः । मच्छलो । मच्छरो । संवत्सरः । संवच्छलो । संवच्छरो । चिकित्सति । चिइच्छइ । (प्स) लिप्सते । लिच्छइ । जुगुप्सति । जुगुच्छइ । अप्सरा । अच्छरा । ह्रस्वादितिकिम् । उत्सारितः । ऊसारिओ । अनिश्चल इति किम् । निश्चलः । निच्चलो । आर्षे तथ्ये चोऽपि । तथ्यम् । तच्चं ।

सामर्थ्योत्सुकोत्सवे वा ॥ २ ॥ २२ ॥ एषु संयुक्तस्य छो वा भवति ॥ सामर्थ्यम् । सामच्छं । सामत्थं ॥ उत्सुकः । उच्छुओ । ऊसुओ ॥ उत्सवः । उच्छवो । ऊसवो ।

स्पृहायाम् ॥ २ ॥ २३ ॥ स्पृहाशब्दे संयुक्तस्य छो भवति ॥ फस्यापवादः ॥ स्पृहा ॥ छिहा ॥ बहुलाधिकारात् क्वचिदन्यदपि । निस्पृहः । निप्पिहो ॥

द्यय्यर्यां जः ॥ २ ॥ २४ ॥ एषां संयुक्तानां जो भवति ॥ (द्य) मद्यम् । मज्जं । अवद्यम् । अवज्जं । वैद्यः । वेज्जो । द्युतिः । जुई । द्योतः । जोओ । (य्य) जय्यः । जज्जो । शय्या । सेज्जा । (र्य) भार्या- भज्जा । चौर्यसमत्वात् भारिआ । कार्यम् । कज्ज । वर्यम् । वज्जं । पर्यायः । पज्जाओ । पर्याप्तम् । पज्जत्तं । मर्यादा । मज्जाया ।

अभिमन्यौ जञ्जौ वा ॥ २ ॥ २५ ॥ अभिमन्यौ संयुक्तस्य जो ञ्जश्च वा भवति ॥ अभिमन्युः । अहिमज्जू ॥ अहिमञ्जू । पक्षे अहिमन्नू । अभिग्रहणादिह न भवति । मन्नू ॥

साध्वसध्यह्यां झः ॥ २ ॥ २६ ॥ साध्वसे ध्यह्ययोश्च संयुक्तस्य झो भवति ॥ साध्वसम् । सज्झसं । (ध्य) बध्यते । वज्झए । ध्यानम् । झाणं । उपाध्यायः । उवज्झाओ । स्वाध्यायः । सज्झाओ । साध्यम् । सज्झं । विन्ध्यः । विज्झो । (ह्य) सह्यः । सज्झो । मह्यं । मज्झं । गुह्यम् । गुज्झं । नह्यति । णज्झइ । इत्यादि ।

ध्वजे वा ॥ २ ॥ २७ ॥ ध्वजशब्दे संयुक्तस्य झो वा भवति ॥ ध्वजः । झओ । धओ ॥

इन्धौ झा ॥ २ ॥ २८ ॥ इन्धो धातौ संयुक्तस्य झा इत्यादेशो भवति ॥ समिन्धते । समिज्झाइ । विन्धते । विज्झाइ ॥

वृत्तप्रवृत्तमृत्तिकापत्तनकदर्थिते टः ॥ २ ॥ २९ ॥ एषु संयुक्तस्य टो भवति ॥ वृत्तः । वट्टो । प्रवृत्तः । पवट्टो । मृत्तिका । मट्टिया । पत्तनम् । पट्टणं । कदर्थित । कवट्टिओ ॥

र्तस्याऽधूर्तादौ ॥ २ ॥ ३० ॥ र्तस्य टो भवति धूर्तादीन् वर्जयित्वा ॥ कैवर्तः । केवट्टो । वर्ति । वट्टी । जर्तः । जट्टो । प्रवर्तते । पयट्टइ । वर्तुलं । वट्टुलं । राजवर्त्तकम् । रायवट्टयं । नर्तकी । नट्टई । संवर्तितं । संवट्टिअं ॥ अधूर्तादाविति किम् । धूर्त्तः । धुत्तो । कीर्ति । कित्ती । वार्ता । वत्ता । आवर्त्तनम् । आवत्तणं । निवर्तनम् । निवत्तणं । प्रवर्तनम् । पवत्तणं । संवर्तनम् । संवत्तणं । आवर्तकः । आवत्तओ । निवर्तकः । निवत्तओ । प्रवर्तकः । पवत्तओ । संवर्तकः । संवत्तओ । वर्तिका । वत्तिआ । वार्तिक । वत्तिओ । कार्तिकः । कत्तिओ । उत्कर्तितः । उक्कत्तिओ । कर्तरि । कत्तरी । मूर्तिः । मुत्ती । मूर्त्तः । मुत्तो । मुहूर्तः । मुहुत्तो । बहुलाधिकारात् वार्ता । वट्टा । वत्ता ।

ठोऽस्थिविसंस्थुले ॥२॥ ३२ ॥ अनयोः संयुक्तस्य ठो भवति ॥ अस्थि । अट्ठी । विसंस्थुलम् । विसंठुलं ॥

स्त्यानचतुर्थार्थे वा ॥ २ ॥ ३३ ॥ एषु संयुक्तस्य ठो वा भवति ॥ स्त्यानं । ठीणं । थीणं ॥ चतुर्थः । चउट्ठो । चउत्थो । अर्थः । अट्ठो । प्रयोजनम् । अर्थः । अत्थो । धनम् ॥

ष्टस्याऽनुष्ट्रेष्टासंदष्टे ॥ २ ॥ ३४ ॥ उष्ट्रादिवर्जिते ष्टस्य ठो भवति ॥ यष्टिः । लट्ठी । मुष्टिः । मुट्ठी । दृष्टिः । दिट्ठी । सृष्टिः । सिट्ठी । पृष्ठः । पुट्ठो । कष्टम् । कट्ठं । सुराष्ट्राः । सुरट्ठा । इष्टः । इट्ठो । अनिष्टम् । अणिट्ठं । अनुष्ट्रेष्टासंदष्ट इति किम् । उष्ट्रः । उट्टो । इष्टा चूर्णमिव । इट्टा चुण्णं व्व । संदष्टः । संदट्टो ।

गर्ते डः ॥ २ ॥ ३५ ॥ गर्त्तशब्दे संयुक्तस्य डो भवति ॥ टापवादः । गर्तः । गड्डो । गर्ता । गड्डा ॥

संमर्द-वितर्दि-विच्छर्द-च्छर्दि-कपर्द-मर्दिते र्दस्य ॥ २॥ ३६ ॥ एषु र्दस्य डो भवति ॥ संमर्दः । संमड्डो । वितर्दिः । विअड्डी । विच्छर्दः । विच्छड्डो । च्छर्दिः । छड्डी । कपर्दः । कवड्डो । मर्दित. । मड्डिओ । संमर्दित. । संमड्डिओ ॥

गर्दभे वा ॥ २ ॥ ३७ ॥ गर्दभे र्दस्य डो वा भवति ॥ गर्दभः । गड्डहो । गद्दहो ॥

कन्दरिकाभिन्दिपाले ण्डः ॥ २ ॥ ३८ ॥ अनयोः संयुक्तस्य ण्डो भवति ॥ कन्दरिका । कण्डलिआ । भिन्दपाल. । भिण्डिवालो ॥

स्तब्धे ठढौ ॥ २ ॥ ३६ ॥ स्तब्धे संयुक्तयोर्यथाक्रमं ठढौ भवतः । स्तब्धः । ठड्ढो ।

दग्धविदग्धवृद्धिवृद्धे ढः ॥ २ ॥ ४० ॥ एषु संयुक्तस्य ढो भवति । दग्धः । दड्ढो । विदग्ध. । वियड्ढो । वृद्धिः । वुड्ढी । वृद्धः । वुड्ढो । क्वचिन्न भवति । वृद्धकविनिरूपितम् । विद्धकइ-निरूविअं ।

श्रद्धर्द्धि-मूर्धार्धेऽन्ते वा ॥ २ ॥ ४१ ॥ एषु संयुक्तस्य अन्ते वर्त्तमानस्य ढो वा भवति । श्रद्धा सड्ढा । सद्धा । ऋद्धि । इड्ढी । रिद्धी । मूर्धा । मुड्ढा । मुद्धा । अर्धम् । अड्ढं । अद्धं ।

म्नज्ञो र्णः ॥२॥ ४२ ॥ अनयोर्णो भवति । (म्न) निम्नम् । निण्ण । प्रद्युम्न । पज्जुण्णो । ज्ञानम् । णाणं । संज्ञा । सण्णा । प्रज्ञा । पण्णा । विज्ञानम् । विण्णाणं ।

पञ्चाशत्पञ्चदशदत्ते ॥ २ ॥ ४३ ॥ एषु संयुक्तस्य णो वा भवति । पञ्चाशत् । पण्णासा । स्त्रियामादविद्युत. इत्याकारादेश. । पञ्चदश । पण्णरह । दत्तम् । दिण्णं । इः स्वप्नादौ इत्यस्य इत्वम् ।

मन्यौ न्तो वा ॥ २ ॥ ४४ ॥ मन्युशब्दे संयुक्तस्य न्तो वा भवति। मन्युः। मन्तू। मन्नू।

स्तवे वा ॥ २ ॥ ४६ ॥ स्तवशब्दे स्तस्य थो वा भवति। स्तवः। थवो। तवो।

पर्य्यस्ते थटौ ॥ २ ॥ ४७ ॥ पर्यस्ते स्तस्य पर्यायेण थटौ भवतः। पर्यस्तः। पल्लत्थो। पर्य्यस्त – पर्याण – सौकुमार्ये ल्लः इति र्यस्य ल्लः। पल्लट्टो।

वोत्साहे थो हश्च रः ॥ २ ॥ ४८ ॥ उत्साहशब्दे संयुक्तस्य थो वा भवति तत्संनियोगे च हस्य रः। उत्साहः। उत्थारो। उच्छाहो।

आश्लिष्टे लधौ ॥ २ ॥ ४९ ॥ आश्लिष्टे संयुक्तयोर्यथासंख्यं ल ध इत्यादेशौ भवतः। आश्लिष्ट। आलिद्धो।

चिह्ने न्धो वा ॥ २ ॥ ५० ॥ चिह्ने संयुक्तस्य न्धो वा भवति। एह्णापवादः। पक्षेऽसोऽपि। चिह्नम्। चिन्धं। इन्ध। चिण्हं।

भस्मात्मनोः पो वा ॥ २ ॥ ५१ ॥ अनयोः संयुक्तस्य पो वा भवति। भस्मा। भप्पो। भस्सो। आत्मा। अप्पा। अप्पाणो। पक्षे। आत्मन्। अत्ता।

ड्मक्मोः ॥ २ ॥ ५२ ॥ ड्मक्मोः पो वा भवति। कुड्मलं। कुम्पलम्। रुक्मिणी। रुप्पिणी। क्वचित् चमोऽपि। रुक्मी। रुच्मी। रुप्पी।

भीष्मेष्मः ॥ २ ॥ ५४ ॥ भीष्मे ष्मस्य फो भवति। भीष्म.। भिप्फो।

श्लेष्मणि वा ॥ २ ॥ ५५ ॥ श्लेश्मशब्दे ष्मस्य फो वा भवति। श्लेष्मा। सेफो, सिलिम्हो।

ह्वो भो वा ॥ २ ॥ ५७ ॥ ह्वस्य भो वा भवति। जिह्वा। जिब्भा। जीहा।

वा विह्वले वौ वश्च ॥ २ ॥ ५८ ॥ विह्वले ह्वस्य भो वा भवति तत्संन्नियोगे च विशब्दे वस्य वा भो भवति। विह्वलः। भिब्भलो। विब्भलो,। विहलो ॥

वोर्ध्वे ॥ २ ॥ ५९ ॥ ऊर्ध्व शब्दे संयुक्तस्य भो वा भवति। ऊर्ध्वम्। उब्भं। उद्धं।

कश्मीरे म्भो वा ॥ २ ॥ ६० ॥ कश्मीर शब्दे संयुक्तस्य म्भो वा भवति। कश्मीरा। कम्भारा। कम्हारा ॥

न्मो मः ॥२॥ ६१ ॥ न्मस्य मो भवति। अधो लोपापवादः। जन्मन्। जम्मो। मन्मथः। वम्महो। मन्मथे वः । १। २४२। इति मकारस्य वकारादेशः। सन्मन्। सम्मणं।

ग्मो वा ॥ २ ॥ ६२ ॥ ग्मस्य मो वा भवति। युग्मम्। जुग्मं। जुग्गं। तिग्मम्। तिम्मं। तिग्गं।

ब्रह्मचर्य तूर्य सौन्दर्य शौण्डीर्ये र्यो रः ॥ २ ॥ ६३ ॥ एषु र्यस्य रो भवति। जापवादः। ब्रह्मचर्यम्। वम्हचेरं। चौर्यसमत्वाद्। वम्हचरियं। तूर्यम्। तूरं। सौन्दर्यम्। सुन्देरं। शौण्डीर्यम्। सोण्डीरं।

धैर्ये वा ॥ २ ॥ ६४ ॥ धैर्य शब्दे र्यस्य रो वा भवति। धैर्यम्। धीरं। धिज्जं। सूरो सुज्जो इति तु सूर सूर्य प्रकृति भेदात्।

पर्यस्तपर्याणसौकुमार्ये ल्लः ॥ २ ॥ ६८ ॥ एषु र्यस्य ल्लो भवति। पर्यस्तम्। पल्लट्टं। पल्लत्थं। पर्याणम्। पल्लाणं। सौकुमार्यम्। सोअमल्लं।

उतो मुकुलादिषु ॥ १ ॥ १०७ ॥ इति उकारस्य अत्वम्। पल्लङ्को इति तु पल्यङ्क शब्दस्य यलोपे द्वित्वे च। पलिअंको इत्यपि चौर्य समत्वात् ।

बृहस्पति वनस्पत्योः सो वा ॥ २ ॥ ६९ ॥ अनयोः संयुक्तस्य सो वा भवति। बृहस्पतिः। बहस्सई। बहप्फई। भयस्सई। भयप्फई। वनस्पतिः। वणस्सई। वणप्फई।

बाष्पे होऽश्रुणि ॥ २ ॥ ७० ॥ बाष्पशब्दे संयुक्तस्य हो भवति। अश्रुण्यभिधेये। बाष्पः। बाहो। नेत्र जलम्। अश्रुणीति किं? बप्फो। उष्मा।

कार्षापणे ॥ २ ॥ ७१ ॥ कार्षापणे संयुक्तस्य हो भवति। कार्षापणः। काहावणो। कथं कहावणो ह्रस्व संयोगे १-८४ इति पूर्वमेव ह्रस्वत्वे पश्चादादेशे। कर्षापण शब्दस्य वा भविष्यति।

पक्ष्म-श्म-ष्म-स्म-ह्मां म्हः ॥ २ ॥ ७४ ॥ पक्ष्म शब्द सम्बन्धिन संयुक्तस्य श्मष्म स्म ह्मां च मकाराक्रान्तो हकार आदेशो भवति। पक्ष्माणि। पम्हाइं। पक्ष्मल-लोचना। पम्हल-लोअणा। कुश्मानः। कुम्हाणो। कश्मीराः कम्हारा। (ष्म) ग्रीष्म। गिम्हो। ऊष्मा। उम्हा (स्म) अस्मादृशः। अम्हारिसो। विस्मयः। विम्हओ। (ह्म) ब्रह्मा। बम्हा। सुह्म। सुम्हो। ब्राह्मण। बम्हणो। ब्रह्मचर्यम्। बम्हचेरं। क्वचिद् म्भोऽपि दृश्यते। बम्हणो। बम्भचेरं। श्लेष्मा-सिम्भो। क्वचिन्न भवति। रश्मि। रस्सी। स्मर। सरो।

सूक्ष्म-श्न-ष्ण-स्न ह्न ह्ण क्ष्णां ण्हः ॥ २ ॥ ७५ ॥ सूक्ष्म शब्द सम्बन्धिन संयुक्तस्य श्नष्णस्नह्नह्णक्ष्णां च णकारा क्रान्तो हकार आदेशो भवति। सूक्ष्मं। सण्हं। अदूतः सूक्ष्मेवा। १। ११८। इति सू स्थाने सः। (श्न) प्रश्न। पण्हो। शिश्न। सिण्हो। (ष्ण)

विष्णुः। विण्हू। जिष्णुः। जिण्हू। कृष्णः। कण्हो। उष्णीषम्। उण्हीसं। (स्न) ज्योत्स्ना। जोण्हा। स्नातः। ण्हाओ। प्रस्नुतः। पण्हुओ। (ह्न) वह्निः। वण्ही। जह्नुः। जण्हू। (ह्ण) पूर्वाह्णः। पुव्वण्हो। अपराह्णः। अवरण्हो। (क्ष्ण) श्लक्ष्णम्। सण्हं। अदूतः सूक्ष्मे वा इति सूस्थाने सः। तीक्ष्णं। तिण्हं। विप्रकर्षे तु कृष्णकृत्स्न शब्दयो. कसणो। कसिणो।

मध्याह्ने हः ॥ २ ॥ ८४ ॥ मध्याह्ने हस्य लुग् वा भवति। मध्याह्नः। मज्झन्नो, मज्झण्हो।

ह्लो ल्हः ॥ २ ॥ ७६ ॥ ह्लः स्थाने लकाराक्रान्तो हकारो भवति। कह्लारम्। कल्हारं। प्रह्लादः। पल्हाओ।

सर्वत्र लवरामवन्द्रे ॥ २ ॥ ७९ ॥ इत्युक्तम्। अत्र च द्व इत्यादि संयुक्तानाम् उभयप्राप्तौ यथादर्शनं लोपः। क्वचिदूर्ध्वं। उद्विग्नः। उव्विग्गो। द्विगुणः। विउणो। द्वितीयः। बीओ। कल्मषम्। कम्मसं। सर्वम्। सव्वं। शुल्बम्। सुब्बं। क्वचित्तु अधः। काव्यम्। कव्वं। कुल्या। कुल्ला। माल्यम्। मल्लं। द्विपः। दिओ। द्विजातिः। दुआई। क्वचित्पर्यायेण। द्वारम्। दारं। वारं। उद्विग्नः। उव्विग्गो, उव्विण्णो। अवन्द्र इति किम्? वन्द्रं। संस्कृतसमोऽयं प्राकृतशब्दः। अत्रोत्तरेण विकल्पोऽपि न भवति, निषेधसामर्थ्यात्।

द्रे रो नवा ॥ २ ॥ ८० ॥ द्रशब्दे रेफस्य वा लुग् भवति। चन्द्रः। चंदो, चंद्रो। रुद्रः। रुदो, रुद्रो। भद्रम्। भदं, भद्रं। समुद्रः। समुद्दो, समुद्रो। ह्रदशब्दस्य स्थितिपरिवृत्तौ द्रह इति रूपम्, तत्र द्रहो, दहो। केचिद् रलोपं नेच्छंति। द्रहशब्दमपि कश्चित् संस्कृतं मन्यते। वोद्रहादयस्तु तरुणपुरुषादिवाचका नित्यं रेफसंयुक्ता देश्या एव। शिक्षन्ताम् तरुण्यः। सिक्खन्तु वोद्रहीओ। तरुणह्रदे पतिताः। वोद्रह-द्रहम्मि पडिआ।

धात्र्याम् ॥ २ ॥ ८१ ॥ धात्री शब्दे रस्य लुक् वा भवति। धात्री। धत्ती। ह्रस्वात्प्रागेव रलोपे धाई। पक्षे, धारी।

तीक्ष्णे णः ॥ २ ॥ ८२ ॥ तीक्ष्णशब्दे णस्य लुग् वा भवति। तीक्ष्णम्। तिक्खं, तिण्हं।

ज्ञो ञः ॥ २ ॥ ८३ ॥ ज्ञसम्बन्धिनो ञकारस्य लुग् वा भवति। ज्ञानम्। जाणं, णाणं। सर्वज्ञः। सव्वज्जो, सव्वण्णू। आत्मज्ञः। अप्पज्जो, अप्पण्णू। दैवज्ञः। दइवज्जो, दइवण्णू। इंगितज्ञः। इंगिअज्जो इंगिअण्णू। मनोज्ञम्। मणोज्जं, मणोण्णं। अभिज्ञः अहिज्जो, अहिण्णू। प्रज्ञा। पज्जा, पण्णा। अज्ञा। अज्जा, अण्णा। संज्ञा। संजा, सण्णा। क्वचिन्न भवति। विज्ञानम्। विण्णाणं।

दशार्हे ॥२॥८५॥ पृथग् योगात् वेति निवृत्तम्, दशार्हे हस्य लुक् भवति। दशार्हः। दसारो।

आदेः श्मश्रुश्मशाने ॥२॥८६॥ अनयोरादेर्लुक् भवति। श्मश्रुः। मासू मंसू, वक्रादावन्तः।१।२६। इति अनुस्वारागमः मस्सू। श्मशानम्। मसाणं। आर्षे श्मशानशब्दस्य सीआणं। सुसाणं।

श्चो हरिश्चन्द्रे ।२॥८७। हरिश्चन्द्रशब्दे श्च इत्यस्य लुग् भवति। हरिश्चन्द्रः। हरिअंदो।

रात्रौ वा ॥२॥८८॥ रात्रिशब्दे संयुक्तस्य लुग् वा भवति। रात्रिः। राई, रत्ती।

द्वितीयतुर्ययोरुपरि पूर्वः ॥२॥९०॥ द्वितीयतुर्ययो द्वित्व-प्रसङ्गे उपरि पूर्वो भवतः। द्वितीयस्योपरि प्रथमः। चतुर्थस्योपरि तृतीय इत्यर्थः। शेष.। व्याख्यानम्। वक्खाणं। व्याघ्रः। वग्घो। मूर्च्छा। मुच्छा। निर्झरः। निज्झरो। कष्टम्। कट्ठं। तीर्थम्। तित्थं। निर्धनः।

निक्खणो। गुल्फम्। गुप्फं। निर्भरः। निब्भरो। आदेशः। यक्षः। जक्खो। घस्य नास्ति। अक्षिः। अच्छी। मध्यं। मज्झं। स्पृष्टिः। पट्ठी। वृद्धः। वुड्ढो। हस्त। हत्थो। आश्लिष्टः। आलिद्धो। आश्लिष्टे लद्धो इति ष्टस्य द्धः। पुष्पम्। पुप्फं। विह्वलः। भिब्भलो। विह्वले वो भश्च। इति वस्य भः। तैलादौ ॥२॥९८॥ द्वित्वे उदूखलम्। ओक्खलं। सेवादौ ॥२॥९९॥ नखः। नक्खा, नहा। समासे कपिध्वजः। कइद्धओ, कइधओ। द्वित्व इत्येव। ख्यातः। खाओ।

दीर्घे वा ॥२॥९१॥ दीर्घशब्दे शेषस्य घस्य उपरि पूर्वो वा भवति। दीर्घः। दिग्घो, दीहो।

न दीर्घानुस्वारात् ॥२॥९२॥ दीर्घानुस्वाराभ्यां लाक्षणिकाभ्याम् अलाक्षणिकाभ्यां च परयोः शेषादेशयोर्द्वित्वं न भवति। क्षिप्तः। छूढो। निश्वासः। नीसासो। स्पर्शः। फासो। अलाक्षणिकः। पार्श्वम्। पासं। शीर्षम्। सीसं। ईश्वरः। ईसरो। द्वेष्यः। वेसो। लास्यम्। लासं। आस्यम्। आसं। प्रेष्य. पेसो। अवमाल्यम्। ओमालं। आज्ञा। आणा। आज्ञप्तिः। आणत्ती। आज्ञपनम्। आणवणं। अनुस्वारात्। त्र्यस्रम्। तंसं। अलाक्षणिकः। संध्या। संझा। विन्ध्यः। विंझो। कांस्यालः। कंसालो।

र्होः ॥२॥९३॥ रेफहकारयोर्द्वित्वं न भवति। रेफः शेषो नास्ति। आदेशः। सौन्दर्यम्। सुन्देरं। ब्रह्मचर्यम्। बम्हचेरं। पर्यन्तम्। पेरंतं। शेषस्य हस्य। विह्वलः। विहलो। आदेशस्य। कार्षापणः। कहावणो।

धृष्टद्युम्ने णः ॥२॥९४॥ धृष्टद्युम्नशब्दे आदेशस्य णस्य द्वित्वं न भवति। धृष्टद्युम्नः। धट्ठज्जुणो।

कर्णिकारे वा ॥२॥९५॥ कर्णिकारशब्दे शेषस्य णस्य द्वित्वं न भवति। कर्णिकारः। कणिआरो। कण्णिआरो।

दृप्ते ॥२॥९६॥ दृप्तशब्दे शेषस्य द्वित्वं न भवति। दृप्त-सिंहेन। दरिअ-सीहेण।

समासे वा ॥२॥९७॥ शेषादेशयोः समासे द्वित्वं वा भवति। नदीग्रामः। नइग्गामो, नइगामो। कुसुमप्रकरः। कुसुमप्पयरो। कुसुमपयरो। देवस्तुतिः। देवत्थुई, देवथुई। हरस्कंदौ। हरक्खंदा, हरखन्दा। आलानस्तम्भः। आणालक्खम्भो, आणालखंभो। बहुलाधिकाराद् अशेषादेशयोरपि। सपिपासः। सप्पिवासो। सपिवासो। बद्धफलः। बद्धप्फलो। बद्धफलो। मलय शिखर खण्डम्। मलय सिहर क्खण्डं, मलय सिहर खंडं प्रमुक्तम्। पम्मुक्कं, पमुक्कं। अदर्शनम्। अद्दंसणं, अदंसणं। प्रतिकूलम्। पडिक्कूलं, पडिकूलं। त्रैलोक्यम्। तेल्लोक्कं, तेलोक्कं इत्यादि।

तैलादौ ॥२॥९८॥ तैलादिषु अनादौ यथादर्शनम् अन्त्यस्यानन्त्यस्य च व्यञ्जनस्य द्वित्वं भवति। तैलम्। तेल्लं। मण्डूकः। मण्डुक्को। विचकिलम्। वेइल्लं। ऋजुः। उज्जू। व्रीडा। विड्डा। प्रभूतम्। बहुत्तं। अनन्त्यस्य। स्रोतस्। सोत्तं। प्रेमन्। पेम्मं। यौवनम्। जुव्वणं। आर्षे प्रतिस्रोतः। पडिसोओ। विस्रोतसिका। विस्सोअसिआ।

सेवादौ वा ॥२॥९९॥ सेवादिषु अनादौ यथादर्शनम् अन्त्यस्यानन्त्यस्य च द्वित्वं वा भवति। सेवा। सेव्वा, सेवा। नीडम्। नेड्डं, नीडं। नखाः। नक्खा, नहा। निहितः। निहित्तो, निहिओ। व्याहृतः। वाहित्तो, वाहिओ। मृदुकम्। माउक्कं, माउअं। एकः। एक्को, एओ। कुतूहलम्। कोउहल्लं, कोउहलं। व्याकुलः। वाउल्लो, वाउलो। स्थूलः। थुल्लो, थोरो। हूतम्। हुत्तं, हूअं। दैवम्। दइव्वं, दइवं। तूष्णीकः। तुण्हिक्को, तुण्हिओ। मूकः। मुक्को, मूओ। स्थाणुः। खण्णू, थाणू। स्त्यानम्। थिण्णं, थीणं। अनन्त्यस्य। अस्मदीयम्। अम्हक्केरं, अम्हकेरं। तदेव। तं च्चेअ, तं चेअ। स एव। सो च्चिअ। सो चिअ।

शार्ङ्गे ङात्पूर्वोऽत् ॥२॥१००॥ शार्ङ्गे ङात्पूर्वोऽदागमो भवति। शार्ङ्गम्। सारंगं।

क्ष्मा-श्लाघा-रत्नेऽन्त्यव्यञ्जनात् ॥२॥१०१॥ एषु संयुक्तस्य यद् अन्त्यव्यञ्जनं तस्मात्पूर्वोऽकारागमो वा भवति। क्ष्मा। छमा। श्लाघा। सलाहा। रत्नम्। रयणं। आर्षे सूक्ष्मेऽपि सुहुमं।

स्नेहाग्न्योर्वा ॥२॥१०२॥ अनयोः संयुक्तस्य अन्त्यव्यञ्जनात्पूर्वोऽकारागमो वा भवति। स्नेहः। सणेहो, नेहो। अग्निः। अगणी, अग्गी।

प्लक्षे लात् ॥२॥१०३॥ प्लक्ष शब्दे संयुक्तस्य अन्त्यव्यञ्जनात् लात्पूर्वोऽदागमो भवति। प्लक्षः। पलक्खो।

र्ह श्री ह्री कृत्स्न क्रिया दिष्ट्यास्वित् ॥२॥१०४॥ एषु संयुक्तस्य अन्त्यव्यञ्जनात्पूर्व इकाराऽऽगमो भवति। (र्ह) अर्हति। अरिहइ। अर्हा। अरिहा। गर्हा। गरिहा। बर्हः। बरिहो। श्री। सिरी। ह्री। हिरी। ह्रीतः। हिरीओ। अह्रीकः। अहिरीओ। कृत्स्नः। कसिणो। क्रिया। किरिआ। आर्षे तु। हयम् ज्ञानम् क्रिया हीनम्। हयं नाणं किया हीणं। दिष्ट्या। दिट्ठिआ।

र्श-र्ष-तप्त-वज्रे वा ॥२॥१०५॥ र्शर्षयोस्तप्तवज्रयोश्च संयुक्तस्य अन्त्यव्यञ्जनात्पूर्व इदागमो वा भवति। (र्श) आदर्शः। आयरिसो, आयंसो। सुदर्शनः। सुदरिसणो, सुदंसणो। दर्शनम्। दरिसणं, दंसणं। (र्ष) वर्षम्। वरिसं, वासं। वर्षा। वरिसा, वासा। वर्षशतम्। वरिससयं, वास सयं। व्यवस्थितविभाषया क्वचिन्नित्यं। परामर्षः। परामरिसो। हर्षः। हरिसो। अमर्षः। अमरिसो। तप्तः। तविओ, तत्तो। वज्रम्। वइरं वज्जं।

लात् ॥२॥१०६॥ संयुक्तस्य अन्त्यव्यञ्जनात् लात्पूर्व इद् भवति। क्लिन्नम्। किलिन्नं। क्लिष्टम्। किलिट्ठं। श्लिष्टम्।

सिलिट्ठं । प्लुष्टम् । पिलुट्ठं । प्लोषः । पिलोसो । श्लेष्मा । सिलिम्हो । श्लेषः । सिलेसो । शुक्लम् । सुक्किलम् । सेवादौ वा इति दित्व विकल्पात् पक्षे के लोपे सति । सुइलं । श्लोकः । सिलोओ । क्लेशः । किलेसो । आम्लम् । अम्बिलं । ग्लायति । गिलाइ । ग्लानम् । गिलाणं । म्लायति । मिलाइ । म्लानम् । मिलाणं । क्लाम्यति । किलम्मइ । क्लान्तम् । किलन्तं । क्वचिन्न भवति । क्लमः । कमो । प्लवः । पवो । विप्लवः । विप्पवो । शुक्ल पक्षः । सुक्क पक्खो । उत्प्लावयति । उप्पावेइ ।

स्याद् भव्य चैत्य चौर्यसमेषु यात् ॥२॥ १०७॥ स्यादादिषु चौर्य शब्देन समेषु च संयुक्तस्य यात्पूर्व इद् भवति । स्यात् । सिआ । स्याद्वादः । सिआवाओ । भव्यः । भविओ । चैत्यम् । चेइअं । चौर्यसमः । चोर्यम् । चोरिअं । स्थैर्यम् । थेरिअं । भार्या भारिआ । गाम्भीर्यम् । गम्भीरिअं गहीरिअं । आचार्यः । आयरिओ । सौन्दर्यम् । सुन्दरिअं । शौर्यम् । सोरिअं । वीर्यम् । वीरिअं । वर्यम् । वरिअं । सूर्यः । सूरिओ । धैर्यम् । धीरिअं । ब्रह्मचर्यम् । बम्हचरिअं

स्निग्धे वादितौ ।'२॥ १०९ ॥ स्निग्धे संयुक्तस्य नात्पूर्वौ अदितौ वा भवत । स्निग्धम् । सणिद्धं, सिणिद्धं, पक्षे । निद्धं ।

कृष्णे वर्णे वा ॥२॥ ११०॥ वर्णवाचिनि कृष्णे संयुक्तस्य अन्त्यव्यञ्जनात्पूर्वौ अदितौ वा भवतः । कृष्णः । कसणो, कसिणो कण्हो । वर्ण इति किम् ? कृष्णः । कण्हो विष्णो ।

उच्चार्हति ॥२॥१११॥ अर्हत् शब्दे संयुक्तस्य अन्त्यव्यञ्जनात्पूर्वौ उद् अदितौ च भवतः । अर्हन् । अरुहो, अरहो अरिहो अर्हन्तः । अरुहंतो, अरहंतो, अरिहंतो ।

तन्वीतुल्येषु ॥२॥११३॥ उकारान्ता ङीप्रत्ययान्तास्तन्वीतुल्याः, एषु संयुक्तस्य अन्त्यव्यञ्जनात्पूर्व उकारो भवति । तन्वी । तणुवी ।

लघ्वी । लहुवी । गुर्वी । गरुवी । बह्वी । बहुवी । पृथ्वी । पुहुवी । मृद्वी । मउवी । क्वचिदन्यत्रापि । स्रुघ्नं । सुरुग्घं । आर्षे सुदमं । सुहुमं ।

एकस्वरे श्वःस्वे ॥२॥११४॥ एक स्वरे पदे यौ श्वस् स्व इत्ये तौ तयोरन्त्यव्यञ्जनात्पूर्व उद् भवति । श्वःकृतं । सुवेकयं । एत शय्यादौ, इति वकाराकारस्य एत्वम् । स्वे जना. । सुवे जणा । एक स्वर इति किम् ? स्वजनः । सयणो ।

ज्यायामीत् ॥ २ ॥ ११५ ॥ ज्याशब्देऽन्त्यव्यञ्जनात्पूर्व ईद् भवति । ज्या । जीआ ।

करेणू–वाराणस्योरणोर्व्यत्ययः ॥ २ ॥ ११६ ॥ अनयो रेफणकारयोर्व्यत्ययः स्थितिपरिवृत्तिर्भवति । करेणुः । कणेरू । वाराणसी । वाणारसी । स्त्रीलिङ्गनिर्देशात् पुंसि न भवति । एष: करेणुः । एसो करेणू ।

आलाने लनोः ॥२॥११७॥ आलानशब्दे लनोर्व्यत्ययो भवति । आलानः । आणालो । आलान स्तम्भः । आणालक्खंभो ।

अचलपुरे चलोः ॥२॥११८॥ अचलपुरशब्दे चलयोर्व्यत्ययो भवति । अचलपुरम् । अलचपुरं ।

ह्रदे हदोः ॥ २ ॥ १२० ॥ ह्रद शब्दे हकार दकारयोर्व्यत्ययो भवति । ह्रदः । द्रहो । द्रे रोनवा ॥२॥८०॥ इति रेफलोपाभावः । आर्षे । ह्रदे महापुण्डरीकः । हरए महपुण्डरिए ।

हरिताले रलोर्न्वा ॥२॥१२१॥ हरिताल शब्दे रकारलकारयोर्व्यत्ययो वा भवति । हरितालः । हलिआरो हरिआलो ।

लघुके लहोः ॥२॥१२२॥ लघुक शब्दे घस्य ह्त्वे कृते लहो-

र्व्यत्ययो वा भवति। लघुकम्। हलुअं। लहुअं। घस्य व्यत्यये कृते पदादित्वात् हो न प्राप्नोतीति हकरणम्।

ह्ये ह्योः ॥ २ ॥ १२४ ॥ ह्यशब्दे हकार यकारयोर्व्यत्ययो वा भवति। गुह्यं। गुय्हं, गुज्झं। सह्यः। सय्हो, सज्झो।

स्तोकस्य थोक्क थोव थेवाः ॥२॥१२५॥ स्तोक शब्दस्य एते त्रय आदेशा वा भवन्ति। स्तोकम्। थक्कं, थोव, थेवं। पक्षे थोअं।

दुहितृभगिन्योर्धूआ वहिण्यौ ॥२॥ १२६ ॥ अनयोरेतावादेशौ वा भवतः। दुहिता। धूआ। भगिनी। वहिणी, भइणी।

वृक्षक्षिप्तयो रुक्खछूढौ ॥ २ ॥ १२७ ॥ वृक्षक्षिप्तयोर्यथा संख्यं रुक्ख छूढ इत्यादेशौ वा भवतः। वृक्षः। रुक्खो, वच्छो। क्षिप्तम्। छूढं,-खित्तं। उत्क्षिप्तम्। उच्छूढं। उक्खित्तं।

वनिताया विलया ॥२॥१२८॥ वनिता शब्दस्य विलया इत्यादेशो वा भवति। वनिता। विलया, वणिया, विलयेति संस्कृतेऽपि केचित्।

गौणस्येषतः कूरः ॥१॥१२९॥ ईषत् शब्दस्य गौणस्य कूर इत्यादेशो वा भवति। चिञ्चा इव ईषद् पक्वाः। चिंचव्व कूर पिक्का। पक्षे ईसि।

स्त्रिया इत्थी ॥ २ ॥ १३० ॥ स्त्रीशब्दस्य इत्थी इत्यादेशो वा भवति। स्त्री। इत्थी, थी।

धृतेर्दिहिः ॥ २ ॥ १३१ ॥ धृतिशब्दस्य दिहिरित्यादेशो वा भवति। धृतिः। दिही, धिई।

मार्जारस्य मञ्जरवञ्जरौ ॥ २ ॥१३२॥ मार्जारशब्दस्य मञ्जर-वञ्जर इत्यादेशौ वा भवतः। मार्जारः। मञ्जरो, वञ्जरो पक्षे मज्जारो।

वैडूर्यस्य वेरुलिअं ॥२॥१३३॥ वैडूर्यशब्दस्य वेरुलिअ इत्यादेशो वा भवति। वैडूर्यम्। वेरुलिअं, वेडुज्जं।

एण्हिं एत्ताहे इदानीमः ॥२॥१३४॥ इदानीं शब्दस्य एतावादेशौ वा भवतः। इदानीम्। एण्हि. एत्ताहे, इयाणिं।

पूर्वस्य पुरिमः ॥२॥१३५॥ पूर्वस्य स्थाने पुरिम इत्यादेशो वा भवति। पूर्वम्। पुरिमं, पुव्वं।

त्रस्तस्य हित्थतट्ठौ ॥२॥१३६॥ त्रस्तशब्दस्य हित्थ तट्ठ इत्यादेशौ वा भवतः। त्रस्तम्। हित्थं, तट्ठं, तत्थं।

बृहस्पतौ बहो भयः ॥२॥१३७॥ बृहस्पतिशब्दे बह इत्यस्यावयवस्य भय इत्यादेशो वा भवति। बृहस्पतिः। भयस्सई, भयप्फइ, भयप्पई, पक्षे बहस्सई, बहप्फई, बहप्पई॥ वा बृहस्पतौ ।१।१३८ इति इकारे उकारे च बिहस्सई, बिहप्फई, बिहप्पई, बुहस्सई, बुहप्फई बुहप्पई।

मलिनोभय शुक्तिछुप्तारब्धपदातेर्मइलावहसिप्पिछिक्काढत्त पाइक्कं ॥२॥१३८॥ मलिनादीनां यथासंख्यं मइलादय आदेशा वा भवन्ति। मलिनम्। मइलं, मलिणं। उभयं। अवहं, उवह इत्यपि केचित्। उभयावकाशं। अवहोआसं। उभयबलं। आर्षे उभयकालं। शुक्तिः। सिप्पी, सुत्ती। छुप्तः। छिक्को, छुत्तो। आरब्धः। आढत्तो, आरद्धो। पदातिः। पाइक्को, पयाई।

दंष्ट्राया दाढा ॥२॥१३९॥ पृथक् योगात् वेति निवृत्तम्। दंष्ट्राशब्दस्य दाढा इत्यादेशो भवति। दंष्ट्रा। दाढा अयम् संस्कृतेऽपि।

बहिसो बाहिं बाहिरौ ॥२ १४०॥ बहिः शब्दस्य बाहिं बाहिर इत्यादेशौ भवतः। बहिस्। बाहिं, बाहिरं।

अधसो हेट्ठं ॥२॥१४१॥ अधश्शब्दस्य हेट्ठ इत्ययं आदेशो भवति। अधस्। हेट्ठं।

मातृपितुः स्वसुः सिआछौ ॥२॥१४२॥ मातृपितुभ्यां परस्य स्वसृ शब्दस्य सिआ छा इत्यादेशौ भवतः। मातृष्वसा। माउसिआ, माउच्छा। पितृष्वसा। पिउसिआ, पिउच्छा।

तिर्यचस्तिरिच्छिः ॥२॥१४३॥ तिर्यच्छब्दस्य तिरिच्छि इत्यादेशो भवति। तिर्यक् प्रेक्षते। तिरिच्छि पेच्छइ। आर्षे, तिरिआ इत्यादेशोऽपि तिरिआ।

गृहस्य घरोऽपतौ ॥ २ ॥ १४४ ॥ गृहशब्दस्य घर इत्यादेशो भवति, पतिशब्दश्चेत्परो न भवति। गृहः। घरो। गृहस्वामी। घर सामी। राजगृहम्। रायहरं। अपताविति किं? गृहपतिः। गहवई।

शीलाद्यर्थस्येरः ॥२॥१४५॥ शीलधर्म साध्वर्थे विहितस्य प्रत्ययस्य इर इत्यादेशो भवति। हसनशीलः। हसिरो। रोदनशीलः। रोविरो। लज्जाशीलः। लज्जिरो। जल्पनशीलः। जंपिरो। वेपनशीलः। वेविरो। भ्रमणशीलः। भमिरो। उच्छ्वसन शीलः। ऊससिरो। केचित् तृन एव इरमाहुस्तेषां नमिरगमिरादयो न सिध्यन्ति। तृनोऽत्र रादिना वाधितत्वात्।

क्त्वस्तुमत्तूणतुआणाः ॥२॥१४६॥ क्त्वा प्रत्ययस्य तुम्, अत् तूण, तुआण इत्येते आदेशा भवन्ति। (तुम्) दृष्ट्वा। दट्ठुं। मुक्त्वा। मोत्तुं। (अत्) भ्रमित्वा। भमिअ। रमित्वा। रमिअ। (तूण) गृहीत्वा। घेत्तूण। कृत्वा। काऊण (तुआण) भित्त्वा। भेत्तुआण। श्रुत्वा। सोउआण। वंदित्तु इत्यनुस्वार लोपात्। वन्दित्ता, इति तु सिद्धसंस्कृतस्यैव वलोपेन। कट्टु इति तु आर्षे।

इदमर्थस्य केरः ॥२॥१४७॥ इदमर्थस्य प्रत्ययस्य केर इत्यादेशो भवति। युष्मदीयः। तुम्हकेरो। अस्मदीयः। अम्हकेरो। न च भवति, मदीय-पक्षे। मईअ पक्खे। पाणिनीया। पाणिणीआ।

पर राजभ्यां क्क डिक्कौ च ॥२॥१४८॥ पर राजन् इत्येताभ्यां परस्य इदमर्थस्य प्रत्ययस्य यथासंख्यं संयुक्तौ क्को ङित् इक्कश्चादेशौ भवतः, चकारात् केरश्च। परकीयम्। पारक्कं, परक्कं, पारकेर। राजकीयम्। राइक्कं। रायकेरं।

युष्मदस्मदोऽञ एच्चयः ॥२॥१४९॥ आभ्यां परस्येदमर्थस्य अञः एच्चय इत्यादेशो भवति। युष्माकमिद—यौष्माकम्। तुम्हेच्चयं। एवं, अस्मदीयम्। अम्हेच्चयं।

वतेर्व्वः ॥२॥१५०॥ वतेः प्रत्ययस्य द्विरुक्तो वो भवति। मथुरावत् पाटलिपुत्रे प्रासादाः। महुरव्व पाडलिउत्ते पासाया।

सर्वाङ्गादीनस्येकः ॥ २ ॥ १५१ ॥ सर्वाङ्गात् सर्वादेः। पथ्यङ्ग (हे० ७–१) इत्यादिना वहितस्येनस्य स्थाने इक इत्यादेशो भवति। सर्वाङ्गीणः। सव्वङ्गिओ।

पथो णस्येकट् ॥२॥१५२॥ नित्यं णः पन्थश्च (हे० ६—४) इति यः पथो णो विहितस्य इकट् भवति। पान्थः। पहिओ।

ईयस्यात्मनो णयः ॥२॥१५३॥ आत्मनः परस्य ईयस्य णय इत्यादेशो भवति। आत्मीयम्। अप्पणयं।

त्वस्य डिमात्तणौ वा ॥ २ ॥ १५४ ॥ त्वप्रत्ययस्य डिमा त्तण इत्यादेशौ वा भवतः। पीनत्वम्। पीणिमा, पीणत्तणं, पीणत्तं। पुष्पत्वम्। पुप्फिमा, पुप्फत्तणं, पुप्फत्तं। इम्नः पृथ्वादिषु नियतत्वात् तदन्य प्रत्ययान्तेषु अस्य विधिः। पीनता इत्यस्य प्राकृते पीणया इति भवति। पीणदा इति तु भाषान्तरे। तेनेह तलो दा न क्रियते।

अनङ्कोठात् तैलस्य डेल्लः ॥२॥१५५॥ अङ्कोठवर्जितात् शब्दात्परस्य तैलप्रत्ययस्य डेल्ल इत्यादेशो भवति। सुरभिजलेन कटु तैलम्। सुरहिजलेण कडुएल्लं। अनङ्कोठादिति किम्? अङ्कोठ तैलम्। अङ्कोल्ल तेल्लं।

यत्तदेतदोऽतोरित्तिअ एतल्लुक् च॥१॥१५६॥ एभ्यः परस्य डावादेरतोः परिमाणार्थस्य इत्तिअ इत्यादेशो भवति, एतदो लुक् च। यावत्। जित्तिअं। तावत्। तित्तिअ। एतावत्। इत्तिअं।

इदं किमश्च डेत्तिअ डेत्तिल डेद्दहाः॥ २ ॥१५७॥ इदं किंभ्याम् यत्तदेतद्भ्यश्च परस्यातोः डावतोर्वा डित् एत्तिअ एत्तिल एद्दह इत्यादेशा भवन्ति। एतल्लुक् च। इयत्। एत्तिअं, एत्तिलं एद्दहं। कियत्। केत्तिअं, केत्तिलं, केद्दहं। यावत्। जेत्तिअं, जेत्तिल, जेद्दहं। तावत्। तेत्तिअं, तेत्तिलं, तेद्दहं। एतावत्। एत्तिअ, एत्तिलं, एद्दहं।

कृत्वसो हुत्तं ॥२॥१५८॥ वारे कृत्वस् (हे० ७-२) इति यः कृत्वस् प्रत्ययो विहितस्तस्य हुत्तमित्यादेशो भवति। शतकृत्वः। सयहुत्तं, सहस्रकृत्वः। सहस्सहुत्तं। कथं प्रियाभिमुखं पियहुत्तं। अभिमुखार्थेन हुत्तशब्देन भविष्यति।

आल्विल्लोल्लालवन्तमन्तेत्तेरमणा मतोः॥ २ ॥ १५९ ॥ आलु इत्यादयो नव आदेशा मतोः स्थाने यथाप्रयोगं भवन्ति। (आलु) स्नेहवान्। नेहालू। दयावान्, दयालू, ईर्ष्यावान्। ईसालू, लज्जावती, लज्जालुआ, (इल्ल) शोभावान्। सोहिल्लो। छायावान्। छाइल्लो-दर्पवान्। दप्पुल्लो। (आल) शब्दवान्। सद्दालो। जटावान्। जडालो। फटावान्। फडालो। रसवान्। रसालो। ज्योत्स्नावान्। जोण्हालो। (वन्त) धनवान्। धणवन्तो। भक्तिमान्। भत्तिवन्तो। (मन्त) हनुमान् हणुमन्तो। श्रीमान्। सिरिमन्तो। पुण्यवान्। पुण्णमन्तो। (इत्त) काव्यवान्। कव्वइत्तो। मानवान्। माणइत्तो। (इर) गर्ववान्। गव्विरो।

रेखावान्। रेहिरो। (मण) धनवान्। धणमणो। केचिन्मादेशमपीच्छन्ति। हनुमान्। हणुमा। मतोरिति किम् ? धनी। धणी। आर्थिकः। अत्थिओ।

त्तो दो तसो वा ॥२॥१६०॥ तसः प्रत्ययस्य स्थाने त्तो दो इत्यादेशौ वा भवतः। सर्वतः। सव्वत्तो, सव्वदो। एकतः। एकत्तो, एकदो। अन्यतः। अन्नत्तो, अन्नदो। कुतः। कत्तो, कदो। यतः। जत्तो, जदो। ततः। तत्तो, तदो। इतः। इत्तो, इदो। पक्षे।

अतो डो विसर्गस्य ॥१॥३७॥ संस्कृतलक्षणोत्पन्नस्य अतः परस्य विसर्गस्य स्थाने डो इत्यादेशो भवति। सर्वतः। सव्वओ। पुरतः। पुरओ। अग्रतः। अग्गओ। मार्गतः। मग्गओ। एवं सिद्धावस्थापेक्षया। भवतः। भवओ। भवन्तः। भवन्तो। सन्तः। सन्तो। कुतः। कुदो इत्यादिरपि।

त्रपो हिहत्थाः ॥२॥१६१॥ त्रप् प्रत्ययस्य एते भवन्ति। यत्र। जहि, जह, जत्थ। तत्र। तहि, तह, तत्थ। कुत्र। कहि, कह, कत्थ अन्यत्र। अन्नहि, अन्नह, अन्नत्थ।

वैकाद्ः सि सिअं इआ ॥२॥१६२॥ एकशब्दात्परस्य दा प्रत्ययस्य सि सिअं इआ इत्यादेशा वा भवन्ति। एकदा। एक्कसि, एक्कसिअं, एक्कइआ। पक्षे एगया।

डिल्ल डुल्लौ भवे ॥२॥१६३॥ भवार्थे नाम्नः परौ इल्ल उल्ल इत्येतौ डितौ प्रत्ययौ भवतः। ग्रामेयका। गामिल्लिआ, पुराभवं। पुरिल्लं अधो-भवं, अधस्तनम्। हेट्ठिल्ल। उपरि-भवं उपरितनम्। उवरिल्लं। आत्मनि-भवं आत्मीयम्। अप्पुल्लं। आल्वालौ अपीच्छन्ति अन्ये।

स्वार्थे कश्च वा ॥२॥१६४॥ स्वार्थे कश्चकारादिल्लोल्लौ डितौ प्रत्ययौ वा भवतः। (क) कुङ्कुम-पिंजरम्। कुंकुमपिञ्जरयं।

चंद्रकः । चन्दओ । गगने (गगनके)। गयणयम्मि । धरणीधर
पक्षोद्भ्रान्तम्। धरणीहर पक्खुब्भन्तयं। दुःखिते रामहृदये। दुहि-
अए रामहिअयए। इह। इहयं। आश्लेष्टुम् । आलेद्धुअं । द्विरपि
भवति। बहुकम्। बहुअयं। ककारोच्चारणं पैशाचिकभाषार्थम् । यथा
वदने वदनं समर्पयित्वा। वतनके वतनकं समप्पेत्तून। (इल्ल) निर्जिता-
शोक-पल्लवेन । निज्जिआसोअपल्लविल्लेणं । पुरिल्लो, पुरा, पुरो
वा (उल्ल) ममपितृकः । महपिउल्लओ। मुखम्। मुहुल्लं।। हस्ताः।
हस्तकाः। हत्थुल्ला। पक्षे चंदो, गयणं, इह, आलेद्धुं, बहु, बहुअं,
मुहं, हत्था। कुत्सादिविशिष्टे तु संस्कृतवदेव कप् सिद्धः। यावादिल-
क्षणः कः प्रतिनियतविषय एवेति वचनम्।

ल्लो नवैकाद् वा ॥२॥१६५॥ आभ्यां स्वार्थे संयुक्तो ल्लो वा भवति। नवः। नवल्लो, नवो। एकः एकल्लो, एओ। सेवादित्वात्कस्य द्वित्वे, एक्कल्लो।

उपरेः संव्याने ॥ २ ॥ १६६ ॥ संव्यानेऽर्थे वर्तमानादुपरि शब्दात् स्वार्थे ल्लो भवति। उपरितनः। उवरिल्लो। संख्या इति किम्। उवरि। अवरिं।

भ्रुवो मया डमया ॥२॥१६७॥ भ्रूशब्दात् स्वार्थे मया डमया इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः। भ्रूः। भुमया, भमया।

शनैसो डियम् ॥२॥१६८॥ शनैश्शब्दात्स्वार्थे डिमया भवति। शनैः अवगूढः। सणिअमवगूढो।

मनाको नवा डयं च ॥ २ ॥१६९॥ मनाक् शब्दात्स्वार्थे डयं डियम् च प्रत्ययो वा भवति। मनाक्। मणयं, मणियं, पक्षे मणा।

मिश्राड्डालिअः ॥ २ ॥ १७० ॥ मिश्रशब्दात् स्वार्थे डालिअः प्रत्ययो वा भवति। मिश्रम्। मीसालिअं। पक्षे मीसं।

रो दीर्घात् ॥ २ ॥१७१॥ दीर्घशब्दात्परे स्वार्थे रो वा भवति। दीर्घम्। दीहरं, दीहं।

त्वादेः सः ॥२॥१७२॥ भावे त्वतल (हे० ७।१) इत्यादिना विहितात्त्वादेः परः स्वार्थे स एव त्वादिर्वा भवति। मृदुकत्वेन। मउअत्तयाइ। अतिशायिकात्त्वातिशायिकः संस्कृतवदेव सिद्धः। ज्येष्ठतरः। जिट्ठयरो। कनिष्ठतरः। कणिट्ठयरो।

विद्युत्पत्रपीतान्धाल्लः ॥ २ ॥ १७३ ॥ एभ्यः स्वार्थे लो वा भवति। विद्युत्। विज्जुला, विज्जू। पत्रम्। पत्तलं, पत्तं। पीतम्। पीवलं, पीते वो ले वा इति तस्य वः। पीअलं, पीअं। अन्धः। अन्धलो, अन्धो। कथं जमलं? यमलमिति संस्कृतशब्दाद् भविष्यति।

गोणादयः ॥२॥१४७॥ गोणादयः शब्दा अनुक्तप्रकृतिप्रत्ययलोपागमवर्णविकारा बहुलं निपात्यन्ते। गौः। गोणो, गावी। गावः। गावीओ। बलीवर्दः। बइल्लो। आपः। आऊ। पञ्चपञ्चाशत्। पंचावण्णा, पणपन्न। त्रिपञ्चाशत्। तेवण्णा। त्रिचत्वारिंशत्। तेआलीसा। व्युत्सर्गः। विउसग्गो। व्युत्सर्जनं। वोसिरणं। बहिर्मैथुनं वा। बहिद्धा। कार्यम्। णामुक्कसिअं। क्वचित्। कत्थइ। उद्वहति। मुव्वहइ। अपस्मारः। वम्हलो। उत्पलं। कन्दुट्टं। धिक्धिक्। छिछि, द्धिद्धि। धिगस्तु। धिरत्थु। प्रतिस्पर्धी। पडिसिद्धी, पाडिसिद्धी। स्थासकः। चच्चिक्कं। निलयः। निहेलणं। मघवान्। मघोणो। साक्षी। सक्खिणो। जन्म। जम्मणं। महान्। महन्तो। भवान्। भवन्तो। आशीः। आसीसा। क्वचित् हस्य ड्भौ। बृहत्तर। वड्डयरं। हिमोरः। भिमोरो। ल्लस्य डुः। क्षुल्लकः। खुड्डओ। घोषाणाम् अग्रे तनः। गायनः। घायणो। वडः। वढो। ककुदम्। ककुधं। अकाण्डम्। अत्थक्कं। लज्जावती। लज्जालुइणी। कुतूहलं। कुड्डं। चुतः। मायन्दो, माकन्दशब्दः संस्कृतेऽपीत्यन्ये। विष्णुः। भट्टिओ। श्मशानम्। करसी। असुराः। अगया। खेलं। खेड्डं। पौष्पं रजः। तिंगिच्छि। दिनम्। अल्लं।

समर्थः । पक्कलो । पंडकः । नेलच्छो । कर्पासः । पल्लही । बली । उजल्लो । ताम्बूलम् । झसुरं । पुंश्चली । छिंछई । शाखा । साहुली इत्यादि ॥ वाधिकारात्पक्षे यथादर्शनं गउओ इत्याद्यपि भवति, गोला गोआवरी, इति तु गोलागोदावरीभ्यां सिद्धम् ।

भाषाशब्दाश्च आहित्थ लल्लक्क विड्डिर पच्चड्डिआ उप्पेहड मडप्फर पडिच्छिर अट्टमट्ट विहडप्फड उज्जल्ल हल्लप्फल इत्यादयो महाराष्ट्रविदर्भादिदेशप्रसिद्धा लोकतोऽवगन्तव्याः ॥ क्रियाशब्दाश्च अवयासइ फुम्फुल्लइ उप्फालेइ इत्यादयः ॥

अत एव च कृष्ट घृष्ट वाक्य विद्वस् वाचस्पति विष्टरश्रवस् प्रचेतस् प्रोक्त प्रोतादीनां ॥ क्विबादिप्रत्ययान्तानां च अग्निचित्सोमसुत्सुग्लसुम्लेत्यादीनां पूर्वैः कविभिरप्रयुक्तानां प्रतीतिवैषम्यपरः प्रयोगो न कर्त्तव्यः ॥ शब्दान्तरैरेव तु तदर्थोऽभिधेयः, यथा, कृष्टः कुशलः, वाचस्पतिर्गुरुः विष्टरश्रवाः हरिरित्यादि ॥ घृष्टशब्दस्य तु सोपसर्गस्य प्रयोग इष्यते एव, मन्दरतट परिघृष्टम् । 'मन्दरयडपरिघट्टं' । तद्दिअस निहट्ठाणंगो इत्यादि ॥ आर्षे तु यथा दर्शनं सर्वम् अविरुद्धम् ॥ यथा घृष्टाः । घट्ठा । मृष्टाः । मट्ठा । विद्वांसः । विउसा । सुअलक्खणाणुसारेण वक्कन्तरेसु अपुणो इत्यादि ॥ इति व्यञ्जनसन्धिः ॥

अथाव्यय प्रकरणम्

अव्ययम् ॥२॥१७५॥ अधिकारोऽयम् । इतः परं ये वक्ष्यन्ते, आपादपरिसमाप्तेस्तेऽव्ययसंज्ञका ज्ञातव्याः ।

तं वाक्योपन्यासे ॥२॥१७६॥ तमिति वाक्योपन्यासे प्रयोक्तव्यम् । तं त्रिदशवन्दिमोक्षम् । तं तिअसवंदिमोक्खं ।

आम अभ्युपगमे ॥२॥१७७॥ आमेत्यभ्युपगमे प्रयोक्तव्यम् । आम बहला वनालिः । आम बहला वणोली ।

णवि वैपरीत्ये ॥२॥१७८॥ णवीति वैपरीत्ये प्रयोक्तव्यं । णवि हा वने। णवि हा वने। हा इति खेदे ।

पुणरुत्तं कृत करणे ॥ २ ॥ १७९॥ पुणरुत्तमिति कृतकरणे प्रयोक्तव्यम्। अयि स्वपति पांसुले निःसहैरङ्गैः पुणरुत्तम्। अइ सुप्पइ पंसुलि णीसहेहि अंगेहि पुणरुत्तं। वार वार स्वपितीत्यर्थ।

हन्दि विषाद विकल्प पश्चात्ताप निश्चय सत्ये ॥२॥१८०॥ हन्दि इति विषादादिपु प्रयोक्तव्यम्।

हन्दि चलणे नओ सो ण माणिओ, हन्दि हुज्ज एत्ताहे ।
हन्दि न होही भणिरी सा सिज्जइ, हन्दि तुह कज्जे ॥

हन्दि चरणे नतः स न मानित इति विपाद हन्दि भविष्यति इदानीम्। नवेति विकल्प हन्दि न भविष्यति भणन शीला, इति पश्चाताप.। सास्विद्यति हन्दि (निश्चय अर्थे सत्यार्थे वा तव कार्ये।

हन्द च गृहाणार्थे ॥ २ ॥ १८१ ॥ हन्द हन्दि च गृहाणार्थे प्रयोक्तव्यम्। हन्द (गृहाण) प्रलोकय इदम्। हन्द पलोएसु इमं, हन्दि, गृहाणेत्यर्थः ।

मिव पिव विव व्व व विअ इवार्थे वा ॥ २ ॥ १८२ ॥ एते इवार्थे अव्ययसंज्ञका प्राकृते वा प्रयुज्यन्ते। कुमुदम् इव। कुमुअं मिव। चदनम् इव। चन्दणं पिव। हस इव। हसो विव। सागर इव क्षीरोद'। साअरो व्व खीरोओ। शेषस्य निर्मोकः इव। सेसस्स व निम्मोओ। कमलम् इव। कमलं विअ। पक्षे। नीलोत्पल-माला इव। नीलुप्पल-माला इव।

जेण तेण लक्षणे ॥२॥१८३॥ जेण तेण इत्येतौ लक्षणे प्रयोक्तव्यौ। भ्रमर रुत येन कमल वनम्। भमररुअं जेण कमलवणं। भमर रुअं तेण कमल वणं।

णइ चेअ चिअ च्च अवधारणे ॥२॥ १८४ ॥ एतेऽवधारणे प्रयोक्तव्याः । गत्या एव । गईए णइ । यत् एव मुकुलनं लोचनानाम् । जं चेअ मउलणं लोअणाणं । अनुबद्धं तद् एव कामिनीनाम् । अणुबद्धं तं चिअ कामिणीणं । सेवादित्वात् द्वित्वमपि, ते एव धन्याः । ते च्चिअ धन्ना । ते एव सुपुरुषाः । ते च्चेअ सुपुरिसा । स एव च रूपेण । स च्च च रूवेण । स एव शीलेन । स च्च सीलेण ।

बले निर्धारण निश्चययोः ॥२॥१८५॥ बले इति निर्धारणे निश्चये च प्रयोक्तव्यम् । निर्धारणे । पुरुषो धनञ्जयः क्षत्रियाणाम् । बले पुरिसो धणंजओ खत्तियाणं । निश्चये । सिंह एवायम् । बले सीहो ।

किरेर हिर किलार्थे वा ॥२॥ १८६ ॥ किर इर हिर इत्येते किलार्थे वा प्रयोक्तव्याः । कल्यं किल खरहृदयः । कल्लं किर खरहिअओ । तस्य किल । तस्स इर । प्रियवयस्य किल । पिअवयंसो हिर । पक्षे । एवं किल तेन स्वप्नके भणिता । एवं किल तेण सिविणए भणिआ ।

णवर केवले ॥ २ ॥ १८७ ॥ केवलार्थे णवर इति प्रयोक्तव्यम् केवलं प्रियाणि एव भवन्ति । णवर पिआइ चिअ णिव्वडन्ति ।

आनन्तर्ये णवरि ॥ २ ॥ १८८ ॥ आनन्तर्ये णवरि इति प्रयोक्तव्यम् । णवरि (अनन्तरं) च तस्य रघुपतिना । णवरि अ से रहुवइणा । केचित्तु केवलाऽनन्तर्यार्थयोः णवर-णवरि इत्येकमेव सूत्रं कुर्वते तमते उभावप्युभयार्थौ ।

अलाहि निवारणे ॥२॥१८९॥ अलाहीति निवारणे प्रयोक्तव्यम् । मा, किम् वाचितेन लेखेन । अलाहि किं वाइएण लेहेण ।

अणणाहं नञर्थे ॥२॥१९०॥ अणणाइं इत्येतौ नञोऽर्थे प्रयो-

क्तव्यौ। अचिन्तितम् अजानन्ती। अण चिन्तिअममुणन्ती। न करोमि रोत्रम्। णाइं करेमि रोस।

माइं मार्थे ॥२॥१९१॥ माइं इति मार्थे प्रयोक्तव्यम्। मा कार्षीद् रोषम्। माइं काहीअ रोसं।

हद्धी निर्वेदे ॥२॥१९२॥ हद्धी इत्यव्ययमत एव निर्देशात् हा धिक् शब्दादेशो वा निर्वेदे प्रयोक्तव्यम्। हा धिक धिक्, हद्धी हद्धी हा धाह धाह।

वेव्वे भय वारण विषादे ॥२॥१९३॥ भय वारण विषादेषु वेव्वे इति प्रयोक्तव्यम्।

वेव्वे त्ति भये वेव्वे त्ति वारणे जूरणे अ वेव्वे त्ति।
उल्लाविरीइ वि तुहं वेव्वे त्ति मयच्छि किं णेअं ॥ १ ॥
किं उल्लावेन्तीए उअ जूरन्तीए किं तु भीआए।
उव्वाडिरीए वेव्वेत्ति तीए भणिअं न विम्हरिमो ॥ २ ॥

वेव्वे इति भये वेव्वे इति वारणे (खेदे) विषादे च वेव्वे इति उल्लपनशीलया अपि तव वेव्वे इति मृगाक्षि ! किम् ज्ञेयं।

कि उल्लापयन्त्या उत खिद्यन्त्या किं तु भीतया।
उद्वातशीलया वेव्वे इति तया भणित न विस्मरामः।

वेव्व आमन्त्रणे ॥ २ ॥ १९४ ॥ वेव्व वेव्वे च आमंत्रणे प्रयोक्तव्ये। वेव्व गोले। वेव्व गोले। हे मुरन्दले वहसि पानीयम्। वेव्वे मुरन्दले वहसि पाणिअं।

मामि हला हले सख्या वा ॥ २ ॥ १९५ ॥ एते सख्या आमन्त्रणे वा प्रयोक्तव्याः। हे (सखि) सदृशाक्षराणाम् अपि। मामि सरिसक्खराण वि। प्रणमत मानाय हे (सखि)। पणवह माणस्स हला

इ (सखि) हताशस्य । हले हयासस्स । पक्षे । हे सखि ! ईदृशी एवं गति । सहि ! एरिसि च्चिअ गई ।

दे संमुखीकरणे च ॥ २ ॥ १९६ ॥ संमुखीकरणे सख्या आमन्त्रणे च दे इति प्रयोक्तव्यम् । दे प्रसीद तावत् सुन्दरि । दे पसिअ ताव सुन्दरि । दे हे (सखि) आप्रसीद निवर्त्तस्व । दे आपसिअ निअत्तसु ।

हुं दान पृच्छा निवारणे ॥ २ ॥ १९७ ॥ हुं इति दानादिषु प्रयोक्तव्यम् । 'दाने' हुं गृहाण आत्मन एव । हुं गेण्ह अप्पणो च्चिअ । 'पृच्छायां' हुं कथय सद्भावम् । हुं साहसु सब्भावं । 'निवारणे' हुं निर्लज्ज समपसर । हुं निल्लज्ज समोसर ।

हु खु निश्चय-वितर्क-संभावन-विस्मये ॥ २ ॥ १९८ ॥ हु खु इत्येतौ निश्चयादिषु प्रयोक्तव्यौ । 'निश्चये' त्वमपि हु (एवं) अच्छिन्न-श्री । तंपि हु अच्छिन्न सिरी । त्वम् खु (=खलु) श्रियः रहस्यम् । तं खु सिरीए रहस्सं । वितर्कः ऊहः संशयो वा । 'ऊहे' न हु केवलं संगृहीता । न हु णवर संगहिआ । एताम् खु हसति । एअं खु हसइ । 'संशये' जल-धर खु धूमपटलः खु । जलहरो खु धूमवडलो खु । सम्भावने । तरितुं न हु केवलम् इमाम् । तरीउं ण हु णवर इमं । एतम् खु हसति । एअं खु हसइ । विस्मये । क खलु एषः सहस्रशिराः । को खु एसो सहस्ससिरो । बहुलाधिकारादनुस्वारात् परो हुर्न प्रयोक्तव्यः ।

ऊ गर्हाक्षेप विस्मय सूचने ॥ २ ॥ १९९ ॥ ऊ इति गर्हादिषु प्रयोक्तव्यम । गर्हा । अरे (धिक्) निर्लज्ज । ऊ णिल्लज्ज । प्रक्रान्तस्य वाक्यस्य विपर्यासाशङ्कया विनिवर्तन लक्षण आक्षेप । किम् मया भणित । ऊ कह भणिअ । विस्मये । ऊ कथं ज्ञाता (=मुनिता) अहम् । ऊ कह मुणिआ अहयं । सूचने । ऊ, केन न विज्ञातम् । ऊ केण न विण्णायं ।

थूं कुत्सायाम् ॥ २ ॥ २०० ॥ थू इति कुत्सायां प्रयोक्तव्यः। थू (निन्दनीयः) निर्लज्ज लोक । थू निल्लज्जो लोओ ।

रे अरे संभाषण रति कलहे ॥ २ ॥ २०१ ॥ अनयोरर्थयोर्यथासंख्यम् एतौ प्रयोक्तव्यो । रे संभाषणे । रे हृदय। मृतक सरिता। रे हिअय मडह-सरिआ। अरे रतिकलहे । अरे ! मया समं मा कुरु उपहासं । अरे ! मए समं मा करेसु उवहासं ।

हरे क्षेपे च ॥ २ ॥ २०२ ॥ क्षेपे संभाषण रति कलहयोर्हरे इति प्रयोक्तव्यम् । 'क्षेपे' हरे निर्लज्ज । हरे णिल्लज्ज । सम्भाषणे । हरे पुरुषाः । हरे पुरिसा । रति कलहे । हरे बहु वल्लभ । हरे बहु-वल्लह ।

ओ सूचना पश्चात्तापे ॥ २ ॥ २०३ ॥ ओ इति सूचना पश्चात्तापयोः प्रयोक्तव्यम् । सूचनायाम् । ओ अविनय-तृप्ति परे । ओ अविणय तत्तिल्ले । पश्चातापे । ओ । (खेद-अर्थे) न मया छाया एतावत्याम् । ओ न मए छाया इत्तिआए। विकल्पे तु उतादेशेनैव ओकारेणैव सिद्धम् । उत विरचयामि नभस्तले । ओ विरएमि नहयले ।

अव्वो सूचना-दुःख-संभाषणापराध-विस्मयानन्दादरभय-खेद विषाद पश्चात्तापे ॥ २ ॥ २०४ ॥ अव्वो इति सूचनादिषु प्रयोक्तव्यम् । सूचनायाम्' अव्वो दुष्कर कारक । अव्वो दुक्करयारय । दुःखे' अव्वो दलन्ति हृदयम् । अव्वो दलन्ति हियय । संभाषणे। अव्वो किमिदं किमिदम् । अव्वो किमिणं किमिणं । अपराधविस्मययो ।

अव्वो हरन्ति हिययं तह वि न वेसा हवन्ति जुवईणं ।
अव्वो किं पि रहस्सं मुणन्ति धुत्ता जणब्भहिआ ॥१॥

आनन्दादर भवेत्तु ।

अव्वो सुपहायमिणं, अव्वो अज्जम्ह सप्फलं जीअं ।
अव्वो अइअम्मि तुमे नवरं जइ सा न जूरिहिइ ॥२॥

खेदे । अव्वो न यासि गेहम् । अव्वो न जामि छेत्तं
अव्वो नासेन्ति दिहिं पुलयं वड्ढेंन्ति देन्ति रणरणयं । विषादे,
एण्हिं तस्सेअ गुणा ते च्चिअ अव्वो कह णु एअं ॥३॥

अव्वो हरन्ति हृदयं तथापि न द्वेष्याः भवन्ति युवतीनाम् ।
अव्वो किमपि रहस्यं जानंति धूर्ताः जनाभ्यधिकाः ॥१॥
अव्वो सुप्रभातम् इदम् अव्वो अद्य अस्माकम् सफलम् जीवितम् ।
अव्वो अतीते त्वयि केवलम् यदि सा न खेदूष्यति ॥२॥
अव्वो नाशयंति धृतिम् पुलकम् वर्धयन्ति ददति रणरणकम् ।
इदानीम् तस्य इति गुणा ते एव अव्वो कथम् नु एतत् ॥३॥
पश्चात्तापे । अव्वो तथा तेन कृता अहम् यथा कस्य कथयामि ।
अव्वो तह तेण कया अहयं जह कस्स साहेमि ।

अइ संभावने ॥२॥२०५॥ संभावने अइ इति प्रयोक्तव्यम् । अइ, देवर किम् न पश्यसि । अइ, दिअर किं न पेच्छसि ।

वणे निश्चय विकल्पानुकम्प्ये च ॥२॥२०६॥ निश्चयादौ संभावने च वणे इति प्रयोक्तव्यम् । निश्चय ददामि । वणे देमि । (विकल्पे) भवति वा न भवति । होइ वणे न होइ । दासोऽनुकम्प्यो न मुच्यते । दासो वणे न मुच्चइ । सम्भावने । नास्ति वणे यद् न ददाति विधिपरिणामः । नत्थि वणे जं न देइ विहि-परिणामो, संभाव्यते एतदित्यर्थः ।

मणे विमर्शे ॥२॥२०७॥ मणे इति विमर्शे प्रयोक्तव्यम् । किं स्वित्सूर्यः । मणे सूरो । अन्ये मन्ये इत्यर्थमपीच्छन्ति ।

अम्मो आश्चर्ये ॥२॥२०८॥ अम्मो इत्याश्चर्ये प्रयोक्तव्यम् । आश्चर्यमेतत् कथम् पार्यते । अम्मो कह पारिज्जइ ।

स्वयमोऽर्थे अप्पणो नवा ॥२॥२०९॥ स्वयमित्यस्यार्थे अप्पणो वा प्रयोक्तव्यम । विशदं विकसन्ति स्वयं कमल- सरांसि । विसयं विअसंति अप्पणो कमल सरा । पक्षे, स्वयं चैव जानासि करणीयम् । सयं चेव मुणसि करणिज्जं ।

प्रत्येकमः पाडिक्कंम् पाडिएक्कम् ॥२॥२१०॥ प्रत्येकम् इत्यस्यार्थे पाडिक्कं पाडिएक्कम इति च प्रयोक्तव्यम् वा । प्रत्येकम् । पाडिक्कं, पाडिएक्कं पक्षे । पत्तेअं ।

उअ पश्ये ॥२॥२११॥ उअ इति, पश्य इत्यस्य अर्थे वा प्रयोक्तव्यम् ।

उअ निच्चलनिप्फंदा भिसिणीपत्तंमि रेहइ बलाया
निम्मल मरगयभायणपरिट्ठिआ सङ्ख-सुत्तिव्व ॥

पश्य निश्चय-निष्पन्दा बिसिनी-पत्रे राज ते बलाका । निर्मल-मरकत-भाजन-प्रतिष्ठिता शङ्ख शुक्तिरिव पक्षे । पुल आदयः ।

इहरा इतरथा ॥२॥२१२॥ इहरा इति इतरथार्थे प्रयोक्तव्यं वा । इतरथा निःसासान्यैः । इहरा नीसामन्नेहिं । पक्षे इअरहा ।

एक्कसरिअं झगिति संप्रति ॥२॥२१३॥ एक्कसरिअं झगित्यर्थे, सम्प्रत्यर्थे च प्रयोक्तव्यम् । एक्कसरिअ झगिति, सांप्रत वा ।

मोरउल्ला मुधा ॥२॥२१४॥ मोरउल्ला इति मुधार्थे प्रयोक्तव्यम् । मोरउल्ला मुधा इत्यर्थः ।

दराधाल्पे ॥२॥२१५॥ दर इत्यव्ययम् अर्धार्थे, ईषदर्थे च प्रयोक्तव्यम् । दर विअसिअं । अर्धेनेषद्वा विकसित मित्यर्थः ।

किणो प्रश्ने ॥२॥२१६॥ किणो इति प्रश्ने प्रयोक्तव्यम् । किम् धूनोषि । किणो धुवसि ।

इ-जे-राः पादपूरणे ॥२॥२१७॥ इ-जे-र इत्येते पाद पूरणे प्रयोक्तव्या । न पुनः अक्खीणि । न उणा इ अच्छीइ । अनुकूलं वक्तु । अणुकूल वोत्तुं जे । गृह्णाति कलम-गोपी । गेण्हइ र कलम गोवी । अहो हंहो हे हो हा नाम अहह ह्रीमि अयि अहाह अरि रि हो इत्यादयस्तु संस्कृत समत्वेन सिद्धाः ।

प्यादयः ॥२॥२१८॥ प्यादयो नियतार्थ वृत्तयः प्राकृते प्रयोक्तव्या ॥ पि वि अप्यर्थे ।

इति अव्ययप्रकरणम् ।

अथ लिङ्गानुशासनम् ॥

प्रावृट् शरत्तरणयः पुंसि ॥१॥३१॥ प्रावृट् शरत्तरणि इत्यते शब्दाः पुंसि पुलिङ्गे प्रयोक्तव्या । प्रावृण् । पाउसो । शरद् । सरओ । एषा तरणि । एस तरणी । तरणिशब्दस्य पुंस्त्रीलिङ्गत्वेन नियमार्थस उपादानम् ।

स्नमदाम-शिरो-नभः ॥ १ ॥३२॥ दामन शिरस् नभस् वर्जितं मकारान्तं नकारान्तं च शब्दरूप पुंसि प्रयोक्तव्यम् । सान्तं । यशस् । जसो । पयस् । पओ । तमस् । तमो । उरस् । उरो । नान्तम् । जन्मन । जम्मो । नर्मन । नम्मो । मर्मन् । मम्मो । अदाम शिरोनभ इति किम् ? दामन् । दामं । शिरस् । सिरं । नभस् । नहं । यच्च श्रेयस् । सेयं । वयस् । वयं । सुमनस् । सुमणं । शर्मन । सम्मं । चर्मन । चम्मं । इति दृश्यते तद् बहुलाधिकारात् ।

वाऽक्ष्यर्थ वचनाद्याः ॥१॥३३॥ अक्षिपर्याया लोचनादयश्च शब्दाः पुंसि वा प्रयोक्तव्याः। अक्ष्यर्थाः। अद्यापि सा शपति ते अक्षिः। अज्ज वि सा सवइ ते अच्छी। नर्तितानि तेन अस्माकम् अक्षीणि। नच्चा वयाइं तेणं म्ह अच्छीइं। अञ्जल्यादि पाठाद् अक्षिशब्दः स्त्रीलिङ्गे ऽपि। एषा अक्षि। एसा अच्छी। चक्खू, चक्खूइं, नयणा, नयणाइं। लोअणा, लोअणाइं (वचनादिः) वयणा, वयणाइं। विज्जुणा, विज्जूए। कुलो, कुलं। छन्दो, छन्दं। माहप्पो, माहप्पं। दुक्खा, दुक्खाइं, भायणा, भायणाइं इत्यादि। इतिवचनादयः। नेत्ता, नेत्ताइं। कमला, कमलाइं इत्यादिस्तु संस्कृतवदेव सिद्धम्।

गुणाद्याः क्लीबे वा ॥१॥३४॥ गुणादयः क्लीबे वा प्रयोक्तव्याः। गुणाइं, गुणा। विभवैः गुणाः मृग्यन्ते। विहवेहिं गुणाइं मग्गन्ति। देवाणि, देवा। बिन्दूइं, बिन्दुणो। खग्गं, खग्गो, मण्डलग्गं, मण्डलग्गो, कररुहं, कररुहो। रुक्खाइं, रुक्खा। इत्यादि। इति गुणादयः।

वेमाञ्जल्याद्याः स्त्रियाम् ॥१॥३५॥ इमन्ता अञ्जल्यादयश्च शब्दाः स्त्रियां वा प्रयोक्तव्याः। एषा गरिमा। एसा गरिमा, एस गरिमा। एषा निर्लज्जत्वम्। एसा निल्लज्जिमा, एस निल्लज्जिमा। एष धूर्तत्वम्। एसा धुत्तिमा, एस धुत्तिमा। अञ्जल्यादिः। एसा अञ्जली, एस अंजली। पृष्ठम्। पिट्ठी, पिट्ठं। पृष्ठमित्वे कृते स्त्रियामेवेत्यन्ये। अच्छी अच्छि। पण्हा, पण्हो। चोरिआ, चोरिअं। एवं कुच्छी, बली निही, विही, रस्सी, गण्ठी इत्यञ्जल्यादयः। गड्डा, गड्डो इति तु संस्कृतवदेव सिद्धम्। इमेति तन्त्रेण त्वादेशस्य डिमा इत्यस्य पृथ्वादीम्नश्च संग्रहः त्वादेशस्य स्त्रीत्वमेव इच्छन्ति एके। इति लिङ्गानुशासनम्।

इति हेमचन्द्राचार्यरचिते प्राकृतव्याकरणे द्वितीयपादः समाप्तिम् अगमत्।

॥ अर्हम् ॥

श्री स्तम्भनकपार्श्वनाथस्वामिभ्यो नमः ॥

अथ स्यादिविभक्तीन् समारभन्ते तत्र अकारान्तः पुंलिङ्गो वृक्षशब्दः ॥

वृक्षशब्दात् सिप्रत्यये कृते छोऽक्ष्यादौ ॥२।१७॥ इति क्षस्य छ आदेशे जाते 'वच्छ सि' इत्यवस्थितम् ॥

अतः सेर्डो ॥३॥२॥ अकारान्तान्नाम्नः परस्य स्यादेः सेः स्थाने डो भवति ॥वच्छो॥ प्राकृते द्विवचनाभावात्, वच्छ जस, इत्यवस्थायाम् ॥

जश्शसोर्लुक् ॥३॥४॥ अकारान्तान्नाम्नः परयोः स्यादिसम्बन्धिनोर्जश्शसोर्लुक् भवति ।

जश्शस्-ङसि-त्तो-दो-द्वामि दीर्घः ॥३॥१२॥ एषु अतो दीर्घो भवति ॥वच्छा एए ॥

अमोऽस्य ॥३॥५॥ अतः परस्य अमोऽकारस्य लुग् भवति ॥वच्छं पेच्छ, ॥

टाणशस्येत् ॥३॥१४॥ टादेशे णे, शसि च परे अत एत्वं भवति । टाणे, वच्छेण, णे इति किं, अप्पणा, अप्पणिआ,[1] अप्पणइआ, शसि वच्छे पेच्छ ॥ जश्शसिति (३॥१२) दीर्घपक्षे तु वच्छा ॥

---

१ आत्मनष्टो णिआ णइआ ॥३॥५७॥ इति टास्थाने णिआ णइआ इत्यादेशौ॥

टा-आमोर्णः ॥ ३ ॥ ६ ॥ अत. परस्य टा इत्यस्य षष्ठी-बहुवचनस्य चामो णो भवति ॥ वच्छेण, वच्छेणं[1] ॥

भिसो हिहिंहिं ॥ ३ ॥ ७ ॥ अतः परस्य भिसः स्थाने केवलः सानुनासिकः सानुस्वारश्च हिर्भवति ॥

भिस्भ्यस्सुपि ॥ ३ ॥ १५ ॥ एषु अत एत्त्वं भवति ॥ वच्छेहि वच्छेहिँ वच्छेहिं, कया छाही ॥ प्राकृते चतुर्थी विभक्तिर्न भवति प्रायेण, तादर्थ्ये भवत्यपि तथापि च तत्र संस्कृतवत् वच्छाय इति रूपम् ज्ञेयम् ॥

ङसेस् त्तो-दो-दु-हि-हिन्तो-लुक् ॥३॥८॥ अतः परस्य ङसेः त्तो दो दु हि हिन्तो लुक् इत्येते षड् आदेशा भवन्ति ॥ ह्रस्व संयोगे' इति ह्रस्वत्वं । वच्छत्तो, वच्छाओ,[2] वच्छाउ, वच्छाहि, वच्छाहिन्तो, वच्छा ॥ दो इत्यत्र दकारकरणं भाषान्तरार्थम् ॥ ङसिनैव सिद्धे त्तोदोदुग्रहणं भ्यसि एत्त्वबाधनार्थम् ॥

भ्यसस् त्तो - दो - दुहि - हिन्तो - सुन्तो ॥ ३ ॥ ९ ॥ अतः परस्य भ्यसः स्थाने त्तो दो दुहि हिन्तो सुन्तो इत्यादेशा भवन्ति ॥

भ्यसि वा ॥ ३ ॥ १३ ॥ भ्यसादेशे परेऽतो दीर्घो वा भवति ॥ दीर्घाभावपक्षे एत्त्वम्[3] ॥ वच्छत्तो वच्छाओ, वच्छाउ, वच्छाहि, वच्छेहि, वच्छाहिन्तो, वच्छेहिन्तो, वच्छासुन्तो, वच्छेसुन्तो ॥

ङसः स्सः ॥ ३ ॥ १० ॥ अतः परस्य ङसः स्थाने स्सो

---

१ क्त्वास्यादेर्णस्वोर्वा ॥१॥२७॥ इति अनुस्वारागमः ॥ २ जश्शस् ङसि, त्तोदोद्वामि दीर्घः ॥ ३ ॥ १२ ॥ इति दीर्घत्वम् ॥ ३ भिस्भ्यस्सुपि ॥ ३ ॥ १५ ॥ इत्यनेन सूत्रेण एत्वे ॥

भवति । वच्छस्स, पियस्स, पेमस्स, उपकुम्भशैत्यम् । उपकुंभस्स सीअ-लत्तणं ॥ षष्ठीबहुवचने, वच्छाण,[1] वच्छाणं ॥

ङेर्म्मि ङे: ॥ ३ ॥ ११ ॥ अत. परस्य ङे ङित् एकारः संयुक्तो म्मिश्च भवति ॥ वच्छे, वच्छम्मि । देवं, देवम्मि । तं, तम्मि, अत्र 'द्वितीयातृतीययोः सप्तमी ॥ ३ ॥ १३५ ॥' इत्यमो ङिः । सुपि वच्छेसु[2] वच्छेसुं ॥

डो दीर्घो वा ॥ ३ ॥ ३८ ॥ आमन्त्रणात् परे सौ सति, अतः सेर्डोरीति, यो नित्यं डो प्राप्तो'यश्च 'अक्लीवे सौ, इति इदुतोरकारान्तस्य च प्राप्तो दीर्घः, स वा भवति, हे वच्छ, हे वच्छो, हे देव हे देवो, हे खमासमण हे खमासमणो, हे अज्ज हे अज्जो, हे वच्छा ॥ एवं देव मनुष्य, रामकृष्णजिनादयः ॥

सर्वनामसंज्ञकशब्दानां तु विशेषं तथाहि अकारान्तसर्वशब्दस्य पुंलिङ्गे रूपाणि, तत्र प्रथमायां सि विभक्तौ सव्वो, ॥

अतः सर्वादेर्डेर्जसः ॥ ३ ॥ ५८ ॥ सर्वादेरदन्तात् परस्य जसः डित् ए इत्यादेशो भवति। सव्वे, अन्ने,जे[3] ते, के,एक्के,कयरे, इयरे एए, अतः इति किम्? सव्वाओ[4] रिद्धीओ, जस इति किं, सव्वस्स, ॥१॥ सव्वं, सव्वे सव्वा २ ॥ सव्वेण सव्वेणं सव्वेहिं सव्वेहि सव्वेहि ॥ ३ ॥ सव्वत्तो,सव्वाओ,सव्वाउ,सव्वाहि,सव्वाहिन्तो, सव्वा॥ सव्वत्तो सव्वाओ सव्वाउ, सव्वाहि, सव्वेहि, सव्वाहिन्तो सव्वेहिन्तो, सव्वासुन्तो सव्वेसुन्तो ॥ ५ ॥ सव्वस्स ।

---

१ टाआमोर्णः ॥ ३ ॥ ६ ॥ इत्यामस्थाने णः ॥ जश्शस्ङसित्तोदोद्वामि दीर्घः ॥ ३ ॥ १२ ॥ इति दीर्घत्वम् ॥ २ भिस्भ्यस्सुपि ॥ ३ ॥ १५ ॥ इति अकारस्य एत्त्वम् ॥३ अन्त्यव्यंजनस्य ॥ १ ॥११॥ इत्यनेनान्त्यव्यंजनस्य लोपे तेऽक्त त्यदादीनामपि प्रायेण अदन्तत्वेनोदाहरति, जे ते इति । ४ स्त्रियामुदोतौ वा ॥३॥ २७ ॥ इति जस् स्थाने ओदादेशः ॥

आमो डेसिं ॥ ३ ॥ ६१ ॥ सर्वादेरकारान्तात्परस्य आमो डेसिम् इत्यादेशो वा भवति । सव्वेसिं, अन्नेसिं, अवरेसि, इमेसिं, एएसिं, जेसिं, तेसिं, केसिं, पक्षे सव्वाण सव्वाणं ॥ ६ ॥ अन्नाण, अवराण, इमाण, एआण, जाण, ताण, काण ॥ बहुलाधिकारात् स्त्रियामपि, (सर्वासाम्) सव्वेसि, एवम्, अन्नेसिं तेसिं, ॥

ङेः स्सि-म्मि-त्थाः ॥ ३ ॥ ५९ ॥ सर्वादेरकारान्तात्परस्ये ङेः स्थाने स्सि-म्मि-त्थ-इत्येते आदेशा भवन्ति । सव्वस्सि,सव्वम्मि, सव्वत्थ, अन्नस्सि, अन्नम्मि, अन्नत्थ, एवं सर्वत्र, अत इत्येव, अमुम्मि ॥

नवाऽनिदमेतदो हिं ॥ ३ ॥ ६० ॥ इदमेतद् वर्जितात् सर्वादेरदन्तात्परस्य ङेर्हिमादेशो वा भवति ॥ सव्वहिं, अन्नहिं, कहिं, जहिं, तहिं, बहुलाधिकारात् किंयत्तद्भ्य. स्त्रियामपि, काहिं, जाहिं, ताहिं ॥ बहुलकादेव 'किंयत्तदोस्यमामि ॥ ३ ॥ ३३ ॥ इति ङीर्नास्ति, पक्षे, सव्वस्सि, सव्वम्मि, सव्वत्थ, इत्यादि स्त्रियां तु पक्षे, काए[1], कीए, जाए, जीए, ताए, तीए । इदमेतद्वर्जनं किम्, इमस्सिं एअस्सिं । सुपि तु सव्वेसु सव्वेसुं । ७ । हे सव्व, हे सव्वो, हे सव्वे। एवं विश्वादयोऽपि अदन्ताः। त्यदादीनाम् तु विशेषः, तत्र तावत् तदेतच्छब्दयोः[2] पुंलिङ्गे रूपाणि कथ्यते ॥

वैतत्तदः ॥ ३ ॥ ३ ॥ एतत्तदोऽकारात् परस्य स्यादे. सेर्डो वा भवति ॥

तदश्च तः सोऽक्लीवे ॥ ३ ॥ ८६ ॥ तद एतदश्च तकारस्य सौ परे अक्लीवे सो भवति ॥ स णरो, सो पुरिसो, सा महिला, एस

---

१. टाङसङे-रदादिदेद् वा तु ङसे ३ ॥ २९ ॥ इति एत्त्वम्

२ प्राकृते त्यदादीनामपि अन्त्यव्यञ्जनलोपेन अदन्तत्वात् प्रसङ्गसंगतिमाश्रित्य तेषामपि रूपाणि अत्रैव लिख्यन्ते ॥ अत एव प्राकृतभाषाया हलन्तशब्दानामभावात् त्रिणि एव लिङ्गानि प्रायेण भवन्ति ॥ नतु षड्लिङ्गानि ॥

णरो, एसो पिओ, एसा मुद्धा, साविटयेत्र, ते एए धन्ना, ताओ एआओ महिलाओ, अन्तीने इति किम्? तं एअं वणं ॥

वैसेणमिणमो सिना ॥ ३ ॥ ८५ ॥ एतदः सिना सह एस इणम् इणमो[1] इत्यादेशा वा भवन्ति ॥ सव्वस्स वि एस गई ॥ सव्वाण वि पत्थिवाण एस मही ॥ एस सहाओ च्चिअ ससहरस्स, एस सिरं, इणं इणमो ॥ पक्षे एअं, एसा, एसो ॥

तदो णः स्यादौ क्वचित् ॥ ३ ॥ ७० ॥ तदः स्थाने स्यादौ परे ण आदेशो भवति ॥ क्वचिद् लक्ष्यानुसारेण ॥ णं पेच्छ 'तं पश्ये-त्यर्थः, सोअइ[1] 'अ णं रहुवई 'तमित्यर्थ, स्त्रियामपि. हत्थुन्नामिअमुही णं तिअडा[2], 'तां त्रिजटेत्यर्थः, णेण भणिअं 'तेन 'भणितमित्यर्थः, तो[3] णेण करयलट्ठिआ 'तेन इत्यर्थ, भणिअं च णाए,'तयेत्यर्थः', णेहिं कयं 'तैः कृतमित्यर्थः, णाहिं कयं 'ताभिः कृतमित्यर्थः' जसि तु, ते एए, । १ । अमि, तं णं एअं, शसि ता ते एता एए ॥ २ ॥

इदमेतत्किं यत्तद्भ्यष्टो डिणा ॥ ३ ॥ ६६ ॥ एभ्यः सर्वादि-भ्योऽकारान्तेभ्य. परस्याष्टायाः स्थाने डित् इणा इत्यादेशो वा भवति ॥ इमिणा इमेण, एदिणा,[4] एदेण, किणा केण, जिणा जेण, तिणा, तेण, पक्षे तेण तेणं, एएण एएणं, तेहिं तेहि, एएहिं एएहि ॥ ३ ॥

ङसेम्हा ॥ ३ ॥ ६६ ॥ किंयत्तद्भ्यः परस्य ङसेः स्थाने म्हा इत्यादेशो वा भवति ॥ कम्हा जम्हा तम्हा, पक्षे काओ जाओ ताओ ॥

---

१ एते आदेशास्त्रिषु अपि लिङ्गेषु भवन्ति ॥ २ हस्तोन्नामितमुखीता त्रिजटा । १ शोचति च त रघुपतिः ॥ ३ तस्मात् तेन करतलस्थिता ॥ ४ तोदोऽनादौ शौरसेन्यामयुक्तस्य ॥ ४ ॥ २६० ॥ इति तकारस्य दकारादेशः ॥

वैतदो ङसेस्त्तो त्ताहे ॥ ३ ॥८२॥ एतदः परस्य ङसे- स्थाने त्तो त्ताहे इत्येतौ आदेशौ वा भवतः ॥

त्थे च तस्य लुक् ॥ ३ ॥ ८३ ॥ एतदस्त्थे परे चकारात् त्तो त्ताहे इत्येतयोश्च परयोः तस्य लुक् भवति ॥ एत्तो एत्ताहे पत्ते, एआओ एआउ एआहि एआहिन्तो एआ ॥ ताओ ताउ ताहि ताहिन्तो ॥

तदो डोः ॥ ३ ॥ ६७ ॥ तदः परस्य ङसेर्डो इत्यादेशो वा भवति । तो, पत्ते तम्हा ॥ ५ ॥

किंयत्तद्भ्यो ङसः ॥ ३ ॥ ६३ ॥ एभ्य परस्य ङसः स्थाने डास इत्यादेशो वा भवति । 'ङसः स्सः' ॥ ३ ॥ १० ॥ इत्यस्यापवाद, पत्ते सोऽपि भवति । कास कस्स, जास जस्स तास तस्स, एअस्स, बहुलाधिकारात् किंतद्भ्याम् आकारान्ताभ्यामपि डासादेशो वा भवति, (कस्या धनं,) कास धणं (तस्या धनं) तास धणं पत्ते, काए ताए ॥

किंतद्भ्यां डासः ॥ ३ ॥ ६२ ॥ किंतद्भ्यां परस्य आमः स्थाने डास इत्यादेशो वा भवति । कास, तास, पत्ते, केसि, तेसिं ॥

वेदं तदेतदो ङसाम्भ्यां सेसिमौ ॥ ३ ॥ ८१ ॥ इदं तद् एतद् इत्येतेषां स्थाने ङस् आम् इत्वेताभ्यां सह यथा संख्यं से सिम इत्यादेशौ वा भवत. । 'इदम्, से सीलं, से गुणा' (अस्य शीलं गुणा वेत्यर्थः ।) सिं उच्छाहो, (एषामुत्साह) इत्यर्थः ॥ तद्, से सीलं, (तस्य तस्या वेत्यर्थः) सिं गुणा, (तेषां तासा वेत्यर्थ.) (एतद्) से अहिअं, (एतस्याधिकम् अहित वेत्यर्थः) सि गुणा, सिं सीलं, (एतेषां गुणाः शीलं वेत्यर्थः) पत्ते इमस्स इमेसिं इमाण, तस्स तेसिं ताण, एअस्स एएसिं एआण ॥ इदंतदोरामापि से आदेशं केचिदिच्छन्ति ६ ॥ सप्तम्येकवचने, स्सि म्मि त्थ इत्यादेशे कृते ॥

एरदीतौ म्मौ वा ॥ ३ ॥ ८४ ॥ एतद एकारस्य ङ्यादेशे म्मौ परे अदीतौ वा भवतः ॥ अअम्मि ईअम्मि, पक्षे एअम्मि, एअस्सि एत्थ[1] तस्सि तत्थ तम्मि ॥

ङे र्डाहे–डाला–इआ काले ॥ ३ ॥ ६५ ॥ कियत्तद्भ्यः कालेऽभिधेये ङेः स्थाने, आहे आला इति डितौ इआ इति च आदेशा वा भवन्ति ॥ हिंस्सिम्मित्थानामपवाद, पक्षे तेपि भवन्ति ॥ काहे काला कइआ, जाहे जाला जइआ, ताहे ताला तइआ, । ताला[1] जाअंति, गुणा जाला ते सहि अएहिं घेप्पंति ॥ रविकिरणाणुग्गहि आइं हुंति कमलाइं कमलाइं ॥ सुपि तु एरासु एएसु तेसु तेसुं ॥७॥ शेषं सर्ववत् त्यदादीनां प्रायेण संबोधन न संभवति ॥ हे स इति भाष्यप्रयोगात्क्वचिद्भवत्यपि ॥

अथ इदं शब्दस्य पुंलिङ्गे रूपाणि

पुंस्त्रियोर्न वाऽयमिमिआ सौ ॥ ३ ॥ ७३ ॥ इदम् शब्दस्य सौ परे अयम् इति पुंलिङ्गे, इमिआ इति स्त्रीलिङ्गे आदेशौ व भवतः । अहवाऽयं कयकज्जो, इमिआ वाणिअधूआ ॥ पक्षे,

इदम इमः ॥ ३ ॥ ७२ ॥ इदम स्यादौ परे इम आदेशो भवति इमो, इमे, । १ । स्त्रियामपि इमा ॥

अमेणम् ॥ ३ ॥ ७८ ॥ इदमोऽमा सहितस्य स्थाने इणम् इत्यादेशो वा भवति । इणं पेच्छ पक्षे ॥

---

१ त्ये च तस्य लुक् ॥ ३ ॥ ८३ ॥ इति तकारस्य लुक् ॥ २ ॥ तदा जायान्ति गुणा., यदा ते स्वहृदयैर्गृह्णन्ति रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि ।

णोऽम्शस्टाभिसि ॥३॥७७॥ इदमः स्थाने अम्शस्टा-भिस्सु परेषु ण आदेशो वा भवति। णं पेच्छ। णे पेच्छ। णेण णेहिं कय। पक्षे इमं इमे इमा ॥२॥ इमेण इमेणं, [1]इमिणा इमेहि इमेहिं इमेहि ॥३॥ ङसि-इमत्तो, इमाओ, इमाउ,। इमाहि, इमाहिन्तो इमा। भ्यसि-इमत्तो, इमाओ, इमाउ। इमाहि इमेहि, इमाहिन्तो इमेहिन्तो, इमासुन्तो इमेसुन्तो ॥५॥

स्सिस्सयो–रत् ॥३॥७४॥ इदमः स्सिस्स इत्येतयोः परयोरद् वा भवति। अस्स, अस्सि पक्षे इमादेशोपि। इमस्स इमस्सि से[2]। बहुलाधिकारादन्यत्रापि भवति। [3]एहि, एसु, आहि, एभिः, एषु आभिरित्यर्थः। आमि तु इमाणसि ॥६॥

ङेर्मेन ह ॥३॥७५॥ कृतेमादेशाद् इदमः परस्य ङे स्थाने मेन सह ह आदेशो वा भवति। इह। पक्षे।

न त्थः ॥३॥७६॥ इदम. परस्य ङे· स्सिम्मित्था इति प्राप्तस्त्थो न भवति। इह इमस्सि इमम्मि। सुपि–इमेसु, इमेसु ॥७॥ शेप सर्ववद्।

---

१ इदमेतत्किंयत्तद्भ्यष्टो डिणा ॥३॥६९॥ इति टास्थाने डिणादेश ॥

२ वेद तदेतदो ङसाम्भ्या सेसिमौ ॥३॥८१॥ इति ङसा सहितस्य इदमः से आदेश.।

३ अत्र भिस्सुपोः परयोरिदमोऽत्त्वम्।

अथ किं *शब्दस्य रूपाणि

किम् सि इति स्थितम्

किमः कस्त्रतसोश्च ॥३॥७१॥ किम. को भवति स्यादौ त्रतसोश्च परयो: । को । के ॥१॥ कं । के। का ॥२॥ [1]किणा, केण, केहि केहिं, केहिँ ॥३॥

किमो डिणो डीसौ ॥३॥६८॥ किम परस्य डसेर्डिणो डीस इत्यादेशौ वा भवत. । किणो कीस, कम्हा, कत्तो कदो काउ काहि काहिन्तो का कत्तो काओ काउ काहि केहि काहिन्तो केहिन्तो कासुन्तो केसुन्तो ॥५॥ [2]कास कस्स, [3]कास [4]केसिं काण ॥६॥ [5]कहिं कस्सि कत्थ, कम्मि, केसु केसुं ॥७॥ इत्यादि । शेष सर्ववत् ।

अथ अदश्शब्दस्य पुल्लिङ्गे रूपाणि

वाऽदसो दस्य हो नोदाम् ॥३॥८७॥ अदसो दकारस्य सौ परे ह आदेशो वा भवति, तस्मिश्च कृते अत: सेर्डोरि-योत्त्वं शेषं सस्कृतवदित्यतिदेशात्, आत् (हे. २।४) इत्याप्,

---

* यद्यपि गणपाठानुसारेण किं शब्दस्य रूपाणि युष्मच्छब्दात्पश्चादेव दर्शनीयानि भवन्ति, तथापि तदेतच्छब्दयोर्मध्ये बहुसूत्राणां सद्भावात् किं शब्दस्यापि तदन्तर्गतत्वात् गणपाठक्रमो न विवक्षित ।

१ इदमेतत्कियत्तद्भ्यष्टो डिणा ॥३।६९॥ इति टास्थाने डिणादेश ।

२ कियत्तद्भ्यो ङस ॥३॥६३॥ इति ङसस्थाने डासादेश ।

३ कितद्भ्या डाम ॥३॥६२॥ इत्यामो डासादेश. ।

४ आमो डेसिं ॥३॥६१॥ इत्यामो डेसिमादेश ।

५ नवा तिदमेतदो हिं ॥३॥६०॥ इति ङेर्हिमादेश. ।

क्लीबे स्वरान्म् सेः ॥३॥२५॥ इति मश्च न भवति, अह पुरिसो । अह महिला । अह वण । अह मोहो पर गुण लहु आई । अह णे हिअएण हसइ मारुअतणओ । (असावस्मान् हसति इत्यर्थ) अह कमलमुही, पक्षे

मुः स्यादौ ॥३॥८८॥ अदसो दस्य स्यादौ परे मुरादेशो भवति । अमू पुरिसो । अमु वणं । अमू माला । जशि, [१]अमुणो पुरिसा, [२]अमूइ वणाइ । अमूणि धनाणि । [३]अमूउ, अमूओ, मालाओ ॥१॥ अमु पुरिस । अमुणो पुरिसे, ॥२॥ अमुणा, अमूहिं ॥३॥ अमुत्तो, अमूओ, अमूउ अमूहिन्तो । भ्यसि अमूहिन्तो अमूसुन्तो ॥५॥ ङसि, [४]अमुणो, अमुस्स । आमि, अमूण ॥६॥ङो ।

म्मावयेऔ वा ॥३॥८९॥ अदसोऽन्त्यव्यञ्जनस्य लुकि दकारान्तस्य स्थाने ङचादेशे म्मौ परे अय इय इत्यादेशौ वा भवत । अयम्मि । इअम्मि । पक्षे अमुम्मि सुपि, अमूसु । शेषं वक्ष्यमाण भानु शव्दवत् ।

अथ युष्मदस्मच्छब्दयो रूपाणि

युष्मदस्तं तुं तुवं तुह तुमं सिना ॥३॥९०॥ युष्मदः सिना सह तं तु तुवं तुह तुमं इत्येते पञ्चादेशा भवन्ति । त तुं तुव तुह तुमं दिट्ठो ॥

---

१ जश्शसोर्णो वा ॥३॥२२॥ इति जसो णो ।

२ जश्शस् ईंइंणय सप्राग् दीर्घ ॥३॥२६॥ इति जस् इमादेश ।

३ स्त्रियामुदोतौ वा ॥३॥२७॥ इति जश उदोतौ आदेशौ ।

४ ङसिङसो पुंक्लीवे वा ॥३॥२२॥ इति ङसो णोरादेश. ।

भे तुब्भे उज्झे तुम्ह तुय्हे उय्हे जसा ॥३॥९१॥ युष्मदो जसा सह एते षडादेशा भवन्ति । भे तुब्भे, उज्झे तुम्ह तुय्हे उय्हे चिट्ठह । ब्भो म्हज्झौ वा ॥३॥१०४॥ इति वचनात् तुम्हे तुज्झे एवं चाष्ट रूपाणि ॥१॥

तं तुं तुवं तुमं तुह तुमे तुए अमा ॥३॥९२॥ युष्म-दोऽमा सह एते सप्तादेशा भवन्ति । तं तु तुवं तुम तुह तुमे तुए वंदामि ॥

वो तुब्भे उज्झे तुय्हे उय्हे भे शसा ॥३॥९३॥ युष्मदः शसा सह एते षडादेशा भवन्ति । वो तुब्भे उज्झे तुय्हे उय्हे भे, पेच्छामि ॥२॥ ब्भो म्हज्झौ वेति वचनात् तुम्हे तुज्झे ॥

भे दि दे ते तइ तए तुमं तुमइ तुमए तुमे तुमाइ टा ॥३॥९४॥ युष्मदष्टा इत्यनेन सह एते एकादशा देशा भवन्ति । भे दि दे ते तइ तए तुमं तुमइ तुमए तुमे तुमाइ, जंपिअं ॥

भे तुब्भेहिं उज्झेहिं, उम्हेहिं तुय्हेहिं उय्हेहिं भिसा ॥३॥९५॥ युष्मदो भिसा सह एते षडादेशा भवन्ति । ब्भे तुब्भेहिं उज्झेहिं उम्हेहिं तुय्हेहिं उय्हेहिं भुत्त, ब्भो म्हज्झौ वेति वचनात् तुज्झेहिं तुम्हेहिं एवम् च अष्ट रूपाणि ॥३॥

तइ तुव तुम तुह तुब्भा ङसौ ॥३॥९६॥ युष्मदो ङसौ पञ्चम्येक वचने परत एते पञ्चादेशा भवन्ति ङसेस्तु त्तोदो दुहि हिन्तो लुको यथा प्राप्तमेव । तइत्तो तुवत्तो तुमत्तो, तुहत्तो तुब्भत्तो, ब्भो म्हज्झौ वेति वचनात् तुम्हत्तो तुज्झत्तो एव

दो दुहि हिन्तो लुक्ष्वपि उदाहार्यम् ॥ तत्तो इति तु त्वत्त इत्यस्य व लोपे सति ।

तुय्ह तुब्भ तहिन्तो ङसिना ॥३॥९७॥ युष्मदो ङसिना सहितस्य एते त्रय आदेशा भवन्ति । तुय्ह तुब्भ तहिन्तो आगओ । ब्भो म्हज्झौ वेति वचनात् तुम्ह तुज्झ एवञ्च पञ्चरूपाणि ।

तुब्भ तुय्हो य्हो म्हा भ्यसि ॥३॥९८॥ युष्मदो भ्यसि परत एते चत्वार आदेशा भवन्ति । भ्यसस्तु यथा प्राप्तमेव, तुब्भत्तो, तुय्हत्तो, उय्हत्तो, उम्हत्तो, ब्भो, म्हज्झौ वेति वचनात् तुम्हत्तो तुज्झत्तो । एवं दोदुहि हिन्तो सुन्तेष्वपि उदाहार्यम् ॥५

तइ तुं ते तुम्ह तुह तुहं तुम तुव तुमे तुमो तुमाइ दि दे इ ए तुब्भो ब्भो-य्हा ङसा ॥३॥९९॥ युष्मदो ङसा षष्ठ्येकवचनेन सहितस्य एते अष्टादशादेशा भवन्ति । तइ तुं ते तुम्ह तुह तुहं तुव तुम तुमे तुमो तुमाइ दि दे इ ए तुब्भ उब्भ उय्ह धण । ब्भो म्हज्झौ वेति वचनात् तुम्ह तुज्झ उम्ह उज्झ एव च द्वाविंशतिरूपाणि ।

तु वो भे तुय्ह तुब्भ उब्भ तुब्भाण तुवाण तुमाण तुहाण तुम्हाण आमा ॥३॥१००॥ युष्मद आमा सहितस्य एते दशादेशा भवन्ति । तु वो भे तुय्ह तुब्भ उब्भ तुब्भाण तुवाण तुमाण तुहाण तुम्हाण । क्त्वास्यादेर्णस्वोर्वेत्यनुस्वारे, तुब्भाण तुवाण तुमाण तुहाण तुम्हाण । ब्भो म्हज्झौ वेति वच-नात् तुम्ह तुज्झ उम्ह उज्झ तुम्हाण तुम्हाण तुज्झाण तुज्झाण,

एवं च त्रयोविंशति रूपाणि ॥६॥

तुमे तुमए तुमाइ तइ तए ङिना ॥३॥१०१॥ युष्मदो ङिना सप्तम्येकवचनेन सहितस्य एते पञ्चादेशा भवन्ति । तुमे तुमए तुमाइ तइ तए ठिअ ॥

तु तुव तुम तुह तुब्भा ङौ ॥३॥१०२॥ युष्मदो ङौ परत एते पञ्चादेशा भवन्ति । ङेस्तु यथा प्राप्तमेव, तुम्मि, तुवम्मि तुमम्मि तुहम्मि, तुब्भम्मि ब्भो म्हज्झौ वेति वचनात् तुम्हम्मि तुज्झम्मि इत्यादि ॥

सुपि ॥३॥१०३॥ युष्मद सुपि परत तु तुव तुम तुह तुब्भा भवन्ति । तुसु तुवेसु तुमेसु तुहेसु तुब्भेसु ब्भो म्हज्झौ वेति वचनात् तुम्हेसु तुज्झेसु । केचित्तु सुपि एत्त्वविकल्पमिच्छन्ति, तन्मते, तुवसु तुमसु तुहसु तुब्भसु तुम्हसु तुज्झसु तुब्भस्य आत्व-मपि इच्छन्ति इत्यन्ये, तुब्भासु तुम्हासु तुज्झासु ॥

ब्भो म्हज्झौ वा ॥३॥१०४॥ युष्मदादेशेषु यो द्विरुक्तो भस्तस्य म्ह ज्झ इत्येतौ आदेशौ वा भवतः । पक्षे स एवास्ते तथैव च उदाहृतम् ॥

अस्मदो म्मि अम्मि अम्हि हं अहं अहयं सिना-॥३॥१०५॥ अस्मद सिना सह एते षडादेशा भवन्ति । अज्ज म्मि हासिआ मामि तेण, मामि (इति सम्बोधने) अद्य अहं तेन हासिता । उन्नम न अम्मि कुविआ, अम्हि करेमि जेण ह विद्धा कि पम्हट्ठम्मि अहं अहयं कयप्पणामो ॥

अम्ह अम्हे अम्हो मो वयं भे जसा ॥३॥१०६॥
असमदो जसा सहैते षडादेशा भवन्ति । अम्ह अम्हे अम्हो मो वय भे, भणामो ॥१॥

णे णं मि अम्मि अम्ह मम्ह मं ममं मिमं अहं अमा ॥३॥१०७॥ अस्मदोऽमा सह एते दशादेशा भवन्ति । णे ण मि अम्मि अम्ह मम्ह म ममं मिम अह पेच्छ ॥

अम्हे अम्हो अम्ह णे शसा ॥३॥१०८॥ अस्मद शसा सह एते चत्वार आदेशा भवन्ति । अम्हे अम्हो अम्ह णे पेच्छ ॥

मि मे ममं ममए ममाइ मइ मए मयाइ णे टा– ॥३॥१०९॥ अस्मदष्टा सहितस्य एते नवादेशा भवन्ति । मि मे मम ममए ममाइ मइ मए मयाइ णे कयं ॥

अम्हेहिं अम्हाहिं अम्ह अम्हे णे भिसा ॥३॥११०॥ अस्मदो भिसा सह एते पञ्चादेशा भवन्ति ॥ अम्हेहि, अम्हाहि अम्ह, अम्हे, णे, कय ॥३॥

मइ मम मह मज्झा ङसौ ॥३॥१११॥ अस्मदो ङसौ पञ्चम्येकवचने परत एते चत्वार आदेशा भवन्ति । ङसे–स्तु यथाप्राप्तमेव, मइत्तो, ममत्तो, महत्तो, मज्झत्तो, आगओ, मत्तो इति तु मत्त इत्यस्य, एव दोदुहिहिन्तोलुक्ष्वपिउदाहार्यम् ॥

ममाम्हौ भ्यसि ॥३॥११२॥ अस्मदो भ्यसि परतो मम अम्ह इत्यादेशौ भवत । भ्यसस्तु यथाप्राप्त, ममत्तो अम्हत्तो ममाहिन्तो अम्हाहिन्तो, ममासुन्तो अम्हासुन्तो, ममेसुन्तो अम्हेसुन्तो ॥५॥

से मइ मम मह महं मज्झ मज्झं अम्ह अम्हं ङसा ॥३॥११३॥ अस्मदो ङसा षष्ठ्येकवचनेन सहितस्य एते नवादेशा भवन्ति। मे मइ मम मह मह मज्झ मज्झ अम्ह अम्हं धणं ॥

णे णो मज्झ अम्ह अम्हं अम्हे अम्हो अम्हाण ममाण महाण मज्झाण आमा ॥३॥११४॥ अस्मद आमा सहितस्य एते एकादशादेशा भवन्ति । णे णो मज्झ अम्ह अम्हं अम्हे अम्हो अम्हाण ममाण महाण मज्झाण धणं । क्त्वास्यादेर्णस्वोर्वेत्यनुस्वारे, अम्हाण ममाण महाणं मज्झाण । एव च पञ्चदश रूपाणि ॥६॥

मि मइ ममाइ मए मे डिना ॥३॥११५॥ अस्मदो डिना सहितस्य एते पञ्चादेशा भवन्ति । मि मइ ममाइ मए मे ठिअ ॥

अम्ह मम मह मज्झा ङौ ॥३॥११६॥ अस्मदो ङौ परत एते चत्वार आदेशा भवन्ति। ङेस्तु यथाप्राप्तम् । अम्हम्मि ममम्मि महम्मि मज्झम्मि ठिअ ॥

सुपि ॥३॥११७॥ अस्मद सुपि परे अम्हादयश्चत्वार आदेशा भवन्ति । अम्हेसु ममेसु महेसु मज्झेसु । एत्त्वविकल्पमते तु अम्हसु ममसु महसु मज्झसु । अम्हस्य आत्त्वमपीच्छन्ति अन्ये अम्हासु ॥

इति युष्मदस्मत्प्रकरणम् ॥

अथ इकारोकारान्तौ गिरिभानुशब्दौ

गिरि सि भाणु सि इति स्थिते

अक्लीबे सौ ॥३॥१९॥ इदुतोरक्लीबे नपुंसकादन्यत्र सौ दीर्घो भवति। गिरी भाणू बुद्धी धेणू। अक्लीब इति किं [1]दहि महु। साविति किं गिरिं भाणुं बुद्धिं धेणुं। केचित्तु दीर्घत्वं विकल्प्य तदभावपक्षे सेर्मादेशमपीच्छन्ति। अग्गिं निहिं वाउं विहुं ॥

पुंसि जसो डउ डओ वा ॥ ३॥२०॥ इदुत इति पञ्चम्यन्तं सम्बध्यते। इदुतः परस्य जसः पुंसि अउ अओ इत्यादेशौ डितौ वा भवतः। गिरउ गिरओ भाणउ भाणओ चिट्ठन्ति॥ पुंसीति किम् [2]बुद्धीओ धेणूओ दहीइं, [3]महूइं। जस इति किम्, [4]गिरी गिरिणो भानू भानुणो पेच्छइ, इदुत इत्येव वच्छा। पक्षे

जश्शसोर्णो वा ॥३॥२२॥ इदुत परयोः जश्शसोः पुंसि णो इत्यादेशो वा भवति ॥

न दीर्घो णो ॥३॥१२५॥ इदुदन्तयोरर्थात् जश्शसङ-स्यादेशे णो इत्यस्मिन् परतो दीर्घो [5]न भवति। गिरिणो भाणुणो रेहन्ति। पक्षे शेषे अदन्तवद् [6]भावात् गिरी भाणू। पुंसीत्येव

---

१ अत्र 'क्लीबे स्वरान्म्से ॥३॥२५॥ इति सेर्मकारादेश ॥ २ स्त्रियामुदोतौ वा ॥३॥२७॥ इति उत् ओत् आदेश' सप्राग् दीर्घ ।३। जश् जस् इं-इणय सप्राग् दीर्घा ॥३॥२६॥ इति। ४। अत्र च शस स्थाने न भवतः॥ ५ जश्शस्ङसित्तोदोद्वामि दीर्घः इति ॥३॥१२॥ प्राप्तस्य अनेन निषेधः॥ ६ शेषेऽदन्तवत् ॥३॥१२४॥ इति सूत्रेण ॥

दहीइं महूइं, जश्शसोरिति किम् गिरिं भाणु । इदुत इत्येवं वच्छा वच्छे । जश्शसोरिति द्वित्वम् इदुत इत्यनेन [1] यथासङ्ख्याभावार्थम् । एवमुत्तरसूत्रेऽपि ॥

वोतो डवो ॥३॥२१॥ उदन्तात् परस्य जसः पुंसि डित् अवो इत्यादेशो वा भवति । भाणवो । पक्षे भाणओ भाणउ भाणू भाणुणो । उत इति किं वच्छा, पुंसीत्येव धेणू महूइं, जस इत्येव भाणू भाणुणो पेच्छ ॥१॥ अमि तु गिरिं भाणु । शसि, गिरिणो भाणुणो, ॥

लुप्ते शसि ॥३॥१८॥ इदुतोः शसि लुप्ते दीर्घो भवति । गिरी भाणू, वुद्धी धेणू पेच्छ, लुप्त इति किम् गिरिणो भाणुणो पेच्छ । इदुत इत्येव वच्छे पेच्छ । जस्शस् ॥३॥१२॥ इत्यादिना शसि दीर्घस्य लक्ष्यानुरोधार्थोऽय योगः । लुप्त इति तु णवि प्रतिप्रसवार्थशङ्कानिवृत्त्यर्थम् ॥२॥

टो णा ॥३॥२४॥ पुंक्लीबे वर्त्तमानादिदुतः परस्य टा इत्यस्य णा भवति । गिरिणा [2] गामणिणा, भाणुणा खलपुणा तरुणा, दहिणा महुणा । टा इति किम् । गिरी भाणू दहि महुं पुंक्लीबे इत्येव, [3] बुद्धीए धेणूए कय । इदुत इत्येव कमलेण ॥

इदुतोदीर्घः ॥३॥१६॥ इकारस्य उकारस्य च भिस्भ्यस्सुप्सु परेषु दीर्घो भवति । गिरीहि गिरीहिँ गिरीहि भाणूहि

---

१ अन्यथा इकारान्तात् जशो णो, उकारान्तात् शसो णो इत्यर्थोपि सम्भाव्येत ॥ २ क्विप. ३॥४३॥ इति सूत्रेण ह्रस्वः ॥ ३ टाङस्ङे रदादिदेद्वा तु ङसेः ३॥२९॥ इति सूत्रेण एत्वम्

भाणूहिँ भाणूहिं, बुद्धीहिं दहीहिं तरूहिं धेणूहिं कयं ॥३॥ क्वचिन्न भवति, [१] दिअभूमिसु दाणजलोल्लिआइं, इदुत इति किम् वच्छेहिं, वच्छेसुन्तो, वच्छेसु, भिसभ्यस्सुपीत्येव, गिरि तरुं पेच्छ ॥३॥

ङसिङसोः पुंक्लीबे वा ॥३॥२३॥ पुंसि क्लीबे च वर्त्तमानादिदुतः परयोर्ङसिङसोर्णो वा भवति, गिरिणो [२] भाणुणो, दहिणो महुणो आगओ वियारो वा। पक्षे ङसौ गिरीओ गिरीउ गिरीहिन्तो भाणूओ भाणूउ भाणूहिन्तो। [३] हिलुकौ निषेत्स्येते। भ्यसि गिरीओ गिरिहिन्तो गिरीसुन्तो, भाणूओ भाणूहिन्तो भाणूसुन्तो ॥५॥ ङसि गिरिणो गिरिस्स भाणुणो भाणुस्स। आमि तु, गिरीण गिरीणं भाणूण भाणूण ॥६॥ ङौ गिरिम्मि भाणुम्मि सुपि *गिरीसु गिरीसुं भाणूसु भाणूसुं ॥७॥ हे [४] गिरी हे गिरि, हे *गिरिणो गिरओ गिरउ। हे भाणू हे भाणु हे [५] भाणवो भाणुणो भाणओ भाणउ। शेषं वच्छशब्दवत्, एवं कविमुनिसूरिप्रभृतय इकारान्तास्तथा वायुतरुगुर्वादय उकारान्ताश्च अन्यपि ज्ञेयाः। प्राकृते इकारान्तो द्विशब्दो बहुवचनान्तः ॥

---

१ द्विजभूमिषु दानजलार्द्रितानि ॥ २ न दीर्घो णो ॥३॥ १२५॥ इति दीर्घाभावः ॥ ३ ङसेर्लुक् ॥३॥१२६॥ भ्यसश्चहि ॥३॥१२७॥ इति सूत्राभ्याम् ॥ ४ डोदीर्घोवा ॥३॥३८॥ इति विकल्पेन दीर्घः ॥ ५ वोतो डवो ॥३॥२१॥ इति जसो डवो आदेश ॥ *इदुतोर्दीर्घः ॥३॥१६॥ इति दीर्घः *जश्शसो र्णो वा ॥३॥२२॥ इति णो आदेशः ॥

दुवे दोण्णि वेण्णि च जश्शसा ३॥१२०॥ जश्शस्भ्यां सहितस्य द्वेः स्थाने दुवे दोण्णि वेण्णि इत्येते दो वे च आदेशा भवन्ति । दुवे दोण्णि वेण्णि दो वे, ठिआ, पेच्छ वा, 'ह्रस्वः संयोगे ॥१॥८४॥ इति ह्रस्वत्वे दुण्णि विण्णि ॥

द्वेर्दो वे ॥३॥११९॥ द्विशव्दस्य तृतीयादौ दो वे इत्यादेशौ भवतः । दोहिं वेहिं कयं ॥३॥ दोहिन्तो वेहिन्तो ॥५॥ आगओ ॥

संख्याया आमो ण्ह ण्हं ॥३॥१२३॥ सख्याशव्दात्परस्य आमो ण्ह ण्हं इत्यादेशौ भवतः । दोण्ह दोण्हं वेण्ह वेण्हं धणं ॥६॥ पंचण्ह छण्ह सत्तण्ह अट्ठण्ह नवण्ह दसण्ह पचण्हं छण्हं सत्तण्हं अट्ठण्हं नवण्हं दसण्हं, 'पण्णरसण्हं दिवसाणं, अट्ठारसण्हं समणसाहस्सीणं, (कतीनाम्) कइण्हं, वहुलाधिकारात् विंशत्यादेर्न भवति । सुपि तु । दोसु दोसुं, वेसु वेसुं इति ॥७॥

त्रेस्तिण्णिः ॥३॥१२१॥ जश्शस्भ्यां सहितस्य त्रेःस्थाने तिण्णि इत्यादेशो भवति, तिण्णि ठिआ पेच्छ वा ॥

त्रेस्ती तृतीयादौ ॥३॥११८॥ त्रे. स्थाने ती इत्यादेशो भवति, तृतीयादौ । तीहिं कयं, तीहिन्तो, आगओ, तिण्ह तिण्हं धणं, तीसु ठिअं ॥

चतुरश्चत्तारो चउरो चत्तारि ॥३॥१२२॥ चतुःशव्दस्य जश्शस्भ्यां सह चत्तारो चउरो चत्तारि इत्येते आदेशा भवन्ति । [1]चत्तारो चउरो चत्तारि, चिट्ठन्ति पेच्छ वा ॥

---

१ चतु.शव्दस्यापि अन्त्यव्यञ्जनस्य इति रलोपे उकारान्तत्वात् तन्मध्ये निर्देशः ॥

चतुरो वा ॥३॥१७॥ चतुरुदन्तस्य भिस्भ्यस्सुप्सु परेषु दीर्घो वा भवति । चऊहि चऊहिँ, चऊहिं चउहि चउहिँ चउहिं ॥३॥ चऊओ चउओ चऊहिन्तो चउहिन्तो चऊसुन्तो चउसुन्तो॥५॥ चउण्ह चउण्हं ॥६॥ चऊसु चउसु ॥७॥ इति इदुदन्ता. शब्दा. ॥

ईकारान्त. पुल्लिङ्गो ग्रामणी शब्द:, तथा ऊकारान्त: पुल्लिङ्ग: खलपूशब्द: ॥

क्विप: ॥३॥४३॥ [१]क्विबन्तस्य ईदूदन्तस्य ह्रस्वो भवति गामणिणा खलपुणा गामणिणो खलपुणो ॥

ईदूतोर्ह्रस्व. ॥३॥४२॥ आमन्त्रणे सौ परे ईदूदन्तयो-र्ह्रस्वो भवति । हे नइ, हे गामणि हे समणि, हे खलपु, इत्यादि । शेषं गिरिभानुशव्दवत्, एवं सुश्रीसुधीवर्षाभ्वग्रसरा अपि ज्ञेया. ॥

ऋकारान्त: पुल्लिङ्ग: कर्त्तृशब्द: ॥

आ सौ न वा ॥३॥४८॥ ऋदन्तस्य सौ परे आकारो वा भवति । कत्ता, पिआ, जामाया, माया ॥ पक्षे

आर: स्यादौ ॥३॥४५॥ स्यादौ परे ऋत आर इत्या-देशो भवति । कत्तारो, कत्तारा ॥१॥ कत्तारं कत्तारे कत्तारा ॥२॥ कत्तारेण कत्तारेहि ॥३॥ एवं ङस्यादिष्वपि सर्वत्र वृक्ष-शव्दवद् उदाहार्यम् । संबोधने तु

---

१ प्राकृतप्रकाशे ईकारोकारान्तशब्दाना सावकानि पृथक् सूत्राणि न दृश्यन्ते, ज्ञायते तेषामपि इकारोकारान्तवद् रूपाणि भवन्ति, अत्र ततो यद् विशेष तदाह क्विप इति ॥

ऋतोऽद्वा ॥३॥३९॥ ऋकारान्तस्य आमन्त्रणे सौ परे अकारो वा भवति । हे कत्त, (हे कर्त्त) हे पिअ (हे दात.) हे दाय, पक्षे हे कत्तार, ॥

नाम्न्यरं वा ॥३॥४०॥ ऋदन्तस्य आमन्त्रणे सौ परे नाम्नि सज्ञायां विषये अरम् इत्यादेशो वा भवति । (हे पितः) हे पिअरं, पक्षे हे पिअ, नाम्मीति किम्, (हे कर्त्तः) हे कत्तार ॥

ऋताम् उद् अस्यमौसु वा ॥३॥४४॥ सि अम् औ वर्जिते अर्थात् स्यादौ परे ऋदन्तानाम् उदन्तादेशो वा भवति । जसि, कत्तू, कत्तुणो, कत्तउ, कत्तओ, पक्षे, कत्तारा ॥१॥ शसि, कत्तू, कत्तुणो, पक्षे कत्तारे ॥२॥ टा कत्तुणा, पक्षे कत्तारेण, भिसि कत्तूहिं। पक्षे कत्तारेहिं ॥३॥ ङसौ कत्तुणो, कत्तूओ, कत्तूउ, कत्तूहिन्तो, पक्षे, कत्ताराओ ॥५॥ ङसि कत्तुणो कत्तुस्स, पक्षे कत्तारस्स ॥६॥ सुपि कत्तूसु, पक्षे कत्तारेसु । शेषं भानुशब्दवत्। एवं भर्त्तृनेतृदातृप्रभृतयोऽपि ज्ञेया. ऋकारान्त पुल्लिङ्ग. पितृशब्दः

नाम्न्यरः ॥३॥४७॥ ऋदन्तस्य नाम्नि संज्ञायां स्यादौ परे अर इत्यन्तादेशो भवति । पिअरो पिअरा ॥१॥ पिअरं पिअरे ॥२॥ पिअरेण पिअरेहिं ॥३॥ जामायरो जामायरा ॥१॥ जामायरे ॥२॥ जामायरेण ॥३॥ इत्यादि, शेष वच्छशब्दवत् ॥ भ्रातृप्रभृतयोऽपि सज्ञावाचका उदाहार्या । इति ऋदन्तशब्दाः ॥ गोशब्दस्य च पुल्लिङ्गे [1] गाव इति गोण इति वा आदेशो भवति । ततश्च स्यादौ अदन्तवत् रूपाणि भवन्ति ॥

---

१ गोणादयः ॥२॥१७४॥ इत्यनन सूत्रेण ॥

नकारान्तः पुल्लिङ्गो राजन् इति शब्दः ॥

राज्ञः ॥३॥४९॥ राज्ञो लोपेऽन्त्यस्य आत्वं वा भवति सौ परे। राया, हे राया, पक्षे आणादेशं च [1]वक्ष्यते रायाणो, हे राया, हे रायमिति तु शौरसेन्याम्, एव हे अप्प हे अप्प ॥

जश्शस्ङसिङसां णोः ॥३॥५०॥ राजन्शब्दात् परेषाम् एषां णो इत्यादेशो वा भवति, ॥

इर्जस्य णोणाङौ ॥३॥५२॥ राजन्शब्दसम्बन्धिनो जकारस्य स्थाने णोणाङिषु परेषु इकारो वा भवति। रायाणो राइणो वा चिट्ठन्ति, पक्षे [2]राया [3]रायाणा ॥१॥

इणम् अमामा ॥३॥५३॥ राजन्शब्दसम्बन्धिनो जकारस्य अमाम्भ्या सहितस्य स्थाने इणम् इत्यादेशो वा भवति। राइणं पेच्छ, पक्षे राय रायाण। शसि, [4]रायाणो राइणो वा पेच्छ, पक्षे राया राए, [5]रायाणा, रायाणे, ॥२॥

टो णा ॥३॥५१॥ राजन्शब्दात्परस्य टा इत्यस्य णा इत्यादेशो वा भवति

---

१ पुस्यन आणो राजवच्च।३।५६। इति अनित्यस्य आणादेश. कथयिष्यति ॥
२ अन्त्यव्यञ्जनस्येति नलोप ॥ जश्शसोर्लुक् इति जसो लुक् ॥ जश्शस्ङसि त्तोदो द्वामि दीर्घ इति दीर्घत्वम् ॥ ३ पुस्यन आणो राजवच्च ॥३। ५६॥ इति अनित्यस्य आणादेश शेष पूर्ववत् एवम् अन्यत्रापि ज्ञेयम्।
४ जश्शस्ङसिङसा णो ॥३॥५०॥ इति शसो णो आदेश. ॥ राइणो इत्यत्रतु 'इर्जस्यणोणाङौ' ॥३॥५२॥ इति विशेष ॥ ५ पुस्यनेत्यादिना ॥३॥५६॥ अनित्यस्य आणादेश ॥

आजस्य टाङसिङस्सु सणाणोष्वण् ॥३॥५५॥ राजन्शब्दसम्बन्धिन आज इत्यवयवस्य टाङसिङस्सु णाणो इत्यादेशापन्नेषु अण् वा भवति। रण्णा राइणा, पक्षे रायणा [1]राएण रायाणेण ॥

ईद् भिस्भ्यसाम् सुपि ॥३॥५४॥ राजन्शब्दसम्बन्धिनो जकारस्य भिसादिषु परतो वा ईकारो भवति। राईहि, पक्षे [2]राएहि, रायाणेहि। एव हि हिँ परयोरपि ॥३॥ ङसौ [3]राइणो [4]रण्णो, राअत्तो रायाओ रायाउ, रायाणत्तो रायाणाओ राया-णाउ रायाणाहिन्तो। भ्यसि तु [5]राईओ राईहिन्तो राईसुन्तो, रायत्तो रायाओ रायाहिन्तो रायासुन्तो, आणादेशपक्षे रायाणाओ रायाणाउ रायाणाहिन्तो, रायाणेहिन्तो रायाणेसुन्तो ॥५॥ ङसि राइणो रण्णो, रायस्स रायाणस्स। आमि [6]राइणं, [7]राईण, रायाणं, रायाणाणं ॥६॥ [8]राइम्मि, राए, रायाणम्मि रायाणे। राईसु, राएसु, रायाणेसु। इत्यादि। राजन्शब्दस्याऽन्येषा च नकारान्तानां सर्वासु विभक्तिषु सामान्यतो रूपाणि तु एवम् ॥

---

१ अन्त्यव्यजनस्येति नलोप, टाआमोर्ण इति टास्थाने णस्तत. टाणशस्येत्, इति अकारस्य एत्त्वम् ॥

२ अन्त्यव्यञ्जनस्येति नलोप ॥ भिस्भ्यस्सुपि ॥३॥१५॥ इति जका-रोत्तराऽकारस्य एत्त्वम् ॥ ३ जस्शस्ङसिङसां णो ॥२॥५०॥ इति ङसेर्णो.॥ इर्जस्य णोणाङौ ॥३॥५२॥ इति जस्य इकार ॥ ४ आजस्य टाङसिङस्सु सणा-णोष्वण् ॥३॥५५। इत्याजस्य अणादेश ॥ ५ ईद् भिस्भ्यसाम्सुपि ॥३॥५४॥ इति जकारस्य ई इत्यादेश. ॥ ६ इणममामा ॥३॥५३॥ इति आम सह जकारस्य इणमित्यादेश ॥ ७ ईद् भिस्भ्यसा सुपि ॥३॥५४॥ इति जस्य ईत्त्वम् ॥ ८ इर्जस्य णोण[illegible] ५२॥ इति जस्य इत्त्वम ॥

पुंस्यन आणो राजवच्च ॥३॥५६॥ पुल्लिङ्गे वर्त-मानस्य अन्नन्तस्य स्थाने आण इत्यादेशो वा भवति । पक्षे यथादर्शनं राजवत् च कार्यं भवति । आणादेशे च 'अतः सेर्डोः (३।२) । इत्यादय. प्रवर्त्तन्ते । पक्षे तु राज्ञः जस्शस्ङसिङसां णो ॥३॥५०॥ टो णा ॥३॥५१॥ इणममामा ॥३॥५३॥ इति प्रवर्त्तन्ते ॥ अप्पाणो अप्पाणा ॥१॥ अप्पाणं अप्पाणा अप्पाणे ॥२॥

आत्मनष्टो णिआ णइआ ॥३॥५७॥ आत्मनः पर-स्याष्टाया. स्थाने णिआ णइआ इत्यादेशो वा भवत । 'अप्प-णिआ पाउसे उवगयम्मि, अप्पणिआ य विअड्डि खाणिआ, अप्प-णइआ । पक्षे अप्पाणेण, अप्पाणेहिं ॥३॥ अप्पाणाओ, अप्पाणा-सुन्तो ॥५॥ अप्पाणस्स अप्पाणाण ॥६॥ अप्पाणम्मि अप्पाणेसु । अप्पाणकय । पक्षे राजवत्, अप्पा अप्पो, हे अप्पा हे अप्प, अप्पाणो पेच्छ, अप्पणा, अप्पहिं, अप्पाणो अप्पाओ अप्पाउ अप्पाहि अप्पाहिन्तो अप्पा, अप्पासुन्तो ॥५॥ अप्पणो धण । अप्पाणं ॥६॥ अप्पे अप्पेसु । रायाणो, रायाणा, ॥१॥ रायाणं रायाणे ॥२॥ रायाणेण रायाणेहिं ॥३॥ रायाणाहिन्तो ॥५॥ रायाणस्स राया-णाणं ॥६॥ रायाणम्मि रायाणेसु । पक्षे राया, इत्यादि । एवं जुवाणो, जुवाणजणो, जुआ । वम्हाणो बम्हा । अद्धाणो अद्धा । (उक्षन्) उच्छाणो, उच्छा । (गोवान्) गावाणो गावा । पूसाणो पूसा । तक्खाणो तक्खा । मुद्धाणो मुद्धा । (श्वन्) साणो सा । (सुकर्मणः पश्य) सुकम्माणे पेच्छ । [1]निअइ कह सो सुकम्माणे (पश्यति कथं स सुकर्मण) इत्यर्थ । पुसीति किं 'शर्म, सम्मं ॥

---

१ दृशो-निअच्छ-पेच्छावयच्छा ॥४॥१८१॥ इति सूत्रेण दृश् धातो स्थाने निअइ इति आदेश. ॥

शेषेऽदन्तवत् ॥३॥१२४॥ उपयुक्तादन्यः शेषस्तत्र स्यादिविधिरदन्तवद् अतिदिश्यते, येषु आकाराद्यन्तेषु पूर्वं कार्याणि नोक्तानि तेषु जश्शसोर्लुग् इत्यादीनि, अदन्ताधिकारविहितानि कार्याणि भवन्तीत्यर्थः। तत्र जश्शसोर्लुक्, इत्येतत्कार्यातिदेशः, गिरी बाऊ तरू सही वहू माला रेहन्ति पेच्छ वा। अमोऽस्य ॥३॥५॥ इत्येतत्कार्यातिदेशः गिरिं वाउं तरुं गुरुं सहिं वहुं [१]गामणिं खलपुं पेच्छ। टा-आमोर्णः ॥३॥६॥ इत्येतत्कार्यातिदेशः। मालाण हाहाण कयं गिरीण वाऊणं गुरूणं सहीण वहूणं धणं। टायास्तु 'टो णा ॥३॥२४॥ टाङस्ङेरदादिदेद्वा तु ङसे ॥३॥२९॥ इति विधिरुक्तः। भिसो हि हिँ हिं ॥३॥७॥ इत्येतत्कार्यातिदेशः। [२]गिरीहि गुरूहि सहीहि वहूहि मालाहि कयं। एवं सानुनासिकानुस्वारयोरपि। ङसेस् त्तोदो दुहि हिन्तो लुक. ॥३॥८॥ इत्येतत्कार्यातिदेशः। गिरीओ वाऊओ मालाओ मालाउ मालाहिन्तो। बुद्धीओ बुद्धीउ बुद्धीहिन्तो। धेणूओ धेणूउ धेणूहिन्तो आगओ। हिलुकौ तु प्रतिषेत्स्येते, 'भ्यसस्तोदो दुहि हिन्तो सुन्तो, इत्येतत्कार्यातिदेशः, मालाहिन्तो मालासुन्तो हिस्तु निषेत्स्यते। एव गिरीहिन्तो इत्यादि, ङस स्स इत्येतत्कार्यातिदेश. गिरिस्स गुरुस्स दहिस्स महुस्स। स्त्रियां तु टाङस्ङेरित्याद्युक्तम्, ङेम्मिङे-रित्येतत्कार्यातिदेशः, गिरिम्मि गुरुम्मि दहिम्मि महुम्मि ङेस्तु निषेत्स्यते। स्त्रिया तु टाङस्ङेरित्यादि उक्त, जश्शस्ङसि त्तोदो द्वामिदीर्घः। इत्येतत्कार्यातिदेश., गिरी गुरू चिट्ठन्ति, गिरीओ

---

१ क्विपः ॥३॥४३॥ इति सूत्रेण ह्रस्व. २ इदुतो दीर्घः ॥३॥१६॥ इति दीर्घः।

गुरुओ आगओ, गिरीण गुरूण धणं । ङ्यसि वा । इत्येतत्कार्या-तिदेशो न प्रवर्त्तते इदुतोर्दीर्घः । इति नित्यं विधानात् । टाण-शस्येत् । भिस्भ्यस्सुपि । इत्येतत्कार्यातिदेशस्तु निषेत्स्यते ॥

इति स्वरान्तपुल्लिङ्ग. ॥

आकारान्तः स्त्रीलिङ्गो मालाशब्दः ॥

प्रथमैकवचने [1]माला, जसि तु ॥

स्त्रियामुदोतौ वा ॥३॥२७॥ स्त्रियां वर्तमानान्नाम्नः परयोर्जश्शसोः स्थाने प्रत्येकम् उत् ओत् इत्येतौ सप्राग्दीर्घौ वा भवतः । वचनभेदो यथासंख्यानिवृत्त्यर्थः मालाउ मालाओ बुद्धीउ बुद्धीओ, सहीउ सहीओ, धेणूउ धेणूओ, वहूउ वहूओ, पक्षे [2]माला [3]बुद्धी सही धेणू वहू । स्त्रियामिति किम् वच्छा, जश्शस इत्येव [4]मालाए कयं ॥१॥

ह्रस्वोऽमि ॥३॥३६॥ स्त्रीलिङ्गस्य नाम्नोऽमि परे ह्रस्वो भवति मालं नइं वहुं हसमाणिं हसमाणं पेच्छ, अमीति किम्, माला सही वहू । गत्ति तु मालाउ मालाओ माला । शेषेऽदन्त-वद् ॥३॥११४॥ इति प्राप्तमेत्त्वं निषेधयति ॥

एत् ॥३॥१२९॥ आकारान्तादीनाम् अर्थात्, टाशस्-भिस्भ्यस्सुप्सु परतोऽदन्तवद् एत्त्वं न भवति । हाहाणं कयं, मालाओ पेच्छ, एवम् अग्गिणो वाउणो इत्यादि ॥२॥ माला टा इतिस्थिते, ॥

---

१ अत. सेर्डो ॥३॥२॥ इत्यत्र तपरकरणात् दीर्घान्तात्सेर्डो न भवति ततश्चान्त्यव्यञ्जनस्येति सकारलोप ॥ २ जश्शसोर्लुक् ॥३॥४॥ इति जसो-लुक् ॥ ३ जश्-शस् ङसित्तोदोद्वामिदीर्घ. ॥३॥१२॥ इति दीर्घः ॥ ४ टाङ-सुङे-रदादिदेद् वा तु ङसे ॥३॥२९॥ इति सूत्रेण एत्वम् ॥

टाङस्ङे-रदादिदेद् वा तु ङसेः ॥३॥२९॥ स्त्रियां वर्तमानान्नाम्नः परेषां टाङस्ङीना स्थाने प्रत्येकम् अत् आत् एत् इत्येते चत्वार आदेशाः सप्राग्दीर्घा भवन्ति । ङसेः पुनरेते सप्राग् दीर्घा वा भवन्ति । मालाअ मालाइ मालाए कयं मुहं ठिअं वा, कप्रत्यये तु [१] मालिआअ मालिआइ मालिआए । कमलिआअ कमलिआइ कमलिआए । वुद्धीअ वुद्धीआ वुद्धीइ वुद्धीए कयं, विहओ ठिअं वा । सहीअ सहीआ सहीइ सहीए कय वयणं ठिअं वा, धेणूअ धेणूआ धेणूइ धेणूए कयं दुद्धं ठिअं वा, वहूअ वहूआ वहूइ वहूए कयं भवणं ठिअं वा । ङसेस्तु वा मालाअ मालाइ मालाए, वुद्धीअ वुद्धीआ वुद्धीइ वुद्धीए, सहीअ सहीआ सहीइ सहीए धेणूअ धेणूआ धेणूइ धेणूए, वहूअ वहूआ वहूइ वहूए, आगओ । पक्षे मालाओ मालाउ मालाहिन्तो, रईओ रईउ रई-हिन्तो, धेणूओ धेणूउ धेणूहिन्तो इत्यादि । शेषेऽदन्तवत् ॥३॥ १२४॥ इत्यतिदेशात् जश्शस् ङसित्तोदो द्वामि दीर्घः ॥३॥१२॥ इति दीर्घत्वम्, पक्षेऽपि भवति, स्त्रियामित्येव वच्छेण वच्छस्स वच्छम्मि वच्छाओ, टादीनामिति किम् माला वुद्धी सही धेणू वहू ॥

नात आत् ।३।३०। स्त्रियां वर्तमानादादन्तान्नाम्नः परेषां टाङस् ङिङसीनाम् आदादेशो न भवति मालाअ मालइ मालाए कय भिसि [२] मालाहि मालाहिँ मालाहिं ।३। [३] मालाअ, मालाइ, मालाए, पक्षे

---

१ मालाशब्दात् स्वार्थे कः, तत आप्, पूर्वस्य ह्रस्वः, मालका इति जातम् ततो लकारोत्तराकारस्य इत्वम् मालिका ॥ २ एत् ॥ ३ ॥ १२९ ॥ इति निषेधात् भिस्भ्यस्सुपि ॥ ३ ॥ १५ ॥ इति एत्त्व न भवति ॥ ३टाङस्ङे रदादिदेद्वातुङसेः ॥ ३ ॥ २९ ॥ इति ङसेर्विकल्पेन अदेदिदादेशा. ॥

ङसेर्लुक् ।३।१२६।। आकारान्तादिभ्योऽदन्तवत्प्राप्तो ङसेर्लुक् न भवति, मालत्तो मालाओ मालाउ मालाहिन्तो आगओ, भ्यसि तु

भ्यसश्च हिः ।।३।।१२७।। आकारान्तादिभ्योऽदन्तवत्प्राप्तो भ्यसो ङसेश्च हिर्न भवति । मालत्तो मालाओ मालाउ मालाहिन्तो मालासुन्तो ।।५।। ङसि, मालाअ मालाइ मालाए । आमि मालाण मालाआ ।।६।। ङौ तु–

ङेर्डेः ।।३।।१२८।। आकारान्तादिभ्योऽदन्तवत्प्राप्तो ङेर्डेः न भवति । मालाअ मालाइ मालाए । सुपि मालासु मालासुं ।।

वाऽऽप ए ।।३।।४१।। आमन्त्रणे सौ परे आप एत्त्वं वा भवति । हे माले हे महिले हे [१]अज्जिए, हे पज्जिए, पक्षे हे माला इत्यादि ।। आप इति किम्, हे पिउच्छा हे माउच्छा ।बहुलाधिकारात् क्वचिदोत्वमपि अम्मो भणामि भणिए । एव मुग्धारामाश्यामाप्रियतमामनोरमादयोऽन्येऽपिस्त्रीलिङ्गा आबन्ताः कथनीयाः

छाया हरिद्रयोः ।।३।।३४।। अनयोराप्प्रसङ्गे नाम्नः स्त्रियां ङीर्वा भवति । [२]छाही, छाया । छायाउ छायाओ ।।१।। छायं, छायाउ छायाओ छाया ।।२।। शेष मालावत् । हलद्दी हलद्दा हलद्दाउ हलद्दाओ ।१। हलद्दं हलद्दाउ हलद्दाओ हलद्दा ।।२।। शेष मालावत् । ङीपक्षे तु [३]छाईआ छाई, जसि छाईआ छाईउ छाईओ ।१। छाइं, छाईउ छाईओ ।।२।। हलद्दी हलद्दीआ, हलद्दीउ हलद्दीओ ।।१।। हलद्दिं हलद्दीउ हलद्दीओ ।।२।। इत्यादि शेषं नदीशब्दवत् ।।

---

१ आर्या शब्दात् स्वार्थे कप्रत्यये, आपि, ऱ्हस्वे इत्वे ऱ्हस्व सयोगे इति ऱ्हस्वे, अज्जका एव पार्जा ।। २ छायाया होऽकान्तौ वा ।।१।।२४९।। इति सूत्रेण यकारस्य हकारे । ३ ईतः सेश्चा वा ।३।२८। इत्यनेन सिस्थाने आ

प्रत्यये ङीर्न वा ॥३॥३१॥ अणादिसूत्रेण (हे १-२-४०) प्रत्ययनिमित्तो यो ङीरुक्त स स्त्रियां वर्त्तमानान्नाम्नो वा भवति, साहणी कुरुचरी, पक्षे आत् (हे० २-४) इत्याप् साहणा कुरुचरा ॥

अजातेः पुंसः ॥३॥३२॥ अजातिवाचिन. पुल्लिङ्गात् स्त्रियां वर्तमानात् ङीर्वा भवति, नीली नीला, काली काला, हसमाणी हसमाणा, सुप्पणही सुप्पणहा, इमीए इमाए, इमीण इमाणं, एईए एआए एईण एयाणं, अजातेरिति किम्, करिणी अया एलया, अप्राप्ते विभाषेयं, तेन गौरी, कुमारी, इत्यादौ संस्कृतवन्नित्यमेव ङी । इकारान्तस्त्रीलिङ्गो मतिशब्द. [1]मई, [2]मईओ मईउ मई ॥१॥ मइ मईओ मईउ मई ॥२॥ [3]मईअ मईआ मईइ मईए । [4]मईहिं मईहिँ मईहि ॥३॥ मईअ मईआ मईइ मईए । [5]मइत्तो मईओ मईउ मईहिन्तो । मइत्तो मईओ मईउ मईहिन्तो मईसुन्तो ॥५॥ मईअ मईआ मईइ मईए । मईण मईणं ॥६॥ मईअ मईआ मईइ मईए । मईसु मईसुं ॥७॥ सम्बोधने, हे [6]मई हे मइ । हे [7]मईओ हे मईउ हे मई । एवं रुचिबुद्धिप्रभृतयोऽपि ज्ञेया । एवं स्त्रीलिङ्गोकारान्ता धेन्वादयोपि ज्ञेया ॥

---

१ अक्लीबे सौ ॥३॥१९॥ इति दीर्घ. ॥ २ स्त्रियामुदोतौ वा ॥३॥२७॥ इति जस.स्थाने उदोतौ ।३। टाङस्ङेरदादिदेद्वातुङसे: ॥३॥२९॥ इति टास्थानेऽदादिदेदादेशा ॥ ४ इदुतोर्दीर्घ ॥३॥१६॥ इति भिसि परत. । इकारस्य दीर्घ ॥५ ङसेरदादिदेद् विकल्पात् पक्षे त्तोदोदु इत्यादय आदेशाः ।

६ ङोदीर्घो वा ॥३॥३८॥ इति विकल्पेन दीर्घत्वम् ॥ ७ स्त्रियामुदोतौ वा ॥३॥२७॥ इति उत् ओत् आदेश सप्राग् दीर्घ. ॥

ईकारान्तः स्त्रीलिङ्गो नदीशब्दः ॥

ईतः सेश्चाऽऽवा ॥३॥२८॥ स्त्रियां वर्तमानादीकारान्तात् सेर्जश्शसोश्च स्थाने आकारो वा भवति । नईआ नई । जसि नईआ, नई, एसा हसन्तीआ गोरीआ चिट्ठन्ति इत्यादि पक्षे नईउ नईओ नई ॥१॥ नइं, शसि नईआ नई, पेच्छ, पक्षे नईउ नईओ नई ॥२॥ नईअ नईआ नईइ नईए । नईहि नईहिँ नईहि ॥३॥ नईअ नईआ नईइ नईए, नईत्तो नईओ नईउ नईहिन्तो । भ्यसि नइत्तो नईओ नईउ नईहिन्तो नईसुन्तो ।५। नईअ नईआ नईइ नईए । नईण नईण ॥६॥ नईअ नईआ नईइ नईए । नईसु नईसुं ।७।

ईदूतोर्ह्रस्वः ॥३॥४२॥ आमन्त्रणे सौपरे ईदूदन्तयोर्ह्रस्वो भवति । हे नइ । हे गामणि हे समणि हे वहु हे खलपु । हे नईआ हे नई, हे नईओ हे नईउ । एवं गौरीदेवीभवतीपचन्तीप्रभृतयोऽपि ईकारान्ता उदाहार्याः । एवमूकारान्ता वध्वादयोऽपि ज्ञातव्याः ॥

स्त्रीलिङ्गे यच्छब्दस्य रूपाणि ॥

किंयत्तदोऽस्यमामि ॥३॥३३॥ सि अम् आम् वर्जिते स्यादौ परे एभ्यः स्त्रियां ङीर्वा भवति । इति ङी पक्षे । जा, [1]जीओ जीउ [2]जीआ जी ॥१॥ [3]जं । जीओ जीउ जीआ जी ॥२॥ जीअ जीआ जीइ जीए । जीहि जीहिँ जीहि ॥३॥ जीअ जीआ जीइ जीए, जित्तो जीओ जीउ जीहिन्तो । जित्तो जीओ जीउ जीहिन्तो जीसुन्तो ॥५॥ ङसि तु–

---

[1]स्त्रियामुदोतौ वा ॥३॥२७॥ इति उत् ओदौ । [2]ईतः सेश्चाऽऽवा ।३।२८। इति आत्वे । [3] ह्रस्वोऽमि ।३।३६। इति ह्रस्वे ।

प्रत्यये ङीर्न वा ॥३॥३१॥ अणादिसूत्रेण (हे १-२-४०) प्रत्ययनिमित्तो यो ङीरुक्त स स्त्रियां वर्त्तमानान्नाम्नो वा भवति, साहणी कुरुचरी, पक्षे आत् (हे० २-४) इत्याप् साहणा कुरुचरा ॥

अजातेः पुंस. ॥३॥३२॥ अजातिवाचिनः पुल्लिङ्गात् स्त्रियां वर्तमानात् ङीर्वा भवति, नीली नीला, काली काला, हसमाणी हसमाणा, सुप्पणही सुप्पणहा, इमीए इमाए, इमीण इमाणं, एईए एआए एईण एयाणं, अजातेरिति किम्, करिणी अया एलया, अप्राप्ते विभाषेय, तेन गौरी, कुमारी, इत्यादौ संस्कृतवन्नित्यमेव ङी । इकारान्तस्त्रीलिङ्गो मतिशब्दः [१]मई, [२]मईओ मईउ मई ॥१॥ मइ मईओ मईउ मई ॥२॥ [३]मईअ मईआ मईइ मईए । [४]मईहि मईहिँ मईहि ॥३॥ मईअ मईआ मईइ मईए । [५]मइत्तो मईओ मईउ मईहिन्तो । मइत्तो मईओ मईउ मईहिन्तो मईसुन्तो ॥५॥ मईअ मईआ मईइ मईए । मईण मईणं ॥६॥ मईअ मईआ मईइ मईए । मईसु मईसुं ॥७॥ सम्बोधने, हे [६]मई हे मइ । हे [७]मईओ हे मईउ हे मई । एवं रुचिवुद्धिप्रभृतयोऽपि ज्ञेया । एवं स्त्रीलिङ्गोकारान्ता धेन्वादयोपि ज्ञेया ॥

---

१ अक्लीवे सौ ॥३॥१९॥ इति दीर्घ. ॥ २ स्त्रियामुदोतौ वा ॥३॥२७॥ इति जस.स्थाने उदोतौ ।३। टाङपूङेरदादिदेद्वातुङसेः ॥३॥२९॥ इति टास्थानेअदादिदेदादेशा. ॥ ४ इदुतोर्दीर्घ ॥३॥१६॥ इति भिसि परत. । इकारस्य दीर्घ ॥५ ङसेरदादिदेद् विकल्पात् पक्षे त्तोदोदु इत्यादय आदेशा ।

६ ह्रोदीर्घो वा ॥३॥३८॥ इति विकल्पेन दीर्घत्वम् ॥ ७ स्त्रियामुदोतौ वा ॥३॥२७॥ इति उत् ओत् आदेश सप्राग् दीर्घ ॥

ईकारान्तः स्त्रीलिङ्गो नदीशब्दः ॥

ईतः सेश्चाऽऽवा ॥३॥२८॥ स्त्रियां वर्तमानादीकारान्तात् सेर्जस्शसोश्च स्थाने आकारो वा भवति । नईआ नई । जसि नईआ, नई, एसा हसन्तीआ गोरीआ चिट्ठन्ति इत्यादि पक्षे नईउ नईओ नई ॥१॥ नइं, शसि नईआ नई, पेच्छ, पक्षे नईउ नईओ नई ॥२॥ नईअ नईआ नईइ नईए । नईहि नईहिँ नईहि ॥३॥ नईअ नईआ नईइ नईए, नईत्तो नईओ नईउ नईहिन्तो । भ्यसि नइत्तो नईओ नईउ नईहिन्तो नईसुन्तो ।५। नईअ नईआ नईइ नईए । नईण नईण ॥६॥ नईअ नईआ नईइ नईए । नईसु नईसु ।७।

ईदूतोर्ह्रस्वः ॥३॥४२॥ आमन्त्रणे सौपरे ईदूदन्तयोर्ह्रस्वो भवति । हे नइ । हे गामणि हे समणि हे वहु हे खलपु । हे नईआ हे नई, हे नईओ हे नईउ । एवं गौरीदेवीभवतीपचन्तीप्रभृतयोऽपि ईकारान्ता उदाहार्याः । एवमूकारान्ता वध्वादयोऽपि ज्ञातव्याः ॥

स्त्रीलिङ्गे यच्छब्दस्य रूपाणि ॥

किंयत्तदोऽस्यमामि ॥३॥३३॥ सि अम् आम् वर्जिते स्यादौ परे एभ्यः स्त्रियां ङीर्वा भवति । इति ङी पक्षे । जा, [1]जीओ जीउ [2]जीआ जी ॥१॥ [3]जं । जीओ जीउ जीआ जी ॥२॥ जीअ जीआ जीइ जीए । जीहि जीहिँ जीहि ॥३॥ जीअ जीआ जीइ जीए, जित्तो जीओ जीउ जीहिन्तो । जित्तो जीओ जीउ जीहिन्तो जीसुन्तो ॥५॥ ङसि तु–

१स्त्रियामुदोतौ वा ॥३॥२७॥ इति उत् ओतौ । २ईत सेश्चाऽऽवा ।३।२८। ति आत्वे। ३ ह्रस्वोऽमि।३।३६। इति ह्रस्वे ।

ईद्भ्यः स्सा से ॥३॥६४॥ किमादिभ्य ईदन्तेभ्यः परस्य ङसः स्थाने स्सा से इत्यादेशो वा भवत. । टाङस्ङेरदादिदेद्वातु ङसेः ॥३॥२९॥ इत्यस्यापवाद., पक्षे अदादयोऽपि जिस्सा जीसे, पक्षे जीअ जीआ जीइ जीए । जाण जाणं ॥६॥ जीअ जीआ जीइ जीए । जीसु जीसुं ॥७॥ ङीरभावपक्षे तु जा, जाओ जाउ जा ॥१॥ जं । जाओ जाउ जा ॥२॥ जाअ जाइ जाए, जाहि जाहिँ जाहि ॥३॥ जाअ जाइ जाए जम्हा, पक्षे जत्तो जाओ जाउ जाहिन्तो । जत्तो जाओ जाउ जाहिन्तो जासुन्तो ॥५॥ जाअ जाइ जाए, जाण जाण ॥६॥ जाअ जाइ जाए । जासु जासुं ॥७॥ तच्छब्दस्य तु णादेशो विशेषः । तथाहि [१]सा ता [२]णा, तीओ तीउ [३]तीआ ती ॥१॥ त णं, तीओ तीउ तीआ ती ॥२॥ शेषं सर्वं यच्छब्दवत् ज्ञेयम् । किंशब्दस्य रूपाणि तु एवम्, का, कीओ कीउ कीआ की ॥१॥ कं, कीओ कीउ कीआ की ॥२॥ कीअ कीआ कीइ कीए । कीहि कीहिँ कीहि ॥३॥ कीअ कीआ कीइ कीए । पक्षे कित्तो कीओ कीउ कीहिन्तो कम्हा । कित्तो कीओ कीउ कीहिन्तो कीसुन्तो ॥५॥ कीअ कीआ कीइ कीए, [४]किस्सा कीसे [५]कास । काण काणं [६]कास [७]केसिं

---

१ तदश्चत. सोऽक्लीबे।३।८६। इति तकारस्य सकारः । २ तदो ण स्यादौ क्वचित् ।३।७०। इति तकारस्य रादेश ॥ ३ ईतः सेश्चा वा॥३॥२८॥ इति शस आकारादेश ॥ ४ ईद्भ्य स्सासे ॥३॥६४॥ ति ङस स्सा से इत्यादेशो ॥ ५ कियत्तद्भ्यो ङस ॥३॥६३॥ इत्यत्र बहुलाधिकारात् ईकारान्तादपि ङसो डासादेश । ६ कितद्भ्या डासः ॥३॥६२॥ इतित्यामो डासादेश. । ७ आमो डेसिं ॥३॥६१॥ इत्यामो डेसिमादेश. ॥

॥६॥ कीअ कीआ कीइ कीए। कीसु कीसु ॥७॥ आकारान्तपक्षे तु का, काओ काउ का ॥१॥ इत्यादि शेषं यत्तद् शब्दवत् । एवम् इदमेतच्छब्दयोरपि ज्ञेयानि ।

ऋकारान्तः स्त्रीलिङ्गो दुहितृशब्दः ॥

स्वस्रादेर्डा ॥३॥३५॥ स्वस्रादेः स्त्रियां वर्त्तमानात् डा प्रत्ययो भवति। दुहिआ, ससा नणन्दा, जसि दुहिआउ, दुहिआओ, दुहिआ ॥१॥ दुहिअं । दुहिआउ दुहिआओ दुहिआ ॥२॥ दुहिआअ दुहिआइ दुहिआए दुहिआहि दुहिआहिँ दुहिआहिं ॥३॥ इत्यादि शेषं मालाशब्दवत् ॥

ऋकारान्तः स्त्रीलिङ्गो मातृशब्दः ॥

आ अरा मातुः ॥३॥४६॥ मातृसम्बन्धिन ऋकारस्य स्यादौ परे आ अरा इत्यादेशौ भवतः। माआ माअरा । [1]माआउ माआओ, माअराउ माअराओ, पक्षे [2]माऊओ माऊउ माऊ ॥१॥ माअं माअरं । माआओ माआउ माआ, माअराओ माअराउ माअरा, माऊओ माऊउ माऊ ॥२॥ माआअ माआइ माआए, माअराअ माअराइ माअराए, पक्षे माऊअ माऊआ माऊइ माऊए । इत्यादि शेषं मालाशब्दवत्, उदादेशपक्षे तु धेनुशब्दवत् ॥

इति स्त्रीलिङ्गम् ॥

---

१ आ अरा मातुः ॥३॥४६॥ आ अरा आदेशे कृते, स्त्रियामुदोतौ वा ॥३॥२७॥ इति जसः स्थाने उदोदादेशौ ॥ एवं शसि अपि ॥ २ ऋतामुदस्यमौसु वा ॥३॥४४॥ इति ऋकारस्य उत्त्वम् शेषं पूर्ववत् ॥

अथ नपुंसकलिङ्गम्

अकारान्तो नपुंसकलिङ्गो वनशब्दः, वण सि इत्यवस्थितम् ।।

क्लीबे स्वरान्म्से: ।।३।।२५।। क्लीबे वर्तमानात् स्वरान्तात् नाम्नः परस्य सेः स्थाने म् भवति । वण पेम्म, दहिं महुं, दहि महु इति तु सिद्धावस्थापेक्षया, केचिद् अनुनासिकम-पीच्छन्ति, दहिँ महुँ, क्लीबे इति किम् । बालो बाला, स्वरा-दिति इदुतोः निवृत्त्यर्थम् ।।

जश्शस् इँ इं णयः सप्राग् दीर्घाः ।।३।।२६।। क्लीबे वर्तमानान्नाम्नः परयोः जश्शसोः स्थाने सानुनासिकसानुस्वरी इकारौ णिश्चादेशा भवन्ति, स प्राग् दीर्घाः एषु सत्सु पूर्व स्वरस्य दीर्घत्वं विधीयते इत्यर्थ । वणाइँ वणाइं वणाणि ।।१।। जाइँ वयणाइँ अम्हे, उम्मीलन्ति पंकयाइ, पेच्छ वा, चिट्ठन्ति दहीइं जेम वा, हुन्ति महूइ मुंच वा, फुल्लन्ति पकयाणि गेण्ह वा, हुन्ति दहीणि जेम वा, एव महूणि, क्लीबे इत्येव वच्छा वच्छे, जश्शस इति किं सुह । अमि तु वणं, शस्यपि वणाइँ वणाइ वणाणि, शेषं वच्छशब्दवत् । एवमेव इकारोकारान्तयोरपि शब्दयोः रूपाणि ज्ञेयानि । समानसूत्रत्वात् पृथक् नोपदर्शितानि ।।

नामन्त्र्यात्सौ मः ।।३।।३७।। आमन्त्र्यार्थात् परे सौ सति 'क्लीबे स्वरान्म् सेः' ।३।२५। इति यो म् उक्तः स न भवति, हे वण हे दहि हे महु, हे वणाइँ हे वणाइं, हे वणाणि । एवम् इदुदन्तयोरपि ।

क्लीबे स्यमेदमिणमो च ।।३।।७९।। नपुंसकलिङ्गे वर्तमानस्य इदमः स्यम्भ्या सहितस्य इदम् इणमो इणम् च

नित्यम् आदेशा भवन्ति । इदं इणमो इणं धणं चिट्ठइ पेच्छ वा, [1]इमाइँ इमाइं इमाणि ॥१॥ पुनरपि, इदं इणमो इणं, इमाइँ इमाइं इमाणि ॥२॥ शेषं पुंलिङ्गवत् ॥

किमः किम् ॥३॥८०॥ किमः क्लीबे वर्तमानस्य स्यम्भ्यां सहितस्य किम् भवति । किं कुलं तुह, किं किं ते [2]पडिहाइ, [3]काइँ काइं काणि, ॥१॥ द्वितीयायामपि किं काइँ काइं काणि ॥२॥ शेषं पुल्लिङ्गवत् इति नपुंसकलिङ्गम् ॥

वीप्सात्स्यादेर्वीप्स्ये स्वरे मो वा ॥३॥१॥ वीप्सार्थात्पदात्परस्य स्यादे स्थाने स्वरादौ वीप्सार्थे पदे परे मो वा भवति । (एकैकम्) [4]एक्कमेक्कं एक्कमेक्केण, (अङ्गे अङ्गे) अंगमंगम्मि, पक्षे एक्केक्कं । इति स्यादिविभक्तिप्रकरणम् ॥

अथ कारकप्रकरणम्

द्विवचनस्य बहुवचनम् ।३।१३०। सर्वासां विभक्तीनां त्यादीनां स्यादीनां च द्विवचनस्य स्थाने बहुवचनं भवति । दोण्णि कुणंति, दुवे कुणन्ति, दोहिं दोहिन्तो दोसुन्तो दोसु, हत्था, पाया थणया नयणा

चतुर्थ्याः षष्ठी ॥३॥१३१॥ चतुर्थ्या स्थाने षष्ठी भवति, मुणिस्स मुणिण देइ, नमो देवस्स देवाण

तादर्थ्यङेर्वा ॥३॥१३२॥ तादर्थ्यविहितस्य ङेश्चतुर्थ्येकवचनस्य स्थाने षष्ठी वा भवति । देवस्स देवाय, देवार्थमित्यर्थः । ङेग्गिति किं देवाणं ॥

---

(१) इदम इम. ॥३॥७२॥ इति इमादेशे ॥ (२) किं किं ते प्रतिभाति (३) किम. कस्त्रतसोश्च ॥३॥७१॥ इति कञ्चादेशे (४) सेवादौ वा ॥२॥९९॥ इति द्वित्वे ।

वधाड् डाइश्च वा ॥३॥१३३॥ वधशब्दात् परस्य ङेर्डिद् आइः षष्ठी च वा भवति, । वहाइ वहस्य वहाय वधार्थमित्यर्थः ॥

क्वचिद् द्वितीयादे ॥३॥१३४॥ द्वितीयादीनां विभक्तीनां क्वचिद् षष्ठी भवति । सीमाधरस्स वन्दे, तिस्सा मुहस्स भरिमो अत्र द्वितीयायाः षष्ठी, धणस्स लुद्धो (धनेन लुब्ध इत्यर्थः) चिरस्स मुक्का चिरेण मुक्तेत्यर्थः, तेसिं एअमणाइण्ण (तैरेतद-नाचीर्णम्) अत्र तृतीयायाः षष्ठी, चोरस्स बीहइ (चोराद्-बिभेतीत्यर्थः) इअराइं जाण लहुअक्खराइं पायन्तिमिल्ल-सहि-आण (पादान्तेन सहितेभ्य इतराणीति) अत्र पञ्चम्याः । पिट्ठिए केस भारो, अत्र सप्तम्याः ॥

द्वितीया तृतीययोः सप्तमी ॥३॥१३५॥ द्वितीया-तृतीययोः स्थाने क्वचित् सप्तमी भवति, गामे वसामि, नयरे न जामि, अत्र द्वितीयायाः, मइ वेविरीए मलिआइं तिसु तेसु अलं-किआ पुहवी, अत्र तृतीयायाः ॥

पञ्चम्यास्तृतीया च ।३।१३६। पञ्चम्याः स्थाने क्वचित् तृतीयासप्तम्यौ भवतः । चोरेण बीहइ, चोराद् बिभेतीत्यर्थः (अन्तेउरे रमिउं आगओ राया) अन्तःपुराद् रन्त्वाऽऽगत इत्यर्थः ।

सप्तम्या द्वितीया ॥३॥१३७॥ सप्तम्याः स्थाने क्वचिद् द्वितीया भवति । विज्जुज्जोयं भरइ रत्तिं, आर्षे तृतीयाऽपि दृश्यते, तेणं कालेणं तेणं समएण (तस्मिन् काले तस्मिन् समये) इत्यर्थः । प्रथमाया अपि द्वितीया दृश्यते, चउवीसपि जिणवरा (चतुर्विंशतिरपि जिनवरा इत्यर्थः) । इति कारकाणि ॥

अथ तिङन्तप्रकरणम्

त्यादीनामाद्यत्रयस्याद्यस्येचेचौ ॥३॥१३९॥ त्यादीनां विभक्तीना परस्मैपदानाम् आत्मनेपदानां च सम्बन्धिनः प्रथम-त्रयस्य यदाद्यं वचनं तस्य स्थाने इच् एच् इत्यादेशौ भवतः। चकारौ इचे चः ॥४॥३१८॥ इत्यत्र विशेषणार्थौं, हस् इ इतिस्थिते ॥

व्यञ्जनाददन्ते ॥३॥२३९॥ व्यञ्जनान्ताद् धातोरन्ते अकारो भवति। हसइ हसए, [1]भमइ [2]कुणइ चुम्बइ भणइ उपसमइ पावइ सिंचइ रुन्धइ मुसइ हरइ [3]करइ शबादीनां च प्राय. प्रयोगो नास्ति ॥

बहुष्वाद्यस्य न्ति न्ते इरे ॥३॥१४२॥ त्यादीनां पर-स्मैपदानाम् आत्मनेपदानाम् आद्यत्रयस्य सम्बन्धिनो बहुषु वर्त्त-मानस्य वचनस्य स्थाने न्ति न्ते इरे इत्यादेशा भवन्ति। हसन्ति वेवन्ति, [4]हसिज्जन्ति, रमिज्जन्ति, [5]गज्जन्ते खे मेहा, बीहन्ते [5]रक्खसाणं च, [6]उप्पज्जन्ते कइहिअयसायरे कव्वरयणाइं, दोण्णि वि न पहुप्पिरे वाहु न प्रभवत इत्यर्थ विच्छुहिरे, विक्षुभ्यन्तीत्यर्थ.। क्वचिद् इरे एकत्वेऽपि, सुसइरे [7]गामचिक्खल्लो, शुष्य तीत्यर्थ ॥

---

१ भ्रमति, करोति, चुम्बति, भणति, उपशाम्यति, प्राप्नोति, सिञ्चति, रुणद्धि, मुश्णाति हरति किरति ॥ २ कृगे कुण ।४।६५। इति करोते कुणा-देशः ॥ ३ ऋवर्णस्यार ॥४॥२३४॥ इति ऋकारस्य स्थाने अरादेश । ४ ईअइज्जो क्यस्य ॥३॥१६०॥ इति क्यस्य इज्जादेश. ॥ हस्यन्ते, रम्यन्ते ।५ बिभ्यति राक्षसेभ्य (६) उत्पद्यन्ते कवि हृदय सागरे काव्यरत्नानि, (७) ग्रामपक.।

द्वितीयस्य सि से ॥३॥१४०॥ त्यादीनां परस्मैपदानाम् आत्मनेपदाना च द्वितीयस्य त्रयस्य संवन्धिन आद्यवचनस्य स्थाने सि से इत्यादेशौ भवतः। हससि हससे वेवसि वेवसे ॥

अत एवैच्से ॥३॥१४५॥ त्यादेः स्थाने यौ एच् से इत्यादेशावुक्तौ तौ अकारान्तादेव भवतो नान्यस्मात्। हसए हससे [1]तुवरए, तुवरसे करए करसे, अत इति किम् [2]ठाइ, ठासि, [3]वसुआइ, वसुआसि, [4]होइ होसि, एवकारोऽकारान्ताद् एच् से एव भवतः, इति विपरीतावधारणनिषेधार्थं, तेन अकारान्ताद् इच् सि इत्येतावपि सिद्धौ, हसइ हससि वेवइ वेवसि ॥

मध्यमस्येत्था हचौ ॥३॥१४३॥ त्यादीनां परस्मैपदात्मनेपदाना मध्यमत्रयस्य बहुषु वर्त्तमानस्य स्थाने इत्था हच् इत्यादेशौ भवतः। हसित्था हसह वेवित्था वेवह, बहुलाधिकारात् इत्था अन्यत्रापि (यद्यद् ते रोचते) जं जं ते रोइत्था, हच् इति चकारः, इहहचोर्हस्य ॥४।२६८॥ इत्यत्र विशेषणार्थः ॥

तृतीयस्य मिः ॥३॥१४१॥ त्यादीना परस्मैपदानामात्मनेपदाना च तृतीयस्य त्रयस्याद्यस्य वचनस्य स्थाने मिरादेशो भवति ॥

मौ वा ॥३॥१५४॥ अत आ इति वर्त्तते, अदन्ताद् धातोर्मौ परे अत आत्वं वा भवति। हसामि हसमि, वेवामि वेवमि, बहुलाधिकाराद् मिवेः स्थानीयस्य मेरिकारलोपश्च बहु जाणय रूसिउं सक्क, शक्नोमीत्यर्थः। न मर (न म्रिये इत्यर्थः।

---

१ त्वरस्तुवर–जयडो ॥४॥१७०॥ इति त्वरतेरतुवरादेशः ॥ २ स्थष्ठा–थक्क चिट्ठनिरप्पा ।४।१६। इति ठादेशः ३ उद्वतिरोरुम्मा वसुआ ।४।११। इति वसुवा आदेश. ।४। भुवेर्हो-हुवहुवा. ॥४॥६०॥ इति भूधातोर्हो आदेशः

तृतीयस्य मो मु माः ॥३॥१४४॥ त्यादीनां परस्मै-पदात्मनेपदाना तृतीयस्य त्रयस्य संम्बन्धिनो वहुषु वर्तमानस्य वचनस्य स्थाने मोमुम इत्येते आदेशा भवन्ति ॥

इच्च मो मु मे वा ॥३॥१५५॥ अकारान्ताद् धातोः परेषु मोमुमेषु अत इत्वं चकाराद् आत्त्व च वा भवतः। हसिमो हसामो हसमो, वेविमो वेवामो वेवमो, हसिमु हसामु हसमु, वेविमु, वेवामु वेवमु, हसिम हसाम हसम, वेविम वेवाम वेवम। वर्त्तमानपञ्चमीशतृपु वा ॥३॥१५८॥ इत्येत्त्वे तु, हसेमो हसेमु हसेम, वेवेमो वेवेमु वेवेम, अत इत्येव ठामो होमो ॥

अत्थिस्त्यादिना ॥३॥१४८॥ अस्ते. स्थाने त्यादिभिः सह अत्थि इत्यादेशो भवति। पुरुषवचने न विवक्षते। अत्थि सो, अत्थि ते, अत्थि तुवं, अत्थि तुम्हे, अत्थि अहं, अत्थि अम्हे ॥

सिनाऽस्तेः सिः ॥३॥१४६॥ सिना द्वितीयत्रिकादेशेन सह अस्ते. सिरादेशो भवति। निट्ठुरो जं सि, सिना इति किम्। से आदेशे अत्थि तुमं ॥

मि मो मै म्हि म्हो म्हा वा ॥३॥१४७॥ अस्तेर्धातोः स्थाने मिमोम इत्यादेशै. सह यथासख्यं म्हि म्हो म्ह इत्यादेशा भवन्ति। एस म्हि, (एषोऽस्मीत्यर्थः) गय म्हो, गय म्ह। मुकारस्याग्रहणादप्रयोग एव तस्य इत्यवसीयते, पक्षे अत्थि अम्हे। ननु च सिद्धावस्थायां पक्ष्मश्मष्मस्मह्मां म्हः ॥२॥७४॥ इत्यनेनैव म्हादेशे म्हो इति सिद्धयति? सत्यं किन्तु विभक्तिविधौ प्रायः साध्यमानावस्थाऽङ्गी क्रियते, अन्यथा वच्छेण वच्छेसु सव्वे जे ते के इत्याद्यर्थं सूत्राणि नारम्भनीयानि स्युः ॥

भविष्यति हिरादिः ॥३॥१६६॥ भविष्यदर्थे विहिते प्रत्यये परे तस्यैव आदि–हि. प्रयोक्तव्यः, [१]होहिइ, भविष्यति भविता वेत्यर्थ., एवं होहिन्ति होहिसि होहित्था होहिह ॥

मि मो मु मे स्सा हा नवा ॥३॥१६७॥ भविष्यत्यर्थे मिमोमुमेषु तृतीयत्रिकादेशेषु परेषु तेषामेव आदी स्सा हा इत्येतौ वा प्रयोक्तव्यौ, हेरपवादौ, पक्षेहिरपि होस्सामि होहामि, होस्सामो होहामो, होस्सामु होहामु, होस्साम होहाम, पक्षे होहिमि होहिमो होहिमु होहिम, क्वचित्तु हा न भवति, [२]हसिस्सामो हसिहिमो ॥

मेः स्सं ॥३॥१६९॥ धातोः परो भविष्यति काले म्यादेशस्य स्थाने स्सं वा प्रयोक्तव्यः, होस्सं, हसिस्सं, कित्तइस्स पक्षे होहिमि, होस्सामि, होहामि, कित्तइहिमि ॥

श्रु-गमि-रुदि-विदि-दृशि-मुचि-वचि-छिदि-भिदि-भुजां सोच्छं गच्छं रोच्छं वेच्छं दच्छं मोच्छं वोच्छं छेच्छं भेच्छं भोच्छं ॥३॥१७१॥ श्र्वादीना धातूना भविष्यद्विहितम्यन्ताना स्थाने सोच्छम् इत्यादयो वा निपात्यन्ते, सोच्छं (श्रोष्यामि) गच्छ (गमिष्यामि) सगच्छ (सगस्ये) रोच्छं (रोदिष्यामि) विद ज्ञाने, वेच्छं (वेदिष्यामि) दच्छ (द्रक्ष्यामि) मोच्छ (मोक्ष्यामि) वोच्छं (वक्ष्यामि) छेच्छं (छेत्स्यामि) भेच्छं (भेत्स्यामि) भोच्छ (भोक्ष्ये)

सोच्छादय इजादिषु हिलुक् च वा ॥३॥१७२॥

---

१ भुवेर्हो–हुव–हवा ॥४॥६०॥ इति हो भुव स्थाने हो आदेश.
(२)इच्च मोमुमे वा ॥३॥१५५॥ इति इत्वे ॥

शॢ्वादीनां स्थाने इजादिषु भविष्यदादेशेषु यथासंख्यं सोच्छादयो भवन्ति । ते एव आदेशा अन्त्यस्वराद्यवयववर्ज्या [1] इत्यर्थः हिलुक् च वा भवति, सोच्छिइ [2] पक्षे सोच्छिहिइ, एवं सोच्छिंति सोच्छिहिंति, सोच्छिसि सोच्छिहिसि, सोच्छित्था सोच्छिहित्था, सोच्छिह सोच्छिहिह, सोच्छिमि सोच्छिहिमि सोच्छिस्सामि, सोच्छिहामि, सोच्छिस्स, सोच्छं, सोच्छिमो, सोच्छिहिमो, सोच्छिस्सामो, सोच्छिहामो, सोच्छिहिस्सा, सोच्छिहित्था ॥ एवं मुमयोरपि. गच्छिइ, गच्छिहिइ, गच्छिंति, गच्छिहिन्ति, गच्छिसि, गच्छिहिसि, गच्छित्था, गच्छिहित्था, गच्छिह, गच्छिहिह, गच्छिमि, गच्छिहिमि, गच्छिस्सामि, गच्छिहामि, गच्छिस्सं, गच्छं गच्छिमो, गच्छिहिमो गच्छिस्सामो गच्छिहामो, गच्छिहित्था, गच्छिहिस्सा ॥ एवं मुमयोरपि, एवं रुदादीनामपि उदाहार्यम् ॥

मो-मु-मानां हिस्सा हित्था ॥३॥१६८ धातो परो भविष्यति काले मोमुमाना स्थाने हिस्सा हित्था इत्येतौ वा प्रयोक्तव्यौ । होहिस्सा होहित्था, हसिहित्था हसिहिस्सा, पक्षे होहिमो होस्सामो होहामो इत्यादि ॥

कृ-दो हं ॥३॥१७०॥ करोतेर्ददातेश्च परो भविष्यति विहितस्य म्यादेशस्य स्थाने हं वा प्रयोक्तव्यः । [3] काहं दाहं, करिष्यामि दास्यामीत्यर्थः ॥

ज्जाज्जे ॥३॥१५९॥ ज्जा ज्ज इत्यादेशयो. परयोरकारस्य एकारो भवति ॥

---

१ पूर्वसूत्रे तु मिप्रत्ययेन सह आदेशा, अत्र तु इजादिप्रत्ययं विनैव इतिभाव.।
२ हिलुगभावपक्षे ॥ ३ आ. कृगो भूतभविष्यतोश्च ।४।२१४। इति आत्वे ।

वर्त्तमाना-भविष्यन्त्योश्च ज्ज ज्जा वा ॥३॥१७७॥

वर्तमाना भविष्यन्त्योश्च विध्यादिषु च विहितस्य प्रत्ययस्य स्थाने ज्ज ज्जा इत्यादेशौ वा भवतः, पक्षे यथाप्राप्तम्, वर्तमाना । हसेज्ज हसेज्जा, पढेज्ज पढेज्जा, [१]सुणेज्ज सुणेज्जा, पक्षे हसइ, पढइ सुणइ । (भविष्यन्ती) प ज्ज पढेज्जा पक्षे पढिहिइ । विध्यादिषु हसेज्ज हसेज्जा, हसेतु हसेत् वा इत्यर्थः, पक्षे हसउ, एवं सर्वत्र, यथा तृतीयत्रये, अइवाएज्जा, अइवाया-वेज्जा, 'न ममणु जाणामि, न समणु जाणेज्जा वा, अन्ये तु अन्यासामपीच्छन्ति, होज्जा भवति भवेत् भवतु अभवत् अभूत् वभूव भूयात् भविता भविष्यति अभविष्यत् वेत्यर्थ. ॥

मध्ये च स्वरान्ताद्वा ॥३॥१७८॥ स्वरान्ताद् धातोः' प्रकृतिप्रत्यययोर्मध्ये, चकारात् प्रत्ययाना च स्थाने ज्ज ज्जा इत्येती वा भवतः, वर्तमाना-भविष्यन्त्योर्विध्यादिपु च, (वर्त-मानाः) होज्जइ होज्जाइ, होज्ज होज्जा, पक्षे होइ, [२]एव होज्जसि होज्जासि होज्ज होज्जा, होसि इत्यादि, (भविष्यन्ती) होज्जहिइ होज्जाहिइ, होज्ज होज्जा, पक्षे होहिइ, एवं होज्ज-हिसि होज्जाहिसि, होज्ज होज्जा, होहिसि होज्जहिमि होज्जाहिमि [३]होज्जस्सामि होज्जहामि [४]होज्जस्सं होज्ज होज्जा इत्यादि

---

१ चि जि श्रु हु स्तु लू पू धूगा णो ह्रस्वश्च ।४।२४१। इति सूत्रेण णकारागमः
२ वर्त्तमानकालिकमध्यमस्य उदाहरणम् दर्शयति, होज्जसीत्यादि । ३ मिमो-मुमे स्साहा नवा ॥३॥१६७॥ इति मे. स्साही आगमी ॥ ४ मे. स्स ॥३॥ १६९॥ इति मेः स्थाने स्समादेश. ॥

विध्यादिषु होज्जउ होज्जाउ होज्ज होज्जा 'भवतु भवेद्वा इत्यर्थः पक्षे होउ, स्वरान्तादिति किम्, हसेज्ज हसेज्जा 'तुवरेज्ज तुवरेज्जा

सी ही हीअ भूतार्थस्य ॥३॥१६२॥ भूतेऽर्थे विहितोऽद्यतनादिप्रत्ययो भूतार्थः तस्य स्थाने सी ही हीअ इत्यादेशा भवन्ति, उत्तरत्र व्यञ्जनादीअ विधानात् स्वरान्तादेवाऽयं विधिः कासी काही काहीअ, अकार्षीत् अकरोत् चकार वेत्यर्थः। एवं ठासी ठाही ठाहीअ, आर्षे 'देविन्दो इण अब्बवी, इत्यादौ सिद्धावस्थाश्रयणात् ह्यस्तन्याः प्रयोगः ॥

व्यञ्जनादीअः ॥३॥१६३॥ व्यञ्जनान्ताद् धातोः परस्य भूतार्थस्य अद्यतनादिप्रत्ययस्य ईअ इत्यादेशो भवति। हुवीअ, अभूत् अभवत् बभूव वेत्यर्थः, एवम् [2]अच्छीअ आसिष्ट आस्त आसांचक्रे वा, [3]गेण्हीअ अग्रहीत् अगृण्हात् जग्राह वा ॥

तेनास्ते-रास्यहेसी ॥३॥१६४॥ अस्ते-र्धातोस्तेन भूतार्थेन प्रत्ययेन सह आसि अहेसि इत्यादेशौ भवतः। आसि सो तुमं अहं वा, जे आसि ये आसन्नित्यर्थ, एवम् अहेसि ॥

दु सु मु विध्यादिष्वेकस्मिस्त्रयाणाम् ॥३॥१७३॥ विध्यादिष्वर्थेषु उत्पन्नानाम् एकत्वेऽर्थे वर्तमानाना त्रयाणामपि त्रिकाणां स्थाने यथासंख्य दुसुमु इत्येते आदेशा भवन्ति। हसउ सा, हससु तुमं हसामु अहं। पेच्छउ पेच्छसु पेच्छामु दकारोच्चारणं भाषान्तरार्थम्।

सोर्हिर्वा ॥३॥१७४॥ पूर्वसूत्रविहितस्य सोः स्थाने हिरादेशो वा भवति। [4]देहि, देसु ॥

---

१ त्वरस्तुवर-जअडौ ।४॥१७०। इति त्वर स्थाने तुवर आदेश २ गमिष्यमासा ॥४॥२१५॥ इति सूत्रेण मान्तस्य छादेश.। ३ ग्रहो वल-गेण्ह-हर-पङ्ग-निरुवाराहि पच्चु आ ॥४॥२०१॥ इति गेण्हादेश.। ४ स्वराणा स्वरा. ॥४॥२३८॥ इत्याकारस्य एत्त्वम् ॥

अत इज्जस्विज्जहीज्जे लुको वा ॥३॥१७५॥
अकारात् परस्य सोः इज्जसु इज्जहि इज्जे इत्येते लुक् च आदेशा वा भवन्ति । हसेज्जसु हसेज्जहि हसेज्जे हस, पक्षे हससु अत इति किम् होसु ठाहि ॥

बहुषु न्तु ह मो ॥३॥१७६॥ विध्यादिपूत्पन्नानां बहुष्वर्थेषु वर्तमानाना त्रयाणां त्रिकाणां स्थान यथासंख्यं न्तु ह मो इत्यादेशा भवन्ति । हसन्तु, (हसन्तु हसेयुर्वा,) हसह (हसत हसेत वा) हसामो (हसाम हसेम वा) एवं तुवरन्तु तुवरह तुवरामो,

ज्जात् सप्तम्या इर्वा ॥३॥१६५॥ सप्तम्यादेशात् ज्जात् पर इर्वा प्रयोक्तव्यः (भवेत्) होज्जइ होज्ज ॥

क्रियातिपत्तेः ॥३॥१७९॥ क्रियातिपत्ते. स्थाने ज्जज्जावादेशौ भवतः । होज्ज होज्जा अभविष्यदित्यर्थ., जइ होज्ज वण्णणिज्जो ॥

न्त-माणौ ॥३॥१८०॥ क्रियातिपत्तेः स्थाने न्तमाणौ आदेशौ भवत. । होन्तो होमाणो अभविष्यदित्यर्थः ॥

[1] हरिणट्ठाणे हरिणंक जइ सि हरिणाहिवं निवेसन्तो ॥
न सहन्तो च्चिअ तो राहुपरिहवं से जिअन्तस्स ॥ १ ॥

शत्रानशः ॥३॥१८१॥ शतृ आनश् इत्येतयो. प्रत्येकं न्त माण इत्यादेशौ भवतः । शतृ-हसन्तो, हसमाणो, आनश-वेवन्तो वेवमाणो ।

ई च स्त्रियाम् ॥३॥१८२॥ स्त्रिया वर्त्तमानयोः शत्रानशोः स्थाने ई चकारात् न्तमाणौ च भवन्ति । हसई हसन्ती, हसमाणी, वेवई वेवन्ती वेवमाणी ॥

---

१ हरिणस्थाने हरिणाङ्क यदि त्व हरिणाधिप न्यवेशय ॥ नासहिष्यथा एव ततो राहुपरिभवम् अस्य जीवत ॥१॥

उवर्णस्याव: ॥४॥२३३॥ धातोरन्त्यस्य उवर्णस्य अवादेशो भवति। हुङ् निण्हवइ, हु, निह्वइ, च्युङ्, चवइ, रु, रवइ, कु, कवइ, सू, सवइ पसवइ ॥

ऋवर्णस्यार: ॥४॥२३४॥ धातोरन्त्यस्य ऋवर्णस्य अरादेशो भवति। करइ, घरइ, मरइ, वरइ, सरइ, हरइ, तरइ, जरइ ॥

वृषादीनामरि: ॥४॥२३५॥ वृष इत्येवं प्रकाराणा धातूनाम् ऋवर्णस्य अरि' इत्यादेशो भवति। वरिसइ, करिसइ, दरिसइ, मरिसइ, हरिसइ, येषामरिरादेशो दृश्यते ते वृषादय: ॥

रुषादीनां दीर्घ: ॥४॥२३६॥ रुष इत्येवंप्रकाराणां धातूनां स्वरस्य दीर्घो भवति। रूसइ तूसइ सूसइ दूसइ सीसइ पूसइ इत्यादि

युवर्णस्य गुण: ॥४॥२३७॥ धातोरिवर्णस्य उवर्णस्य च ङ्कित्यपि गुणो भवति । जेऊण नेऊण, नेइ नेन्ति, उड्डेइ उड्डेन्ति, मोत्तूण सोऊण, क्वचिन्न भवति, नीओ उड्डीणो ॥

स्वराणां स्वरा. ॥४॥२३८॥ धातुषु स्वराणां स्थाने स्वरा बहुलं भवन्ति । हिवइ हवइ, चिणइ चुणइ, [1] सद्दहणं सद्दहाण, धावइ धुवइ, [2] रुवइ रोवइ, क्वचिन्नित्यम् देइ, लेइ विहेइ, नासइ, आर्षे बेमि ॥

स्वरादनतो वा ॥४॥२४०॥ अकारान्तवर्जितात्स्वरान्तात् धातोरन्ते अकारागमो वा भवति । पाअइ पाइ, धाअइ,

---

१ श्रदो धो दह ॥४॥९॥ इति सूत्रेण धा स्थाने दहादेशो: २) रुदनमोर्वं ॥४॥२२६॥ इति अन्तस्य वो भवति ॥

धाइ, जाअइ जाइ, [1]झाअइ झाइ, [2]जम्भाअइ जम्भाइ, उव्वाअइ उव्वाइ, मिलाअइ मिलाइ, विक्केअइ विक्केइ, होअऊण होऊण अनत इति किम् ? चिइच्छइ दुगुच्छइ ॥

चि-जि-श्रु-हु-स्तु-लू-पू-धूगां णो ह्रस्वश्च ॥४॥२४१॥ च्यादीनां धातूनामन्ते णकारागमो भवति। एषां स्वरस्य च ह्रस्वो भवति। चिणइ, जिणइ, सुणइ, हुणइ, थुणइ, लुणइ, पुणइ, धुणइ, बहुलाधिकारात् क्वचित् विकल्पः, उच्चिणइ उच्चेइ, जेऊण जिणिऊण, जयइ जिणइ, सोऊण सुणिऊण ॥

क्ते ॥३॥१५६॥ क्ते परतोऽत इत्त्व भवति। हसिअं पढिअं नविअं हासिअं पाढिअं 'गयं नयं' इत्यादि तु सिद्धावस्थापेक्षणात्, अत इत्येव झायं लुअं हूअ ॥

एच्च क्त्वा-तुम्-तव्य भविष्यत्सु ॥३॥१५७॥ क्त्वातुम्तव्येषु भविष्यत्कालविहिते प्रत्यये च परतोऽत एकारश्चकाराद् इकारश्च भवति। 'क्त्वा' हसेऊण, 'तुम्' हसेउं हसिउं 'तव्य' हसेअव्वं हसिअव्व 'भविष्यत्' हसेहिइ हसिहिइ, अत इत्येव काऊण ॥

वर्त्तमाना-पञ्चमी शतृषु वा ॥३॥१५८॥ वर्त्तमानापञ्चमीशतृषु परत अकारस्य स्थाने एकारो वा भवति। 'वर्त्तमाना' हसेइ हसइ हसेम हसिम हसेमु हसिमु [3]'पञ्चमी' हसेउ हसउ सुणेउ, 'शतृ' हसेन्तो हसन्तो क्वचिन्न भवति, जयइ क्वचिदात्त्वमपि सुणाउ ॥

---

१ ध्या-गोर्झा-गौ ॥४॥ झा इति आदेश ॥ २ अवेर्जृम्भो जम्भा ।४।१५७॥ इति जम्भादेश. । ३ पञ्चमीति लोट् लकारस्य परत इत्यर्थ. ।

अथ ण्यन्तव्यवस्था

णेरदेदावावे ।।३।।१४९।। णेः स्थाने अत् एत् आव आवे एते चत्वार आदेशा भवन्ति । [१]दरिसइ, [२]कारेइ, करावइ करावेइ, हासेइ हसावइ हसावेइ, उवसामेइ उवसमावइ उवसमावेइ, वहुलाधिकारात् क्वचिद् एन्नास्ति, जाणावेइ, क्वचिद् आवे नास्ति, पाएइ भावेइ ।।

गुर्वादेरवि-र्वा ।।३।।१५०।। गुर्वादेर्णे. स्थाने अवि इत्यादेशो वा भवति। (शोषितम्) सोसविअं (तोषितम्)तोसविअं तोसिअ ।

भ्रमेराडो वा ।।३।।१५१।। भ्रमे परस्य णेराड इति आदेशा वा भवति, भमाडइ, भमाडेइ पक्षे भामेइ भमावइ भमावेइ।

लुगावी क्त-भावकर्मसु ।।३।।१५२।। णेः स्थाने लुग् आवि इत्यादेशौ भवतः क्ते भावकर्मविहिते च प्रत्यये परे, कारिअं कराविअं, हासिअं हासाविअं, खामिअं खमाविअं, भाव-कर्मणोः, [३]कारीअइ करावीअइ कारिज्जइ कराविज्जइ, हासी-अइ हसाविअइ हासिज्जइ हसाविज्जइ ।।

अदेल्लुक्यादेरत आः ।।३।।१५३।। णेरदेल्लोपेषु कृतेपु आदेरकारस्य आ भवति । (अति) [४]पाडइ (एति) कारेइ खामेइ, (लुकि) कारिअ खामिअं, करीअइ खामीअइ, कारि-ज्जइ खामिज्जइ । अदेल्लुकि इति किम्, कराविअ करावीअइ

---

१) विपादीनामरिः ।।४।।२३५ । इति अरि आदेश ।।

२) अदेल्लुक्यादेरत आ. इति आकारादेश ।।

३ ईअइज्जौ क्यस्य ।।३।।१६०।। इति क्यस्य ईअ इज्जो आदेशौ ।।

४) सदपतोर्डः ।।४।।२१९।। इति सूत्रेण अन्त्यस्यडादेश. ।।

करावि‍ज्जइ, आदेरिति किम्, संगामेइ । इह व्यवहितस्य मा भूत्, कारिअ इह अन्त्यस्य माभूत्, अत इति किं, दूसेइ, केचित्तु आवेआव्यादेशयोरपि आदेरत आत्वम् इच्छन्ति, कारावेइ । हासाविओ जणो सामलीए ॥

अथभावकर्मप्रक्रिया

ईअ-इज्जौ क्यस्य ॥३॥१६०॥ [१] चिजिप्रभृतीना भावकर्मविधिं वक्ष्यामः, येषां तु न वक्ष्यते तेषां संस्कृतातिदेशात् प्राप्तस्य क्यस्य स्थाने ईअ इज्ज इत्यादेशौ भवतः । हसीअइ हसिज्जइ, हसीअन्तो हसिज्जन्तो, हसीअमाणो हसिज्जमाणो, पढीअइ पढिज्जइ, होईअइ होइज्जइ, बहुलाधिकारात् क्वचित् क्योऽपि विकल्पेन भवति मए न वेज्ज मए न विज्जेज्ज, तेण लहेज्ज तेण लहिज्जेज्ज तेण [२] अच्छेज्ज तेण अच्छिज्जेज्ज तेण अच्छीअइ ॥

दृशि-वचेर्डीस-डुच्चौ ॥३॥१६१॥ दृशेर्वचेश्च परस्य क्यस्य स्थाने यथा संख्य डीस डुच्च इत्यादेशौ भवत. । ईअइ-ज्जापवाद दीसइ, वुच्चइ ॥

क्यङोर्यलुक् ॥३॥१३८॥ क्यङन्तस्य क्यजन्तस्य क्यषन्तस्य वा सम्बन्धिनो यस्य लुग् भवति, गरुआइ गरुआअइ (अगुरुर्गुरुर्भवति, गुरुरिवाचरति वेत्यर्थः) क्यङ्ष् दमदमाइ दमदमाअइ, लोहिआइ लोहिआअइ ॥

न वा कर्मभावे व्वः क्यस्य च लुक् ॥४॥२४२॥ च्यादीनां अष्टानां कर्मणि भावे च वर्त्तमानानामन्ते द्विरुक्तो

---

१ चिजिश्रुहुस्तुलूपूवूगा णो ह्रस्वश्च ॥४॥२४१॥ इति सूत्रोक्तानाम् ॥

२ गमिष्य मासा छ ॥४॥२१५॥ इति सूत्रेण छादेश. ॥

वकारागमो वा भवति। तत्सन्नियोगे च क्यस्य लुक्। चिव्वइ, चिणिज्जइ, जिव्वइ जिणिज्जइ, सुव्वइ सुणिज्जइ, हुव्वइ हुणिज्जइ, थुव्वइ थुणिज्जइ, लुव्वइ लुणिज्जइ, पुव्वइ पुणिज्जइ, धुव्वइ धुणिज्जइ। एवं भविष्यति, [१]चिव्विहिइ इत्यादि ॥

म्मश्चेः ॥४॥२४३॥ चिग कर्मणि भावे च अन्ते सयुक्तो मो वा भवति, तत्सन्नियोगे क्यस्य च लुक्। चिम्मइ चिव्वइ चिणिज्जइ 'भविष्यति' चिम्मिहिइ चिव्विहिइ चिणिहिइ ॥

हन्खनोरन्त्यस्य ॥४॥२४४॥ अनयो कर्मभावेऽन्त्यस्य द्विरुक्तो मो वा भवति, तत्सन्नियोगे क्यस्य च लुक्। हम्मइ हणिज्जइ, खम्मइ खणिज्जइ, 'भविष्यति' हम्मिहिइ हणिहिइ, खम्मिहिइ खणिहिइ, बहुलाधिकाराद् हन्ते. कर्तर्यपि, हम्मइ हन्तीत्यर्थः। क्वचिन्न भवति, हन्तव्वं हन्तूण हओ ॥

ब्भो दुह-लिह-वह-रुधामुच्चात. ॥४॥२४५॥ दुहादीनामन्त्यस्य कर्मभावे द्विरुक्तो भो वा भवति। तत्सन्नियोगे क्यस्य च लुक्, वहेरकारस्य च उकार.। दुब्भइ दुहिज्जइ, लिब्भइ लिहिज्जइ, वुब्भइ वहिज्जइ, रुब्भइ [२]रुन्धिज्जइ, भविष्यति, दुब्भिहिइ दुहिहिइ इत्यादि ॥

दहो ज्झः ॥४॥२४६॥ दहोऽन्त्यस्य कर्मभावे द्विरुक्तो झो वा भवति, तत्सन्नियोगे क्यस्य च लुक्। [३]डज्झइ डहिज्जइ, भविष्यति, डज्झिहिइ डहिहिइ ॥

---

१ एच्च क्त्वा–तुम् तव्य भविष्यत्सु ॥३॥१५७॥ इति इत्वे ॥ २ रुधो न्ध म्भौ च ॥४॥२१८॥ इति न्धादेशः ॥ ३ दश–दहोः ॥१॥ २१८॥ इति सूत्रेण दस्य डादेशे ॥

कराविज्जइ, आदेरिति किम्, संगामेइ । इह व्यवहितस्य मा भूत्, कारिअ इह अन्त्यस्य माभूत्, अत इति किं, दूसेइ, केचित्तु आवेआव्यादेशयोरपि आदेरत आत्त्वम् इच्छन्ति, कारावेइ । हासाविओ जणो सामलीए ॥

अथभावकर्मप्रक्रिया

ईअ-इज्जौ क्यस्य ॥३॥१६०॥ [1]चिजिप्रभृतीनां भावकर्मविधिं वक्ष्यामः, येषां तु न वक्ष्यते तेषां संस्कृतातिदेशात् प्राप्तस्य क्यस्य स्थाने ईअ इज्ज इत्यादेशौ भवतः । हसीअइ हसिज्जइ, हसीअन्तो हसिज्जन्तो, हसीअमाणो हसिज्जमाणो, पढीअइ पढिज्जइ, होईअइ होइज्जइ, बहुलाधिकारात् क्वचित् क्योऽपि विकल्पेन भवति मए न वेज्ज मए न विज्जेज्ज, तेण लहेज्ज तेण लहिज्जेज्ज तेण [2]अच्छेज्ज तेण अच्छिज्जेज्ज तेण अच्छीअइ ॥

दृशि-वचेर्डीस-डुच्चौ ॥३॥१६१॥ दृशेर्वचेश्च परस्य क्यस्य स्थाने यथा संख्य डीस डुच्च इत्यादेशौ भवत. । ईअइ-ज्जापवादः दीसइ, वुच्चइ ॥

क्यङोर्यलुक् ॥३॥१३८॥ क्यङन्तस्य क्यजन्तस्य क्यषन्तस्य वा सम्बन्धिनो यस्य लुग् भवति, गरुआइ गरुआअइ (अगुरुर्गुरुर्भवति, गुरुरिवाचरति वेत्यर्थः) क्यङ्ष् दमदमाइ दमदमाअइ, लोहिआइ लोहिआअइ ॥

न वा कर्मभावे व्वः क्यस्य च लुक् ॥४॥२४२॥ च्यादीनां अष्टानां कर्मणि भावे च वर्त्तमानानामन्ते द्विरुक्तो

---

१ चिजिश्रुहुस्तुलूपूधूगां णो ह्रस्वश्च ॥४॥२४१॥ इति सूत्रोक्तानाम् ॥

२ गमिष्य मासां छ ॥४॥२१५॥ इति सूत्रेण छादेश ॥

वकारागमो वा भवति । तत्सन्नियोगे च क्यस्य लुक् । चिव्वइ, चिणिज्जइ, जिव्वइ जिणिज्जइ, सुव्वइ सुणिज्जइ, हुव्वइ हुणिज्जइ, थुव्वइ थुणिज्जइ, लुव्वइ लुणिज्जइ, पुव्वइ पुणिज्जइ, धुव्वइ धुणिज्जइ । एवं भविष्यति, [१] चिव्विहिइ इत्यादि ॥

म्मश्चेः ॥४॥२४३॥ चिगः कर्मणि भावे च अन्ते संयुक्तो मो वा भवति, तत्सन्नियोगे क्यस्य च लुक् । चिम्मइ चिव्वइ चिणिज्जइ 'भविष्यति' चिम्मिहिइ चिव्विहिइ चिणिहिइ ॥

हन्खनोरन्त्यस्य ॥४॥२४४॥ अनयो कर्मभावेऽन्त्यस्य द्विरुक्तो मो वा भवति, तत्सन्नियोगे क्यस्य च लुक् । हम्मइ हणिज्जइ, खम्मइ खणिज्जइ, 'भविष्यति' हम्मिहिइ हणिहिइ, खम्मिहिइ खणिहिइ, बहुलाधिकाराद् हन्ते. कर्तर्यपि, हम्मइ हन्तीत्यर्थः । क्वचिन्न भवति, हन्तव्वं हन्तूण हओ ॥

ब्भो दुह-लिह-वह-रुधामुच्चात ॥४॥२४५॥ दुहादीनामन्त्यस्य कर्मभावे द्विरुक्तो भो वा भवति । तत्सन्नियोगे क्यस्य च लुक्, वहेरकारस्य च उकार. । दुब्भइ दुहिज्जइ, लिब्भइ लिहिज्जइ, वुब्भइ वहिज्जइ, रुब्भइ [२] रुन्धिज्जइ, भविष्यति, दुब्भिहिइ दुहिहिइ इत्यादि ॥

दहो ज्झः ॥४॥२४६॥ दहोऽन्त्यस्य कर्मभावे द्विरुक्तो झो वा भवति, तत्सन्नियोगे क्यस्य च लुक् । [३] डज्झइ डहिज्जइ, भविष्यति, डज्झिहिइ डहिहिइ ॥

---

१ एच्च क्त्वा–तुम् तव्य भविष्यत्सु ॥३॥१५७॥ इति इत्वे ॥ २ रुधो न्ध म्भौ च ॥४॥२१४॥ इति न्धादेशः ॥ ३ दश–दहो. ॥१॥ २१८॥ इति सूत्रेण दस्य डादेशे ॥

बन्धो न्धः ॥४॥२४७॥ बन्धेर्धातोरन्त्यस्य न्ध इत्य-वयवस्य कर्मभावे ज्झो वा भवति तत्सन्नियोगे क्यस्य च लुक्, । वज्झइ वन्धिज्जइ, भविष्यति, वज्झिहिइ वन्धिहिइ ॥

समनूपाद्रुधेः ॥४॥२४८॥ समनूपेभ्य. परस्य रुधे-रन्त्यस्य कर्मभावे ज्झो वा भवति, तत्सन्नियोगे क्यस्य च लुक्, सरुज्झइ अणुरुज्झइ उवरुज्झइ, पक्षे संरुन्धिज्जइ अणुरुन्धिज्जइ उवरुन्धिज्जइ, भविष्यति, संरुज्झिहिइ सरुन्धिहिइ, इत्यादि ॥

गमादीनां द्वित्वम् ॥४॥२४९॥ गमादीनामन्त्यस्य कर्मभावे द्वित्वं वा भवति, तत् सन्नियोगे क्यस्य च लुक् (गम्) गम्मइ गमिज्जइ, (हस्) हस्सइ हसिज्जइ, (भण्) भण्णइ भणिज्जइ, (छुप्) छुप्पइ छुविज्जइ, रुदनमोर्वः ॥४॥२२६॥ इति कृतवकारादेशो रुदिरत्र पठ्यते (रुव्) रुव्वइ रुविज्जइ (लभ्) लब्भइ लहिज्जइ, (कथ) कत्थइ कहिज्जइ, (भुज्) भुज्जइ [१] भुञ्जिज्जइ, भविष्यति गम्मिहिइ गमिहिइ इत्यादि ॥

हृ-कृ-तृ-ज्रामीरः ॥४॥२५०॥ एषामन्त्यस्य ईर इत्यादेशो वा भवति । तत्सन्नियोगे च क्यस्य लुक्, हीरइ हरिज्जइ, कीरइ करिज्जइ, तीरइ तरिज्जइ, जीरइ जरिज्जइ ॥

अर्जेर्विढप्पः ॥४॥२५१॥ अन्त्यस्येति निवृत्तम्, अर्जेर्विढप्प इत्यादेशो वा भवति । तत्सन्नियोगे च क्यस्य लुक्, विढप्पइ पक्षे विढविज्जइ अज्जिज्जइ ॥

ज्ञो णव्व-णज्जौ ॥४॥२५२॥ जानाते. कर्मभावे णव्व णज्ज इत्यादेशौ वा भवत., तत्सन्नियोगे च क्यस्य लुक्, णव्वइ

---

१ भुजो-भुञ्ज जिम .....॥४॥११०॥ इति भुज धातो भुञ्ज आदेश. ।

णज्जइ, पक्षे जाणिज्जइ मुणिज्जइ । म्नाज्ञोर्णः ॥२॥४२॥ इति णादेशे तु णाइज्जइ, नञ्पूर्वस्य अणाइज्जइ ॥

व्याहृगेर्वाहिप्पः ।४।२५३। व्याहरतेः कर्मभावे वाहिप्प इत्यादेशो वा भवति, तत्सन्नियोगे क्यस्य च लुक्, वाहिप्पइ, वाहरिज्जइ ।

आरभेराढप्पः ॥४॥२५३॥ आङ्पूर्वस्य रभेः कर्मभावे आढप्प इत्यादेशो वा भवति तत्सन्नियोगे क्यस्य च लुक् । आढप्पइ, पक्षे आढवीअइ ॥

स्निह-सिचोः सिप्पः ॥४॥२५५॥ अनयोः कर्मभावे सिप्प इत्यादेशो भवति तत्सन्नियोगे क्यस्य च लुक् । सिप्पइ स्निह्यते सिच्यते वा, ॥

ग्रहेर्घेप्प. ॥४॥२५६॥ ग्रहेः कर्मभावे घेप्प इत्यादेशो वा भवति, तत्सन्नियोगे च क्यस्य लुक् । घेप्पइ [1]गिण्हिज्जइ ॥

स्पृशेश्छिप्प ॥४॥२५७॥ स्पृशते. कर्मभावे छिप्पादेशो वा भवति, तत्सन्नियोगे क्यस्य च लुक् । छिप्पइ छिविज्जइ ॥

इदितो वा ॥४॥१॥ सूत्रे ये इदितो धातवो वक्ष्यन्ते तेषां ये आदेशास्ते विकल्पेन भवन्ति इति वेदितव्यं तत्रैव चोदाहरिष्यते ।

कथेर्वज्जर–पज्जरोप्पाल–पिसुण–संघ–बोल्ल–चव–जम्प सीस–साहाः ॥४॥२॥ कथेर्धातोर्वज्जरादयो दशादेशा वा भवन्ति । वज्जरइ, पज्जरइ, उप्पालइ, पिसुणइ, सघइ, बोल्लइ, चवइ, जम्पइ सीसइ, सासइ, उव्बुक्कइ इति तु उत्पूर्वस्य वुक्क भाषणे इत्यस्य, पक्षे कहइ, एते च अन्यैर्देशीषु पठिता अपि अस्माभिर्धात्वादेशीकृता विविधेषु प्रत्ययेषु प्रतिष्ठिता इति

---

[1] ग्रहो वल–गेण्ह–रह–पड्ग–निरुवाराहिपच्चुआ ।४।२०९। इति गेण्हादेशः।

तथा च वज्जिरो (कथितः) वज्जरिऊण (कथयित्वा) वज्जरणं (कथनम्) वज्जरन्तो (कथयन्) वज्जरिअव्व (कथयितव्यम्) इति रूपसहस्राणि सिध्यन्ति संस्कृतधातुवच्च प्रत्ययलोपागमादिविधि ।

दुःखे णिव्वरः ॥४॥३॥ दुःखविषयस्य कथेर्णिव्वर इत्यादेशो वा भवति । णिव्वरइ, दुःखंकथयतीत्यर्थः)

जुगुप्सेर्झुण-दुगुच्छ-दुगुंछाः ॥४॥४॥ जुगुप्सेर्झुण दुगुच्छ दुगुंछा एते त्रय आदेशा वा भवन्ति । झुणइ, दुगुच्छइ दुगुछइ पक्षे जुगुच्छइ, गलोपे दुउच्छइ, दुउंछइ, जुउच्छइ ॥

बुभुक्षि-वीज्योर्णीरव-वोज्जौ ॥४॥५॥ बुभुक्षेराचार-क्विबन्तस्य च वीजेर्यथासंख्यम् एतावादेशौ वा भवतः । णीरवइ, बुहुक्खइ, वोज्जइ, वीज्जइ ॥

ध्या-गोर्झा-गौ ॥४॥६॥ अनयोर्यथासंख्यं झा गा इत्यादेशौ भवतः । झाइ, [1]झाअइ, णिज्झाइ, णिज्झाअइ निपूर्वो दर्शनार्थः, गाइ गाअइ, झाण, गाणं, ।

ज्ञो जाण-मुणौ ॥४॥७॥ जानातेर्जाणमुण इत्यादेशौ भवतः । जाणइ, मुणइ, बहुलाधिकारात् क्वचित् विकल्पः, जाणिअं णायं, जाणिऊण, णाऊण, जाणण णाणं, मणइ, इति तु मन्यतेः ॥

उदो ध्मो धुमा ॥४॥८॥ उदः परस्य ध्माधातोर्धुमा इत्यादेशो भवति । उद्धुमाइ ॥

श्रदो धो दहः ॥४॥९॥ श्रदः परस्य दधातेः दह इत्यादेशो भवति । सद्दहइ, सद्दहमाणो जीवो,

पिबेः पिज्ज-डल्ल-पट्ट-घोट्टाः ॥४॥१०॥ पिवतेरेते चत्वार आदेशा वा भवन्ति । पिज्जइ, डल्लइ, पट्टइ, घोट्टइ पिअइ ।

---

१ स्वरादनतो वा ॥४॥२४०॥ इति अन्ते अकारागम ॥

उद्वातेरोरुम्मा वसुआ ॥४॥११॥ उत्पूर्वस्य वातेरोरुम्मा वसुआ इत्यादेशौ वा भवतः। ओरुम्माइ, वसुआइ उव्वाइ ॥

निद्रातेरोहीरोङ्घौ ॥४॥१२॥ निपूर्वस्य द्रातेरोहीर ओघ इत्यादेशौ वा भवत । ओहीरइ, ओघइ, निद्दाइ,

आघ्रेराइग्घ ॥४॥१३॥ आजिघ्रतेराइग्घ इत्यादेशो वा भवति । आइग्घइ, आग्घाअइ,

स्नातेरब्भुत्तः ॥४॥१४॥ स्नातेरब्भुत्त इत्यादेशो वा भवति । अब्भुत्तइ, [१] ण्हाइ,

समः स्त्य. खा ॥४॥१५॥ सम्पूर्वस्य स्त्यायतेः खा इत्यादेशो वा भवति । संखाइ, संखाइअ,

स्थष्ठा–थक्क–चिट्ठ–निरप्पाः ॥४॥१६॥ तिष्ठतेरेते चत्वार आदेशा भवन्ति । ठाइ ठाअइ, ठाणं, पट्ठिओ, उट्ठिओ, पट्ठाविओ, थक्कइ, चिट्ठइ, [२] चिट्ठिऊण, निरप्पइ, बहुलाधिकारात् क्वचित् न भवति, थिअं थाणं, उत्थिओ, थाऊण ।

उदष्ठ–कुक्कुरौ ॥४॥१७॥ उद परस्य तिष्ठते ठ कुक्कुर इत्यादेशौ भवतः, उट्ठइ उक्कुक्कुरइ ॥

म्लेर्वा-पव्वायौ ॥४॥१८॥ म्लायतेर्वा पव्वाय इत्यादेशौ वा भवत. । वाइ, पव्वायइ, [३] मिलाइ ॥

निर्मो निम्माण–निम्मवौ ॥४॥१९॥ नि.पूर्वस्य मिमीतेरेतावादेशौ भवतः । निम्माणइ निम्मवइ ॥

---

१ सूक्ष्म–श्न–ष्ण स्न ह्न ह्ल क्ष्णा ण्ह ॥२॥७५॥ इति ण्हादेश ।
२ एच्च क्त्वा तुम्–तव्य–भविष्यत्सु ॥३॥१५७॥ इति इत्वे, क्त्वस्तुमत्तूण–तुआणाः ॥२॥१४६॥ इति ऊणादेशे । ३ लात् ॥२॥१०६॥ इति इत्वे ॥

क्षेर्णिज्झरो वा ॥४॥२०॥ क्षयतेर्णिज्झर इत्यादेशो वा भवति । णिज्झरइ, पक्षे [1] झिज्जइ ॥

छदेर्णेर्णुम-नूम-सन्नूम-ढक्कौम्वाल-पव्वालाः ॥४-॥२१॥ छदेर्ण्यन्तस्य एते षडादेशा वा भवन्ति । णुमइ नूमइ सन्नूमइ ढक्कइ ओम्वालइ पव्वालइ, छायइ ॥

निवृपत्योर्णिहोडः ॥४॥२२॥ निवृगः पतेश्च ण्यन्तस्य णिहोड इत्यादेशो वा भवति । णिहोडइ, पक्षे, निवारेइ पाडेइ ।

दूङो दूम ॥४॥२३॥ दूङो ण्यन्तस्य दूम इत्यादेशो भवति । दुमइ मज्झहिअय ॥

धवलेर्दुमः ॥४॥२४॥ धवलयतेर्ण्यन्तस्य दुमादेशो वा भवति । दुमइ, धवलइ, स्वराणा स्वरा बहुलम् ॥४॥२३८॥ इति दीर्घत्वमपि दूमिअं (धवलितमित्यर्थः)

तुलेरोहामः ॥४॥२५॥ तुलेर्ण्यन्तस्य ओहाम इत्यादेशो वा भवति । ओहामइ, तुलइ, ॥

विरिचेरोलुण्डोल्लुण्ड-पल्हत्थाः ॥४॥२६॥ विरेच-तेर्ण्यन्तस्य ओलुण्डादयस्त्रय आदेशा वा भवन्ति । ओलुण्डइ, उल्लुण्डइ, पल्हत्थइ, विरेअइ ॥

तडेराहोड-विहोडौ ॥४॥२७॥ तडेर्ण्यन्तस्य एतौ आदेशौ वा भवतः । आहोडइ विहोडइ, पक्षे [2] ताडेइ ॥

मिश्रेर्वीसाल-मेलवौ ॥४॥२८॥ मिश्रयतेर्ण्यन्तस्य वीसाल मेलव इत्यादेशौ वा भवतः । वीसालइ मेलवइ मिस्सइ ।

---

१ मध्ये च स्वरान्ताद्वा ॥३॥१७८॥ इति ज्जादेशे ॥ २ अदेल्लुक्यादेरत आः ॥३॥१५३॥ इति आत्वे, णेरदेदावावे ॥३॥१४९॥ इति एत्वे ।

उद्धूलेर्गुण्ठः ॥४॥२९॥ उद्धूलेर्ण्यन्तस्य गुण्ठ इत्यादेशो वा भवति। गुण्ठइ पक्षे उद्धूलेइ ॥

भ्रमेस्तालिअण्ट-तमाडौ ॥४॥३०॥ भ्रमतेर्ण्यन्तस्य तालिअण्ट-तमाडौ आदेशौ वा भवतः। तालिअण्टइ तमाडइ, भामेइ [१]भमाडइ भमावेइ ॥

नशेर्विउड-नासव-हारव-विप्पगाल-पलावाः ॥४॥३१॥ नशेर्ण्यन्तस्य एते पञ्चादेशा वा भवन्ति। विउडइ नासवइ हारवइ विप्पगालइ पलावइ, पक्षे नासेइ ॥४॥

दृशेर्दाव-दंस-दक्खवाः ॥४॥३२॥ दृशेर्ण्यन्तस्य एते त्रय आदेशा वा भवन्ति। दावइ दंसइ दक्खवइ, [२]दरिसइ ॥

उद्घटेरुग्गः ॥४॥३३॥ उत्पूर्वस्य घटेर्ण्यन्तस्य उग्ग इत्यादेशो वा भवति। उग्गइ उग्घाडइ ॥

स्पृहः सिहः ॥४॥३४॥ स्पृहो ण्यन्तस्य सिह इत्यादेशो भवति। सिहइ ॥

संभावेरासंघः ॥४॥३५॥ संभावयतेरासंघ इत्यादेशो वा भवति। आसंघइ, संभावइ ॥

उन्नमेरुत्थंघोल्लाल-गुलुगुञ्छोप्पेलाः ॥४॥३६॥ उत्पूर्वस्य नमेर्ण्यन्तस्य एते चत्वार आदेशा वा भवन्ति। उत्थंघइ उल्लालइ गुलुगुञ्छइ उप्पेलइ, उन्नामइ, ॥

प्रस्थापेः पट्ठव-पेण्डवौ ॥४॥३७॥ प्रपूर्वस्य स्थापेर्ण्यन्तस्य पट्ठव पेण्डव इत्यादेशौ वा भवत.। पट्ठवइ पेण्डवइ, पट्ठावइ।

---

१ भ्रमेराडो वा ॥३॥१५१॥ इति णेराड आदेशः ॥ २ वृषादीनामरिः ॥४॥२३५॥ इति अरि-आदेशः

विज्ञपेर्वोक्कावुक्कौ ॥४॥३८॥ विपूर्वस्य जानातेर्ण्यन्तस्य वोक्क आवुक्क इत्यादेशौ वा भवतः। वोक्कइ आवुक्कइ विण्णवइ।

अर्पेरल्लिव-चच्चुप्प-पणामाः ॥४॥३९॥ अर्पेर्ण्यन्तस्य एते त्रय आदेशा वा भवन्ति। अल्लिवइ चच्चुप्पइ पणामइ, पक्षे अप्पेइ ॥

यापेर्जव ॥४॥४०॥ यातेर्ण्यन्तस्य जव इत्यादेशो वा भवति। जवइ जावेइ ॥

प्लावेरोम्वाल-पव्वालौ ॥४॥४१॥ प्लवतेर्ण्यन्तस्य एतावादेशौ वा भवत। ओम्वालइ पव्वालइ, पावेइ ॥

विकोशेः पक्खोड ॥४॥४२॥ विकोशयतेर्नामधातोर्ण्यन्तस्य पक्खोड इत्यादेशो वा भवति। पक्खोडइ विकोसइ ॥

रोमन्थेरोग्गाल--वग्गोलौ ॥४॥४३॥ रोमन्थेर्नामधातोर्ण्यन्तस्य एतावादेशौ वा भवत.। ओग्गालइ वग्गोलइ रोमन्थइ ॥

कमेर्णिहुवः ॥४॥४४॥ कमेः स्वार्थण्यन्तस्य णिहुव इत्यादेशो वा भवति। णिहुवइ कामेइ ॥

प्रकाशेर्णुव्वः ॥४॥४५॥ प्रकाशेर्ण्यन्तस्य णुव्व इत्यादेशो वा भवति। णुव्वइ पयासेइ ॥

कम्पेर्विच्छोलः ॥४॥४६॥ कम्पेर्ण्यन्तस्य विच्छोल इत्यादेशो वा भवति। विच्छोलइ कम्पेइ ॥

आरोहेर्वलः ॥४॥४७॥ आरुहेर्ण्यन्तस्य वल इत्यादेशो वा भवति। वलइ [1]आरोहेइ ॥

---

१ णेरदेदावावे ॥३॥१४९॥ इति पक्षे णेरेदादेश. ॥

दोलेरंखोल. ॥ ४ ॥४८॥ दुलेः स्वार्थे ण्यन्तस्य रंखोल इत्यादेशो वा भवति, रखोलइ दोलइ ।

रञ्जे रावः ॥ ४ ॥ ४९ ॥ रञ्जेर्ण्यन्तस्य राव इत्यादेशो वा भवति, रावइ रजेइ ।

घटेः परिवाड. ॥ ४ ॥ ५० ॥ घटेर्ण्यन्तस्य परिवाड इत्यादेशो वा भवति, परिवाडेइ घडेइ ।

वेष्टे परिआलः ॥ ४ ॥ ५१ ॥ वेष्टेर्ण्यन्तस्य परिआल इत्यादेशो वा भवति, परिआलेइ, [1] वेढेइ

क्रियः किणो वेस्तु क्के च ॥ ४ ॥ ५२ ॥ णेरिति निवृत्तम्, क्रीणातेः किण इत्यादेशो भवति, वे परस्य तु द्विरुक्तः केश्चकारात्किणश्च भवति, किणइ विक्केइ विकिणइ ।

भियो भा बीहौ ॥ ४ ॥ ५३ ॥ बिभेतेरेतावादेशौ भवतः, भाइ भाइअं, बीहइ बीहिअ, बहुलाधिकारात् भीओ ।

आलीङोल्ली ॥ ४ ॥ ५४ ॥ आलीयतेरल्ली इत्यादेशो भवति, अल्लीअइ, अल्लीणो ।

निलीङोर्णिलीअ – णिलुक्क – णिरिग्घलुक्कलिक्क ल्हिक्का ॥४॥ ५५॥ निलीङेरेते षडादेशा वा भवन्ति, णिलीअइ णिलुक्कइ णिरिग्घइ लुक्कइ लिक्कइ, ल्हिक्कइ, [2] निलिज्जइ ।

विलीङेर्विरा ॥ ४ ॥ ५६ ॥ विर्लङेर्विरा इत्यादेशो वा भवति, विराइ, विलिज्जइ ।

---

१ वेष्टेः ॥ ४ ॥ २२१ ॥ इति टकारस्य ढकारादेश ॥ २ मध्येच स्वरान्ताद्वा

रुते रुञ्ज-रुण्टौ ॥ ४ ॥ ५७ ॥ रौतेरेतावादेशौ वा भवतः, रुञ्जइ रुण्टइ, [1]रवइ,

श्रुटेर्हण ॥ ४ ॥ ५८ ॥ शृणोतेर्हण इत्यादेशो वा भवति, हणइ [2]सुणइ,

धूगेर्धुव. ॥ ४ ॥ ५९ ॥ धुनातेर्धुव इत्यादेशो वा भवति, धुवइ धुणइ,

भुवेर्हो-हुव-हवा ॥ ४ ॥ ६० ॥ भुवो धातोर्हो हुव हव इत्यादेशा वा भवन्ति, होइ होन्ति, हुवइ हुवन्ति हवइ हवन्ति पक्षे भवइ. परिहीणविहवो भविउं पभवइ, परिभवइ, सभवइ, क्वचिदन्यदपि उब्भुअइ भत्त,

अविति हु ॥ ४ ॥ ६१ ॥ विद्वर्जे प्रत्यये परे भुवो हु इत्यादेशो वा भवति, हुन्ति, (भवन्) हुन्तो, अवितीति किं होइ,

पृथक्-स्पृष्ट णिव्वड ॥ ४ ॥ ६२ ॥ पृथक् भूते स्पृष्टे च कर्तरि भुवो णिव्वड इत्यादेशो भवति, णिव्वडइ, पृथक् स्पृष्टो वा भवतीत्यर्थ.,

प्रभौ हुप्पो वा ॥ ४ ॥ ६३ ॥ प्रभुकर्तृकस्य भुवो हुप्प इत्यादेशो वा भवति, प्रभुत्व च प्रपूर्वस्यैवार्थः, अंगे च्चिअ न पहुप्पइ, पक्षे प्रभवेइ ।

क्ते हु ॥ ४ ॥ ६४ ॥ भुव. क्तप्रत्यये हुर् आदेशो भवति, हुअं अणुहुअं पहुअं,

---

१ ॥ १७८ ॥ इति ज्नादेशे २ चिजिश्रुहुस्तुलूपूधूगा णो ह्रस्वश्च ॥ ४। २४१ ॥ इति णकारागम. ॥ ३ उवर्णस्यावः ॥ ४ ॥ २३३ ॥ इति अवादेशे । व्यञ्जनाददन्ते । ४ ॥ २३१ ॥ इति अत्वे ।

कृगे: कुण: ॥ ४ ॥ ६५ ॥ कृगे: कुण इत्यादेशो वा भवति, कुणइ करइ,[1]

काणेक्षिते णिआर: ॥ ४ ॥ ६६ ॥ काणेक्षितविषयस्य कृगो णिआर इत्यादेशो वा भवति, णिआरइ, काणेक्षित करोति,

निष्टम्भावष्टम्भे णिट्ठुह-संदाणं ॥ ४ ॥ ६७ ॥ निष्टम्भविषयस्य अवष्टम्भविषयस्य च कृगो यथासख्यं णिट्ठुह संदाण इत्यादेशौ वा भवतः, णिट्ठुहइ निष्टम्भं करोति, सदाणइ अवष्टम्भं करोति,

श्रमे वावम्फ: ॥ ४ ॥ ६८ ॥ श्रमविषयस्य कृगो वावम्फ इत्यादेशो वा भवति, वावम्फइ, श्रमं करोति,

मन्युनौष्ठमालिन्ये णिव्वोल. ॥ ४ ॥ ६९ ॥ मन्युना करणेन यदोष्ठमालिन्य तद्विषयस्य कृगो णिव्वोल इत्यादेशो वा भवति, णिव्वोलइ मन्युना ओष्ठ मलिनं करोति,

शैथिल्य-लम्बने पयल्ल: ॥ ४ ॥ ७० ॥ शैथिल्यविषयस्य लम्बनविषयस्य च कृग पयल्ल इत्यादेशो वा भवति, पयल्लइ शिथिलीभवति लम्बते वा ॥

निष्पाताच्छोटे णीलुञ्छ. ॥४॥७१॥ निष्पतनविषयस्य आच्छोटनविषयस्य च कृगो णीलुञ्छ इत्यादेशो वा भवति, णीलुञ्छइ निष्पतति आच्छोटयति वा ॥

क्षुरे कम्म: ॥४॥७२॥ क्षुरविषयस्य कृग. कम्म इत्यादेशो वा भवति, कम्मइ, क्षुर करोति,

---

१ ऋवर्णस्यार ॥ ४ ॥ २३४ ॥ इति अर् आदेशे, व्यञ्जनाददन्ते ति अत्वे ।

चाटौ गुलल: ॥४॥७३॥ चाटुविषयस्य कृगो गुलल इत्यादेशो वा भवति, गुललइ, चाटु करोतीत्यर्थ ॥

स्मरेर्झर-झूर-भर-भल-लढ-विम्हर-सुमर-पयर पम्हुहा: ॥४॥७४॥ स्मरेरेते नवादेशा वा भवन्ति, झरइ झूरइ भरइ भलइ लढइ विम्हरइ सुमरइ पयरइ पम्हुहइ, सरइ ॥

विस्मु: पम्हुस-विम्हर-वीसरा ॥४॥७५॥ विस्मरतेरेते आदेशा भवन्ति, पम्हुसइ विम्हसइ वीसरइ ॥

व्याहृगे: कोक्क-पोक्कौ ॥४॥७६॥ व्याहरतेरेतावादेशौ वा भवत. । कोक्कइ ह्रस्वत्वे तु कुक्कइ, पोक्कइ, पक्षे वाहरइ ॥

प्रसरे: पयल्लोवेल्लौ ॥४॥७७॥ प्रसरते: पयल्ल उवेल्ल इत्येतावादेशौ वा भवत· पयल्लइ उवेल्लइ, पसरइ ॥

महमहो गन्धे ॥४॥७८॥ प्रसरतेर्गन्धविषये महमह इत्यादेशो वा भवति, महमहइ मालइ, मालईगन्धो पसरइ, गन्ध इति किं, पसरइ ॥

निस्सरेर्णीहर-नील-धाड-वरहाडा: ॥४॥७९॥ निम्सरतेरेते चत्वार आदेशा वा भवन्ति, णीहरइ नीलइ धाडइ वरहाडइ, नीसरइ ॥

जाग्रेर्जग्ग: ॥४॥८०॥ जागर्तेर्जग्ग इत्यादेशो वा भवति जग्गइ, पक्षे जागरइ ॥

व्याप्रेराअड्ड. ॥८१॥ व्याप्रियतेराअड्ड इत्यादेगो वा भवति, आअड्डेइ [१]वावरेइ

संवृगे. साहर साहट्टौ ॥४॥८२॥ संवृणोते. साहर साहट्ट इत्यादेर्गो वा भवत , साहरइ साहट्टइ, संवरइ ॥

---

१ वर्तमाना-पञ्चमी-शतृषु वा ॥३॥१५८॥ इति एत्वे ।

आद्दङेः सन्नामः ॥४॥८३॥ आद्रियतेः सन्नाम इत्यादेशो वा भवति, सन्नामइ आदरइ ॥

प्रहृगे सार ॥४॥८४॥ प्रहरते. सार इत्यादेशो वा भवति। सारइ । पहरइ ॥

अवतरेरोह ओरसौ ॥४॥८५॥ अवतरतेः ओह ओरस इत्यादेशौ वा भवत, ओहइ ओरसइ, ओअरइ[1] ॥

शकेश्चय-तर-तीर-पाराः ।४।८६। शक्नोतेरेते चत्वार आदेशा वा भवन्ति, चयइ तरइ तीरइ पायरइ, सक्कइ, त्यजतेरपि, चयइ हानि करोति, तरतेरपि तीरइ तीरयतेरपितीरइ पारतेरपि पारेइ कर्मसमाप्नोति ॥

फक्कस्थक्कः ॥४॥८७॥ फक्कतेस्थक्क इत्यादेशो भवति, थक्कइ, ॥

श्लाघ सलहः ॥४॥८८॥ श्लाघतेः सलह इत्यादेशो भवति, सलहइ,

खचेर्वेअड. ॥४॥८९॥ खचतेर्वेअड इत्यादेशो वा भवति, वेअडइ खचइ, ॥

पचे सोल्ल पउल्लौ ॥४॥९०॥ पचतेः सोल्ल पउल्ल इत्यादेशो वा भवतः, सोल्लइ पउल्लइ, पयइ ॥

मुचेश्छड्डावहेड-मेल्लोस्सिक्क-रेअव-णिल्लुञ्छ धंसाडा. ॥४॥९१॥ मुञ्चतेरेते सप्तादेशा वा भवन्ति, छड्डइ अवहेडइ मेल्लइ उस्सिक्कइ रेअवइ णिल्लुञ्छइ धसाडइ, पक्षे मुअइ॥

दुःखे णिव्वल ॥४॥९२ दुखविषयस्य मुचेः णिव्वल इत्यादेशो वा भवति, णिव्वलेइ, दुखं मुञ्चतीत्यर्थ. ॥

---

१ अवापोते च ॥१॥ १७२॥ इति अवास्थाने ओदादेशे ।

वञ्चेर्वेहव वेलव जूरवोमच्छा. ॥४॥९३॥ वञ्चतेरेते चत्वार आदेशा वा भवन्ति, वेहवइ वेलवइ जूरवइ उमच्छइ, वंचइ॥

रचेरुग्गहावह-विडविड्डा. ॥४॥९४॥ रचेर्धातोरेते त्रय आदेशा वा भवन्ति, उग्गहइ अवहइ, विडविड्डइ, रयइ ॥

समारचेरुवहत्थ-सारव-समार-केलायाः ॥४॥९५॥ समारचेरेते चत्वार आदेशा वा भवन्ति, उवहत्थइ सारवइ समारइ केलायइ, समारयइ ॥

सिचे. सिञ्चसिम्पौ ॥४॥९६॥ सिञ्चतेरेतावादेशौ वा भवतः ॥ सिञ्चइ सिम्पइ सेअइ ॥

प्रच्छे· पुच्छः ॥४॥९७॥ पृच्छे. पुच्छादेशो भवति, पुच्छइ॥

गर्जेर्बुक्कः ॥४॥९८॥ गर्जतेर्बुक्क इत्यादेशो वा भवति, बुक्कइ गज्जइ ॥

वृषेढिक्कः ॥४॥९९॥ वृषकर्तृकस्य गर्जेर्ढिक्क इत्यादेशो वा भवति ॥ ढिक्कइ, वृषभो गर्जति, ॥

राजेरग्घ-छज्ज-सह-रीर रेहा ॥४॥१००॥ राजेरेते पञ्चादेशा वा भवन्ति, अग्घइ छज्जइ सहइ रीरइ रेहइ, रायइ ॥

मस्जेराउड्ड णिउड्ड बुड्ड खुप्पा. ॥४॥१०१॥ मज्जतेरेते चत्वार आदेशा वा भवन्ति, आउड्डइ णिउड्डइ बुड्डइ खुप्पइ, मज्जइ ॥

पुज्जेरारोल-वमालौ ॥४॥ १०२ ॥ पुज्जेरेतावादेशौ वा भवत·, आरोलइ वमालइ पुज्जइ ॥

लस्जेर्जीहः ॥४॥१०३॥ लज्जतेर्जीह इत्यादेशो वा भवति, जीहइ, लज्जइ ॥

तिजेरोसुक्कः ॥४॥१०४॥ तिजेरोसुक्क इत्यादेशो वा भवति, ओसुक्कइ, तेअणं ॥

मृजेरुग्घुस लुजछ पुंछ पुंस फुस पुस लुह हुल रोसाणाः ॥४॥१०५॥ मृजेरेते नवादेशा वा भवन्ति ॥ उग्घुसइ लुछइ पुछइ पुसइ फुसइ पुसइ लुहइ हुलइ रोसाणइ, पक्षे मज्जइ ॥

भञ्जेर्वेमय–मुसुमूर–मूर–सूर–सूड–विर–पविरञ्ज करञ्ज नीरञ्जा ॥४॥१०६॥ भञ्जेरेते नवादेशा वा भवन्ति, वेमयइ मुसुमूरइ मूरइ सूरइ सूडइ विरइ पविरजइ करञ्जइ नीरञ्जइ भञ्जइ ॥

अनुव्रजेः पडिअग्गः ॥४॥१०७॥ अनुव्रजे पडिअग्ग इत्यादेशो वा भवति, पडिअग्गइ अणुवच्चइ[1] ॥

अर्जेर्विढव ॥४॥१०८॥ अर्जेर्विढव इत्यादेशो वा भवति, विढवइ अज्जइ, ॥

युजो जुञ्जो जुज्ज जुप्पाः ॥४॥१०९॥ युजो जुञ्ज जुज्ज जुप्प इत्यादेशा भवन्ति । जुञ्जइ जुज्जइ जुप्पइ ॥

भुजो भुज्ज जिम जेम कम्माण्ह चमढ समाण चड्डाः ॥४॥११०॥ भुजएतेऽष्टादेशा भवन्ति । भुज्जइ जिमइ जेमइ कम्मइ अण्हइ समाणइ चमढइ चड्डइ ॥

वोपेन कम्मव ॥४॥१११॥ उपेन युक्तस्य भुजेः कम्मव इत्यादेशो वा भवति । कम्मवइ उवहुञ्जइ ॥

घटेर्गढ ॥४॥११२॥ घटतेर्गढ इत्यादेशो वा भवति । गढइ घडइ ॥

---

१ व्रज–नृत–मदाच्च ॥ ४ ॥ २२५ ॥ इति जस्यच्चादेशे ।

समो गल ॥४॥११३॥ सम्पूर्वस्य घटतेर्गल इत्यादेशो वा भवति। सगलइ संघडइ॥

हासेन स्फुटेर्मुर ॥४॥ ११४॥ हासेन कारणेन यः स्फुटिस्तस्य मुरादेशो वा भवति। मुरइ हासेन स्फुटति॥

मण्डेश्चिञ्च चिञ्चअ चिञ्चिल्ल रीड टिविडिक्काः ॥ ४ ॥ ११५ ॥ मण्डेरेते पञ्चादेशा वा भवन्ति। चिञ्चइ चिञ्चअइ चिञ्चिल्लइ रीडइ टिविडिक्कइ, मण्डइ॥

तुडेस्तोड तुट्ट खुट्ट खुडोक्खुडोल्लुक्क णिलुक्कलुक्कोल्लूराः ॥४॥११६॥ तुडेरेते नवादेशा वा भवन्ति। तोडइ तुट्टइ खुट्टइ खुडइ उक्खुडइ उल्लुक्कइ णिलुक्कइ लुक्कइ उल्लूरइ, तुडइ॥

घूर्णो घुल घोल घुम्म पहल्लाः ॥४॥११७॥ घुर्णेरेते चत्वार आदेशा भवन्ति। घुलइ घोलइ घुम्मइ पहल्लइ॥

विवृतेर्ढंसः ॥४॥११८॥ विवृतेर्ढंस इत्यादेशो वा भवति। ढसइ [1] विवट्टइ॥

क्वथेरट्ट ॥ ४॥११९॥ क्वथेरट्ट इत्यादेशो वा भवति। अट्टइ [2] कढइ॥

ग्रन्थो गण्ठः ॥४॥१२०॥ ग्रन्थेर्गण्ठ इत्यादेशो वा भवति। गण्ठइ गण्ठी॥

मन्थेर्घुसलविरोलौ ॥४॥१२१॥ मन्थेर्घुसलविरोल इत्यादेशौ वा भवतः। घुसलइ विरोलइ, मन्थइ॥

---

१ र्त्तस्याधूर्तादौ ॥ २ ॥ ३० ॥ इति र्त्तस्य ट्टादेशः॥ २ **क्वथवर्धां ढः** ॥४॥२२०॥ इति थकारस्य ढकारादेशः॥

ह्लादेरवअच्छ ॥४॥१२२॥ ह्लादतेर्ण्यन्तस्याण्यन्तस्य च अवअच्छ इत्यादेशो भवति । अवअच्छइ (ह्लाते ह्लादयति वा) इकारो ण्यन्तस्यापि परिग्रहार्थम् ॥

नेःसदो मज्जः ॥४॥१२३॥ निपूर्वस्य सदो मज्ज इत्यादेशो भवति । अत्ता एत्थ [1]णुमज्जइ ॥

छिदेर्दुहाव णिच्छल्ल णिज्झोड णिव्वर णिल्लूर लूराः ॥४॥१२४॥ छिदेरेते षडादेशा वा भवन्ति, दुहावइ णिच्छल्लइ णिज्झोडइ णिव्वरइ णिल्लूरइ लूरइ, पक्षे [2]छिन्दइ ॥

आङा ओअन्द-उद्दालौ ॥४॥१२५॥ आङा युक्तस्य छिदेरोअन्द उद्दाल इत्यादेशौ वा भवत , ओअन्दइ उद्दालइ, अच्छिन्दइ ॥

मृदो मल मढ परिहट्ट खड्ड चड्ड मड्ड पन्नाडाः ॥४॥१२६॥ मृद्नातेरेते सप्तादेशा भवन्ति, मलइ मढइ परिहट्टइ खड्डइ चड्डइ मड्डइ पन्नाडइ ॥

स्पन्देश्चुलुचुलः ॥४॥१२७॥ स्पन्देश्चुलुचुल इत्यादेशो वा भवति, चुलुचुलइ फन्दइ ॥

निरः पदेर्वलः ॥४॥१२८॥ नि पूर्वस्य पदेर्वल इत्यादेशो वा भवति, निव्वलइ [3]निप्पज्जइ ॥

विसंवदेर्विअट्ट विलोट्ट फंसाः ॥४॥१२९॥ विसंपूर्वस्य वदेरेते त्रय आदेशा वा भवन्ति । विअट्टइ विलोट्टइ फंसइ विसवयइ ॥

---

१ ह्रिन्योरुत् ॥१॥९४॥ इति ने -इकारस्य उत्वे ॥

२ स्विदां ज्जः ॥४॥२२४॥ इति दकारस्य ज्जकारादेश ॥

३ छिदिभिदोन्दः ॥४॥२१६॥ इति अन्त्यस्य न्द इति आदेशः ॥

शदो झड पक्खोडौ ॥४॥१३०॥ शीयतेरेतावादेशौ भवतः । झडइ पक्खोडइ ॥

आक्रन्देर्णीहरः ॥४॥१३१॥ आक्रन्देर्णीहर इत्यादेशो वा भवति । णीहरइ अक्कन्दइ ॥

खिदेजूर विसूरौ ॥४॥१३२॥ खिदेरेतावादेशौ वा भवतः । जूरइ विसूरइ, खिज्जइ ॥

रुधेरुत्थंघ ॥४॥१३३॥ रुधेरुत्थघ इत्यादेशो वा भवति । उत्थंघइ [१]रुन्धइ ॥

निषेधेर्हक्कः ॥४॥१३४॥ निषेधतेर्हक्क इत्यादेशो वा भवति । हक्कइ निसेहइ ॥

क्रुधेर्जूरः ॥४॥१३५॥ क्रुधेर्जूर इत्यादेशो वा भवति । जूरइ [२]कुज्झइ ॥

जनो जा जम्मौ ॥४॥१३६॥ जायतेर्जा जम्म इत्यादेशौ भवतः, [३]जाअइ जम्मइ ॥

तनेस्तड तड्ड तड्डव विरल्लाः ॥४।१३७॥ तनेरेते चत्वार आदेशा वा भवन्ति, तडइ तड्डइ तड्डवइ विरल्लइ तणइ ॥

तृपस्थिप्पः ॥ ४ ॥ १३८ ॥ तृप्यतेस्थिप्प इत्यादेशो भवति, थिप्पइ, ॥

उपसर्पेरल्लिअः ॥४॥१३९॥ उपपूर्वस्य सृपेः कृतगुणस्य अल्लिअ इत्यादेशो वा भवति, अल्लिअइ उवसप्पइ ॥

---

१ रुधो न्धम्भौ च ॥४॥ २१८ ॥ इति धकारस्य स्थाने न्ध इत्यादेशः ॥
२ युधबुध गृध क्रुध सिध मुहां ज्झः ॥ ४ ॥ २१७ ॥ इति धकारस्थाने ज्झ इत्यादेशः ॥ ३ स्वरादनतो वा ॥ ४ ॥ २४० ॥ इति सूत्रेण अकारः ।

संतपेर्झंखः ॥४॥१४०॥ संतपेर्झंख इत्यादेशो वा भवति । झंखइ संतप्पइ ॥

व्यापेरोअग्गः ॥४॥१४१॥ व्याप्नोतेरोअग्ग इत्यादेशो वा भवति । ओअग्गइ वावेइ ॥

समापेः समाण ॥४॥१४२॥ समाप्नोतेः समाण इत्यादेशो वा भवति । समाणइ समावेइ ॥

क्षिपेर्गलत्थाड्डुक्ख सोल्ल पेल्ल णोल्ल छुन्ह हुल परी घत्ताः ॥४॥१४३॥ क्षिपेरेते नवादेशा वा भवन्ति । गलत्थइ अड्डुक्खइ सोल्लइ पेल्लइ णोल्लइ ह्रस्वत्वे तु णुल्लइ, छुहइ हुलइ परीइ घत्तइ, खिवइ ॥

उत्क्षिपेर्गुलगुञ्छोत्थंघाल्लत्थोब्भुत्तोस्सिक्क हक्खुवा ॥४॥१४४॥ उत्पूर्वस्य क्षिपेरेते षडादेशा वा भवन्ति । गुलगुञ्छइ उत्थंघइ अल्लत्थइ उब्भुत्तइ उस्सिक्कइ हक्खुवइ, उक्खिवइ ॥

आक्षिपेर्णीरवः ॥४॥१४५॥ आङ्पूर्वस्य क्षिपेर्णीरव इत्यादेशो वा भवति । णीरवइ अक्खिवइ ॥

स्वपेः कमवस लिस लोट्टाः ॥४॥१४६॥ स्वपेरेते त्रय आदेशा वा भवन्ति । कमवसइ लिसइ लोट्टइ, सुअइ ॥

वेपेरायम्बायज्झौ ॥४॥१४७॥ वेपेरायम्ब आयज्झ इत्यादेशौ वा भवतः । आयम्बइ आयज्झइ वेवइ ॥

विलपेर्झंख वडवडौ ॥४॥१४८॥ विलपेर्झंख वडवड इत्यादेशौ वा भवतः । झंखइ वडवडइ, विलवइ ॥

लिपो लिम्पः ॥४॥१४९॥ लिम्पतेर्लिम्प इत्यादेशो भवति । लिम्पइ ॥

गुप्येर्विरणडौ ॥४॥१५०॥ गुप्यतेरेतावादेशौ वा भवतः । विरइ णडइ, पक्षे गुप्पइ ॥

कृपोऽवहो णिः ॥४॥१५१॥ कृपेः अवह इत्यादेशो भवति, ण्यन्तेऽपि । अवहावेइ कृपा करोतीत्यर्थः ॥

प्रदीपेस्तेअव सन्दुम सन्धुक्काब्भुत्ताः ॥४॥१५२॥ प्रदीप्यतेरेते चत्वार आदेशा वा भवन्ति, तेअवइ सन्दूमइ सन्धुक्कइ अब्भुत्तइ, [1]पलीवइ ॥

लुभेः संभावः ॥४॥१५३॥ लुभ्यतेः संभाव इत्यादेशो वा भवति । संभावइ लुब्भइ ॥

क्षुभेः खउर पड्डुहौ ॥४॥१५४॥ क्षुभेः खउर पड्डुह इत्यादेशौ वा भवतः । खउरइ, पड्डुहइ, खुब्भइ ॥

आङो रभे रम्भ ढवौ ॥४॥१५५॥ आङः परस्य रभे रम्भढवौ आदेशौ वा भवतः । आरम्भइ आढवइ, आरभइ ॥

उपालम्भेर्झंख पच्चार वेलवाः ॥४॥१५६॥ उपालम्भेरेते त्रय आदेशा वा भवन्ति । झंखइ पच्चारइ वेलवइ, उवालम्भइ ॥

अवेर्जृम्भो जम्भा ॥४॥१५७॥ जृम्भेर्जम्भा इत्यादेशो भवति, वेस्तु न भवति, जम्भाइ जम्भाअइ, अवेरिति किम्, केलिपसरो विअम्भइ ॥

भाराक्रान्ते नमेर्णिसुढः ॥४॥१५८॥ भाराक्रान्ते कर्तरि नमेर्णिसुढ इत्यादेशो वा भवति, णिसुढइ [2]नवइ, भाराक्रान्तो नमतीत्यर्थः ॥

---

१ प्रदीपि दोहदे लः ॥१॥२२१॥ इति सूत्रेण दस्य लत्वे ।

२ रुदनमोर्वः ॥४॥२२६॥ इति मस्य व. ।

विश्रमेर्णिव्वा ॥४॥१५९॥ विश्राम्यतेर्णिव्वा इत्यादेशो वा भवति । णिव्वाइ, वीसमइ ॥

आक्रमेरोहावोत्थारच्छुन्दाः ॥४॥१६०॥ आक्रमते-रेते त्रय आदेशा वा भवन्ति । ओहावइ उत्थारइ छुन्दइ, अक्कम्मइ ॥

भ्रमेष्टिरिटिल्ल ढुण्ढुल्ल ढण्ढल्ल चक्कम भम्मड भमड भमाड तलअण्ट झण्ट झम्प भुम गुम फुम फुस ढुम ढुस परीपरा. ॥४॥१६१॥ भ्रमेरेतेऽष्टादशादेशा वा भवन्ति, टिरिटिल्लइ ढुण्ढुल्लइ ढण्ढल्लइ चक्कम्मइ भम्मडइ भमडइ भमाडइ तलअण्टइ झण्टइ झम्पइ भुमइ गुमइ फुमइ फुसइ ढुमइ ढुसइ परीइ परइ, भमइ ॥

गमेरई अइच्छाणुवज्जावज्जसोक्कुसाक्कुस पच्चड्ड पच्छन्द णिम्मह णी णीण णीलुक्क पदअ रम्भ परिअल्ल बोल परिअल णिरिणास णिवहाव सेहावहरा ॥४॥१६२॥ गमेरेते एकविंशतिरादेशा वा भवन्ति, अईइ अइच्छइ अणुवज्जइ अवज्जसइ उक्कुसइ पच्चड्डइ पच्छन्दइ णिम्महइ णीइ णीणइ णीलुक्कइ पदअइ रम्भइ परिअल्लइ बोलइ परिअलइ णिरिणा-सइ णिवहइ अवसेहइ अवहरइ ॥ पक्षे गच्छइ, हम्मइ णिहम्मइ णीहम्मइ आहम्मइ पहम्मइ, इत्येते तु हम्म गतावित्यस्यैव भविष्यन्ति, ॥

आङा अहिपच्चुअः ॥४॥१६३॥ आङा सहितस्य गमेः अहिपच्चुअ इत्यादेशो वा भवति । अहिपच्चुअइ ॥ पक्षे आगच्छइ ॥

समा अब्भिडः ॥४॥१६४॥ समा युक्तस्य गमेः अब्भिड इत्यादेशो वा भवति । अब्भिडइ सगच्छइ ॥

अभ्याङोम्मत्थः ॥४॥१६५॥ अभ्याङ्भ्या युक्तस्य गमेः उम्मत्थ इत्यादेशो वा भवति, उम्मत्थइ अब्भागच्छइ (अभिमुखमागच्छतीत्यर्थ.) ॥

प्रत्याङा पलोट्ट ॥४॥१६६॥ प्रत्याङ्भ्यां युक्तस्य गमे पलोट्ट इत्यादेशो वा भवति । पलोट्टइ पच्चागच्छइ ॥

शमेः पडिसा-परिसामौ ॥४॥१६७॥ शमेरेतावादेशौ वा भवतः । पडिसाइ परिसामइ ॥ समइ ॥

रमेः संखुड्ड खेड्डोब्भाव-किलिकिञ्च-कोट्टुममोट्टाय णीसर वेल्लाः ॥४॥१६८॥ रमतेरेतेऽष्टादेशा वा भवन्ति । संखुड्डइ खेड्डइ उब्भावइ किलिकिञ्चइ कोट्टुमइ मोट्टायइ णीसरइ वेल्लइ, रमइ ॥

पूरेरग्घाडाग्घवोदधुमाङ्गु–माहिरेमा. ॥४॥१६९॥ पूरेरेते पञ्चादेशा वा भवन्ति । अग्घाडइ अग्घवइ उद्धुमइ अङ्गुमइ अहिरेमइ, पूरइ ॥

त्वरस्तुवर-जअडौ ॥४॥१७०॥ त्वरतेरेतावादेशौ भवत. । तुवरइ जअडइ, तुवरन्तो जअडन्तो, ॥

त्यादिशत्रोस्तूरः ॥४॥१७१॥ त्वरतेस्त्यादौ शतरि च तूर इत्यादेशो भवति । तूरइ तूरन्तो ॥

तुरोऽत्यादौ ॥४॥१७२॥ त्वरोऽत्यादौ तुर आदेशो भवति । तुरिओ तुरन्तो ॥

क्षरः खिर–झर–पज्झर–पच्चड–णिच्चल–णिट्टुआः

॥४॥१७३॥ क्षरेरेते पडादेशा भवन्ति । खिरइ झरइ पज्झ-रइ पच्चडइ णिच्चलइ णिट्टुअइ ॥

उच्छल उत्थल्लः ॥४॥१७४॥ उच्छलते रुत्थल्ल इत्यादेशो भवति । उत्थल्लइ ॥

विगलेस्थिप्प णिट्टुहौ ॥४॥१७५॥ विगलतेरेतावा-देशौ वा भवत, थिप्पइ णिट्टुहइ, विगलइ ॥

दलि वल्योर्विसट्टवम्फौ ॥४॥१७६॥ दलेर्वलेश्च यथासंख्यं विसट्ट वम्फ इत्यादेशौ वा भवत. । विसट्टइ वम्फइ, पक्षे दलइ वलइ ॥

भ्रंशे फिड-फिट्ट-फुड-फुट्ट-चुक्क-भुल्ला: ॥४॥१७७॥ भ्रशेरेते षडादेशा वा भवन्ति। फिडइ फिट्टइ फुडइ फुट्टइ चुक्कइ भुल्लइ, पक्षे भंसइ ॥

नशेर्णिरणासणिवहावसेह-पडिसा-सेहाऽवहरा ॥४॥१७८॥ नशेरेते पडादेशा वा भवन्ति । णिरिणासइ णिवहइ अवसेहइ पडिसाइ सेहइ अवहरइ पक्षे नस्सइ ॥

अवात् काशो वास. ॥४॥१७९॥ अवात्परस्य काशो वास इत्यादेशो भवति । [1]ओवासइ ॥

संदिशेरप्पाहः ॥४॥१८०॥ सदिशतेरप्पाह इत्यादेशो वा भवति । अप्पाहइ, संदिसइ ॥

दृशो-निअच्छ-पेच्छावयच्छावयज्झ-वज्ज-सव्वव-देक्खौअक्खावक्खावअक्ख पुलोअ-पुलअ निआवआस पासाः ॥४॥१८१॥ दृशेरेते पञ्चदशादेशा भवन्ति। निअच्छइ पेच्छइ अवयच्छइ अवयज्झइ वज्जइ सव्ववइ देक्खइ ओअक्खइ अव-

१ अवापोते ॥१॥१७२॥ इति ओत्वम् ।

क्खइ अवअक्खइ पुलोअइ पुलअइ निअइ अवआसइ पासइ, निज्झाअइ इति तु निध्यायतेः स्वरादनतो वा (४।२४०) इति भविष्यति ॥

स्पृश फास फंस फरिस छिव छिहालुंखालिहा ॥४॥१८२॥ स्पृशतेरेते सप्त आदेशा भवन्ति । फासइ फसइ फरिसइ छिवइ छिहइ आलुखइ आलिहइ ॥

प्रविशे रिअ ॥४॥१८३॥ प्रविशे रिअ इत्यादेशो वा भवति ॥ रिअइ पविसइ ॥

प्रान्मृशमुषोर्म्हुस ॥४॥१८४॥ प्रात्परयोर्मृशतिमुष्णात्योर्म्हुस इत्यादेशो भवति । पम्हुसइ, प्रमृशति प्रमुष्णाति वा ॥

पिषेर्णिवह णिरिणास णिरिणज्ज रोंच चड्डाः ॥४॥१८५॥ पिषेरेते पञ्चादेशा वा भवन्ति । णिवहइ णिरिणासइ णिरिणज्जइ रोचइ चड्डइ । पक्षे पीसइ ॥

भषेर्भुक्क ॥४॥१८६॥ भषेर्भुक्क इत्यादेशो वा भवति, वुक्कइ भसइ ॥

कृषे कड्ढ साअड्ढाञ्चाणच्छायञ्छाइञ्छाः ॥४॥१८७॥ कृषेरेते षडादेशा वा भवन्ति । कड्ढइ साअड्ढइ अञ्चइ अणच्छइ अयञ्छइ, पक्षे करिसइ ॥

असावक्खोड ॥४॥१८८॥ असिविषयस्य कृषेरक्खोड इत्यादेशो भवति । अक्खोडेइ, असि कोशात्कर्षतीत्यर्थः ॥

गवेषेर्डुण्ढुल्ल ढण्ढोल गमेस घत्ताः ॥४॥१८९॥ गवेषेरेते चत्वार आदेशा वा भवन्ति । ढुण्ढुल्लइ ढण्ढोलइ गमेसेइ घत्तइ, गवेसइ ॥

श्लिषेः सामग्गावयास परिअन्ताः ॥४॥१९०॥
श्लिष्यतेरेते त्रय आदेशा वा भवन्ति । सामग्गइ अवयासइ परिअन्तइ, सिलेसइ ॥

म्रक्षेश्चोप्पड ॥४॥१९१॥ म्रक्षेश्चोप्पड इत्यादेशो वा भवति । चोप्पडइ, मक्खइ ॥

कांक्षेराहाहिलंघाहिलंख वच्च वम्फ मह सिह-विलुम्पा ॥४॥१९२॥ कांक्षतेरेतेऽष्टादेशा वा भवन्ति । आहइ अहिलंघइ अहिलंखइ वच्चइ वम्फइ महइ सिहइ विलुम्पइ, कंखइ ॥

प्रतीक्षेः सामय विहीर विरमालाः ॥४॥१९३॥
प्रतीक्षेरेते त्रय आदेशा वा भवन्ति । सामयइ विहीरइ विरमालइ, पडिक्खइ ॥

तक्षेस्तच्छ चच्छ रम्प रम्फा. ॥४॥१९४॥ तक्षेरेते चत्वार आदेशा वा भवन्ति । तच्छइ चच्छइ रम्पइ रम्फइ, तक्खइ ॥

विकसेः कोआस वोसट्टौ ॥४॥१९५॥ विकसतेरेतावादेशौ वा भवतः, कोआसइ वोसट्टइ विअसइ ॥

हसेर्गुञ्ज ॥४॥१९६॥ हसेर्गुञ्ज इत्यादेशो वा भवति, गुञ्जइ हसइ ॥

स्रंसेर्ल्हसडिम्भौ ॥४॥१९७॥ स्रंसेरेतावादेशौ वा भवत. । ल्हसइ, परिल्हसइ सलिलवसण, डिम्भइ, संसइ ॥

त्रसेर्डर बोज्ज वज्जा. ॥४॥१९८॥ त्रसेरेते त्रय आदेशा वा भवन्ति । डरइ बोज्जइ वज्जइ, तसइ ॥

न्यसो णिमणुमौ ॥४॥१९९॥ न्यस्यतेरेतावादेशौ भवतः, णिमइ णुमइ ॥

पर्यंस. पलोट्ट पल्लट्ट पल्हत्था ॥४॥२००॥ पर्यस्यतेरेते त्रय आदेशा भवन्ति, पलोट्टइ पल्लट्टइ पल्हत्थइ ॥

निःश्वसेर्झङ्खः ॥४॥२०१॥ निःश्वसेर्झङ्ख इत्यादेशो वा भवति । झंखइ निस्ससइ ॥

उल्लसेरूसलोसुम्भ णिल्लस पुलआअ गुञ्जोल्लारोआः ॥४॥२०२॥ उल्लसेरेते षडादेशा वा भवन्ति । ऊसलइ ऊसुम्भइ णिल्लसइ पुलआअइ गुञ्जोल्लइ ह्रस्वत्वे तु गुञ्जुल्लइ, आरोअइ, उल्लसइ ॥

भासेर्भिस ॥४॥२०३॥ भासेर्भिस इत्यादेशो वा भवति । भिसइ भासइ ॥

ग्रसेर्घिस ॥४॥२०४॥ ग्रसेर्घिस आदेशो वा भवति । घिसइ गसइ ॥

अवाद् गाहेर्वाहः ॥४॥२०५॥ अवात्परस्य गाहेर्वाह इत्यादेशो वा भवति । ओवाहइ, ओगाहइ ॥

आरुहेश्चडवलग्गौ ॥४॥२०६॥ आरुहेरेतावादेशौ वा भवत. ॥ चडइ वलग्गइ आरुहइ ॥

मुहेर्गुम्मगुम्मडौ ॥४॥२०७॥ मुहेरेतावादेशौ वा भवतः । गुम्मइ गुम्मडइ, मुज्झइ ॥

दहेरहिऊलालङ्खौ ॥४॥२०८॥ दहेरेतावादेशौ वा भवतः ॥ अहिऊलइ आलुङ्खइ ॥ डहइ ॥

ग्रहो वल गेण्ह हर पङ्ग निरुवाराहिपच्चुआः ॥४॥२०९॥ ग्रहेरेते षडादेशा भवन्ति, वलइ गेण्हइ हरइ पङ्गइ निरुवारइ अहिपच्चुअइ ॥

क्त्वा तुम् तव्येषु घेत् ॥४॥२१०॥ ग्रह क्त्वा तुम् तव्येषु घेत् इत्यादेशो भवति ॥ 'क्त्वा, घेत्तूण, घेत्तुआण, क्वचिन्न भवति, गेण्हिअ 'तुम्, घेत्तुं 'तव्य, घेत्तव्वं ॥

वचो वोत् ॥४॥२११॥ वक्तेर्वोत् इत्यादेशो भवति क्त्वातुम्तव्येषु ॥ वोत्तूण वोत्तुं वोत्तव्वं ॥

रुद भुज मुचां तोऽन्त्यस्य ॥४॥२१२॥ एषामन्त्यस्य क्त्वातुम्तव्येषु तो भवति, रोत्तूण रोत्तु रोत्तव्व, भोत्तूण भोत्तुं भोत्तव्वं, मोत्तूण मोत्तु मोत्तव्वं ॥

दृशस्तेन ट्ठ ॥४॥२१३॥ दृशोऽन्त्यस्य तकारेण सह द्विरुक्तष्ठकारो भवति, क्त्वातुम्तव्येषु, दट्ठूण दट्ठुं दट्ठव्वं ॥

आ कृगो भूतभविष्यतोश्च ॥४॥२१४॥ कृगोऽन्त्यस्य आ इत्यादेशो भवति, भूतभविष्यत्कालयोश्चकारात् क्त्वातुम् तव्येषु च, [१]काहीअ अकार्षीत् अकरोत् चकार वा, [२]काहिइ, करिष्यति कर्त्ता वा, (क्त्वा) काऊण (तुम्) काउ (तव्य) कायव्व ॥

गमिष्यमासां छ ॥४॥२१५॥ एषामन्त्यस्य छो भवति । गच्छइ इच्छइ जच्छइ अच्छइ ॥

छिदिभिदोन्द ॥४॥२१६॥ अनयोरन्त्यस्य नकाराक्रान्तो दकारो भवति । छिन्दइ भिन्दइ ॥

युध बुध गृध क्रुध सिध मुहां ज्झ ॥४॥२१७॥ एषामन्त्यस्य द्विरुक्तो झो भवति । जुज्झइ बुज्झइ गिज्झइ कुज्झइ सिज्झइ मुज्झइ ॥

---

१ सी ही हीअ भूतार्थस्य ॥३॥१६२॥ इति ही आदेश. । २ भविष्यति हिरादि ॥३॥१६६॥ इति हि आदेश. ।

रुधो न्ध-म्भौ च ॥४॥२१८॥ रुधोऽन्त्यस्य न्ध म्भ इत्येतौ चकारात् ज्झश्च भवति । रुन्धइ रुम्भइ रुज्झइ ॥

सदपतोर्ड. ॥४॥२१९॥ अनयोरन्त्यस्य डो भवति, सडइ पडइ ॥

क्वथवर्धां ढ. ॥४॥२२०॥ अनयोरन्त्यस्य ढो भवति, कढइ वड्ढइ पवयकलयलो, परिवड्ढइ लायण्ण, वहुवचनात् वृधेः कृतगुणस्य वर्धेश्चाविशेषेण ग्रहणम् ॥

वेष्टः ॥४॥२२१॥ वेष्ट वेष्टने इत्यस्य धातोः कगटड ॥२॥७७॥ इत्यादिना षलोपेऽन्त्यस्य ढो भवति। वेढइ वेढिज्जइ ॥

समो ल्लः ॥४॥२२२॥ संपूर्वस्य वेष्टतेरन्त्यस्य द्विरुक्तो लो भवति । सवेल्लइ ॥

वोदः ॥४॥२२३॥ उद परस्य वेष्टतेरन्त्यस्य ल्लो वा भवति । उव्वेल्लइ उव्वेढइ ॥

स्विदां ज्ज ॥४॥२२४॥ स्विदिप्रकाराणाम् अन्त्यस्य द्विरुक्तो जो भवति । सव्वंगसिज्जिरीए, सपज्जइ खिज्जइ, वहुवचनं प्रयोगानुसरणार्थम् ॥

व्रज नृत मदां च्च ॥४॥२२५॥ एषामन्त्यस्य द्विरुक्तश्चो भवति । वच्चइ, नच्चइ, मच्चइ ॥

रुद-नमोर्व. ॥४॥२२६॥ अनयोरन्त्यस्य वो भवति । रुवइ रोवइ नवइ ॥

उद्विजः ॥४॥२२७॥ उद्विजतेरन्त्यस्य वो भवति । उव्विवइ उव्वेवो ॥

खादधावोर्लुक् ॥४॥२२८॥ अनयोरन्त्यस्य लुक् भवति। खाइ, खाअइ, खाहिइ, खाउ, (खाओ) धाइ धाहिइ धाउ, (धाओ) बहुलाधिकारात् वर्तमानाभविष्य द्विध्याद्येकवचने एव भवति, तेनेह न भवति खादन्ति धावन्ति, क्वचिन्न भवति, धावइ पुरओ ॥

सृजोरः ॥४॥२२९॥ सृजो धातोरन्त्यस्य रो भवति, निसिरइ वोसिरइ वोसिरामि ॥

शकादीनां द्वित्वम् ॥४॥२३०॥ शकादीनामन्त्यस्य द्वित्वं भवति, शक् सक्कउ जिम्, जिम्मउ, लग् लग्गउ, मग्, मग्गउ कुप्पइ, नश् नस्सउ, अट् परि अट्टइ, लुट्, पलोट्टइ, तुट्, तुट्टइ नट् नट्टइ , सिव् सिव्वइ इत्यादि ॥

स्फुटि-चलेः ॥४॥२३१॥ अनयोरन्त्यस्य द्वित्वं वा भवति, फुट्टइ फुडइ, चल्लइ चलइ ॥

प्रादेर्मीलेः ॥४॥२३२॥ प्रादेः परस्य मीलेरन्त्यस्य द्वित्वं वा भवति, पमिल्लइ पमीलइ, निमिल्लइ निमीलइ, समिल्लइ संमीलइ, उम्मिल्लइ उम्मीलइ, प्रादेरिति किम्, मीलइ ॥

क्तेनाप्फुण्णादयः ॥४॥२५८॥ अप्फुण्णादयः शब्दा आक्रमिप्रभृतीनां धातूनां स्थाने क्तेन सह वा निपात्यन्ते, अप्फुण्णो, आक्रान्तः, उक्कोसं, उत्कृष्टम्, फुड स्पष्टम्, वोलीणो अतिक्रान्त , वोसट्टो विकसितः, निसुट्टो निपातित , लुग्गो रुग्णः, ल्हिक्को नष्टः, पम्हुट्ठो प्रमृष्ट , प्रमुषितो वा, विढत्तं अर्जितम्, छित्तं स्पृष्टम्, निमिअ स्थापितम्, चक्खिअ आस्वादितम्, लुअं लूनम्, जढं त्यक्तम्, झोसिअ क्षिप्तम्, निच्छूढं उद्वृत्तम्

प्लहत्थ पल्लोट्टं च पर्यस्तम्, हीसमणं हेषितम्, इत्यादि ॥

धातवोऽर्थान्तरेऽपि ॥४॥२५९॥ उक्तादर्थादर्थान्तरेऽपि धातवो वर्त्तंते, बलि. प्राणने पठितः, खादनेऽपि वर्त्तते, वलइ खादति प्राणनं करोति वा, एव कलिः सख्याने संज्ञानेऽपि, कलइ जानाति संख्यान करोति वा। रिगिर्गतौ प्रवेशेऽपि, रिगइ प्रविशति गच्छति वा, काङ्क्षतेर्वम्फ आदेशः प्राकृते, वम्फइ। अस्यार्थः इच्छति प्रच्छति खादति वा, फक्कतेस्थक्क आदेश., थक्कइ नीचां गति करोति, विलम्बयति वा, विलप्युपालम्भयोर्झङ्ख आदेश', झंखइ विलपति उपालभते भाषते वा, एवं पडिवालेइ प्रतीक्षते रक्षति वा, केचित् कैश्चिदुपसर्गैर्नित्यम्, पहरइ युध्यते, सहरइ सवृणोति, अणुहरइ सदृशीभवति, नीहरइ पुरीषोत्सर्गं करोति, विहरइ क्रीडति, आहरइ खादति, पडिहरइ पुनः पूरयति, परिहरइ त्यजति, उवहरइ पूजयति, वाहरइ आह्वयति पवसइ देशान्तरं गच्छति, उच्चुपइ चटति, उल्लुहइ नि सरति, ॥

अथ शौरसेनी

तोदोऽनादौ शौरसेन्यामयुक्तस्य ॥४॥२६०॥

शौरसेन्या भाषायाम् अनादौ अपदादौ वर्त्तमानस्य तकारस्य दकारो भवति, न चेदसौ वर्णान्तरेण संयुक्तो भवति, [१] 'तदो पूरिद पदिञ्जेन मारुदिना मन्तिदो, (एतस्मात्) एदाहि, एदाओ, अनादावित्ति किम्, तधा करेध जधा तस्य राइणो अणुकम्पणीआ भोमि, अयुक्तस्येति किम्, मत्तो, अय्यपुत्तो असभाविद सक्कार, हला सउन्तले ॥

---

१ तत. पूरितप्रतिज्ञेन मारुतिना मन्त्रित. ॥

अधः क्वचित् ॥४॥२६१॥ वर्णान्तरस्याधो वर्तमानस्य तस्य शौरसेन्या दो भवति, क्वचिल्लक्ष्यानुसारेण ॥ महन्दो निच्चिन्दो अन्देउरं ॥

वादेस्तावति ॥४॥२६२॥ शौरसेन्यां तावच्छब्दे आदेस्तकारस्य दो वा भवति, ताव दाव ॥

आ आमन्त्रणे सौ वेनो न ॥४॥२६३॥ शौरसेन्याम् इनो नकारस्य आमन्त्रणे सौपरे आकारो वा भवति, भो कञ्चुइआ? सुहिआ? पक्षे भो तवस्सि, भो मणस्सि ॥

मो वा ॥४॥२६४॥ शौरसेन्याम् आमन्त्रणे सौ परे नकारस्य मो वा भवति, भो राय, भो विअयवम्मं, सुकम्मं भयवं कुसुमाउह भयवं तित्थं पवत्तेह, पक्षे, [१] सयललोअअन्तेआरि भयव हुदवह ॥

भवद्भगवतोः ॥४॥२६५॥ आमन्त्रण इति निवृत्तम् ॥ शौरसेन्याम् अनयो सौ परे नस्य मो भवति, किं एत्थ भवं, हिदएण चिन्तेदि, एदु भवं, समणे भगवं महावीरे, पञ्जलिदो भयवं हुदासणो, क्वचिदन्यत्रापि, मघवं पाग सासणे, संपाइअवं सीसो कयवं करेमि काहं च ॥

न वा र्यो य्यः ॥४॥२६६॥ शौरसेन्या र्यस्य य्यो वा भवति, अय्यउत्त पय्याकुलीकदम्हि, सुय्यो, पक्षे अज्जो पज्जाकुलो, कज्जपरवसो, ॥

थो ध ॥४॥२६७॥ शौरसेन्या थस्य धो वा भवति, कधेदि कहेदि, नाधो नाहो, कधं कहं, राजपधो राजपहो, अपदादावित्येव थामं थेओ ॥

---

१ सकललोकान्ते चारिन् भगवन् हुतवह ॥

इह-हचोर्हस्य ॥४॥२६८॥ इहशब्दसम्बन्धिनो मध्यमस्येत्थाहचौ ॥३॥१४३ इति विहितस्य हचश्च हकारस्य शौरसेन्या धो वा भवति, इध, होध, परित्तायध, पक्षे इह, होइ, परित्तायह ॥

भुवो भः ॥४॥२६९॥ शौरसेन्या भवतेर्हकारस्य भो वा भवति, भोदि होदि, भुवदि हुवदि भवदि हवदि ॥

पुरस्य पुरवः ॥४॥२७०॥ शौरसेन्या पूर्वस्य पुरव इत्यादेशो वा भवति, [1]अपुरव नाडय, [2]अपुरवागद, पक्षे अपुव्व पदं, अपुव्वागदं ॥

क्त्व इय दूणौ ॥४॥२७०॥ शौरसेन्यां क्त्वप्रत्ययस्य इयदूण इत्यादेशौ वा भवतः, भविय भोदूण, हविय होदूण, । पठिय पठिदूण, । रमिय रन्दूण, पक्षे भोत्ता, होत्ता, पठित्ता रन्ता ॥

कृ-गमो डडुअः ॥४॥२७२॥ आभ्या परस्य क्त्वाप्रत्ययस्य डित् अडुअ इत्यादेशो वा भवति, कडुअ, गडुअ पक्षे करिय करिदूण गच्छिय गच्छिदूण ॥

दिरिचेचोः ॥४॥२७३॥ त्यादीनामाद्यत्रयस्याद्यस्यैचेचौ ॥३॥१३९॥ इति विहितयोरिचेचो स्थाने दिर्भवति, । वेति निवृत्तम्, नेदि, देदि, भोदि, होदि, ॥

अतो देश्च ॥४॥२७४॥ अकारात्परयोरिचेचो. स्थाने देश्चकाराद् दिश्च भवति । अच्छदे अच्छदि, गच्छदे गच्छदि, रमदे रमदि, किज्जदे किज्जदि, अत इति किम्, वसुआदि, नेदि, भोदि ॥

---

१ अपूर्वम् नाटकम् । २ अपूर्वम् आगतम् ।

भविष्यति स्सिः ॥४॥२७५॥ शौरसेन्यां भविष्यदर्थे- विहिते प्रत्यये परे स्सिर्भवति, हिस्सा हामपवादः, भविस्सिदि, करिस्सिदि, गच्छिस्सिदि ॥

अतोङसेर्डादो डादू ॥४॥२७६॥ अतः परस्य ङसेः शौरसेन्याम् आदो आदु इत्यादेशौ डितौ वा भवतः, दूरादो य्येव दूरादु ॥

इदानीमो दाणि ॥४॥२७७॥ शौरसेन्यामिदानीम. स्थाने दाणिमित्यादेशो भवति, अनन्तरकरणीयं दाणि आणवेदु अय्यो, व्यत्ययात् प्राकृतेऽपि, अन्न दाणि बोहिं ॥

तस्मात्ताः ॥४॥२७८॥ शौरसेन्यां तस्माच्छब्दस्य ता इत्यादेशो भवति, ता जाव पावेसामि ता अलं एदिणा माणेण ।

मोऽन्त्यात् णो वेदेतो. ॥४॥२७९॥ शौरसेन्याम् अन्त्यान्मकारात् पर इदेतो. परयो. णकारागमो वा भवति, (इकारे) [1]जुत्तं णिम, जुत्तमिणं, सरिस [2]णिमं, सरिसमिण, (एकारे) किं णेदं किमेद, एवं णेदं, एवमेदं ॥

एवार्थे य्येव ॥४॥२८०॥ शौरसेन्याम् एवार्थे य्येव इति निपातः प्रयोक्तव्यः ॥ मम य्येव बम्भणस्स, सो य्येव एसो ॥

हञ्जे चेट्याह्वाने ॥४॥२८१॥ शौरसेन्या चेट्या- ह्वाने हञ्जे इति निपातः प्रयोक्तव्यः । [3]हञ्जे चदुरिके ॥

हीमाणहे विस्मयनिर्वेदे ॥४॥२८२॥ शौरसेन्या हीमाणहे इत्ययं निपातो विस्मये निर्वेदे च प्रयोक्तव्यः 'विस्मये' हीमाणहे जीवन्तवच्छा मे जणणी । 'निर्वेदे' हीमाणहे पलिस्सन्ता

---

१ युक्त इदम् । २ सदृश् इदम् । ३ हे चतुरिके । हे ।

हगे एदेण नियविहिणो दुव्ववसिदेण, ॥

णं नन्वर्थे ॥४॥२८३॥ शौरसेन्यां नन्वर्थे णमिति निपात: प्रयोक्तव्य: । णं अफलोदया, णं [१]अय्यमिस्सेहिं, पुढमं य्येव आणत्तं, णं [२]भवं मे अग्गदो चलदि, आर्षे वाक्यालंकारेऽपि दृश्यते नमोत्थु णं जया ण, तया णं ॥

अम्महे हर्षे ॥४॥२८४॥ शौरसेन्याम् अम्महे इति निपातो हर्षे प्रयोक्तव्य: । अम्महे एआए सुम्मिलाए सुपलिगढिदो भवं ॥

हीही विदूषकस्य ॥४॥२८५॥ शौरसेन्या हीही इति निपातो विदूपकाणा हर्षे द्योत्ये प्रयोक्तव्य. । हीही भो संपन्ना मणोरधा पियवयस्सस्स ॥

शेषं प्राकृतवत् ॥४॥२८६॥ शौरसेन्यामिह प्रकरणे यत्कार्यमुक्तं ततोऽन्यच्छौरसेन्यां प्राकृतवदेव भवति, दीर्घन्हस्वौ मिथोवृत्तौ ॥१॥४॥ इत्यारभ्य तोदोऽनादौ शौरसेन्यामयुक्तस्य ॥४॥२६०॥ एतस्मात्सूत्रात् प्राग् यानि सूत्राणि, एषु यानि उदाहरणानि, तेपु मध्ये अमूनि तदवस्थान्येव शौरसेन्या भवन्ति, अमूनि पुनरेव विधानि भवन्तीति विभाग. प्रतिसूत्र स्वयम् अभ्युह्य दर्शनीय. । यथा अन्दावेदी, जुवदिजणो, मणसिला इत्यादि ॥

अथ मागधी

अत एत्सौ पुंसि मागध्याम् ॥४॥२८७॥ मागध्या भाषायां सौ परे अकारस्य एकारो भवति, पुसि पुल्लिङ्गे, (एष मेप.) एशे मेशे, एशे पुलिशे, (करोमि भदन्त) करेमि भन्ते, अत इति किम्, णिही, कली, गिली, पुसीति किम्, जलं,

---

१ ननु आर्य मिस्सैः । २ ननु भवान् मे अग्रतः चलति ।

यद्यपि 'पोराणमद्धमागह भासा निययं हवइ सुत्तं, इत्यादिना आर्षस्य अर्धमागधभाषानियतत्वम् आम्नायि वृद्धैस्तदपि प्रायोऽस्यैव विधानात्, न वक्ष्यमाणलक्षणस्य, कयरे आगच्छइ, से तारिसे दुक्खसहे जिइन्दिए, इत्यादि ॥

रसोर्लशौ ॥४॥२८८॥ मागध्यां रेफस्य दन्त्यसकारस्य च स्थाने यथासंख्यं लकारस्तालव्यशकारश्च भवति, नले, कले (नरः करः) 'स' हंशे [१]शुदं शोभणं, उभयोः, शालशे पुलिशे ॥

[१]लहश--वश-नमिल-शुल-शिल-विअलिद-मन्दाल-लायिदंहियुगे, । वीलयिणे पक्खालदु मम शयलमवय्य यम्बालं ॥ सषोः संयोगे सोऽग्रीष्मे ॥४॥२८९॥ मागध्यां सकारषकारयोः संयोगे वर्तमानयो. सो भवति, ग्रीष्मशब्दे तु न भवति, ऊर्ध्वलोपाद्यपवादः, 'स' पस्खलदि हस्ती, बुहस्पदी, मस्कली, विस्मये, 'ष' शुस्कदालुं, कस्टं, विस्नुं, शस्यकवले उस्मा, निस्फलं, धनुस्खण्डं, अग्रीष्म इति किम्, गिम्हवाशले ॥

ट्टष्ठयोः स्टः ॥४॥२९०॥ द्विरुक्तस्य टकारस्य षकाराक्रान्तस्य च ठकारस्य मागध्यां सकाराक्रान्तः टकारो भवति, 'ट्ट' पस्टे भस्टालिका भस्टिणी 'ष्ठ' शुस्टु कदं, कोस्टागालं ॥

स्थर्थयोः स्त. ॥४॥२९१॥ स्थर्थ इत्येतयोः स्थाने मागध्यां सकाराक्रान्तः तो भवति, स्थ, उवस्तिदे, 'र्थ' अस्तवदी, शस्तवाहे ॥

जद्ययां यः ॥४॥२९२॥ मागध्यां जद्ययां स्थाने यो भवति, 'ज' याणदि यणवदे अय्युणे दुय्यणे गय्यदि गुणवय्यिदे,

---

१ हसः सुत सोभन सारस पुरुप. ।, २ रहसवशनम्रसुरशिरो विगलित-मन्दारराजिताङ्घ्रियुग, । वीरजिन, प्रक्षालयतु मम सकलमवद्य जम्बालम्।

'द्य' मय्यं अय्य किल विय्याहले आगदे, 'य' यादि यधा शलूवं याणवत्त, यदि, यस्य यत्वविधानम् आदेर्योजः ॥१॥२४५॥ इति बाधनार्थम् ॥

न्यण्यज्ञञ्जां ञ्ञः ॥४॥२९३॥ मागध्यां न्यण्यज्ञञ्ज इत्येतेषा द्विरुक्तो ञो भवति, 'न्य' अहिमञ्ञु कुमाले, अञ्ञदिशं, शामञ्ञगुणे कञ्ञाका वलणं, ण्य, पुञ्ञवन्ते अवम्हञ्ञं पुञ्ञाहं पुञ्ञं, ज्ञ, पञ्ञाविशाले, शव्वञ्ञे अवञ्ञा, ञ्ज, अञ्ञली धणञ्ञाए पञ्ञले ॥

व्रजो जः ॥४॥२९४॥ मागध्या व्रजेर्जकारस्य ञ्जो भवति, यापवादः, वञ्जदि ॥

छस्य श्चोऽनादौ ॥४॥२९५॥ मागध्यामनादौ वर्तमानस्य छस्य तालव्यशकाराक्रान्तश्चो भवति, गश्च, उश्चलदि, पिश्चिले, पुश्चदि, लाक्षणिकस्यापि (आपन्नवत्सलः) [१] आपन्नवश्चले, (तिर्यग् प्रेक्षते) तिरिच्छि पेच्छइ, तिरिश्चिपेस्कदि, अनादाविति किम्, छाले, ॥

क्षस्य ᳵकः ॥४॥२९६॥ मागध्यामनादौ वर्त्तमानस्य क्षस्य ᳵको जिव्हामूलीयो भवति, यᳵके लᳵकशे, अनादावित्येव, खय-यलहला (क्षयजलधरा) ॥

स्कः प्रेक्षाचक्षो ॥४॥२९७॥ मागध्यां प्रेक्षेराचक्षेश्च क्षस्य सकाराक्रान्तः को भवति, जिव्हामूलीयापवादः, पेस्कदि, आचस्कदि ॥

---

१ अत्र 'ह्स्वात् थ्यश्चत्सप्साम् अनिश्चले ॥२॥२१॥ इति त्सस्य स्थाने छा कारादेशः पश्चाच्छकारस्य श्च ॥

तिष्ठश्चिष्ठः ॥४॥२९८॥ मागध्यां स्थाधातोर्यस्तिष्ठ इत्यादेशस्तस्य चिष्ठ इत्यादेशो भवति, चिष्ठदि ॥

अवर्णाद्वा ङसो डाहः ॥४॥२९९॥ मागध्यामवर्णात् परस्य ङसो डिद् आह इत्यादेशो वा भवति, [१]हगे न एलिशाह कम्माह काली, [२]भगदत्तशोणिदाह कुम्भे, पक्षे [३]भीमशेणस्स पश्चादो हिण्डीअदि, हिडिम्बाए घडुक्कय शोकेण उवशमदि, ॥

आमो डाहँ वा ॥४॥३००॥ मागध्यामवर्णात्परस्य आमोऽनुनासिकान्तो डित् आह आदेशो वा भवति, शयणाँ सुहं (स्वजनानां सुखम्) पक्षे नलिन्दाणं (नरीन्द्राणाम्) व्यत्ययात्प्राकृतेऽपि, ताहँ तुम्हाहँ अम्हाहँ सरिआहँ कम्माहँ ॥

अहं वयमोर्हगे ॥४॥३०१॥ मागध्याम् अहंवयमोः स्थाने हगे इत्यादेशो भवति, [४]हगे शक्कावदालतित्तणिवाशी धीवले, हगे शंपत्ता, वयं संप्राप्ताः ॥

शेषं शौरसेनीवत् ॥४॥३०२॥ मागध्यां यदुक्तं ततोऽन्यच्छौरसेनीवत् द्रष्टव्यम् ॥ तत्र 'तो दो नादौ शौरसेन्यामसंयुक्तस्य ॥४॥२६०॥ पविशदु आयुत्ते शामिपशादाय, अधः क्वचित् ॥४॥२६१॥ अले किं एशे महन्दे कलयले ॥ वादेस्तावति ॥४॥२६२॥ मालेध वा धलेध वा, अयं दाव शे आगमे, 'आ आमन्त्र्ये सौवेनो नः ॥४॥२६३॥ भो कञ्चुइआ (भो कञ्चुकिन्) 'मो वा ॥४॥२६४॥ भो रायं ॥ भवद्भगवतोः ॥४॥२६५॥ एदु भव, शमणे भयवं महावीले, भयव कदन्ते ये

---

१ अह न ईदृशस्य कर्मण कारी ॥ २ भगदत्तशोणितस्य कुम्भ ॥
३ भीमसेनस्य पश्चाद् हिण्डति ॥ ४ अह शक्रावतारतीर्थनिवासी धीवरो ॥

अप्पणो प⌒कं उज्झिय पलस्स प⌒कं पमाणी कलेशि ॥ नवार्येय्यः ॥४॥२६६॥ अय्य एशे खु कुमाले मलयकेदू ॥ थोधः ॥४॥२६७॥ अले कुम्भिला कधेहि ॥ इहहचोर्हस्य ॥४॥२६८॥ ओशलध अय्या ओशलध ॥ (अपसरथ आर्य्या अपसरथ) भुवो भः ॥४॥२६९॥ भोदि ॥ पूर्वस्य पुरवः ॥४॥२७०॥ अपुरवे ॥ क्त्व इयदूणो ॥४॥२७१॥ किं खु शोभणे बम्हणे शित्ति कलियलज्जा पलिग्गहे दिण्णे, कृगमो डडुअः ॥४॥२७२॥ कडुअ गडुअ ॥ दिरिचेचोः ॥४॥२७३॥ अमच्च ल⌒कश पिक्खिदु इदो य्येव आगश्चदि ॥ अतो देश्च ॥४॥२७४॥ अले किं एशे महन्दे कन्चयले शुणीअदे ॥ भविष्यति स्सिः ॥४॥२७५॥ ता कहिं न गदे लुहिलप्पिए भविस्सिदि। अतो ङसेर्डादो डादू ॥४॥२७६॥ अहंपि भागुलायणादो मुद्दं पावेमि ॥ इदानीमो दाणिं ॥४॥२७७॥ शुणध दाणिं हगे शक्कावयाल तित्तणिवाशी धीवले ॥ तस्मात्ताः ॥४॥२७८॥ ता याव पविशामि ॥ मोऽन्त्याण्णो वेदेतोः ॥४॥२७९॥ युत्तं णिमं शलिशं णिमं ॥ एवार्थे य्येव ॥४॥२८०॥ मम य्येव ॥ हज्जे चेटचाव्हाने ॥४॥२८१॥ हज्जे चदुरिके ॥ हीमाणहे विस्मयनिर्वेदे ॥४॥२८२॥ विस्मये यथा उदात्तराघवे राक्षस. हीमाणहे जीवन्त वश्चा मे जणणी ॥ निर्वेदे यथा 'विक्रान्तभीमे राक्षस.' हीमाणहे पलिस्सन्ता हगे एदेण नियविहिणो दुव्ववशिदेण ॥ णं नन्वर्थे ॥४॥२८३॥ णं [1] अवशलोपशप्पणीया लायाणो ॥ अम्महे हर्षे ॥४॥२८४॥ अम्महे एयाए शुम्मिलाए शुपलिगढिदे भव ॥ हीही विदूषकस्य ॥४॥

---

[1] ननु अवसरोपसर्पणीया राजान. ॥

२८५॥ हीही संपन्ना मे मणोलधा पियवयस्सस्स ॥ शेषं प्राकृत-वत् ॥४॥२८६॥ मागध्यामपि दीर्घह्रस्वौ मिथोवृत्तौ ॥१॥४॥ इत्यारभ्य तो दोऽनादौऽशौरसेन्यामयुक्तस्य ॥४॥२६०॥ इत्या-स्मात्प्राग् यानि सूत्राणि तेषु यानि उदाहरणानि सन्ति तेषु मध्ये अमूनि तदवस्थान्येव, मागध्या पुनरमूनि एवं विधानि भवन्तीति विभागः स्वयमभ्यूह्य दर्शनीय ॥

अथ पैशाची ॥

ज्ञो ञ्ञः पैशाच्याम् ॥४॥३०३॥ पैशाच्या भाषायां ज्ञस्य ञ्ञो भवति, पञ्ञा सञ्ञा सव्वञ्ञो ञाण विञ्ञाणं ॥

राज्ञो वा चिञ् ॥४॥३०४॥ पैशाच्यां राज्ञ इति शब्दे यो ज्ञस्तस्य चिञ् आदेशो वा भवति, राचिञा लपित, रञ्ञा लपित, राचिञो धनं, रञ्ञो धन, ज्ञ इत्येव राजा ॥

न्यण्ययोर्ञ्ञः ॥४॥३०५॥ पैशाच्यां न्यण्ययो. स्थाने ञ्ञो भवति. कञ्ञका (कन्यका) अभिमञ्ञु पुञ्ञकम्मो पुञ्ञाह ॥

णो नः ॥४॥३०६॥ पैशाच्या णकारस्य नो भवति, गुनगनयुत्तो, गुनेन ॥

तदोस्तः ॥४॥३०७॥ पैशाच्यां तकारदकारयोस्तो भवति, तस्य, भगवती, पव्वती, सत, दस्य, मतनपरवसो, सतन, तामोतरो, पतेसो, वतनक, होतु, रमतु, तकारस्यापि तकार-विधानम् आदेशान्तरबाधनार्थम्, तेन पताका वेतिसो, इत्याद्यपि सिद्ध भवति ॥

लो ळः ॥४॥३०८॥ पैशाच्या लकारस्य ळकारो भवति, सीळं कुळ जळ सळिळ कमळ ॥

शषोः सः ॥४॥३०९॥ पैशाच्यां शषो सो भवति, श, सोभति, सोभनं ससी, सक्को संखो, (ष) विसमो किसानो, न कगचजादिपट् शम्यन्तसूत्रोक्तम् ॥४॥३२४॥ इत्यस्य बाध-कस्य बाधनार्थोऽयं योगः ॥

हृदये यस्य पः ॥४॥३१०॥ पैशाच्यां हृदयशब्दे यस्य पो भवति, हितपकं, किंपि किंपि हितपके अत्थं चिन्तयमानी ॥

टोस्तुर्वा ॥४॥३११॥ पैशाच्यां टोः स्थाने तुर्वा भवति, कुतुम्बकं कुटुम्बकं ॥

क्त्वस्तूनः ॥४॥३१२॥ पैशाच्यां क्त्वाप्रत्ययस्य स्थाने तून इत्यादेशो भवति, गन्तून, रन्तून, हसितून, कढितून, कधितून ॥

द्धूनत्थूनौ ष्ट्वः ॥४॥३१३॥ पैशाच्यां ष्ट्वा इत्यस्य स्थाने द्धून त्थून इत्यादेशौ भवतः, पूर्वस्यापवादः, नद्धून, नत्थून तद्धून, तत्थून (नष्ट्वा दृष्ट्वा इत्यर्थः) ॥

र्यस्नष्टां रिय-सिन-सटाः क्वचित् ॥४॥३१४॥ पैशाच्यां र्यस्नष्टां स्थाने यथा संख्यं रिय सिन सट इत्यादेशाः क्वचिद् भवन्ति, भार्या, भारिया, स्नातम्, सिनातं, कष्टम्, कसटं, क्वचिदिति किम्, सुज्जो, सुनुसा तिट्ठो ॥

क्यस्येय्यः ॥४॥३१५॥ पैशाच्यां क्यप्रत्यय इय्य इत्यादेशो भवति, गिय्यते दिय्यते रमिय्यते पढिय्यते, ॥

कृगो डीरः ॥४॥३१६॥ पैशाच्यां कृगः परस्य क्यस्य स्थाने डीर इत्यादेशो भवति, पुधुमतसने सव्वस्स य्येव सम्मान कीरते ॥

यादृशादेर्दुस्तिः ॥४॥३१७॥ पैशाच्यां यादृश इत्येवमादीनां दृ इत्यस्य स्थाने तिरित्यादेशो भवति, यातिसो,

तातिसो केतिसो, एतिसो, भवातिसो, अञ्आतिसो युम्हातिसो अम्हातिसो ॥

इचेचः ॥४॥३१८॥ पैशाच्याम् इचेचोः स्थाने तिरादेशो भवति, वसुआति, भोति, नेति, तेति, ॥

आत्तेश्च ॥४॥३१९॥ पैशाच्यामकारात्परयोः इचेचोः स्थाने तेश्चकारात् तिश्चादेशो भवति, लपते लपति, अच्छदे अच्छति, गच्छते गच्छति, रमते रमति, आदिति किम् होति नेति ॥

भविष्यत्येय्य एव ॥४॥३२०॥ पैशाच्याम् इचेचोः स्थाने भविष्यति एय्य एव भवति, न तु स्सिः ॥ तं तद्धून चिंतित रञ्आ का एसा हुवेय्य ॥

अतो ङसेर्डातो डातु ॥४॥३२१॥ पैशाच्यामकारात्परस्य ङसेर्डितौ आतो आतु इत्यादेशौ भवतः, ताव च तीए दूरातो य्येव तिट्ठो, तूरातु, तुमातो तुमातु, ममातो ममातु ॥

तदिदमोष्टा नेन स्त्रियां तु नाए ॥४॥३२२॥ पैशाच्यां तदिदमोः स्थाने टाप्रत्ययेन सह नेन इत्यादेशो भवति, स्त्रीलिङ्गे तु नाए इत्यादेशो भवति, तत्थ च नेन कतसिनानेन स्त्रियाम्, पूजितो च नाए पातग्गकुसुमप्पतानेन, टेति किम् एवं चिन्तयतो गतो सो ताए समीपं ॥

शेषं शौरसेनीवत् ॥४॥३२३॥ पैशाच्यां यदुक्तं ततोऽन्यच्छेषं पैशाच्या शौरसेनीवत् भवति ॥ अध ससरीरो भयवं मकरधजो, एत्थ परिब्भमन्तो हुवेय्य, एव विधाए भगवतीए कध तापसवेसगहनं कतं, एतिस अतिट्ठपुरवं महाधनं तद्धून। भयव यदि मं वरं पयच्छसि, राज च दाव लोक, ताव च तीए

दूरातो य्येव तिट्ठो सो आगच्छमानो राजा ॥

न कगचजादिषट् शम्यन्तसूत्रोक्तम् ॥४॥३२४॥ पैशाच्यां कगचजतदपयवां प्रायो लुक् ॥१॥१७७॥ इत्यारभ्य षट्शमीशावसुधासप्तपर्णेष्वादेश्छः ॥१॥२६५॥ इति यावद्यानि सूत्राणि तैर्यदुक्तं कार्यं तन्न भवति, मकरकेतू, सगरपुत्तवचणं, विजयसेनेन लपित, मतनं पाप आयुधं, तेवरो, एवमन्यसूत्राणा-मपि उदाहरणानि द्रष्टव्यानि ॥

अथ चूलिका पैशाची

चूलिकापैशाचिके तृतीयतुर्ययोराद्यद्वितीयौ ॥४॥३२५॥ चूलिकापैशाचिके वर्गाणां तृतीयतुर्ययोः स्थाने यथासंख्यम् आद्य-द्वितीयौ भवतः' (नगरम्) नकरं (मार्गणः) मक्कनो (गिरि-तटम्) किरितटम्' मेघः' मेखो 'व्याघ्रः' वक्खो 'घर्मः' खम्मो, 'राजा' राचा' 'जर्जरम्' चच्चरं, 'जीमूतः' चीमूतो, 'निर्झरः निच्छरो 'झर्झरः' छच्छरो, 'तडागम्' तटाकं, 'मण्डलम्' मण्टलं 'डमरूकः' टमरुको, 'गाढम्' काठं 'षण्ढः' सण्ठो 'ढक्का' ठक्का 'मदन.' मतनो 'कन्दर्पः' कन्तप्पो 'दामोदर.' तामोतरो, मधु-रम्, मथुरं, बान्धवः, पन्थवो, 'धूली, थूली, 'वालकः, पालको 'रभसः' रफसो 'रम्भा' रम्फा, 'भगवती' फकवती, 'नियोजि-तम्, नियोचितं, क्वचिल्लाक्षिणकस्यापि पडिमा इत्यस्य स्थाने पटिमा, दाढा इत्यस्य स्थाने ताठा ॥

रस्य लो वा ॥४॥३२६॥ चूलिका पैशाचिके रस्य स्थाने लो वा भवति, ॥

[1]पनमथ पनयप्पकुप्पितगोली-चलनग्ग-लग्ग-पतिबिम्बं ।
तससु नखतप्पनेसुं एकातस तनुथलं लुद्दं ।१।
[2]नच्चन्तस्स य लीलापातुक्खेवेन कम्पिता वसुधा ।
उच्छल्लन्ति समुद्दा सइला निपतन्ति तं हलं नमथ ॥

नादियुज्योरन्येषाम् ॥४॥३२७॥ चूलिकापैशाचिकेऽपि अन्येषामाचार्याणां मतेन तृतीयतुर्ययोरादौ वर्तमानयोर्युजि धातौ च आद्यद्वितीयौ न भवतः ॥ 'गतिः' गती 'धर्मः' धम्मो, 'जीमूतः' जीमूतो, 'झर्झरः' झच्छरो, 'डमरुकः' डमरुको, 'ढक्का' ढक्का, 'दामोदरः' दामोतरो 'वालकः' बाळको 'भगवती, भकवती, 'नियोजितम्' नियोजितं ॥

शेषं प्रागवत् ॥४॥३२८॥ चूलिकापैशाचिके तृतीय–तुर्ययोरित्यादि यदुक्तं ततोऽन्यच्छेषं प्राक्तनपैशाचिकवत् भवति । नकरं मक्कनो अनयोर्नो णत्वं न भवति, णस्य च नत्वं स्यात् एवमन्यदपि ॥

अथ अपभ्रंशभाषा ॥

स्वराणां स्वरा प्रायोऽपभ्रंशे ॥४॥३२९॥ अपभ्रंशे स्वराणां स्थाने प्राय. स्वरा भवन्ति, कच्चु काच्च, वेण वीण, वाह बाहा बाहु, पट्ठि पिट्ठि पुट्ठि, तणु तिणु तुणु, सुकिदु सुकिओ सुकृदु, किन्नओ किलिन्नओ, लिह लीह लेह, गउरि गोरि, प्रायो

१ प्रणमथ प्रणयप्रकुपितगौरीचरणाग्रलग्नप्रतिविम्बम् ।
दशसु नखदर्पणेष्वेकादशतनुधर रुद्रम् ॥१॥
२ नृत्यतश्च लीलया पादोत्क्षेपेण कम्पिता वसुधा ।
उच्छलन्ति समुद्रा. शैला निपतन्ति तं हर नमथ ॥२॥

ग्रहणाद्यस्य अपभ्रंशे विशेषो वक्ष्यते तस्यापि क्वचित्प्राकृतवत् शौरसेनीवच्च कार्यं भवति, ॥

स्यादौ दीर्घह्रस्वौ ॥४॥३३०॥ अपभ्रंशे नाम्नोऽन्त्यस्वरस्य दीर्घह्रस्वौ स्यादौ प्रायो भवतः ॥

[1] 'ढोल्ला सामला धण चम्पा वण्णी,
णाइ सुवण्णरेह कसवट्टइ दिण्णी,

आमन्त्ये ॥

[2] ढोला मइं तुहुं वारिया मा कुरु दीहा माणु,
निद्दए गमिही रत्तडी दडवड होइ विहाणु ॥

स्त्रियाम् ॥

[3] बिट्टीए मइ भणिय तुहं मा कुरु वंकी दिट्ठि,
पुत्ति सकण्णी भल्लि जिवँ मारइ हिअइ पइट्ठि ॥

जसि ॥

[4] एइ ति घोडा एह थली एइ ति निसिआ खग्ग ॥
एत्थु मुणीसिम जाणीअइ जो नवि वालइ वग्ग ॥

एवं विभक्त्यन्तरेष्वपि उदाहार्यम् ॥

स्यमोरस्योत् ॥४॥३३१॥ अपभ्रंशे अकारस्य स्यमोः परयो. उकारो भवति, ॥

नायक श्यामल प्रिया चम्पावर्णा, यथा सुवर्णरेखा कषपट्टके दत्ता ॥ २ नायक ? मया त्व वारितो मा कुरु दीर्घ मानम् । निद्रया गमिष्यति रात्रि', शीघ्र भवति प्रभातम् ॥ ३ पुत्रिके? मया भणिता त्व मा कुरु वक्रा दृष्टिम्, पुत्रि ? सकर्णाभल्लिर्यथा मारयति हृदये प्रविष्टा ॥ ४ एते ते घोटका एषा स्थली, एते, ते निशिता. खड्गा , अत्र मनुष्यत्वं ज्ञायते यो नापि घालयति वल्गाम् ॥

[१]दहमुह भुवण भयंकरु तोसिअ
संकरु णिग्गउ रहवरि चडिअउ ॥
चउ मुहु छंमुहु झाइवि एक्कहिं
लाइवि णावइ दइवें घडिअउ ॥

सौ पुंस्योद्वा ॥४॥३३२॥ अपभ्रंशे पुल्लिङ्गे वर्तमानस्य नाम्नोऽकारस्य सौ परे ओकारो वा भवति, ॥

[२]अगलिह नेह निवट्टाहं जोअण लक्खुवि जाउ ॥
वरिससएण वि जो मिलइ सहि सोक्खहं सो ठाउ ॥

पुंसीति किम्, ॥

[३]अङ्गहिं अङ्गु न मिलिउ हलि अहरें अहरु न पत्तु ॥
पिअ जोअन्तिहे मुहकमलु एम्वइ सुरउ समत्तु ॥

एट्टि ॥४॥३३३॥ अपभ्रंशे अकारस्य टायाम् एकारो भवति, ॥

[४]जे महु दिण्णा दिअहडा दइएणं पवसन्तेण ॥
ताण गणन्तिए अङ्गुलिउ जज्जरिआउ नहेण ॥

ङिनेच्च ॥४॥३३४॥ अपभ्रंशे अकारस्य ङिना सह इकार एकारश्च भवति, ॥

[५]सायरु उप्परि तणु धरइ तलि घल्लइ रयणाइं ॥

---

१ दशमुखो भुवनभयङ्करस्तो-पितशङ्करो निर्गतो रथवरे रथोपरि आसुह चटित, चतुर्मुख षण्मुखं ध्यात्वैकस्मिन्लँगित्वा ज्ञायते दैवेन घटितः॥

२ अगलितस्नेहनिवृत्ताना योजनलक्षमपि यातु (यात्वा) ॥ वर्षशतेनापि यो मिलति सखि ? सौख्यानां स स्थानम् ॥ ३ अङ्गैरङ्ग न मिलित सखि? अधरेणाऽधर न प्राप्तम्, प्रियस्य पश्यन्त्या मुखकमलमेवमेव सुरत समाप्तम् ॥ ४ ॥ ये मम दत्ता दिवसा दयितेन प्रवसता, तान् गणयन्त्या अङ्गुल्यो जर्जरिता नखेन ॥ ५ सागर उपरि तृण धरति तले क्षिपति रत्नानि, स्वामी सुभृत्यमपि परिहरति समानयति खलान् ॥

सामि सुभिच्चु वि परिहरइ सम्माणेइ खलाइं ॥

तले घल्लइ ॥

भिस्येद्वा ॥४॥३३५॥ अपभ्रंशे अकारस्य भिसि परे एकारो वा भवति, ॥

[1]**गुणहिं न संपइ कित्ति पर फल लिहिआ भुञ्जन्ति ॥**
केसरि न लहइ बोडिअवि गय लक्खेहिं घेप्पन्ति ॥

ङसेर्हेहू ॥४॥३३६॥ अस्तेति पञ्चम्यन्तं विपरिणम्यते ॥ अपभ्रंशे अकारात्परस्य ङसेर्हेहु इत्यादेशौ भवतः, ॥

[2]**वच्छहे गिण्हइ फलइं जणु कडुपल्लव वज्जेइ ॥**
तो वि महद्दुमु सुअणु जिवँ ते उच्चङ्गि धरेइ ॥

वच्छहु गिण्हइ ॥

भ्यसो हुं ॥४॥३३७॥ अपभ्रंशे अकारात्परस्य भ्यसः पञ्चमीवहुवचनस्य हुं इत्यादेशो भवति ॥

[3]**दूरुड्डाणें पडिउ खलु अप्पणु जणु मारेइ ॥**
जिह गिरिसिङ्गहुं पडिअ सिल अन्नु वि चूरु करेइ ॥

ङसः सुहोस्सवः ॥४॥३३८॥ अपभ्रंशे अकारात्परस्य ङसः स्थाने सु हो स्सु इति त्रय आदेशा भवन्ति, ॥

[4]**जो गुण गोवइ अप्पणा पयडा करइ परस्सु ॥**

---

१ गुणैर्न सम्पद कीर्त्तिः पर फलानि लिखितानि भुञ्जन्ति, केसरी न लभते कपर्दिकामपि गजा लक्षैर्गृह्यन्ते ॥ २ वृक्षाद् गृह्णाति फलानि जनो कटुपल्लवान् वर्जयति, ततोऽपि महाद्रुम सुजन इव तान् उत्सङ्गे धरति ॥ ३ दूरोड्डीनेन पतित खल आत्मान जनं मारयति, यथा गिरिश्रृङ्गेभ्यः पतिता शिला (खम्) अन्यमपि चूर्णीकरोति ॥ ४ यो गुणान् गोपयति आत्मन. प्रकटीकरोति परस्य, तस्याहं कलियुगे दुर्लभस्य वलि क्रिये सुजनस्य ॥

तसु हउं कलिजुगि दुल्लहहो बलि किज्जउं सुअणस्सु ॥

आमो हं ॥४॥३३९॥ अपभ्रंशे अकारात्परस्य आमो हम् इत्यादेशो भवति, ॥

[१] तणहं तइज्जी भङ्गि नवि तें अवडयडि वसन्ति ॥
अह जणु लग्गि वि उत्तरइ अह सह सइं मज्जन्ति ॥

हुं चेदुद्भ्याम् ॥४॥३४०॥ अपभ्रंशे इकारोकाराभ्यां परस्यामो हुं हं च इत्यादेशो भवतः ॥

[२] दइवु घडावइ वणि तरुहुं सउणिहं पक्क फलाइं ॥
सो वरि सुक्खु पइट्ठ णवि कण्णहिं खल वयणाइं ॥

प्रायोधिकारात्क्वचित्सुपोऽपि हुं ॥

[३] धवलु विसूरइ सामिअहो गरुआ भरु पिक्खेवि ॥
हउं कि न जुत्तउ दुहुं दिसिहिं खण्डइं दोण्णि करेवि ॥

ङसिभ्यस्ङीनां हे हुं हयः ॥४॥३४१॥ अपभ्रंशे इदुद्भ्यां परेषां ङसिभ्यस्ङि इत्येतेषां यथासख्यं हे हुं हि इत्येते त्रय आदेशाः भवन्ति, ङसेर्हे ॥

[४] गिरिहे सिलायलु तरुहे फलु घेप्पइ नीसावन्नु ॥
घरु मेल्लेप्पिणु माणुसहं तो वि न रुच्चइ रन्नु ॥

भ्यसो हुं ॥

---

१ तृणाना तृतीया भङ्गी नापि तेन अवटतटे वसन्ति, अथ जनो लगि-त्वापि उतरति अथ सह स्वय मज्जन्ति ॥ २ दैव घटयति वने तरूणा शकु-नीनां पक्वफलानि, तद् वर सुख प्रविष्ट नापि कर्णयो. खलवचनानि ॥ ३ धवलो विषीदति स्वामिनो गुरुभार प्रेक्ष्य ॥ अह किं न योजितो द्वयोर्दिशोः खण्डयित्वा द्वौ कृत्वा ॥ ४ गिरे शिलातल तरो. फल गृह्णाति नि.सामान्यः गृहं मुक्त्वा मनुष्येभ्यस्ततोऽपि न रोचतेऽरण्यम् ॥

[१]तरुहुं वि वक्कलु फलु मुणि वि परिहणु असणु लहन्ति ॥

सामिहुं एत्तिउ अग्गलउं आयरु भिच्चु गृहन्ति ॥

ङेर्हि, [२]अह विरलपहाउ जि कलिहि धम्मु ॥

आट्टो णानुस्वारौ ॥४॥३४२॥ अपभ्रंशे अकारात्परस्य टावचनस्य णानुस्वारावादेशौ भवतः, [३] दइएं पवसन्तेण ॥

एँ चेदुतः ॥४॥३४३॥ अपभ्रंशे इकारोकाराभ्यां परस्य टावचनस्य एँ चकारात् णानुस्वारौ च भवन्ति, एँ

[४]अग्गिएं उण्हउ होइ जगु वारिएं सीअलु तेवँ ॥

जो पुणु अग्गि सीयला तसु उण्हत्तणु केवँ ॥

णानुस्वारौ ॥

[५]विप्पिअ आरउ जइ वि पिउ तो वि तं आणाहि अज्जु ॥

अग्गिण दड्ढा जइवि घरु तो तें अग्गि कज्जु ॥

एवमुकारादपि उदाहार्यम् ॥

स्यम् जस् शसां लुक् ॥४॥३४४॥ अपभ्रंशे सि अम् जस् शस् इत्येतेषां लोपो भवति, एइ ते घोडा एह थलि, इत्यादि अत्र स्यम्जसां लोपः ॥

[६]जिवँ जिवँ वंकिम लोअणहं णिरु सामलि सिक्खेइ ॥

---

१ तरुभ्योऽपि वल्कलं फलं मुनयोऽपि परिधानमशनं लभन्ते, स्वामिभ्य इयदधिकमादरं भृत्या गृह्णन्ति ॥ २ अथ विरलप्रभाव एव कलौ धर्मः ॥ ३ दयितेन प्रवसता ॥ ४ अग्निनोष्णं भवति जगद् वारिणा शीतलं तथैव, यः पुनरग्निनापि शीतलस्तस्योष्णत्वं कथम् ॥ ५ विप्रियकारको यद्यपि प्रियस्तथापि तमानय आर्ये ?, अग्निना दग्धं यद्यपि गृहं ततोऽपि तेनाग्निना कार्यम् ॥ ६ यथा यथा वक्रत्वं लोचनानां निश्चितं श्यामला शिक्षते, तथा तथा मन्मथो निजशरान् खरप्रस्तरे तीक्ष्णयति ॥

तिवँ तिवँ वम्महु निअसरा लरपत्थरि तिक्खेइ ॥

अत्र स्यम्शसां लोपः ॥

षष्ठ्याः ॥४॥३४५॥ अपभ्रंशे षष्ठ्या विभक्त्या. प्रायो लुक् भवति, ॥

[1] **संगरसएहिं जु वण्णिअइ देक्खु अम्हारा कन्तु ॥**

अइमत्तहं चत्तङ्कुसहं गय कुम्भइं दारेन्तु ॥

पृथग् योगो लक्ष्यानुसारार्थः ॥

आमन्त्र्ये जसो होः ॥४॥३४६॥ अपभ्रंशे आमन्त्र्येऽर्थे वर्तमानान्नाम्नः परस्य जसो हो इत्यादेशो भवति, लोपापवादः,

[2]तरुणिहो मुणिउ मइं करहुं म अप्पहो घाउ ॥

भिस्सुपोर्हिम् ॥४॥३४७॥ अपभ्रंशे भिस्सुपोः स्थाने हि इत्यादेशो भवति, गुणहिं न संपइ कित्ति पर, सुप्, [3]भाईरहि जिवँ भारइ मग्गेहिं तिहिं पि पयट्टइ ॥

स्त्रियां जश्शसोरुदोत् ॥४॥३४८॥ अपभ्रंशे स्त्रियां वर्त्तमानान्नाम्न. परस्य जसः शसश्च प्रत्येकमुदोतौ आदेशौ भवतः ॥ लोपापवादौ, 'जसः' अंगुलिउ जज्जरियाओ नहेण, शस., [4]सुन्दरसव्वङ्गाउ विलासिणीओ, पेच्छन्ताण ॥ वचनभेदान्न यथासख्यम् ॥

ट ए ॥४॥३४९॥ अपभ्रंशे स्त्रिया वर्तमानान्नाम्नः

---

१ सगरशतेपु यो वर्ण्यते पश्य मदीय कान्तम् ॥ अतिमत्ताना त्यक्ताङ्कुशानां गजाना कुम्भान् दारयन्तम् ॥ २ हे तरुण्यः ज्ञात्वा मा कुरुत मा आत्मनो घातम् ॥ ३ भागीरथी यथा भारते मार्गेपु त्रिष्वपि प्रवर्त्तते ॥ ४ सुन्दरसर्वाङ्गिन्यो विलासिन्यः पश्यताम् ॥

परस्याण्टाया: स्थाने ए इत्यादेशो भवति ॥

[१] **निअ मुह करहिं वि मुद्ध कर अन्धारइ पडिपेक्खइ ॥**
ससिमण्डलचन्दिमए पुणु काइं न दूरे देक्खइ ॥

[२] जहिं मरगयकन्तिए संवलिअं ॥

ङस्ङस्योर्हे ॥४॥३५०॥ अपभ्रंशे स्त्रियां वर्तमाना-न्नाम्न: परयोर्ङस्ङसि इत्येतयोर्हे इत्यादेशो भवति, ङस:, ॥

[३] **तुच्छमज्झहे तुच्छ जम्पिरहे ॥**
तुच्छच्छरोमावलिहे तुच्छराय तुच्छयरहासहे ॥
पिअ वयणु अलहन्तिअहे तुच्छकायवम्मह निवासहे ॥

[४] **अन्नु जु तुच्छउं तहे धणहे तं अक्खणहे न जाइ ॥**
कटरि थणंतरु मुद्धडहे जें मणु विच्चि ण माइ ॥

ङसे:, ॥

[५] **फोडेन्ति जे हियडउं अप्पणउं ताहं पराई कवण घण ।**
रक्खेज्जहु लोअहो अप्पणा बालहे जाया विसम थण ॥

भ्यसामोर्हु: ॥४॥३५१॥ अपभ्रंशे स्त्रियां वर्तमानान्नाम्न: परस्य भ्यस आमश्च हु इत्यादेशो भवति ॥

---

१ निजमुखकरैरपि मुग्धा करम् अन्धकारे प्रतिप्रेक्षते ॥ शशिमण्डल-चन्द्रिकया पुन कथ न दूरे पश्यति ॥ २ यथा मरकतकान्त्या सवलितम् ॥ ३ तुच्छमध्यायास्तुच्छजल्पनशीलायास्तुच्छाच्छरोमावल्यास्तुच्छरागतुच्छतर-हासाया. प्रियवचनम् अलभमानायास्तुच्छकायमन्मथनिवासाया ॥ १ ॥ ४ अन्यद्यत्तुच्छ तस्या नायिकायास्तदाख्यातु न यात्याश्चर्य। स्तनान्तर मुग्धाया येन मनोवर्त्मनि न माति ॥२॥ युग्मम् ॥ ५ स्फोटयन्तौ यौ हृदयमात्मीय तयो. परकीया का घृणा ॥ रक्षत लोका! आत्मान बालाया जातौ विषमौ स्तनौ ॥

[1]भल्ला हुआ जु मारिआ बहिणि महारा कन्तु ।
लज्जेज्जं तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एन्तु ॥
वयस्याभ्यो वयास्यानां वेत्यर्थः ॥

ङेर्हि ॥४॥३५२॥ अपभ्रंशे स्त्रियां वर्तमानान्नाम्नः परस्य ङेः सप्तम्येकवचनस्य हि इत्यादेशो भवति ॥

[2]वायसु उड्डावन्तिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति ।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तडत्ति ॥

क्लीबे जश्शसोरिं ॥४॥३५३॥ अपभ्रंशे क्लीबे वर्तमानान्नाम्नः परयोः जश्शसोः इम् इत्यादेशो भवति ॥

[3]कमलइं मेल्लवि अलिउलइं करिगण्डाइं महन्ति ॥
असुलहमेच्छण जाहं भलि ते णवि दूर गणन्ति ॥

कान्तस्यात उं स्यमोः ॥४॥३५४॥ अपभ्रंशे क्लीबे वर्तमानस्य ककारान्तस्य नाम्नो योऽकारस्तस्य स्यमोः परयोः उं इत्यादेशो भवति, अन्नु जु तुच्छउं तहे धणहे ॥

[4]भग्गउं देक्खिवि निअयवलु बलु पसरिअउं परस्सु ।
उम्मिल्लइ ससिरेह जिवं करि करवालु पियस्सु ॥

सर्वादेर्ङसेर्हां ॥४॥३५५॥ अपभ्रंशे सर्वादिरकारान्तात्

---

१ भव्य भूत यन्मारितो भगिनि । मदीय. कान्तः, लज्जेय तु वयस्याभ्यो यदि भग्नो गृहमैष्यत् ॥ २ वायसमुड्डाययन्त्या प्रियो दृष्ट सहसेति, अर्द्धं वलयाना मह्या गता अर्द्धं स्फुट्ट तडदिति, तडदिति कृत्वा स्फुटित इत्यर्थं ॥ ३ कमलानि मुक्त्वा अलिकुलानि करिगण्डानि काङ्क्षन्ति, असुलभमेषणं येषा कदाग्रहस्ते नापि दूर गणयन्ति ॥ ४ भग्नकं दृष्ट्वा निजवल वल प्रसृतकं परस्य ॥ शोभते शशिरेखा यथा करे करवाल प्रियस्य ॥

परस्य ङसेः हां इत्यादेशो भवति, [१]जहा होन्तउ आगदो, [२]तहां होन्तउ आगदो, कहा होन्तउ आगओ, ।।

किमो डिहे वा ।।४।।३५६।। अपभ्रंशे किमोऽकारान्तात् परस्य ङसेर्डिहे इत्यादेशो वा भवति ।।

[४]जइ तहो तुट्टउ नेहडा मइं सहुं नवि तिलतार ।
तं किहे वङ्केहिं लोअणेहिं जोइज्जउं सयवार ।।

ङेर्हि ।।४।।३५७।। अपभ्रंशे सर्वादेरकारान्तात् परस्य ङेः सप्तम्येकवचनस्य हिम् इत्यादेशो भवति । [५]जहिं कप्पिज्जइ सरिण सरु छिज्जइ खग्गिण खग्गु । तहिं तेहइ भड घड निवहि कन्तु पयासइ मग्गु ।।१।।

[६]एक्कहिं अक्खिहिं सावणु अन्नहिं भद्दवउ ।
माहउ महिअल सत्थरि गण्डत्थले सरउ ।।
[७]अङ्गहिं गिम्ह सुहच्छी तिलवणि मग्गसिरु ।
तहे मुद्धहे मुहपङ्कइ आवासिउ सिसिरु ।।
[८]हिअडा फुट्टि तडत्ति करि कालक्खेवें काइं ।
देक्खउ हयविहि कहिं ठवइ पइं विणु दुक्खसयाइं ।।

---

१ यस्माद् भवान्नागत. ।। २ तस्माद् भवान्नागत. ।। ३ कस्माद् भवान्नागत ।। ४ यदि तव त्रुटितः स्नेहो मया सह नापि तिलतार ! तत्कस्मात् वक्रैर्लोचनैर्विलोक्यते शतवारम् ।। ५ यत्र कर्त्यते शरेण शरश्छिद्यते खड्गेन खड्ग । तत्र तादृशे (स्थाने) भटघटनिवहे कान्त प्रकाशयति मार्गम् ।। ६ एकस्मिन्नक्षिणि श्रावणोऽन्यस्मिन् भाद्रपद । माधवो महितलस्रस्तरे गण्डस्थले शरत् ।। ७ अङ्गेषु ग्रीष्म सुखासिका तिलवने मार्गशीर्ष ।। तस्या. मुग्धाया. मुखपङ्कजे आवासित शिशिर. ।। युग्मम् ।। ८ हे हृदय स्फुट त्रटडिति कृत्वा कालाक्षेपेन किम् ।। पश्यामि हतविधि कुत्र स्थापयति मया विना दुःखशतानि ।।

यत्तत्किभ्यो ङसो डासुर्न वा ॥४॥३५८॥ अपभ्रंशे यत्तत्किम् इत्येतेभ्योऽकारान्तेभ्य. परस्य ङसो डासु इत्यादेशो वा भवति । '[1]कन्तु महारउ हलि सहिए निच्छइं रूसइ जासु । अत्थिहिं सत्थिहिं हत्थिहिं वि ठाउ वि फेडइ तासु ॥१॥ [2]जीविउ कासु न वल्लहउ धणु पुणु कासु न इट्ठु । दोण्णि वि अवसर-निवडि-आइं तिणसम गणइ विसिठ्ठु ॥१॥

स्त्रियां डहे ॥४॥३५९॥ अपभ्रंशे स्त्रीलिङ्गे वर्तमानेभ्यो यत्तत्किभ्यः परस्य ङसो डहे इत्यादेशो वा भवति। [3]जहे केरउ, [4]तहे केरउ, [5]कहे केरउ ॥

यत्तदः स्यमोर्ध्रुं त्रं ॥४॥३६०॥ अपभ्रंशे यत्तदोः स्थाने स्यमोः परयोर्यथासंख्य ध्रु त्रं इत्यादेशौ वा भवतः । [6]प्रङ्गणि चिट्ठदि नाहु ध्रु त्रं रणि करदि न भ्रन्त्रि, पक्षे, तं [7]बोल्लिअइ जु निव्वहइ ॥

इदम इमुः क्लीबे ॥४॥३६१॥ अपभ्रशे नपुसकलिङ्गे वर्तमानस्य इदम स्यमो परयोः इमु इत्यादेशो भवति। [8]इमु कुलु, तुह तणउं, इमु कुलु देक्ख ॥

एतदः स्त्रीपुंक्लीबे एह एहो एहु ॥४॥३६२॥ अपभ्रंशे स्त्रियां पुंसि नपुसके वर्तमानस्य एतद स्थाने स्यमो पर-

---

१ कान्तो मदीयो हले ! सखि ! निश्चयेन रुष्यति यस्य । अर्थै शस्त्रै र्हस्तैरपि स्थानमपि स्फोटयति तस्य ॥ २ जीवितं कस्य न वल्लभ धन पुनः कस्य नेष्टम्, द्वेऽप्यवसरपतिते तृणसमे गणयति विशिष्ट. ॥ ३ यस्या सम्बन्धी ॥ ४ तस्या सम्बन्धी ॥ ५ कस्या सम्बन्धी ॥ ६ प्राङ्गणे तिष्ठति नाथो य स रणे करोति न भ्रान्ति ॥ ७ तत्कथ्यते यन्निर्वाह्यते ॥ ८ इद कुलं, तव सम्बन्धि, इद कुल पश्य ॥

ष्योर्यथासंख्यम् एह एहो एहु इत्यादेशा भवन्ति, एह कुमारी, एहो नरु, एहु मणोरह ठाणु ॥ एहउं वढ चिन्तन्ताह पच्छइ होइ विहाणु ॥१॥

एइर्जश्शसोः ॥४॥३६३॥ अपभ्रंशे एतदो जश्शसोः परयोः एइ इत्यादेशो भवति। एइ ति घोडा एह थलि, एइ पेच्छ ॥

अदस ओइ ॥४॥३६४॥ अपभ्रंशे अदसःस्थाने जश्शसोः परयोः ओइ इत्यादेशो भवति। [२]जइ पुच्छह घर वड्डाइं तो वड्डा घर ओइ ॥ विहलिअजणअब्भुद्धरणु कन्तु कुडीरइ जोइ ॥ १॥ अमूनि वर्तन्ते पृच्छ वा ॥

इदम आयः ॥४॥३६५॥ अपभ्रंशे इदम्शब्दस्य स्यादौ आय इत्यादेशो भवति। [३]आयइं लोअहो लोअणइं जाईं सरइं न भन्ति ॥ अप्पिए दिट्ठइ मकुलि अहिं पिए दिट्ठइ विहसन्ति ॥१॥ [४]सोसउ म सोसउ च्चिअ उअही वडवानलस्य किं तेण ॥ जं जलइ जले जलणो आएण वि किं न पज्जत्तं ॥२॥ [५]आयहो दड्ढकलेवरहो जं वाहिउ त सारु ॥ जइ उट्ठब्भइ तो कुहइ अह डज्झइ तो छारु ॥३॥

---

१ एषा कुमारी, एष नरः, एतन्मनोरथस्थानम् ॥ एतन्मूर्खाणां चिन्तयतां पश्चाद् भवति प्रभातम् ॥ २ यदि पृच्छथ बृहन्ति गृहाणि ततो बृहन्ति गृहाण्यमूनि ॥ विह्वलितजनाभ्युद्धरण कान्त कुटीरके पश्य ॥ ३ इमानि लोकस्य लोचनानि जातिं स्मरन्ति न भ्रान्ति ॥ अप्रिये दृष्टे मुकुलितन्ति प्रिये दृष्टे विकसन्ति ॥ ४ शुष्यतु मा शुष्यतु निश्चयेनोदधिर्वडवानलस्य किं तेन ॥ यज्ज्वलति जले ज्वलनोऽनेनापि किं न पर्याप्तम् ॥ ५ अस्य दग्धकलेवरस्य यद्वाहितं तत्सारम् ॥ यद्याच्छाद्यते तदा कुथ्यति अथ दह्यते तदा क्षारः ॥

सर्वस्य साहो वा ॥४॥३६६॥ अपभ्रंशे सर्वशब्दस्य साह इत्यादेशो वा भवति। [१]साहुवि लोउ तडप्फडइ वड्डत्तणहो तणेण ॥ वड्डप्पणु परिपाविअइ हत्थि मोक्कलडेण ॥ १ ॥ पक्षे सव्वु वि ॥

किमः काइं कवणौ वा ॥४॥३६७॥ अपभ्रंशे किमः स्थाने काइं कवण इत्यादेशौ वा भवतः ॥ [२]जइ न सु आवइ दूइ घरु काइं अहोमुहु तुज्झु ॥ वयणु जु खण्डउ तउ सहि एसो पिउ होइ न मज्झु ॥१॥ [३]काइं न दूरे देक्खइ फोडिन्ति जे हिअडउं अप्पणउं ताहं पराई कवण घण ॥ रक्खेज्जहु लोअहो अप्पणा बालहे जाया विसम थण ॥२॥ [४]सुपुरिस कङ्गुहे अणुहरहिं भणकज्जे कवणेण ॥ जिवँ जिवँ वड्डत्तणु लहहिं तिवँ तिवँ णवहिं सिरेण ॥३॥ पक्षे ॥ [५]जइ स सणेहि तो मुइअ अह जीवइ निन्नेह ॥ बिहिं वि पयारेंहि गइअ धण कि गज्जहि खल मेह ॥४॥

युष्मदः सौ तुहं ॥४॥३६८॥ अपभ्रंशे युष्मदः सौ परे

---

१ सर्वोऽपि लोक आकुलीभवति महत्त्वस्यार्थम् । महत्त्व परिप्राप्यते हस्तेन मुक्तेन ॥ २ यदि न स आगच्छति दूति ! गृह किं अधोमुख तव ॥ वचन यः खण्डयति तव सखि ! एष प्रियो भवति न मम ॥ ३ किं न दूरे पश्यति ॥ ४ सुपुरुषा कङ्गो (धान्यविशेष) रनुहरन्ति भण कार्येण केन ॥ यथा यथा वृद्धत्व लभन्ते तथा तथा नमन्ति शिरसा ॥ ५ यदि सा सस्नेहा तदा मृता अथ जीवति निःस्नेहा ॥ द्वाभ्या अपि प्रकाराभ्या गतिका प्रिया किं गर्जति खल मेघ ! ॥

तुहुं इत्यादेशो भवति । [१]भमरु मा रुणझुणि रण्डइ सा दिसि जोइ म रोइ । सा मालइ देसन्तरिअ जसु तुहु मरहि विओइ ॥१॥

जश्शसोस्तुम्हे तुम्हइं ॥४॥३६९॥ अपभ्रंशे युष्मदो जसि शसि च प्रत्येक तुम्हे तुम्हइ इत्यादेशौ भवत. । [२]तुम्हे तुम्हइं जाणह, तुम्हे तुम्हइ पेच्छइ, वचनभेदो यथासख्या निवृत्त्यर्थः ।

टाड्यमा पइं तइं ॥४॥३७०॥ अपभ्रंशे युष्मद. टा ङि अम् इत्येतै. सह पइं तइ इत्यादेशौ भवत. । टा, पइं [३]मुक्काहं वि वरतरु फिट्टइ पत्तत्तणं न पत्ताणं । तुहुं पुणु छाया जइ होज्ज कहवि ता तेहिं पत्तेहिं ॥१॥ [४]महु हिअउ तइ ताए तुहु सवि अन्ने वि नडिज्जइ । पिअ काइ करउ हउ काइ तुहु मच्छे मच्छु गिलिज्जइ ॥२॥ ङिना । [५]पइं मइ बेहिं वि रणगयहिं को जयसिरि तक्केइ ॥ केसहिं लेप्पिणु जमघरिणि भण सुहु को थक्केइ ॥३॥ एव तइ ॥ अमा ॥ [६]पइ मेल्लन्तिहे महु मरणु मइ मेल्लन्तहो तुज्झु ॥ सारस जसु जो वेग्गला सोवि कृदन्तहो सज्झु ॥४॥ एव तइ ॥

---

१ भ्रमर ! मा रुणझुणि (शब्दकुरु) अरण्ये ता दिशा विलोक्य मा रुदिहि । सा मालती देशान्तरिता यस्यास्त्व म्रियमे वियोगे ॥ २ यूय जानीत, युष्मान् पश्यतु ॥ ३ त्वया मुक्ताना वरतरो ! फिट्टइ (याति) पत्रत्व न पत्राणाम् । तव पुनश्छायायद्यभविष्यत् कयमपि तावत् तैः पत्रै ॥ ४ मम हृदय त्वया तया त्व साऽप्यन्येनापि नट्यते । प्रिय ! किं करोम्यऽह किं त्व मत्स्येन मत्स्यो गिल्यते ॥ ५ त्वयिमयि द्वयोरपि रणगतयो को जयश्रिय तर्कयति ॥ केशैर्गृहीत्वा यमगृहिणी भण सुख कस्तिष्ठति ॥ ६ त्वा मुञ्चन्त्या मम मरण मा मुञ्चतस्तव ॥ सारस ! यस्य यो दूरे सोऽपि कृतान्तस्य साध्यः ॥

जे गया पहिय पराया केवि । अवस न सुअहि सुअच्छिअहिं जिवँ अम्हइं तिवँ तेवि ॥२॥ अम्हे देक्खइ, अम्हइं देक्खइ, वचनभेदो यथासंख्या निवृत्त्यर्थः ॥

टाङ्यमा मइं ॥४॥३७७॥ अपभ्रंशे अस्मदः टा ङि अम् इत्येतैः सह मइं इत्यादेशो भवति । 'टा' [1]मइं जाणिउं पिअ विरहिअहं कवि धर होइ विआलि । णवर मिअङ्कु वि तिह तवइ जिह दिणयरु खयगालि ॥१॥ ङिना, पइं मइं बेहिंपि रणगयहिं, अमा, मइं मेल्लन्तहो तुज्झु ॥

अम्हेहिं भिसा ॥४॥३७८॥ अपभ्रंशे अस्मदो भिसा सह अम्हेहिं इत्यादेशो भवति । तुम्हेहिं अम्हेहिं ज किअउ ॥

महु मज्झु ङसिङस्भ्याम् ॥४॥३७९॥ अपभ्रंशे अस्मदो ङसिना ङसा च सह प्रत्येक महु मज्झु इत्यादेशौ भवतः । महु होन्तउ गदो मज्झु होन्तउ गदो, ङसा, [2]महु कन्तहो बे दोसडा हेल्लि म झंखहि आलु । देन्तहो हउं पर उव्वरिअ जुज्झन्तहो करवालु ॥१॥ जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि मज्झु पिएण । अह भग्गा अम्हह तणा तो ते मारिअडेण ॥२ ।

अम्हहं भ्यसाम्भ्याम् ॥४॥३८०॥ अपभ्रंशे अस्मदो भ्यसा आमा च सह अम्हहं इत्यादेशो भवति । अम्हह होन्तउ

---

१ मया ज्ञात प्रिये ! विरहिताना कापि धरा भवति विकाले । नवर मृगाङ्कोऽपि तथा तपति यथा दिनकर क्षयकाले ॥ २ मम कान्तस्य द्वौ दोषौ हेल्ले मा जल्प स्त' अलीक । ददतोऽह पर उद्धरितो युध्दत. करवाल. ॥ ३ यदि भग्नाः परकीयास्ततो सखि ! मम प्रियेण । अथ भग्ना अस्माक ततस्तेन मारितेन ॥

आगदो, 'आमा, अह भग्गा अम्हहं तणा ॥

सुपा अम्हासु ॥४॥३८१॥ अपभ्रंशे अस्मदः सुपा सह अम्हासु इत्यादेशो भवति। अम्हासु ठिअं।

स्यादेराद्यत्रयस्य बहुत्वे हिं न वा ॥४॥३८२॥ स्यादीनामाद्यत्रयस्य सम्बन्धिनो बहुष्वर्थेषु वर्तमानस्य वचनस्य अपभ्रंशे हिं इत्यादेशो वा भवति। [1]मुहकबरिबन्धे तहे सोह धरहिं नं मल्लजुज्झु ससिराहु करहिं। [2]तहे कुरल सहहिं भमर उलतुलिअ नं तिमिरडिम्भ खेल्लन्ति मिलिअ ॥

मध्यत्रयस्याद्यस्य हिः ॥४॥३८३॥ त्यादीनां मध्यत्रयस्य यदाद्यं वचनं तस्यापभ्रंशे हि इत्यादेशो वा भवति। [3]बप्पिआ पिउ पिउ भणवि कित्तिउ रुअहि हयास। तुह जलि महु पुणु वल्लहइ बिहुंपि न पूरिअ आस ॥१॥ आत्मनेपदे [4]बप्पीहा कइं बोल्लिएण निग्घिण वारइ वार। सायरि भरिअइ विमलजलि लहहि न एक्कइ धार ॥२॥ सप्तम्याम् ॥ [5]आयहिं जम्महिं अन्नहिं वि गोरि सु दिज्जहि कन्तु। गय मत्ताहं चत्तङ्कुसहं जो अब्भिडइ हसन्तु ॥१॥ पक्षे रुअसि इत्यादि ॥

---

१ मुखकवरीबन्धौ तस्या शोभां धरत इव (ननुपेक्षायाम्) मल्लयुद्धं शशिराहू कुरुतः ॥ २ तस्याः केशाः शोभन्ते भ्रमरकुलतुलिता, इव तिमिरडिम्भा क्रीडन्ति मिलित्वा ॥ ३ हे चातक ! पियु पियु (पक्षे प्रिय प्रिय) इति भणित्वा कियद् रोदिषि हताश ! ॥ तव जले मम पुनर्वल्लभे द्वयोरपि न पूरिताऽऽशा ॥ ४ चातक ! किं कथितेन निर्लज्ज ! वारं वारम् । सागरे भृते विमलजले लभसे नैकां धाराम् ॥ ५ अस्मिञ्जन्मन्यन्यस्मिन्नपि गोरि! स दीयतां कान्तः। गजानां मत्तानां त्यक्ताङ्कुशानां योऽभ्येति हसन् ॥

बहुत्वे हुः ॥४॥३८४॥ त्यादीनां मध्यमत्रयस्य सम्बन्धि बहुष्वर्थेषु वर्त्तमानं यद्वचनं तस्यापभ्रंशे हु इत्यादेशो वा भवति। [1]वलि अब्भत्थणि महुमहणु लहुई हूआ सोइ। जइ इच्छहु वड्डुत्तणउं देहु म मग्गहु कोइ ॥ पक्षे इच्छदे इत्यादि ॥

अन्त्यत्रयस्याद्यस्य उं ॥४॥३८५॥ त्यादीनामन्त्यत्रयस्य-यदाद्यं वचनं तस्यापभ्रंशे उं इत्यादेशो वा भवति। विहि विनडउ पीडन्तु गह मं धणि करहि विसाउ। संपइ कड्ढउं वेस जिव छुड्डु अग्घइ ववसाउ ॥१॥ बलि किज्जउं सुजणस्सु ॥ पक्षे, कड्ढामि इत्यादि ॥

बहुत्वे हुं ॥४॥३८६॥ त्यादीनामन्त्यत्रयस्य सम्बन्धि बहुष्वर्थेषु वर्त्तमानं यद्वचनं तस्य हुं इत्यादेशो वा भवति। [3]खग्गविसाहिउ जहिं लहहुं पिय तहिं देसहिं जाहुं। रणदुब्भिक्खें भग्गाइं विणु जुज्झें न वलाहुं ॥१॥ पक्षे लहिमु इत्यादि ॥

हिस्वयोरिदुदेत् ॥४॥३८७॥ पञ्चम्या हिस्वयोरपभ्रंशे इ उ ए इत्येते त्रय आदेशा भवन्ति। इत्, [4]कुञ्जर सुमरि म सल्लइउ सरला सास म मेल्लि। कवल जि पाविय विहिवसिण ते चरि माणु म मेल्लि ॥१॥ उत् ॥ [5]भमरा एत्थु

---

१ वलेरभ्यर्थने मधुमथनो लघुकीभूत सोऽपि। यदीच्छथ वृद्धत्व ददथ मा मार्गयथ कस्यापि 'पार्श्वे इति शेष'॥ २ विधिर्विनर्त्ततु पीडयन्तु ग्रहा मा प्रिय! कुरु विषादम्। सम्पत् कर्षयामि वेश्येव यदि राजते व्यवसायः॥ ३ खड्गसाधितं यत्र लभामहे प्रिय! तस्मिन् देशे याम। रणदुर्भिक्षेण भग्ना विना युद्धेन न वलामहे॥ ४ कुञ्जर! स्मर मा सल्लकी, सरलान् श्वासान् मा मुञ्च। कवला ये प्राप्ता विधिवशेन तान् चर मान मा मुञ्च॥ ५ भ्रमर! अत्रापि निम्बे कति दिवसान् विलम्बस्व। घनपत्रवान् छायाबहुलः फुल्लति यावत्कदम्बः॥

वि लिम्बड़इ केवि दियहड़ा विलम्बु । घण पत्तलु छायाबहुलु फुल्लइ जाभ कयम्बु ॥२॥ एत् ॥ [१] पिय एम्वहिं करे सेल्लु करि छड्डहि तुहुं करवालु । जं कावालिय बप्पुडा लेहिं अभग्गु कबालु ॥३॥ पक्षे, सुमरहि इत्यादि ॥

वत्स्यंति स्यस्य सः ॥४॥३८८॥ अपभ्रंशे भविष्यदर्थविषयस्य त्यादेः स्यस्य सो वा भवति । [२] दिअहा जन्ति झडप्पडहिं पडहिं मणोरह पच्छि । जं अच्छइ तं माणिअइ होसइ करतु म अच्छि ॥१॥ पक्षे, होहिइ ॥

क्रिये कीसुः ॥४॥३८९॥ क्रिये इत्येतस्य क्रियापदस्य अपभ्रंशे कीसु इत्यादेशो वा भवति । सन्ता भोग जु परिहरइ तसु कन्तहो बलि कीसु । तसु दइवेण वि मुण्डियउं जसु खल्लिहडउं सीसु ॥ पक्षे, साध्यमानावस्थात् क्रिये इति संस्कृतशब्दादेपः प्रयोग, बलि किज्जउं सुअणस्सु ॥

भुव पर्याप्तौ हुच्च. ॥४॥३९०॥ अपभ्रंशे भुवो धातोः पर्य्याप्तावर्थे वर्तमानस्य हुच्च इत्यादेशो भवति । [४] अइ तुगत्तणु ज थणह सो छेयउ न हु लाहु । सखि जइ केवइ तुडिवसेण अहरि पहुच्चइ नाहु ॥१॥

---

१ प्रिय ! इदानी कुरु शल्य करे मुञ्च त्व करवालम् । येन कापालिका वराका लभन्तेऽभग्न कपालम् ॥ २ दिवसा यान्ति वेगै. पतन्ति मनोरथाः पश्चाद् । यदस्ति तन्मान्यते भविष्यति कुर्वन् मा आस्स्व ॥ ३ सतो भोगान् य परिहरति तस्य कान्तस्य बलि क्रिये । तस्य दैवेनापि मुण्डितस्य खल्वाटं शीर्पम् ॥ ४ अतितुङ्गत्व यत्स्तनाना तच्छेदक नतु लाभः । सखि ! यदि कथमपि त्रुटिवशेनाऽधरे प्रभवति नाथ. ॥

ब्रुगो ब्रुवो वा ॥४॥३९१॥ अपभ्रंशे ब्रूगो धातोः ब्रुव इत्यादेशो वा भवति। ब्रुवह सुहासिउ किंपि, पक्षे, [१] इत्तउं ब्रोप्पिणु सउणि ट्ठिउ पुणु दुसासणु ब्रोप्पि ॥ तो हउं जाणउं एहो हरि जइ महु अग्गइ ब्रोप्पि ॥१॥

व्रजेर्वुञः ॥४॥३९२॥ अपभ्रंशे व्रजतेर्धातो वुञ इत्यादेशो भवति। [२] वुञइ वुञेप्पि, वुञेप्पिणु ॥

दृशेः प्रस्सः ॥४॥३९३॥ अपभ्रंशे दृशेर्धातोः प्रस्स इत्यादेशो भवति। [३] प्रस्सदि ॥

ग्रहेर्गृण्हः ॥४॥३९४॥ अपभ्रंशे ग्रहेर्धातोर्गृण्ह इत्यादेशो भवति। [४] पढ गृण्हेप्पिणु व्रतु ॥

तक्ष्यादीनां छोल्लादयः ॥४॥३९५॥ अपभ्रंशे तक्षि-प्रभृतीनां धातूनां छोल्ल इत्यादय आदेशा भवन्ति। [५] जिवँ तिवँ तिक्खा लेवि कर जइ सास छोल्लिज्जन्तु। तो जइ गोरिहे मुहकमलि सरिसिम कावि लहन्तु ॥१॥ आदि ग्रहणात् देशीषु ये क्रियावचना उपलभ्यन्ते ते उदाहार्याः ॥ [६] चूडुल्लउ चुण्णी होइसइ मुद्धि कवोलि निहित्तउ। सासानलजाल झल-

---

१ इयदुक्त्वा शकुनिः स्थितः पुनर्दुःशासन उक्त्वा। ततोऽहं जाने एष हरिर्यदि ममाग्रे उक्त्वा (तिष्ठतीति शेषः) ॥ २ व्रजति, व्रजित्वा ॥ ३ पश्यति ॥ ४ पठ गृहीत्वा व्रतम् ॥ ५ यथा तथा तीक्ष्णान् आयुधान् लात्वा करान् शशोऽतक्षिष्यत। ततो जगति गौर्य्या मुखकमलेन सदृशतां कामप्यलप्स्यत ॥ ६ चूटक (कंकण—चूडी) चूर्णी भविष्यति मुग्धे कपोले निहितम्। श्वासानलज्वालादग्धो बाष्पसलिलसंसिक्तः ॥

क्किअउ वाहसलिल संसित्तिउ ॥१॥ [१]अब्भड वचिउ वे पयइं पेम्मु निअत्तइ जावँ । सव्वासणरिउसभवहो कर परिअत्ता तावँ ॥२॥ [२]हिअइ खुडुक्कइ गोरडी गयणि घुडुक्कइ मेहु । वासारत्ति पवासु अहं विसमा संकडु एहु ॥४॥ [३]अम्मि पओहर वज्जमा निच्चु जे संमुह थन्ति । महु कन्तहो समरङ्गणइ गयघड भज्जिउ जन्ति ॥४॥ [४]पुत्ते जाए कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण । जा बप्पीकी भुहडी चम्पिज्जइ अवरेण ॥५॥ तं [५]तित्तिउ जलु सायरहो सो तेवडु वित्थारु । तिसहे निवारणु पलुवि नवि पर धुट्ठुअइ असारु ॥६॥

अनादौ स्वरादसंयुक्तानां क-ख-तथ-पफां ग-घ-द-ध-ब-भाः ॥४॥३९६॥ अपभ्रंशेऽपदादौ वर्तमानानां स्वरात् परेषाम् असंयुक्तानां कखतथपफा स्थाने यथासंख्य ग-घ-द-ध-बभाः प्रायो भवन्ति । कस्य ग, [६]ज दिट्ठउं सोमग्गहणु अस ईहि हसिउं निसङ्कु । पिय माणुस विच्छोहगरु गिलि गिलि राहु

---

१ अनुव्रज्य वञ्चित्वा द्वे पदे (प्रेम्मु) स्नेह निवर्त्तयति यावत् । सर्वाशनरिपुसम्भवस्य (चन्द्रस्य) करा प्रसृतास्तावत् ॥ २ हृदये शल्यायते स्त्री गगने गर्जति मेघ । वर्षारात्रे प्रवासिना विषम सकटमेतद् ॥ ३ हे अम्ब ! पयोधरौ वज्रसमौ नित्य यौ सन्मुखौ तिष्ठतः । मम कान्तस्य समराङ्गने गजघटा भङ्क्त्वा यान्ति ॥ ४ पुत्रेण जातेन को गुणोऽवगुण को मृतेन । या पैतृकी भूमिराक्रम्यतेऽपरेण ॥ ५ तत्तावज्जल सागरस्य स तावन्मात्रो विस्तारः । तृषाया निवारण पलमपि नैव पर शब्दायतेऽसार ॥ ६ यद् दृष्ट सोमग्रहणमसतीभिर्हसित नि शङ्कम् । प्रियमनुष्यविक्षोभकर भक्षय भक्षय राहो ! मृगाङ्कम् ॥

मयंकु ॥१॥ खस्य घः ॥ [१]अम्मीए सत्थावत्थेहिं सुधि चिन्ति-ञ्जइ माणु । पिए दिठ्टे हल्लोहलेण को चेअइ अप्पाणु ॥ तथपफाना दधबभाः, [२]सवधु करेप्पिणु कधिदु मइं तसु पर सभलउं जम्मु । जासु न चाउ न चारहडि नच पम्हट्ठउ धम्मु ॥३॥ अनादाविति किं सवधु करेम्पिणु ॥ अत्र कस्य गत्वं न भवति, स्वरादिति किम्, गिलि गिलि राहु मयंकु, असंयुक्ताना-मिति किम्, एक्कहिं अक्खिहिं सावणु, प्रायोऽधिकारात् क्वचिद् न भवति, [३]जइ केवँइ पावीसु पिउ अकिआ कुड्डुकरीसु । पाणीउ नवइ सरावि जिवँ सव्वङ्गे पइसीसु ॥४॥ [४]उअ कणि-आरु पफुल्लिअउ कञ्चनकन्तिपयासु । गोरीवयण-विणिज्जिअउ सेवइ वणवासु ॥५॥

मोऽनुनासिको वो वा ॥४॥३९७॥ अपभ्रंशेऽनादौ वर्तमानस्य असंयुक्तस्य मकारस्य अनुनासिको वकारो वा भवति। कवँलु कमलु, भवँरु भमरु, लाक्षणिकस्यापि जिवँ तिवँ जेवँ तेवँ अनादावित्येव, मयणु, असयुक्तस्येत्येव, तसुपर सभलउ जम्मु ॥

वाधो रो लुक् ॥४॥३९८॥ अपभ्रंशे सयोगादधो वर्त-मानो रेफो लुक् वा भवति । जइ केवँइ पावीसु पिउ ॥ पक्षे,

---

१ हे अम्बिके ! स्वस्थावस्थैः सुखेन चिन्त्यते मानम् । प्रिये दृष्टे हल्लो-हलेण (व्याकुलत्वेन) को जानात्यात्मानम् ॥ २ शपथ कृत्वा कथित मया तस्य केवल सफल जन्म । यस्य त्यागो नाऽपव्ययो न विकृतिर्नच प्रभ्रष्टो धर्म ॥ ३ यदि कथचित् प्राप्स्यामि प्रियमकृत कौतुक करिष्यामि। पानीय नवे शरावे यथा सर्वाङ्गेन प्रवेक्ष्यामि ॥ ४ पश्य कर्णिकारवृक्ष प्रफुल्लित. कञ्चनकान्तिप्रकाश । सुन्दरीवदनविनिर्जित इव सेवते वनवासम् ॥

जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि मज्झु प्रियेण ॥

अभूतोऽपि क्वचित् ॥४॥३९९॥ अपभ्रंशे क्वचिदव-विद्यमानोऽपि रेफो भवति। [१]व्रासु महारिसि एउ भणइ जइ सुइसत्थु पमाणु। मायहं चलण नवन्ताहं दिवि दिवी गङ्गा-ण्हाणु ॥४॥ क्वचिदिति किम्, [२]वासेणवि भारह खम्भि वद्ध ॥

आपद्विपत्संपदां द इः ॥४॥४००॥ अपभ्रंशे आपद् विपद् संपत् इत्येतेषां दकारस्य इकारो भवति, [३]अणउ करन्तहो पुरिसहो आवइ आवइ, विवइ, सपइ, प्रायोधिकारात्, गुणहिं न सपय कित्ति पर ॥

कथं यथा तथां थादेरेमेमेहेधा डितः ॥४॥४०१॥ अपभ्रंशे कथं यथा तथा इत्येतेषां थादेरवयवस्य प्रत्येकम् एम इम इह इध इत्येते डितश्चत्वार आदेशा भवन्ति। [४]केम सम-प्पउ दुठ्ठु दिणु किध रयणी छुडु होइ। नववहु-दंसण लालसउ वहइ मणोरह सोइ ॥१॥ [५]ओ गोरीमुहनिज्जिअउ वद्दलि लुक्कु मियंकु। अन्नुवि जो परिहविय तणु सो किवँ भवँइ निसंकु ॥२॥ [६]विम्वाहरि तणु रयणवणु किह ठिउ सिरिआणन्द। निरुवम-

---

१ व्यासो महर्षिरेतद् भणति यदि श्रुतिशास्त्र प्रमाणम्। मातॄणा चरणौ नमतां दिवसे दिवसे गङ्गास्नानम् ॥ २ व्यासेनापि भारतस्तम्भे बद्धा. ॥ ३ अन्याय्य कुर्वतः पुरुषस्याऽऽपद् (विपत्) आयाति ॥ ४ कथ समाप्यता दुष्टो दिवस कथ रजनी शीघ्र भवति। नववधूदर्शनलालसो वहति मनोरथा-न् सोऽपि ॥ ५ 'ओ' (सूचनाया) गौरीमुखविनिर्जितो वार्दले विलीनो मृगाङ्क.। अन्योऽपि य. परिभूततनुः स कथ भ्रमति नि शङ्कम् ॥ २ ॥ ६ विम्वाधरे तन्व्या रदनव्रण कथ स्थित श्रीआनन्द ! । निरुपमरस प्रियेण पीत्वा यथा शेषस्य दत्ता मुद्रा ॥

रसु पिएं पिअवि जणु सेसहो दिण्णि मुद्द ॥३॥ [1]भण सहि निहु अउं तेवँ मइ जइ पिउ दिट्ठु सदोसु। जेवँ न जाणइ मज्झु मणु पक्खावडिअं तासु ॥४॥ जिवँ जिवँ बंकिम लोअणहं, तिवँ तिवँ वम्महु निअयसर, मइं जाणिउ प्रिय विरहि अह कवि धर होइ विआलि। नवर मियकु वि तिह तवइ जिह दिणयरु खयगालि ॥५॥ एवं तिध जिधावुदाहार्यौ ॥

याद्दक्ताद्दक्कीद्दगीद्दशां दादेर्डेहः ॥४॥४०२॥ अपभ्रंशे याद्दगादीना दादेरवयवस्य डित् एह इत्यादेशो भवति। [2]मइं भणिअउ बलिराय तुहुं केहउ मग्गण एहु। जेहु तेहु न वि होइ वढ सइं नारायणु एहु ॥१॥

अतां डइसः ॥४॥४०३॥ अपभ्रंशे याद्दगादीनामदन्ताना याद्दश ताद्दश कीद्दशेद्दशाना दादेरवयवस्य डित् अइस इत्यादेशो भवति। जइसो, तइसो, कइसो, अइसो ॥

यत्र तत्रयोस्त्रस्य डिदेत्थवत्तु ॥४॥४०४॥ अपभ्रंशे यत्र तत्र शब्दयोस्त्रस्य एत्थु अत्तु इत्येतौ डितौ भवतः। [3]जइसो घडदि प्रयावदी केत्थुवि लेप्पिणु सिक्खु। जेत्थुवि तेत्थुवि एत्थु जगि भण तो तहि सारिक्खु ॥१॥ जत्तु ठिदो, तत्तु ठिदो ॥

एत्थु कुत्रात्रे ॥४॥४०५॥ अपभ्रंशे कुत्र अत्र इत्येत-

---

१ भण सखि ! निभृत तथा मा यदि प्रियो दृष्ट सदोष। यथा न जानाति मम मनः पक्षापतित तस्याः ॥ २ मया भणितो बलिराज ! तव कीद्दग् मार्गण एषः। याद्दक् याद्दक् नापि भवति मूर्ख ! स्वय नारायण एष ॥ ३ यदि स घटयति प्रजापतिः कुत्रापि लात्वा शिक्षाम्। यत्रापि तत्राप्यत्र जगति भण तस्याः साद्दश्यम् ॥

योस्त्रस्य डित् एत्थु इत्यादेशो भवति। केत्थुवि लेप्पिणु सिक्खु, जेत्थुवि एत्थुवि जगि ॥

यावत्तावतोर्वादेर्म उं महिं ॥४॥४०६॥ अपभ्रंशे यावत्तावद् इत्येतयोर्वकारादेरवयवस्य म उं महिं इत्येते त्रय आदेशा भवन्ति। [१]जाम न निवडइ कुम्भयडि सीह चवेड चडक्क। ताम समत्तहं मयगलहं पइ पइ वज्जइ ढक्क ॥१॥ [२]तिलहं तिलत्तणु ताउं पर जाउं न नेह गलन्ति। नेहि पणट्ठइ तेजि तिल तिल फिट्ट वि खल होन्ति ॥२॥ [३]जामहिं विसमी कज्जगइ जीवहं मज्झे एइ। तामहिं अछउ इयरु जणु सुअणुवि अन्तरु देइ ॥३॥

वा यत्तदोतों डेवडः ॥४॥४०७॥ अपभ्रंशे यद् तद् इत्येतयोरत्वन्तयोर्यावत्तावतोर्वकारादेरवयवस्य डित् एवड इत्यादेशो वा भवति। [४]जेवडु अन्तरु रावणरामहं तेवडु अन्तरु पट्टणगामहं ॥ पक्षे [५]जेत्तुलो तेत्तुलो ॥

वेदं किमोर्यादेः ॥४॥४०८॥ अपभ्रंशे इदम् किम् इत्येतयोरत्वन्तयो-रियन् कियतोर्यकारादेरवयवस्य डित् एवड इत्यादेशो वा भवति। एवडु अन्तरु, केवडु अन्तरु, पक्षे, एत्तुलो केत्तुलो ॥

---

१ यावन्न निपतति कुम्भतटे सिंहचपेटाचटत्कार। तावत्समस्तानां मदकलानां (गजानां) पदे पदे वाद्यते ढक्का ॥ २ तिलानां तिलत्वं तावत्परं यावन्न स्नेहो गलति। स्नेहे प्रनष्टे त एव तिलास्तिलाद् भ्रष्टा. खला भवन्ति ॥ ३ यावद्विषमा कार्यगतिर्जीवानां मध्ये आयाति। तावदास्तामितर जनः स्वजनोऽप्यन्तरं ददाति ॥ ४ यावदन्तरं रामरावणयो ॥ तावदन्तरं पत्तनग्रामयो (नगर) ॥ ५ ॥ ४ ॥ ४३५ ॥ सूत्र से समझे।

परस्परस्यादिरः ॥४॥४०९॥ अपभ्रंशे परस्परस्या-दिरकारो भवति । ते [१]मुग्गडा हराविआ जे परिविट्ठा ताहं । अपरोप्परु जोअन्ताहं सामिउ गञ्जिउ जाहं ॥

कादिस्थैदोतोरुच्चारलाघवम् ॥४॥४१०॥ अपभ्रंशे कादिषु व्यञ्जनेषु स्थितयोरेओ इत्येतयोरुच्चरणस्य लाघवं प्रायो भवति। सुधें चिन्तिञ्जइ माणु, तसु हउ कलिजुगि दुल्लहहो ॥

पदान्ते उं हुं हिं हंकाराणाम् ॥४॥४११॥ अपभ्रंशे पदान्ते वर्त्तमानानां उं हुं हिं हं इत्येतेषाम् उच्चारणस्य लाघवं प्रायो भवति । अन्नु जु तुच्छउं तहे धणहे, वलि किज्जउं सुअ-णस्सु । दइउ घडावइ वणि तरुहं ॥ तरुहुं वि वक्कल्लु, खग्ग विसाहिउ जहिं लहहुं ॥ तणहं तइज्जी भंगि नवि ॥

म्हो म्भो वा ॥४॥४१२॥ अपभ्रंशे म्ह इत्यस्य स्थाने म्भ इति मकाराक्रान्तो भकारो वा भवति । म्ह इति 'पक्ष्मश्मष्म-स्मह्मां म्हः ॥ २॥ ७४ ॥' इति प्राकृतलक्षणविहितोऽत्र गृह्यते, संस्कृते तदभावत् गिम्भो, सिम्भो ॥ विम्भ ! [२]ते विरला केवि नर जे सव्वङ्गछइल्ल । जे वङ्का ते वञ्चयर जे उज्जुअ ते बइल्ल ॥१॥

अन्यादृशोऽन्नाइसावराइसौ ॥४॥४१३॥ अपभ्रंशे अन्यादृशशब्दस्य अन्नाइस अवराइस इत्यादेशौ भवतः । अन्नाइसो अवराइसो ॥

---

१ ते मुग्दा हारिता ये परिवेपितास्तेषाम् । परस्पर युद्धमानाना स्वामी पीडीत.येषाम् ॥ २ ब्रह्मन् ! ते विरला केऽपि नरो ये सर्वाङ्गैर्दक्षाः । ये वक्रास्ते वञ्चकतरा य ऋजवस्ते वलीवर्दा ॥

प्रायसः प्राउ-प्राइव-प्राइम्व-पग्गिम्वाः ॥४॥४१४॥
अपभ्रंशे प्रायस् इत्येतस्य प्राउ प्राइव प्राइम्व पग्गिम्व इत्येते चत्वार आदेशा भवन्ति । [१]अन्ने ते दीहर लोअण अन्नु तं भुअजुअलु । अन्नु सुघण थणहारु तं अन्नु जि मुहकमलु ॥१॥ [२]अन्नु जि केस कलावु सु अन्नु जि प्राउ विहि । जेण णिअम्विणि घडिअ स गुणलायण्णनिहि ॥२॥ [३]प्राइव मुणिहं वि भन्तडी तें मणिअडा गणन्ति । अखइ निरामइ परमपइ अज्जवि लउ न लहन्ति ॥३॥ [४]अंसुजलें प्राइम्व गोरिअहे सहि उव्वत्ता नयण-सर । तें सम्मुह संपेसिआ देन्ति तिरिच्छी घत्त पर ॥४॥[५]एसी पिउ रूसेसु हउं रुट्ठी मइं अणुणेइ । पग्गिम्व एइ मणोरहइं दुक्करु दइउ करेइ ॥५॥

वान्यथोऽनुः ॥४॥४१५॥ अपभ्रंशे अन्यथा शब्दस्य अनु इत्यादेशो वा भवति । [६]विरहा नल जाल करालीअउ पहिउ कोवि वुड्डिवि ठिअओ अनु सिमिर कालि सीअलजलहु धूमु कहन्तिहु उट्ठिअओ ॥१॥ पक्षे, अन्नह ॥

---

१ अन्ये ते दीर्घलोचने अन्यत्तद् भुजयुगलम् । अन्यः स घनस्तनभारस्तदन्यदेव मुखकमलम् ॥ २ अन्य एव केशकलापः सः अन्य एव प्रायो विधिः ॥ येन नितम्विनी घटिता सा गुणलावण्यनिधिः ॥ ३ प्रायो मुनिनामपि भ्रान्तिस्तेन मणिकान् गणयन्ति । अक्षये निरामये परमपदेऽद्यापि लय न लभन्ते ॥ ४ अश्रुजलेन प्रायो गौर्य्याः सखि! उद्वृते नयनसरसी। तेन (अपरेण) सन्मुखे प्रेषिते दत्तस्तिर्यग्घातं केवलम् ॥ ५ एष्यति प्रियो रुषिष्याम्यहं रुष्टा मामनुनयति । प्राय एतान्मनोरथान् दुष्कारान् दयिता करोति ॥ ६ विरहानलज्वालाकरालितः पथिकः कोऽपि ब्रुडित्वा स्थित ॥ अन्यथा शिशिरकाले शीतलजलाद् धूमः कुत उत्थित. ॥

कुतसः कउ कहन्तिहु ॥४॥४१६॥ अपभ्रंशे कुतश्शब्दस्य कउ कहन्तिहु इत्यादेशौ भवतः। [१]महु कन्तहो गुट्ठट्ठिअहो कउ झुम्पडा वलन्ति। अह रिउरुहिरे उल्हवइ अह अप्पणे न भन्ति ॥१॥ धूमु कहन्तिहु उट्ठिअओ ॥

ततस्तदोस्तोः ॥४॥४१७॥ अपभ्रंशे ततस् तदा इत्येतयोस्तो इत्यादेशो भवति। जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि मज्झु पिएण। अह भग्गा अम्हहं तणा तो तें मारिअडेण ॥१॥

एवं परं समं ध्रुवं मा मनाक्, एम्व पर समाणु ध्रुवु मं मणाउं ॥४॥४१८॥ अपभ्रंशे एवमादीनाम् एम्वादय आदेशा भवन्ति। एवम् एम्व, [२]पिय संगमि कउ निद्दडी पिअहो परोक्खहो केम्व। मइं विन्निवि विन्नासिआ निद्द न एम्व न तेम्व ॥१॥ परमः पर, गुणहिं न संपय कित्ति पर, समम: समाणु, [३]कन्तु जु सीहहो उवमिअइ तं महु खण्डिउ माणु। सीहु निरक्खय गय हणइ पिउ पयरक्ख समाणु ॥१॥ ध्रुवमो ध्रुवु, [४]चञ्चलु जीविउ ध्रुवु मरणु पिअ रूसिज्जइ काइं। होसइं दिअहा रूसणा दिव्वइं वरिससयाइं ॥२॥ मो मं, मं धणि करहि

---

१ मम कान्तस्य गोष्ठस्थितस्य कुतः कुटीरकाणि ज्वलन्ति ॥ अथ रिपुरुधिरेण विध्यापयति (आर्द्रयति) अथात्मना न भ्रान्तिः ॥ २ प्रियसङ्गमे कुतो निद्रा प्रियस्य परोक्षस्य कथम्। मया द्वे अपि विनाशिते निद्रा नैव न तथा ॥ ३ कान्तो यदि सिंहेनोपमीयते तदा मम खण्डितो मानः। सिंहो नीरक्षकान् गजान् हन्ति प्रियः पदातिरक्षकैः समम् ॥ ४ चञ्चलं जीवितं ध्रुवं मरणं प्रिये रुष्यते कथम्। भविष्यति दिवसा रोषणस्य दिव्यानि वर्षशतानि ॥

विसाउ प्रायोग्रहणात् ॥ [१]माणि पणट्ठइ जइ न तणु तो देसडा चइज्जा । मा दुज्जण-करपल्लवेहिं दंसिज्जन्तु भमिज्ज ॥३॥ [२]लोणु विलिज्जइ पाणिएण अरि खल मेह म गज्जु । वालिउ गलइ सुझुम्पडा गोरी तिम्मइ अज्जु ॥५॥ मनाको मणाउं, [३]विहवि पणट्ठइ वंकुडउ रिद्धिहिं जण मामन्नु ॥ किंपि मणाउं महु पिअहो ससि अणुहरइ न अन्नु ॥६॥

किलाथवा दिवासहनहेः किराहवइ दिवे सहुं नाहिं ॥४॥४१९॥ अपभ्रंशे किलादीनां किरादय आदेशा भवन्ति । किलस्य किरः, [४]किर खाइ न पिअइ न निद्दवइ धम्मि न वेच्चइ रूअडउ । इह किवणु न जाणइ जह जम्महो खणेण पहुच्चइ दूअडउ ॥१॥ अथवो अहवइ, अहवइ न सुवंसह एह खोडि, प्रायोऽधिकारात्, [५]जाइज्जइ तहिं देसडइ लब्भइ पियहो पमाणु । जइ आवइ तो आणिअइ अहवा तं जि नित्राणु ॥१॥ दिवो दिवे, दिवि दिवि गंगाण्हाणु, सहस्य सहु, [६]जउ पवसन्ते सहु न

१ माने प्रनष्टे यदि न तनुस्त्यज्यते ततो देशस्त्यज्यते ॥ मा दुर्जनकरपल्लवैर्दृश्यमानो भ्राम्यतु ॥ २ लवण विलीयते पानीयेन अरे खल मेघ ! मा गर्ज । ज्वालितो गलति तत् कुटीरक गौरी तिम्यते अद्य: ॥ ३ विभवे प्रनष्टे वक्रीभवेद् ऋद्ध्या जन. सामान्य । किमपि मनाक् मम-प्रियस्य शश्यनुहरते (सादृशमिति शेष) नान्य ॥ ४ किल खादति न पिवति नापि ददाति धर्म्मे न व्ययति रूपकम् । इह कृपणो न जानाति यथा यमस्य क्षणेन प्रभवति दूतक ॥ ५ गम्यते तस्मिन् देशे लभ्यते प्रियस्य प्रमाणम् ॥ यद्या-याति तदाऽऽनीयते अथवा तदेव निर्वाणम् (स्थानम्) ॥ ६ यदि प्रवसता सह न गता न मृता वियोगेन तस्य । लज्यते सदेशान् ददद्भिः सुभगजनस्य ॥

रेवि दड्ढनयणा नेहिं पलुट्टा ॥ गाढस्य निच्चटः, [१]विहवे कस्सु थिरत्तणउं जोव्वनि कस्सु मरट्ठु । सो लेखडउ पठाविअइ जो लग्गइ निच्चट्टु ॥४। असाधारणस्य सड्ढल., [२]कहिं ससहरु कहिं मयरहरु कहिं वरिहिणु कहिं मेहु । दूर ठिआह वि सज्जणह होइ असड्ढलु नेहु ॥५॥ कौतुकस्य कोड्ड., [३]कुञ्जरु अन्नह तरु-अरहं कुड्डेण घल्लइ हत्थु । मणु पुणु एक्कहि सल्लइहि जइ पुच्छह परमत्थु ॥६॥ क्रीडाया खेड्ड, [४]खेड्डयं कयमम्हेहिं निच्छयं किं पयम्पह । अणुरत्ताउ भत्ताउ अम्हे मा चय सामिअ ॥७॥ रम्यस्य रवण्णः, [५]सरिहिं न सरेहि न सरवरेहिं नवि उज्जाणव-णेहिं । देस रवण्णा होन्ति वढ निवसन्तेहिं सुअणेहिं ॥८॥ अद्भुतस्य ढक्करि', [६]हिअडा पइ एहु बोल्लिअओ महु अग्गइ सयवार । फुट्टिसु दिए पवसन्ति हउं भण्डय ढक्करि सार ॥९॥ हे सखीत्यस्य हेल्लि, हे ल्लि म झखइ आलु ॥ पृथक् पृथगित्यस्य जुअं जुअ', [७]एक्क कुडुल्ली पञ्चहिं रुद्धी तहं पञ्चह वि जुअं

---

१ विभवे कस्य स्थिरत्व यौवने कस्य दर्प्प । स लेख प्रेष्यते यो लगति गाढम् ॥ २ क्व शशधर कुत्र मकरधर, क्व वर्हिः क्व मेघ । दूरस्थिताना‌मपि सज्जनाना भवत्यसाधारण स्नेह ॥ ३ कुञ्जरोऽन्येषु तरुवरेषु कौतुकेन क्षिपति हस्तम् । मन पुनरेकस्या सल्लक्या यदि पृच्छत परमार्थम् ॥ ४ क्रीडा कृताऽस्माभिर्निश्चय किं प्रजल्पत ॥ अनुरक्तान् भक्तान् अस्मान् मा त्यज स्वामिन् ॥ ५ सरिद्भिर्न सरोभिन सरोवरैर्नापि उद्यानवनै । देशा रमण्याः भवन्ति मूर्ख ! निवसद्भि स्वजनै. ॥ ६ हृदय ! त्वयैतत् प्रोक्त ममाग्रे शतवारम् । स्फुटिष्यामि प्रिये प्रवसत्यह भण्डय ! अद्भुतवक्र ! ॥ ७ एका कुटी पञ्चभीरुद्धा तेषा पञ्चानामपि पृथक् पृथक् बुद्धि । भगिनि ! एतद् गृहं कथय किं वा नन्दतु यत्र कुटुम्बमात्मच्छन्दकम् ॥

जुअ वुद्धी । बहिणु एतं घरु कहि किवँ नन्दउ जेत्थु कुडुम्बउं अप्पण छन्दउं ॥१०॥ मूढस्स नालिअ वढो, जो [१]पुणु मणि जि ससफसिहूअउ चिन्तइ देइ न दम्मु न रूअउ । रइवसभमिरु करग्गुल्लालिउ घरहिं जि कोन्तु गुणइ सो नालिउ ॥११॥ दिवेहिं विढत्तउ खाहि वढ, नवस्स नवखः, नवखी कवि विसगण्ठि, अवस्कन्दस्य दडवडः, [२]चलेहिं चलन्तेहिं लोअणेहिं जे तइं दिट्ठा वालि । तहिं मयरद्धय दडवडउ पडइ अपूरइ कालि ॥१२॥ यदेश्छुडुः, छुडु अग्घइ ववसाउ, सम्बन्धिनः केरतणो, [३]गयउ सु केसरि पिअहु जलु निच्चिन्तइ हरिणाइं । जसु केरएं हुंकारडए मुहहुं पडन्ति तृणाइं ॥१३॥ अह भग्गा अम्हइं तणा, माभैषीरित्यस्य मब्भीसेति स्त्रीलिङ्गम्, [४]सत्थावत्थहं आलवणु साहु वि लोउ करेइ । आदन्नह मब्भीसडी जो सज्जणु सो देइ ॥१४॥ यद्यद्दृष्टं तत्तद् इत्यस्य जाइट्ठिआ, [५]जइ रच्चसि जाइट्ठिअए हिअडा मुद्धसहाव । लोहें फुट्टणएण जिवँ घणा सहेसइ ताव ॥१५॥

हुहुरुघुग्घादयः शब्दचेष्टानुकरणयोः ॥४॥४२३॥

अपभ्रंशे हुहुर्वादय शब्दानुकरणे घुग्घादयश्चेष्टानुकरणे यथासंख्यं

---

१ यः पुनर्मनस्येव व्याकुलीभूतस्सन् चिन्तयति ददामि न द्रम्म न रूपकम् । रतिवशभ्रमणशीलः कराग्रोल्लसित गृहे एव कुन्त गुणयति स मूढः ॥ २ चलैश्चपलैर्लोचनैर्ये त्वया दृष्टा वालिके ! । तेषा मकरध्वजावस्कन्द. पतत्यपूर्णे काले ॥ ३ स केसरी गत. पिवत जल निश्चिता हरिणाः ! । यस्य सम्बन्धिना हुंकारेण मुखेभ्य पतन्ति तृणानि ॥ ४ स्वस्थावस्थानामालपन सर्वोऽपि लोक करोति । आर्त्ताना मा भैषीर्य सज्जन स ददाति ॥ ५ यदि रज्यसि यद्यद् दृष्ट तस्मिन्तस्मिन् हृदय ! मुग्ध स्वभाव । लोहेन स्फुटता यथा धन, सह्यते ताप. ॥

गयअ न मुअ विओए तस्सु। लज्जिज्जइ संदेसडा दिन्तेहिं सुहयजणस्सु ॥१॥ नहेर्नाहिं, [१]एत्तहे मेह पिअन्ति जलु एत्तहे वडवानल आवट्टइ। पेक्खु गहोरिम सायरहो एक्कवि कणिअ नाहिं ओहट्टइ ॥१॥

पश्चादेवमेवैवेदानीं प्रत्युतेतसः पच्छइ एम्वइ जि एम्वहिं पच्चुलिउ एत्तहे ॥४॥४२०॥ अपभ्रंशे पश्चादादीना पच्छइ इत्यादय आदेशा भवन्ति। पश्चात पच्छइ होइ विहाणु, एवमेवस्य एम्वइ, एम्वइ सुरउ समत्तु. एवस्य जिः, [२]जाउ म जन्तउ पल्लवह देक्खउं कइ पय देइ। हिअइ तिरिच्छी हउ जि पर पिउ डम्वरइं करेइ ॥१॥ इदानीम एम्वहिं, [३]हरि नच्चाविउ पंगणइ विम्हइ पाडिउ लोउ। एम्वहिं राहपओहरहं ज भावइ तं होउ ॥ प्रत्युतस्य पच्चुलिउ, [४]साव-सलोणी-गोरडी नवखी कवि विसगण्ठि॥ भडु पच्चलिउ सो मरइ जासु न लग्गइ कण्ठि ॥१॥ इतस एत्तहे, एत्तहे मेह पिअन्ति जलु ॥

विषण्णोक्तवर्त्मनो वुन्न वुत्त विच्चं ॥४॥४२१॥ अपभ्रशे विपणादीनां वुन्नादय आदेशा भवन्ति। विषण्णस्य वुन्न,

---

१ इतो मेघा पिवन्ति जलम् इतो वडवानल आवर्त्तते। पश्य गम्भीरत्वं सागरस्यैकोऽपि कणिको (वूद) नह्यवहीयते ॥ २ यातु मा रक्षतु वस्त्राञ्चल पश्यामि कतिपदानि दत्ते। हृदये तिर्यगहमेव पर प्रिय आडम्वर करोति ॥ ३ हरिर्नर्तित प्राङ्गणे विस्मये पातितो लोक इदानी राधापयोधरयोर्यत्प्रतिभाति तद्भवतु ॥ ४ सर्वाङ्गलावण्या गौरी नूतना कोपि विषग्रन्थि. ॥ भट. प्रत्युत स म्रियते यस्य न लगति कण्ठ ॥

[१]मइं वुत्तउं तुहुं धुरु धरहि कसरेहिं विगुत्ताइं। पइं विणु धवल न चडइ भरु एम्वइ वुन्नउ काइ ॥१॥ उक्तस्य वृत्तः, मइं वुत्तउं, वर्त्मनो विच्चः, जं मणु विच्चि न माइ ॥

शीघ्रादीनां वहिल्लादयः ॥४॥४२२॥ अपभ्रंशे शीघ्रादीना वहिल्लादय आदेशा भवन्ति। [२]एक्कु कइअ हवि न आवही अन्नु वहिल्लउ जाहि। मइ मित्तडा प्रमाणिअउ पइ जेहउ खलु नाहि ॥ ॥१॥ झकटस्य घघल., [३]जिव सुपुरिस तिव घंघलेइ जिवँ नइ तिवँ वलणाइ। जिवँ डोगइ तिवँ कोट्टरइ हिआ विसूरहि काइ ॥२॥ अस्पृश्यसंसर्गस्य विट्टाल, जे [४]छड्डेविणु रयणनिहि अप्पउ तडि घल्लन्ति। तह सखहं विट्टालु परु फुक्किज्जन्त भमन्ति ॥३॥ भयस्य द्रवक्कः, दिवेहि [५]विढत्तउ खाहि वढ संचि म एक्कु वि द्रम्मु। कोवि द्रवक्कउ सो पडइ जेण समप्पइ जम्मु ॥४॥ आत्मीयस्य अप्पण, फोडेन्ति जे हिअडउं अप्पणउ, दृष्टेर्द्रेहि, [६]एक्कमेक्कउ जइ वि जोएदि हरि सुट्ठु सव्वायरेण, तो वि द्रेहि जहिं कहिं वि राहो। को सक्कइ सव-

---

१ मयोक्तस्त्व धुर (भार) धर दम्यैर्विगुप्त । त्वया विना धवल ! न चटति भार एव विपण्ण (उदास) किम् ॥ २ एप कदापि ह ! नायात्यन्यत् शीघ्र याति। मया मित्र ! प्रमाणितस्त्वया यादृग् खलु नहि'॥ ३ यथा सुपुरुषास्तथा झगटका यथा नद्यस्तथा वलनानि। यथा गिरयस्तथा कोटराणि हृदय ! खिद्यते कथम् ॥ ४ ये त्यक्त्वा रत्ननिधिमात्मान तटे क्षिपन्ति। तदा शखानामधमजना पर फूत्कुर्वाणा भ्रमन्ति ॥ ५ दैवैर्राजित खाद मूर्ख ! सञ्चय मा एकमपि द्रम्मम्। कोपि भय तत् पतति येन समाप्यते जन्म ॥

६ एकैक यद्यपि विलोकयति हरि सुष्ठु सर्वादरेण। तथापि दृष्टि यस्मिन् कस्मिन्नपि राधिका को शक्नोति सवरीतु दृढनयना स्नेहेन सस्थापिताम् ॥

रेवि दड्ढनयणा नेहिं पलुट्टा ॥ गाढस्य निच्चट:, [१]विहवे कस्सु थिरत्तणउं जोव्वनि कस्सु मरट्टु । सो लेखडउ पठाविअइ जो लग्गइ निच्चट्टु ॥४। असाधारणस्य सड्ढल:, [२]कहिं ससहरु कहिं मयरहरु कहिं बरिहिणु कहिं मेहु । दूर ठिआह वि सज्जणह होइ असड्ढलु नेहु ॥५॥ कौतुकस्य कोड्डः, [३]कुञ्जरु अन्नह तरु-अरहं कुड्डेण घल्लइ हत्थु । मणु पुणु एक्कहि सल्लइहि जइ पुच्छह परमत्थु ॥६॥ क्रीडाया. खेड्डु:, [४]खेड्डयं कयमम्हेहिं निच्छयं किं पयम्पह । अणुरत्ताउ भत्ताउ अम्हे मा चय सामिअ ॥७॥ रम्यस्य रवण्णः, [५]सरिहिं न सरेहि न सरवरेहिं नवि उज्जाणवणेहिं । देस रवण्णा होन्ति वढ निवसन्तेहिं सुअणेहिं ॥८॥ अद्भुतस्य ढक्करिः, [६]हिअडा पइ एहु बोल्लिअओ महु अग्गइ सयवार । फुट्टिसु पिए पवसन्ति हउं भण्डय ढक्करि सार ॥९॥ हे सखीत्यस्य हेल्लि, हेल्लि म झङ्खइ आलु ॥ पृथक् पृथगित्यस्य जुअं जुअः, [७]एक्क कुडुल्ली पञ्चहिं रुद्धी तह पञ्चह वि जुअं

---

१ विभवे कस्य स्थिरत्वं यौवने कस्य दर्पः । स लेखः प्रेष्यते यो लगति गाढम् ॥ २ क्व शशधरः कुत्र मकरधरः, क्व बर्हिः क्व मेघः । दूरस्थितानामपि सज्जनानां भवत्यसाधारणः स्नेहः ॥ ३ कुञ्जरोऽन्येषु तरुवरेषु कौतुकेन क्षिपति हस्तम् । मनः पुनरेकस्यां सल्लक्यां यदि पृच्छत परमार्थम् ॥ ४ क्रीडा कृताऽस्माभिर्निश्चयं किं प्रजल्पत ॥ अनुरक्तान् भक्तान् अस्मान् मा त्यज स्वामिन् ॥ ५ सरिद्भिर्न सरोभिर्न सरोवरैर्नापि उद्यानवनैः । देशा रमण्याः भवन्ति मूर्ख ! निवसद्भिः स्वजनैः ॥ ६ हृदय ! त्वयैतत् प्रोक्तं ममाग्रे शतवारम् । स्फुटिष्यामि प्रिये प्रवसत्यहं भण्डय ! अद्भुतवरः ! ॥ ७ एका कुटी पञ्चभीरुद्धा तेषां पञ्चानामपि पृथक् पृथक् बुद्धिः । भगिनि ! एतद् गृहं कथय किं वा नन्दतु यत्र कुटुम्बमात्मच्छन्दकम् ॥

जुअ वुद्धी । बहिणु एत्तं घरु कहि किवँ नन्दउ जेत्थु कुडुम्बउं अप्पण छन्दउं ॥१०॥ मूढस्स नालिअ वढौ, जो [1]पुणु मणि जि खसफसिहूअउ चिन्तइ देइ न दम्मु न रूअउ । रइवसभमिरु करग्गुल्लालिउ घरहिं जि कोन्तु गुणइ सो नालिउ ॥११॥ दिवेहिं विढत्तउ खाहि वढ, नवस्स नवखः, नवखी कवि विसगण्ठि, अवस्कन्दस्य दडवडः, [2]चलेहिं चलन्तेहिं लोअणेहिं जे तइं दिट्ठा वालि । तहिं मयरद्धय दडवडउ पडइ अपूरइ कालि ॥१२॥ यदेश्छुडुः, छुडु अग्घइ ववसाउ, सम्बन्धिनः केरतणौ, [3]गयउ सु केसरि पिअहु जलु निच्चिन्तइं हरिणाइं । जसु केरएं हुंकारडएं मुहहुं पडन्ति तृणाइं ॥१३॥ अह भग्गा अम्हइं तणा, माभैषीरित्यस्य मब्भीसेति स्त्रीलिङ्गम्, [4]सत्थावत्थहं आलवणु साहु वि लोउ करेइ । आदन्नहं मब्भीसडी जो सज्जणु सो देइ ॥१४॥ यद्यद्दृष्टं तत्तद् इत्यस्य जाइट्ठिआ, [5]जइ रच्चसि जाइट्ठिअए हिअडा मुद्धसहाव । लोहें फुट्टणएण जिवँ घणा सहेसइ ताव ॥१५॥

हुहुरुग्घुग्घादयः शब्दचेष्टानुकरणयोः ॥४॥४२३॥

अपभ्रंशे हुहुर्वादयः शब्दानुकरणे घुग्घादयश्चेष्टानुकरणे यथासंख्य

---

१ यः पुनर्मनस्येव व्याकुलीभूतस्सन् चिन्तयति ददामि न द्रम्मं न रूपकम् । रतिवशभ्रमणशीलः कराग्रोल्लसितं गृहे एव कुन्तं गुणयति स मूढः ॥ २ चलैश्चपलैर्लोचनैर्ये त्वया दृष्टा बालिके ! । तेषां मकरध्वजावस्कन्दः पतत्यपूर्णे काले ॥ ३ स केसरी गतः पिबत जलं निश्चिन्ता हरिणाः ! । यस्य सम्बन्धिना हुंकारेण मुखेभ्यः पतन्ति तृणानि ॥ ४ स्वस्थावस्थानामालपनं सर्वोऽपि लोकः करोति । आर्त्तानां मा भैषीर्यः सज्जनः स ददाति ॥ ५ यदि रज्यसि यद्यद् दृष्टं तस्मिंस्तस्मिन् हृदय ! मुग्धस्वभाव । लोहेन स्फुटता यथा घनः सह्यते तापः ॥

प्रयोक्तव्याः । [1]मइं जाणिउ वुड्डीसु हउं प्रेम्मद्रहि हुहुरुत्ति । नवरि अचिन्तिय संपडिअ विप्पिय नाव झडत्ति ॥१॥ आदिग्रहणात् [2]खज्जइ नउ कसरक्केहिं पिज्जइ नउ घुण्टेहिं । एम्वइ होइ सुहच्छडी पिए दिट्ठें नयणेहिं ॥२। इत्यादि, अज्जवि नाहु महु ज्जि घरि सिद्धत्था वन्देइ । ताउं जि विरहु गवक्खेहिं मक्कडु घुग्घिउ देइ ॥२॥ आदिग्रहणात्, [3]सिरि जरखण्डी लोअडी गलि मणियडा न वीस । तोवि गोट्ठडा कराविआ मुद्धए उट्ठवईस ॥३॥ इत्यादि ॥

घइमादयोऽनर्थकाः ॥४॥४२४॥ अपभ्रंशे घइम् इत्यादयो निपाता अनर्थकाः प्रयुज्यन्ते । [5]अम्माडि पच्छायावडा पिउ कलहिअउ विआलि ॥ घइं विवरीरी बुद्धडी होइ विनासओ कालि ॥१॥ आदिग्रहणात् खाइ इत्यादयः ॥

तादर्थ्ये केहिं तेहिं रेसि रेसिं तणेणा ॥४॥४२५॥ अपभ्रंशे तादर्थ्ये द्योते केहिं तेहिं रेसि रेसिं तणेण इत्येते पञ्च निपाता. प्रयोक्तव्या ॥ [6]ढोल्ल। एह परिहासडी अइभन कव-

---

१ मया ज्ञात त्रुडिष्याम्यह प्रेमह्रदे हुहुरु इति । केवलमचिन्तिता सपतिता विप्रियनौ. झटिति ॥ २ खाद्यते न तु कसरकै. पीयते न तु घुण्टकैः । एवमेव भवति सुखाशा प्रियेण दृष्टेन नयनैः॥ ३ अद्यापि नाथो ममैव गृहे सिद्धार्थान् वन्दते । तावदेव विरहो गवाक्षेषु मर्कटवत् चापल्यं दत्ते ॥ ४ शिरसि जीर्णखण्डिता लोमपटी गले मणिका न विंशतिः । तथापि गोष्ठा. कारिता मुग्धया उत्थानोपवेशनिका ॥ ५ हे अम्ब पश्चात्ताप प्रियकलहितो विकाले । विपरीता बुद्धिर्भवति विनाशस्य काले ॥ ६ नायक ! एषा (परिभाषा) नीतिरत्यद्भुता कस्मिन् देशे । अहं क्षयामि तवकृते प्रिय त्वं पुनरन्यस्य कृते क्षीयसे ॥

णेहिँ देसि । हउ झिज्जउं तउ केहिँ पिअ तुहुं पुणु अन्नहि रेसि ॥१॥ एवं तेहिँ रेसिमावुदाहार्यौ, वड्डुत्तणहो तणेण ॥

पुनर्विनः स्वार्थे डुः ॥४॥४२६॥ अपभ्रंशे पुनर्विना इत्येताभ्यां पर स्वार्थे डुः प्रत्ययो भवति । [1]सुमरिज्जइ तं वल्लहउं जं वीसरइ मणाउं । जहि पुणु सुमरणु जाउं गउं तहो नेहहो कइं नाउं ॥१॥ विणु जुज्झे न वलाहु ॥

अवश्यमो डेंडौ ॥४॥४२७॥ अपभ्रंशेऽवश्यमः स्वार्थे डे ड इत्येतौ प्रत्ययौ भवत. । [2]जिब्भिन्दिउं नायगु वसिकरहु जसु अधिन्नइं अन्नइं । मूलि विणट्ठइ तुंविणिहे अवसें सुक्कइं पण्णइं ॥१॥ अवस न सुअहिँ सुहच्छि अहिँ ॥

एकशसो डिः ॥४॥४२८॥ अपभ्रंशे एकशश्शब्दात् स्वार्थे डिर्भवति, । [3]एक्कसि सीलकलंकिअहं देज्जहिँ पच्छित्ताइं । जो पुणु खण्डइ अनुदिअहु तसु पच्छित्ते काइं ॥१॥

अडडडुल्लाः स्वार्थिककलुक् च ॥४॥४२९॥ अपभ्रंशे नाम्न परत स्वार्थे अ डड डुल्ल इत्येते त्रय. प्रत्यया भवन्ति । तत्सनियोगे स्वार्थे कस्य कप्रत्ययस्य लोपश्च ॥ [4]विरहानल जालकरालिअउ पहिउ पन्थि जं दिट्ठउ । त मेलवि सव्वहि पन्थिअहिं सो जि किअउ अग्गिट्ठउ ॥१॥

---

१ स्मर्यते स वल्लभो यो विस्मर्यते मनाक् । यस्य पुन स्मरण यदि गतस्तस्य स्नेहस्य किं नाम ॥ २ जिह्वेन्द्रिय नायक ! वशीकुरु यस्याऽधीनान्यन्यानि । मूले विनष्टे तुम्बिन्या अवश्य शुष्यन्ति पत्राणि ॥ ३ एकश शीलकलङ्कितान दीयते प्रायश्चित्तानि । य पुन खण्डयत्यनुदिन तस्य प्रायश्चित्तेन किम् ॥ ४ विरहानलज्वालाकरालित. पथिक पथि यो दृष्ट । तस्मात् मिलित्वा सर्वैः पथिकैः स एव कृतोऽग्निष्ठ ॥

डडः, महु कन्तहो बेदोसडा, डुल्ल', एक्क कुडुल्ली पञ्चहिं रुद्धी ॥

योगजाश्चैषाम् ॥४॥४३०॥ अपभ्रंशे अडडडुल्लाना योगभेदेभ्यो ये जायन्ते डडअ इत्यादयः प्रत्ययास्तेऽपि स्वार्थे प्रायो भवन्ति । डडअः, फोडेन्ति जे हिअडउ अप्पणउ । 'अत्र किसलय ।१।२६९।' इत्यादिना यलुक् ॥ डुल्लअः, चूडुल्लउ चुन्नी होइ सइ, डुल्लडड, [१]सामिपसाउ सलज्जु पिउ सीमा सन्धिहिं वासु । पेक्खिवि वाहु बलुल्लडा धण मेल्लइ नीसासु ॥१॥ अत्रापि 'स्यादौ दीर्घह्रस्वौ ॥४॥३३०॥' इति दीर्घः, एवं बाहु बलुल्लडउ, अत्र त्रयाणा योगः ॥

स्त्रियां तदन्ताड्डीः ॥४॥४३१॥ अपभ्रंशे स्त्रियां वर्तमानेभ्यः प्राक्तनसूत्रद्वयोक्तप्रत्ययान्तेभ्यो डीः प्रत्ययो भवति । [२]पहिआ दिट्ठि गोरडी दिट्ठि मग्गु निअन्त । अंसूसासेहिं कञ्चुआ तिन्तुव्वाण करन्त ॥१॥ एक्क कुडुल्ली पञ्चहिं रुद्धी ॥

आन्तान्ताड्डाः ॥४॥४३२॥ अपभ्रंशे स्त्रियां वर्तमानादप्रत्ययान्तप्रत्ययान्तात् डाप्रत्ययो भवति । ड्यपवादः [३]पिउ आइउ सुअ वत्तडी झुणि कन्नडइ पइट्ठु । तहो विरहहो नासन्तअहो धूलडिआवि न दिट्ठु ॥१॥

---

१ स्वामिप्रसादः सलज्जः प्रियः सीमासन्धौ वासः । प्रेक्ष्य बाहुबलं नायिका मुञ्चति निःश्वासम् ॥ २ पथिक ! दृष्टा गौरी दृष्टा मार्गं पश्यन्ती । अश्रूच्छ्वासैः कञ्चुकार्तीमोद्वानं (गीला) कुर्वन्ती ॥ ३ प्रियः आगतः श्रुता वार्ताध्वनिः कर्णे प्रविष्टः । तस्य विरहस्य नश्यतो धूलिरपि न दृष्टः ॥

अस्येदे ॥४॥४३३॥ अपभ्रंशे स्त्रियां वर्तमानस्य नाम्नो योऽकारस्तस्य आकारे प्रत्यये परे इकारो भवति । धुलडिअवि न दिट्ठु, स्त्रियामित्येव, झुणि कन्नडइ पइठ, ॥

युष्मदादेरीयस्य डारः ॥४॥४३४॥ अपभ्रंशे युष्मदादिभ्यः परस्य ईयप्रत्ययस्य डार इत्यादेशो भवति । [१] सदेशे काइं तुहारेण ज सङ्गहो न मिलिज्जइ । सुइणन्तरि पिएं पाणिएण पिअ पिआस किं छिज्जइ ॥१॥ दिक्खि अम्हारा कन्तु, वहिणि म्हरा कन्तु ॥

अतोर्डेत्तुलः ॥४॥४३५॥ अपभ्रंशे इदकिं यत्तदेतद्भ्यः परस्य अतो प्रत्ययस्य डेत्तुल इत्यादेशो भवति । एत्तुलो, केत्तुलो, जेत्तुलो, तेत्तुलो, एत्तुलो ॥

त्रस्य डेत्तहे ॥४॥४३६॥ अपभ्रंशे सर्वादेः सप्तम्यन्तात परस्य त्रप्रत्ययस्य डत्तहे इत्यादेशो भवति । [२] एत्तहे तेत्तहे वारि घरि लच्छि विसण्ठुल धाइ । पिअ पब्भट्ठव गोरडी निच्चल कहि वि न ठाइ ॥१॥

त्वतलोः प्पणः ॥४॥४३७॥ अपभ्रंशे त्वतलोः प्रत्ययोः प्पण इत्यादेशो भवति । वड्डप्पणु परि पाविअइ । प्रायोऽधिकारात् वड्डुत्तणहो तणेण ॥

---

१ सन्देशेन किं युष्मदीयेन यत् सङ्गान्न मिल्यते । स्वप्नान्तरे पीतेन पानीयेन प्रिय ! पिपासा किं क्षीयते ॥ २ यत्र तत्र द्वारे गृहे लक्ष्मीर्विसस्थुला धावति । प्रियप्रभ्रष्टा गोरी निश्चला कुत्रापि न तिष्ठति ॥

तव्यस्य इएव्वउं एव्वउं एवाः ॥४॥४३८॥ अपभ्रंशे तव्यप्रत्ययस्य इएव्वउ एव्वउं एवा इत्येते त्रय आदेशा भवन्ति। [१]एउ गृण्हेप्पिणु ध्रु मइं जइ प्रिउं उव्वारिज्जइ। महु करिएव्वउ किंपि णवि मरिएव्वउं पर देज्जइ ॥१॥ [२]देसुच्चाडणु सिहि कढणु घणकुट्टणु जं लोइ। मजिट्ठए अइरत्तिए सव्वु सहेव्वउ होइ ॥२॥ [३]सोएवा पर वारिआ पुप्फवईहिं समाणु। जग्गेवा पुणु को धरइ जइ सो वेउ पमाणु ॥३॥

क्त्व इ-इउ-इवि-अवयः ॥४॥४३९॥ अपभ्रंशे क्त्वाप्रत्ययस्य इ, इउ, इवि, अवि इत्येते चत्वार आदेशा भवन्ति। इ, [४]हिअडा जइ वेरिअ घणा तो कि अब्भि चडाहुं ॥ अम्हाहिं बेहत्थडा जइ पुणु मारि मराहुं ॥१॥ इउ, गय-घड भज्जिउ जन्ति, इवि, [५]रक्खइ सा विसहारिणी बे कर चुम्बिवि जीउ ॥ पडिबिम्बिअ मुंजालु जलु जेहिं अडोहिउ पीउ ॥२॥ अवि, [६]बाह विछोडवि जाहि तुहुं हउं तेवंइ को दोसु। हिअयट्ठिअ जइ नीसरहि जाणउं मुञ्ज सरोसु ॥३॥

---

१ एतद् गृहीत्वा ध्रुव मया यदि प्रिय उद्वर्त्यते। मम कर्त्तव्य किमपि नैव मर्तव्य पर दीयते॥ २ देशोच्चाटन शिखिक्वथन घनकुट्टन यल्लोके। मजिष्ठयाऽतिरक्तया सर्व सोढव्य भवति॥ ३ स्वपितव्य परिवारित पुष्पवतीभि समानम्। जागर्तव्य पुन को धरति यदि सो वेद प्रमाणम्॥ ४ हृदय! यदि वैरिणो बहवस्तर्हि किमभ्रे (आकाशे) चटाम (आरोहाम)। अस्माक द्वौ हस्तौ (हस्ताभ्या) यदि पुनर्मारयित्वा म्रियामहे॥ ५ रक्षति सा विषहारिणी द्वौ करौ चुम्बित्वा जीवम्। प्रतिबिम्बितमुञ्ज (मुक्त) जल याभ्या क्षिपयित्वा पीतम्॥ ६ बाहू विच्छोटय (छुडाकर) यासि त्वमह तथैव को दोष.। हृदयस्थितो यदि नि.सरसि जानामि मुञ्जः सरोषः॥

एप्प्येप्पिण्वेव्येविणवः ॥४॥४४०॥ अपभ्रंशे क्त्वाप्रत्ययस्य एप्पि, एप्पिणु, एवि, एविणु इत्येते चत्वार आदेशा भवन्ति।
[१]जेप्पि असेसु कसायवलु देप्पिणु अभउ जयस्सु। लेवि महव्वय सिवु लहहिं, झाएविणु तत्तस्सु ॥१॥ पृथग् योग उत्तरार्थः ॥

तुम एवमणाणहमणहिं च ॥४॥४४१॥ अपभ्रंशे तुमः प्रत्ययस्य एवम, अण, अणहम्, अणहिम् इत्येते चत्वारः, चकारात् एप्पि, एप्पिणु, एवि, एविणु इत्येते, एवं चाष्टौ आदेशा भवन्ति।
देवं [२]दुक्करु निअय धणु करण न तउ पडिहाइ। एम्वइ सुहु भुञ्जणह मणु पर भुञ्जणहिं न जाइ ॥१॥ जेप्पि [३]चएप्पिणु सयल धर लेविणु तवु पालेवि। विणु सन्ते तित्थेसरेण को सक्कइ भुवने वि ॥२॥

गमेरेप्पि ण्वेप्प्योरेर्लुग् वा ॥४॥४४२॥ अपभ्रंशे गमेर्धातोः परयो रेप्पिणु एप्पि इत्यादेशयोरेकारस्य लुग् वा भवति।
[४]गप्पिणु वाणारसिहिं नर अह उज्जेणिहिं गम्पि। मुआ परावहिं परमपउ दिव्वन्तरइ म जम्पि ॥१॥ पक्षे। [५]गङ्ग गमेप्पिणु जो मुअइ जो सिवतित्थ गमेप्पि। कीलदि तिद सावास गउ सो जमलोउ जिणेप्पि ॥२॥

---

१ जित्वाऽशेष कषायबलं दत्त्वाऽभयं जगतः। लात्वा महाव्रतानि शिवं लभन्ते ध्यात्वा तत्त्वम् ॥ २ दातुं दुष्करं निजधनं कर्तुं न तपः प्रतिभाति। एवमेव सुखं भोक्तुं मनः परं भोक्तुं न याति ॥ ३ जेतुं त्यक्तुं सकलां धरां लातुं तपः पालयितुम्। विना शान्तिना तीर्थेश्वरेण कः शक्नोति भुवनेऽपि ॥ ४ गत्वा वाराणस्यां नरा अथोज्जयिन्यां गत्वा। मृता प्राप्नुवन्ति परमपदं दिव्यान्तराणि मा कथय ॥ ५ गङ्गां गत्वा यो मृतो यः शिवतीर्थं गत्वा। क्रीडति त्रिदशावासं गतः स यमलोकं जित्वा ॥

तृनोऽणअः ॥४।४४३॥ अपभ्रंशे तृनः प्रत्ययस्य अणअ इत्यादेशो भवति । हत्थि मारणउ लोउ बोल्लणउ पडहु वज्जणउ सुणउ भणसउ ॥

इवार्थे नं नउ नाइ नावइ जणि जणवः ॥४॥४४४॥ अपभ्रंशे इवशब्दस्यार्थे नं नउ नाइ नावइ जणि जणु इत्येते षट् आदेशा भवन्ति । नं मल्ल जुज्झु ससिराहु करहिं, नउ, रवि [१]अत्थमणि समाउलेण कण्ठि विइण्णु न छिण्णु । चक्कें खण्डु मुणालिअहे नउ जीवग्गलु दिण्णु ॥ नाइ, [२]वलयावलिनिवडणभएण धण उद्धब्भुअ जाइ ॥ वल्लह विरहमहादहो थाह गवेसइ नाइ ॥२॥ ५ [३]पेक्खेविणु मुहु जिणवरहो दीहरनयण सलोणु । नावइ गुरुमच्छइ भरिउ जलणि पविसइ लोणु ॥ जणि, [४]जम्पयकुसुमहो मज्झि सहि भसलु पइट्ठउ । सोहइ इन्दनीलु जणि कणइ बइट्ठउ ॥३॥ जणु, निरुवमरसु पिएं पिएवि जणु ॥

लिङ्गमतन्त्रम् ॥४॥४४५॥ अपभ्रंशे लिङ्गमतन्त्रं व्यभिचारि प्रायो भवति । गय कुम्भइ दारन्तु ॥ अत्र पुल्लिङ्-

---

१ सूर्यास्तमने समाकुलेन कण्ठे वितीर्णं न च्छिन्नम् । चक्रवाकेन खण्ड मृणालिकाया यथा जीवार्गला दत्ता ॥ २ वलयावलिनिपतनभयेन नायिका ऊर्ध्वभुजा याति । वल्लभविरह महाह्रदस्य गाम्भीर्यं गवेषयतीव ॥ ३ प्रेक्ष्य मुख जिनवरस्य दीर्घनयन सलावण्यम् । यथा गुरुमत्सरभृत ज्वलने प्रविशति लावण्यम् ॥ ४ चम्पककुसुमस्य मध्ये सखि ! भ्रमर प्रविष्टः । शोभते इन्द्रनीलमिव कनके उपविष्टः ॥

गस्य नपुंसकत्वम् । १अब्भा लग्गा डुंगरिहिं पहिउ रडन्तउ जाइ । जो एहा गिरि गिलणमणु सो किं धणहे धणाइ ॥१॥ अत्र अब्भा इति नपुंसकस्य पुंसत्वम् । [२]पाइ विलग्गी अन्त्रडी सिरु ल्हसिउं खन्धस्सु ॥ तोवि कटारइ हत्थडउ बलि किज्जउं कन्तस्सु ॥२॥ अत्र अन्त्रडी इति नपुंसकस्य स्त्रीत्वम् । सिरि [३]चडिआ खन्ति प्फलइं पुणु डालइं मोडन्ति ॥ तोवि महद्दुम सउणाहं अवराहिउ न करन्ति ॥३॥ अत्र डालइं इत्यत्र स्त्रीलिङ्गस्य नपुंसकत्वम् ॥

शौरसेनीवत् ॥४॥४४६॥ अपभ्रंशे प्रायः शौरसेनीवत् कार्यं भवति । सीसि [४]सेहरु खणु विणिम्मविदु खणु कण्ठि पालंबु किदु रदिए विहिदु । खणु मुण्डमालिए जं पणएण तं नमहु कुसुमदामकोदण्डु कामहो ॥

व्यत्ययश्च ॥४॥४४७॥ प्राकृतादिभाषालक्षणानां व्यत्ययश्च भवति । यथा मागध्यां 'तिष्ठश्चिष्ठः ।४।२९८।' इत्युक्तं, तथा प्राकृतपैशाचीशौरसेनीष्वपि भवति । चिष्ठदि,

---

१ अभ्राणि लग्नानि पर्वतेषु पथिको रटन् याति । य ईदृग् गिरिगिलनमना. स किं नायिकाया धनानि (रक्षतीति शेष) ॥ २ पादे विलग्नमान्त्रं शिर.स्रस्त स्कन्दयो । ततोऽपि क्षुरिकाया हस्तो वलिं करोमि कान्तस्य ॥ ३ शिरसि चटिता खादन्ति फलानि पुन शाखा मोटयन्ति । ततोऽपि महाद्रुमा. शकुनीनामपराध न कुर्वन्ति ॥ ४ शीर्षे शेखर क्षण विनिर्मापित: क्षण कण्ठे प्रालम्ब. कृतो रत्या विहितम ॥ क्षण मुण्डमालिकाया यत्प्रणयेन तन्नमत कुसुमदामकोदण्ड कामस्य ॥

अपभ्रंशे रेफस्याधो वा लुग् उक्तो मागध्यामपि भवति, शदम णुशमंशभालके कुम्भशहश्रवशाहे शचिदे इत्यादि, अन्यदपि द्रष्टव्यम्, न केवलं भाषालक्षणानां त्याद्यादेशानामपि व्यत्यय भवति, ये वर्तमाने काले प्रसिद्धास्ते भूतेऽपि भवन्ति । अ पेच्छइ रहुत्तणओ, अथ प्रेक्षांचक्रे, इत्यर्थः । आभासइ रयणीयरे आबभाषे रजनीचरानित्यर्थः । भूते प्रसिद्धा वर्तमानेऽपि सोहीउ एस वण्ठो, शृणोत्येष वण्ठ इत्यर्थः ॥

शेषं संस्कृतवत् सिद्धम् ॥४॥४४८॥ शेष यदत्र प्राकृतादिभाषासु अष्टमे नोक्तं तत्सप्ताध्यायीनिबद्धसंस्कृतवदेव; सिद्धम् ॥ हेट्ठिअ [1]सूर निवारणाय छत्त अहो इव वहन्ती । जयइ ससेसा वराहसासदूरुक्खुया पुहवी ॥१॥ अत्र चतुर्थ्या आदेशो नोक्तः स च संस्कृतवदेव सिद्ध. ॥ उक्तमपि क्वचित् संस्कृतवदेव भवति, यथा प्राकृते उरश्शब्दस्य सप्तम्येकवचनान्तस्य उरे उरम्मि, इति प्रयोगो भवतस्तथा क्वचिदुरसीत्यपि भवति, एवं सिरे सिरम्मि सिरसि, सरे, सरम्मि, सरसि सिद्धग्रहणं मङ्गलार्थम्, आयुष्मच्छ्रोतृकताभ्युदयश्चेति ॥

इत्याचार्य श्रीहेमचन्द्रविरचितायां सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानुशासनवृत्तावष्टमस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ॥

---

१ अधः स्थितसूर्यातपनिवारणाय छत्रमिव इव वहन्ती । जयति सशेषा वराहश्वासदूरोत्क्षिप्ता पृथ्वी ॥...

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

श्रीहरिः

गीताका सार

स्वामी रामसुखदास

प्रकाशकीय निवेदन

गीता धर्म्यसंवाद है, कर्त्तव्यशास्त्रकी दिव्य वाणी है। इसकी भाषा यद्यपि सरल है और शैली सरस है, फिर भी विषयकी विशिष्टतासे इसमें क्लिष्टता भी है। अतः स्वाध्याय एवं विशद परिशीलनके बिना सर्वशास्त्रमयी गीताका शास्त्रीय स्वारस्य सुगम नहीं हो पाता। यही कारण है कि गीताके विवेचनमें दक्ष विचक्षणोंमें भी मतैक्य नहीं है, जिससे गीतार्थके जिज्ञासु निःसंदिग्ध बोधसे वञ्चित रह जाते हैं। ऐसी परिस्थितिमें गीता-तत्त्वार्थको सुगमतासे अवगत करनेकी अपेक्षा सुतराम् उदित हो जाती है।

गीताका अठारहवाँ अध्याय उसका सार है। इसमें भगवान्‌द्वारा प्रतिपादित विषयोंका उपसंहार किया गया है। इस अध्यायका मनन-चिन्तन करनेसे गीताका तत्त्व-सार समझमें आ जाता है। वस्तुतः अध्यात्मशास्त्रका सार वेद, वेदोंका सार उपनिषदें, उपनिषदोंका सार गीता और गीताका सार है सर्वगुह्यतम तत्त्व भगवान्‌की प्रपत्ति—शरणागति, जिसका वर्णन इसी अध्यायके ६६वें श्लोकमें है।

प्रस्तुत पुस्तकमें गीता-सारका सुनिपुण विवेचन गीता-तत्त्वार्थके मार्मिक मन्ता एवं भारतप्रसिद्ध व्याख्याता परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजने सुबोध भाषा एवं सरल-सरस शैलीमें किया है। श्रीमद्भगवद्गीतार्णवमें गोते लगा-लगाकर साधकोपयोगी अमूल्य तत्त्वरत्नोंका अन्वेषण और उनका वितरण ही आपके निष्काम-कर्ममय जीवनका लोकसंग्रही ध्येय है। आप इसका श्रेय भगवान्‌की महती कृपाको ही देते हैं।

आपकी प्रस्तुत पुस्तक अति उपादेय है। आशा है कि, प्रेमी पाठकों, साधकोंके कामकी होगी। इसके अध्ययन, मनन एवं चिन्तनसे वे गीतार्थका अवगमन कर जीवन सफल बनायेंगे।

—प्रकाशक

श्रीहरि.

विषय-सूची

अठारहवाँ अध्याय

सूक्ष्म विषय

श्लोक-संख्या	सूक्ष्म विषय	पृष्ठ
१३–१५	सांख्य-सिद्धान्तमें कर्मोंकी सिद्धि होनेमें पाँच हेतुओंका वर्णन ...	... १०१–११०
१६–१८	आत्माको कर्ता माननेवालोंकी निन्दा और कर्ता न माननेवालोंकी प्रशंसा	... १११–१२०
१९	भगवान्‌के द्वारा ज्ञान, कर्म और कर्ताके तीन-तीन भेद सुननेकी आज्ञा	... १२०–१२३
२०	सात्त्विक ज्ञानका वर्णन	... १२४–१२८
२१	राजस ज्ञानका वर्णन	... १२८–१२९
२२	तामस ज्ञानका वर्णन	... १२९–१३०
२३	सात्त्विक कर्मका वर्णन	.. १३१–१३२
२४	राजस कर्मका वर्णन	.. १३२–१३३
२५	तामस कर्मका [illegible]	[illegible]३४–१३५
२६	सात्त्विक [illegible]के लक्षण	[illegible]–१३७
२७	राजस कर्ताके [illegible]	[illegible]–१३९
२८	तामस कर्ताके लक्षण	[illegible]–१४२
	(विशेष बात [illegible])	
२९	भगवान्‌के द्वारा बुद्धि [illegible] भेद सुननेकी आज्ञा	.. १४४–१४७
३०	सात्त्विकी बुद्धिके लक्षण	... १४८–१५२
३१	राजसी बुद्धिके लक्षण	... १५२–१५५
३२	तामसी बुद्धिके लक्षण	... १५६–१५७
३३	सात्त्विकी धृतिके लक्षण	.. १५७–१५९
३४	राजसी धृतिके लक्षण	... १५९–१६१
३५	तामसी धृतिके लक्षण	.. १६१–१६४
३६	भगवान्‌के द्वारा सुखके तीन-तीन भेद सुननेकी आज्ञा	... १६४–१६९

श्लोक-संख्या	सूक्ष्म विषय	पृष्ठ
३७	सात्त्विक सुखका वर्णन	··· १६९–१७३
३८	राजस सुखका वर्णन	··· १७४–१७९
३९	तामस सुखका वर्णन	··· १७९–१८४
	(दो प्रकारकी निद्रा १८१, विशेष बात १८४)	
४०	बीसवेंसे उन्तालीसवें श्लोकमें आये गुणोंके प्रकरणका उपसंहार	··· १८८–१९२
४१	चारो वर्णोंके स्वाभाविक कर्मोंके प्रकरणका उपक्रम	··· १९३–१९५
४२	ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्मोंका वर्णन	··· १९६–१९८
४३	क्षत्रियके स्वाभाविक कर्मोंका वर्णन	··· १९८–२००
४४	वैश्य और शूद्रके स्वाभाविक कर्मोंका वर्णन	··· २००–२०४
	(स्वाभाविक कर्मोंका तात्पर्य २०४, जाति जन्मसे मानी जाय या कर्मसे ? २०८)	
४५–४८	अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा परमात्माका पूजन करनेसे परमात्मप्राप्तिका कथन	··· २२२–२४७
	(विशेष बात २२५, विशेष बात २४०, विशेष बात २४५)	
४९	सांख्ययोगके अधिकारीका वर्णन, (विशेष बात)	२४७–२४९
५०	सांख्ययोगके अधिकारीद्वारा परमसिद्धिको प्राप्त करनेके प्रकारका वर्णन	·· २४९–२५१
५१–५३	सांख्ययोगके साधनोंका वर्णन	··· २५१–२५७
५४–५५	पराभक्तिकी प्राप्ति और उसके फलस्वरूप परमात्मतत्त्वको जानने और प्राप्त होनेका वर्णन	·· २५७–२६९
	(विशेष बात २६३)	

श्लोक-संख्या	सूक्ष्म विषय	पृष्ठ

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथाष्टादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥
त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥
निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥
नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥
न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥
अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥ १२ ॥
पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ १४ ॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १७ ॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥
ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥
सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥
नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥
मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठोऽनैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥
बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ ॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३० ॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥
धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥
यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥
सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ ३६ ॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥
न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥
ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥
कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्मस्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥
असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥
यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ६२ ॥
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥
सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥
इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥
य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥
अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥
श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ ७१ ॥

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥७२॥

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥
व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥
राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥
यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो
नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

प्राक्कथन

यस्य श्रीकरुणार्णवस्य करुणालेशेन बालो ध्रुवः
स्वेष्टं प्राप्य समार्यधाम समगाद्रङ्कोऽप्यविन्दच्छ्रियम्।
याता मुक्तिमजामिलादिपतिताः शैलोऽपि पूज्योऽभवत्
तं श्रीमाधवमाश्रितेष्टदमहं नित्यं शरण्यं भजे॥

'जिन करुणासिन्धु भगवान्‌की करुणाके लेशमात्रसे बालक ध्रुवने इष्ट वस्तुको प्राप्त करके श्रेष्ठ पुरुषोंके लोकको प्राप्त किया, दरिद्री सुदामाने लक्ष्मीको प्राप्त किया, अजामिल आदि पापियोंने मुक्तिको प्राप्त किया और गोवर्धन पर्वत भी पूज्य बन गया (इस तरह बालक, दरिद्री, पापी और पत्थरका भी उद्धार हो गया) उन शरणागत भक्तोंको इष्ट पदार्थ देनेवाले शरण्य भगवान् माधवको मैं नित्य भजता हूँ।'

गीताकी महिमा

श्रीमद्भगवद्गीताकी महिमा अगाध और असीम है। यह भगवद्गीता-ग्रन्थ प्रस्थानत्रयमें माना जाता है। प्रस्थानत्रयका अर्थ है कि परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें जितने मार्ग हैं, उनको बतानेवाले उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता—ये तीन हैं। शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य आदि जितने आचार्य हुए हैं, उन्होंने अपने मतको सिद्ध करनेके लिये इन तीनोंके ऊपर भाष्य लिखे हैं, इसी कारण जनताने उनके मतोंको स्वीकार किया है।

प्रस्थानत्रयमें वेदोका शिरोभाग 'उपनिषद्' कहलाता है। दार्शनिकोंका अन्तिम तत्त्व 'ब्रह्मसूत्र' (उत्तरमीमांसा) कहलाता है। भगवद्गीता इन दोनोंके समकक्ष कहलाती है, जो कि महाभारतरूप इतिहास-ग्रन्थमें सम्मिलित है। उपनिषदोंके मंत्र हैं, ब्रह्मसूत्रके सूत्र हैं और भगवद्गीताके श्लोक हैं। परंतु भगवद्गीताके श्लोक भगवान्‌की वाणी होनेसे मन्त्ररूप हैं और सरल होनेपर भी तात्पर्य गम्भीर होनेसे सूत्ररूप हैं। इस प्रकार भगवद्गीता उपनिषद् और ब्रह्मसूत्रके समकक्ष है। दूसरी बात, उपनिषद् अधिकारी पुरुषोंके कामकी चीज है, ब्रह्मसूत्र विद्वानोंके कामकी चीज है, परंतु गीता सभीके कामकी चीज है। इसको विद्वत्ताके बिना भी सब समझ सकते हैं।

भगवद्गीता एक अलौकिक, विचित्र ग्रन्थ है। इसमें साधकके लिये उपयोगी पूरी सामग्री मिलती है, चाहे वह किसी भी देशका, किसी भी वेषका, किसी भी वर्णका, किसी भी आश्रमका, किसी भी सम्प्रदायका, किसी भी समुदायका कोई व्यक्ति क्यों न हो। कारण इसका यह है कि इसमें किसी समुदाय-विशेषकी निन्दा या प्रशंसा नहीं है, प्रत्युत इसमें वास्तविक तत्त्वकी ही प्रशंसा है।

वास्तविक तत्त्व क्या है? वास्तविक तत्त्व वह है, जो सम्पूर्ण परिवर्तनशील प्रकृति और प्राकृत पदार्थोंसे सर्वथा अतीत और नित्य-निरन्तर एकरस-एकरूप रहनेवाला है। जो जहाँ है और जैसा है, वास्तविक तत्त्व वहाँ वैसा ही पूर्णरूपसे विद्यमान है। परंतु परिवर्तनशीलके रागके कारण उसका अनुभव नहीं होता।

सर्वथा राग-रहित होनेपर उसका स्वतः अनुभव हो जाता है। इस वास्तविक तत्त्वका अधिकारी वही है, जो परिवर्तनशील सुखमें कभी बँधता नहीं, अटकता नहीं। अर्जुन अपने लिये कर्तव्यका निर्णय तो नहीं कर सके, पर 'राज्य मिलनेसे सुख हो जायगा'—ऐसा वहम उनको नहीं था। हरेकके जीवनमें ऐसी हलचल आती ही है, फिर भी वह अपनी पुरानी चाल यानी सुखकी आसक्ति नहीं छोडना—यही उससे गलती होती है।

गीताकी भाषा सरल है और भाव बड़े गम्भीर हैं। साधनोंका वर्णन करनेमें, विस्तारपूर्वक समझानेमें, एक-एक साधनको कई बार कहनेमें संकोच नहीं किया गया है, फिर भी ग्रन्थका कलेवर नहीं बढ़ा है। ऐसा संक्षेपमें विस्तारपूर्वक यथार्थ और पूरी बात बतानेवाला कोई ग्रन्थ नहीं दीखता। मनुष्य हरेक परिस्थितिमें परमात्मतत्त्वको प्राप्त कर सकता है; युद्ध-जैसी घोर परिस्थितिमें भी अपना कल्याण कर सकता है—व्यवहारमात्रमें ऐसी परमार्थकी कला गीतामें सिखायी गयी है। इस वास्ते इसके जोड़का दूसरा कोई ग्रन्थ देखनेमें नहीं आता।

गीताका मन लगाकर पाठ करनेमात्रसे शान्ति मिलती है। इसकी विधि यह है कि गीताके पूरे श्लोक अर्थसहित कण्ठस्थ कर ले, फिर एकान्तमें बैठकर गीताके अन्तिम श्लोक—'यत्र योगेश्वरः कृष्णः…', (१८।७८)—यहाँसे लेकर गीताके पहले श्लोक 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे……', (१ । १)—यहाँतक बिना पुस्तकके उलटा पाठ

करता चला जाय तो बड़ी शान्ति मिलती है। कोई भी करके देख सकता है।

गीता एक प्रासादिक ग्रन्थ है। इसका आश्रय लेकर पाठ करनेमात्रसे बड़े विचित्र, अलौकिक और शान्तिदायक भाव स्फुरित होते हैं। गीताका प्रतिदिन एक या अनेक बार पाठ किया जाय तो उससे गीताके विशेष अर्थ स्फुरित होते हैं। मनमें कोई शङ्का होती है तो पाठ करते-करते उसका समाधान हो जाता है। इस वास्ते सब भाई-बहनोंको गीताके भावोंको हृदयङ्गम करना चाहिये और उसके अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये।

गीताका तात्पर्य

गीता किसी वादको लेकर नहीं चली है अर्थात् द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, विशुद्धाद्वैत, अचिन्त्यभेदाभेद आदि किसी वादको, किसी एक सम्प्रदायके किसी एक सिद्धान्तको लेकर नहीं चली है। गीतामें खास लक्ष्य यह रखा गया है कि मनुष्यमात्रका प्रत्येक परिस्थितिमें कल्याण हो जाय, वह किसी भी परिस्थितिमें परमात्मप्राप्तिसे वञ्चित न रहे, क्योंकि मनुष्य-मात्रका जन्म केवल अपने कल्याणके लिये ही हुआ है। संसारमें ऐसी कोई भी परिस्थिति नहीं है, जिसमें मनुष्यका कल्याण न हो सकता हो। कारण कि परमात्मा प्रत्येक परिस्थितिमें समानरूपसे विद्यमान हैं। इस वास्ते साधकके सामने कोई भी और कैसी भी परिस्थिति आये, उसका केवल सदुपयोग करना है। सदुपयोग करनेका अर्थ है—दुःखदायी परिस्थिति आनेपर सुखकी इच्छाका त्याग करना और सुखदायी

परिस्थिति आनेपर सुखभोगका तथा 'वह बनी रहे' ऐसी इच्छाका त्याग करना और उसे दूसरोंकी सेवामें लगाना। इस प्रकार सदुपयोग करनेसे मनुष्य दुःखदायी और सुखदायी दोनों परिस्थितियोंसे ऊँचा उठ जाता है अर्थात् उसका कल्याण हो जाता है।

एक स्वयं परमात्मा है और एक परमात्माकी विलक्षण शक्ति प्रकृति है। ये दोनों अनादि हैं। सृष्टिसे पूर्व परमात्मामें **'बहु स्यां प्रजायेयेति'** (छान्दोग्य० ६ । २ । ३)—ऐसा संकल्प हुआ। इस संकल्पसे सृष्टि पैदा हो गयी अर्थात् एक ही परमात्मा प्रेमवृद्धिके लिये स्वयं ही श्रीकृष्ण और श्रीजी—इन दो रूपोंमें प्रकट हो गये। उन दोनोंने परस्पर खेलनेके लिये एक खेल रचा। उस खेलके लिये प्रभुके संकल्पसे अनन्त जीवोंकी सृष्टि हुई (जो कि अनादिकालसे थे)। खेल खेलते हुए उन जीवोंमें श्रीजीका तो भगवान्‌की तरफ ही आकर्षण रहा, खेलमें उनकी भूल नहीं हुई तो श्रीजी और भगवान्‌में प्रेमवृद्धिकी लीला हुई। दूसरे जितने जीव थे, उन सबने संयोगजन्य सुखके लिये प्रकृति और प्रकृतिके पदार्थोंके साथ अपना सम्बन्ध मान लिया, जिससे वे जन्म-मरणके चक्करमें पड़ गये। अब अगर वे जीव प्रकृतिके पदार्थोंसे विमुख होकर परमात्माके सम्मुख हो जायँ, तो उनका जन्म-मरणरूप दुःख सदाके लिये छूट जाय। जीव उन पदार्थोंसे विमुख हो करके परमात्माके सम्मुख हो जायँ—इसीके लिये भगवद्गीताका अवतार हुआ है।

उस माने हुए सम्बन्धको तोड़कर 'योग' अर्थात् भगवान्‌के साथ स्वतःसिद्ध नित्य-सम्बन्धको पहचाननेके लिये गीताने तीन उपाय बताये हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। प्राकृत पदार्थोंसे

सम्बन्ध तोडना 'कर्मयोग' है, प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद करके अपने शुद्ध स्वरूपमें स्थित होना 'ज्ञानयोग' है और संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करके केवल परमात्माके साथ अपना सम्बन्ध स्वीकार करना 'भक्तियोग' है।

कर्मयोग

इसमें दो शब्द हैं—कर्म और योग। इसमें एक कर्मविज्ञान है और दूसरा योगविज्ञान है। कर्म केवल संसारके लिये ही है, अपने लिये बिल्कुल नहीं—ऐसा अनुभव हो जाना कर्मविज्ञान है और भगवान्‌के साथ हमारा नित्ययोग (कभी वियुक्त न होनेवाला नित्य अटल सम्बन्ध) है—ऐसा अनुभव हो जाना योगविज्ञान है। कर्मविज्ञानका पूर्णतया अनुभव होनेपर योगविज्ञान प्रकट हो जाता है।

जबतक प्राणी अपने लिये कुछ भी करता है, तबतक वह कर्मविज्ञानसे सर्वथा दूर ही रहता है। कारण कि अपने लिये करनेसे प्रकृति और प्रकृतिजन्य पदार्थोंके साथ सम्बन्ध बना रहता है। जबतक कर्मविज्ञानसे दूर रहता है, तबतक योगविज्ञानका आरम्भ ही नहीं होता। स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरसे होनेवाला कर्ममात्र जब केवल संसारके हितके लिये ही होने लगता है, तब कर्मविज्ञान समाप्त होकर योगविज्ञान शुरू हो जाता है। जब कर्मविज्ञान और योगविज्ञान—दोनो वास्तविकतापर पहुँच जाते हैं, तब प्राणी कृतकृत्य हो जाता है अर्थात् जब करनेका राग और पानेका लालच सर्वथा मिट जाते हैं, तब स्वाभाविक ही न जीनेकी इच्छा रहती है और न मरनेका भय ही रहता है। यही कर्मयोगकी पूर्णता है।

कर्मयोगकी दृष्टिसे कर्तव्यमात्र केवल कर्तव्य-पालनके लिये ही करना है अर्थात् कर्ममात्र केवल संसारकी सेवाके लिये ही करना है। कारण कि मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, प्राण, शरीर, वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, क्रियाकी संसारके साथ एकता है। इनके साथ अपना किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। चाहे स्थूलशरीर और पदार्थोंके द्वारा कर्म हो, चाहे सूक्ष्मशरीरके द्वारा हितचिन्तन और विचार हो, चाहे कारणशरीरके द्वारा एकाग्रता और निर्विकल्प समाधि हो—ये सब-की-सब क्रियाएँ संसारकी हैं। इस वास्ते करनामात्र संसारके लिये ही है। करनामात्र संसारके लिये होनेसे योग अपने लिये होता है अर्थात् संसारसे जो सयोग मान रखा है (वह सम्बन्ध चाहे स्थूल-शरीरसे हो, चाहे सूक्ष्म-शरीरसे हो और चाहे कारणशरीरसे हो), उससे सर्वथा भिन्न अपने स्वरूपके साथ अपने स्वतःसिद्ध नित्ययोगका अनुभव हो जाता है—

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।

(गीता ६। २३)

ज्ञानयोग

जो कुछ क्रिया और पदार्थ हैं, वे केवल प्रकृतिके ही हैं। उनके साथ स्वरूपका किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध न हुआ, न है, न होगा और न हो ही सकता है; क्योंकि अपना स्वरूप नित्य-निरन्तर एकरूप रहनेवाला है और प्रकृति तथा प्रकृतिका कार्य निरन्तर क्रियाशील है। प्रकृतिकी क्रियाशीलता सर्ग और महासर्गमें तो प्रत्यक्ष है, पर प्रलय और महाप्रलयमें भी इसकी क्रियाशीलता मिटती नहीं, सूक्ष्मरूपसे चलती ही रहती है। सर्ग और महासर्गका आधा समय

बीतनेपर प्रकृति प्रलय और महाप्रलयकी तरफ जाती है तथा प्रलय और महाप्रलयका आधा समय बीतनेपर प्रकृति सर्ग और महासर्गकी तरफ जाती है। इस परिवर्तनशील प्रकृतिके एक क्षुद्र अंश शरीरको अपना मान लेना ही बन्धन है और अपना न मानकर परिवर्तनरहित स्वतःसिद्ध स्वरूपमें स्थित रहना ही मुक्ति है।

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥

(२।१२)

'तू, मैं और ये राजालोग—हम सब स्वयं पहले नहीं थे, यह बात नहीं अर्थात् जरूर थे, और इसके बाद शरीर आदि दृश्यमात्र मिटनेपर हम सब तत्त्वसे नहीं रहेंगे, यह बात भी नहीं अर्थात् जरूर रहेंगे।'

भाव यह हुआ कि चेतन तत्त्वकी नित्यता, निर्विकारिता स्वतः-सिद्ध है और शरीर तथा संसारकी अनित्यता, विकारिता प्रत्यक्ष देखनेमें आती है। इस वास्ते अपना स्वरूप विकारी नहीं हो सकता। कारण कि अगर यह विकारी और परिवर्तनशील होता तो शरीर और संसारके विकार और परिवर्तनको कौन जानता? जो विकार और परिवर्तनको स्पष्टरीतिसे जानता है, वह खुद विकारी और परिवर्तनशील कैसे हो सकता है?

यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना आदि जो कुछ भी प्राकृत सामग्री है, वह पहले

हमारे साथ नहीं थी, आगे भी हमारे साथ रहेगी नहीं और अभी वर्तमानमें भी उसका प्रतिक्षण वियोग होता चला जा रहा है। तात्पर्य है कि भावरूपसे दीखनेवाला मात्र संसार (वह समष्टि हो या व्यष्टि) अभावमें जा रहा है। जो अभावरूपसे था और अभावमें जा रहा है, उसकी स्वतन्त्र सत्ता कैसे हो सकती है ? सत्ता तो केवल सत्य-तत्त्वकी ही है, जो सबका आश्रय तथा प्रकाशक है। उसीसे परिवर्तनशील पदार्थ सत्ता पा रहे हैं।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(गीता २। १६)

'असत्‌की तो सत्ता नहीं होती और सत्‌का कभी अभाव नहीं होता।'

ऐसी अपनी स्वतःसिद्ध सत्यरूप सत्ताका, जो कि असत्यरूप सत्तासे सर्वथा निर्लिप्त है, साक्षात् ठीक अनुभव कर लेना ही ज्ञानयोगकी पूर्णता है।

भक्तियोग

जब कर्मयोग और ज्ञानयोग—ये दोनो एक होकर पूर्ण हो जाते हैं, तो करना और जानना बाकी कुछ नहीं रहता तथा सङ्ग और परतन्त्रताका लेश भी नहीं रहता। पर इस असङ्गता और स्वतन्त्रतामें भी सन्तुष्ट न होनेसे भगवत्तत्त्वकी तरफ स्वतः आकर्षण होता है—यह भक्तियोग है अर्थात् अपने-आपको और उस असङ्गता तथा स्वतन्त्रताको प्रभु-चरणोंमें सर्वथा समर्पित कर देना भक्तियोग है। इसको भगवन्निष्ठा, भगवत्प्रेम आदि भी कहते हैं।

इसमें भोग और बन्धनका सर्वथा त्याग है [भोगका त्याग कर्मयोग है और बन्धनका त्याग ज्ञानयोग है]।

भक्ति नाम प्रेमका है और वह प्रेम अपनेपनसे होता है। वह असली अपनापन सासारिक पदार्थोंसे माने हुए नकली अपनेपनके त्यागसे प्रकट होता है, क्योंकि माने हुए अपनेपनसे ही वह ढका हुआ है।

यह जीवात्मा स्वयं परमात्माका अंश होनेसे स्वतः परमात्माका ही है (१५ । ७) और शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण आदि जो कुछ सामग्री हमारेको मिली है, वह सब प्रकृतिकी है और प्रकृति परमात्माकी है (गीता ७ । ४)। इस वास्ते अपने-आपको और मिली हुई सम्पूर्ण सामग्रीको परमात्माके ही समर्पित कर देना है। ऐसा करनेसे परमात्मतत्त्वसे जो स्वतःसिद्ध प्रेम है, वह जाग्रत् हो जाता है, जिससे कुछ भी पाना बाकी नहीं रहता।

अगर यह भक्तियोग आरम्भसे ही किया जाय तो कर्मयोग और ज्ञानयोग स्वतः ही सिद्ध हो जाते है; क्योंकि ये तीनो ही योग आपसमें एकता रखते है।

अधिकारी

जो अत्यन्त विरक्त है, वे 'ज्ञानयोग' के अधिकारी होते हैं; जो न अत्यन्त विरक्त है और न अत्यन्त आसक्त है, वे 'भक्तियोग'के अधिकारी होते है, और जिनके ज्ञान और भक्तिके संस्कार बहुत कम है तथा जो भोगो और कर्मोंमें आसक्तिवाले है, पर उस आसक्तिसे छूटकर अपना कल्याण करना चाहते है, वे 'कर्मयोग'के अधिकारी होते है। इन तीनो साधनोमेंसे जो एकका

अधिकारी होता है, उसके साथ दूसरे दोन साधन भी रहते हैं अर्थात् एक साधन मुख्य रहता है और दूसरे साधन गौण रहते है। जैसे, जो 'ज्ञानयोग'का अधिकारी होता है, उसके भीतर भी ऐसी श्रद्धा और विश्वास रहता है कि कोई तत्त्व है, तभी वह उसकी खोज करता है—यह भक्तियोग हुआ, और उस खोजमे संसारसे विमुख होना पडता है—यह कर्मयोग हुआ। जो 'भक्तियोग'का अधिकारी होता है, वह भगवान्‌के सम्मुख होकर उसके प्रेमको प्राप्त करना चाहता है, जिसके लिये वह संसारसे विमुख होता है—यह कर्मयोग हुआ, और संसारसे निर्लिप्त होकर चलता है—यह ज्ञानयोग हुआ। जो 'कर्मयोग'का अधिकारी होता है, उसका नित्य-तत्त्वपर विश्वास होता है—यह भक्तियोग हुआ, और मै तत्त्वकी प्राप्ति करनेवाला हूँ—ऐसे अपनेको संसारसे अलग मानता है—यह ज्ञानयोग हुआ। इस प्रकार तीनोमे तीनो आ जाते हैं। परंतु एक समयमें एक व्यक्तिके द्वारा तीनोंका एक साथ अनुष्ठान नहीं होता। इस वास्ते मुख्यतासे एक योगका ही अनुष्ठान होता है और उसकी पूर्णता होनेपर कृतकृत्यता, ज्ञातज्ञातव्यता और प्राप्त-प्राप्तव्यता—तीनो स्वतः हो जाती है।

जो पुरुष कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इनको नहीं समझ सकते, वे जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ, भगवत्प्रेमी महापुरुषोकी आज्ञाके परायण हो जाते है अर्थात् जो वे कहे, उस काममे श्रद्धा-भक्ति एवं तत्परतापूर्वक लग जाते हैं, तो वे भी मृत्युसे तर जाते हैं—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥
(गीता १३ । २५)

गीताकी दो निष्ठाएँ

गीतामे दो निष्ठाएँ बतायी गयी हैं—सांख्यनिष्ठा अर्थात् ज्ञानयोग और योगनिष्ठा अर्थात् कर्मयोग—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥
(३ । ३)

'हे अर्जुन ! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गयी है । उनमेसे साख्ययोगियोंकी निष्ठा तो ज्ञानयोगसे और योगियोंकी निष्ठा कर्मयोगसे होती है ।'

इन्हीं दो निष्ठाओके विषयमें अर्जुनने भगवान्‌से पूछा कि आप 'कर्मोंके संन्यास (ज्ञानयोग)की और फिर कर्मयोगकी प्रशंसा करते हैं, तो इन दोनोमे श्रेयकारक कौन है ? (गीता ५ । १) तो भगवान्‌ने कहा कि ये दोनों ही कल्याण करनेवाले हैं—**'निःश्रेयसकरावुभौ'** (गीता ५ । २) । फिर भगवान्‌ने कहा कि ज्ञानयोग और कर्मयोगको फलमें अलग-अलग कहनेवाले बालक हैं । समझदार पण्डितलोग उनके फलमे भिन्नता नहीं बताते; क्योकि इन दोनोंमेंसे एकमें भी अच्छी तरहसे स्थित हो जाय अर्थात् अच्छी तरहसे अनुष्ठान कर ले, तो वह दोनोके फलरूप तत्त्वको प्राप्त कर लेता है । ज्ञानयोगियोके द्वारा जो स्थान प्राप्त किया जाता है अर्थात् सांख्य-निष्ठाका जो वास्तविक फल है, वही कर्मयोगियोंके द्वारा भी प्राप्त

किया जाता है । इस रीतिसे जो सांख्य और योगको परिणाममें एक देखता है, वही यथार्थरूपसे देखता है (गीता ५ । ४-५) । यद्यपि इनमे किसी योगके लिये किसी योगकी पराधीनता नहीं है, फिर भी ज्ञानयोगके लिये कर्मयोग आवश्यक है । बिना कर्मयोगके सांख्यनिष्ठा प्राप्त होनी कठिन है; पर कर्मयोगी जल्दी ही स्वतन्त्रता-पूर्वक ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है (गीता ५ । ६) ।

जैसे लोकमे दो तरहकी निष्ठाएँ है—**'लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा'**, ऐसे ही लोकमें दो तरहके पुरुष हैं—**'द्वाविमौ पुरुषौ लोके'** (गीता १५ । १६) । वे हैं—क्षर (नाशवान्) और अक्षर (अविनाशी) । चाहे क्षरको क्षरमे लगा दे, जो कर्मयोग है, और चाहे अक्षरमें स्थित होकर क्षरका त्याग कर दे, जो ज्ञानयोग है । परंतु क्षर और अक्षर—इन दोनोसे उत्तम पुरुष (परमात्मा) विलक्षण है—**'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः'** (गीता १५ । १७) । वह क्षरसे तो सदा-सर्वथा अलग रहनेवाला है और अक्षर (जीवात्मा) से भी उत्तम है । लोक और वेदमें वह उत्तम पुरुष ही 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध है (गीता १५ । १९) । ऐसे परमात्माके सर्वथा सर्वभावसे शरण हो जाना 'भगवन्निष्ठा' अर्थात् भक्तियोग है ।

सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठा—ये दोनो निष्ठाएँ लौकिक है;क्योंकि ये दोनो साधकोंकी निष्ठाएँ हैं। क्षरकी प्रधानतासे कर्मयोग चलता है और अक्षरकी प्रधानतासे ज्ञानयोग चलता है । परन्तु भगवन्निष्ठा अलौकिक हैं, लौकिक नहीं है; क्योकि यह साधककी निष्ठा नहीं है । इस वास्ते उत्तम पुरुष—परमात्माकी प्रधानतासे भक्तियोग चलता है । तात्पर्य

यह है कि भगवन्निष्ठा सांख्य और योग—दोनों निष्ठाओंसे अलग है; क्योंकि यह निष्ठा मनुष्योंकी अपनी नहीं है और साधन-साध्य भी नहीं है, प्रत्युत केवल भगवान् और उनकी कृपापर निर्भर है।

अठारहवाँ अध्याय गीताका सार क्यों ?

यह अठारहवाँ अध्याय पूरी गीताका साररूप है। इसमें भगवान्‌द्वारा पहले कहे हुए विषयोंका उपसंहार किया गया है, जिसमें तीन बातें विशेषतासे मालूम देती हैं—(१) पहले अध्यायों-में जो विषय संक्षेपसे कहा गया है, उसका यहाँ विस्तारसे उपसंहार किया गया है तथा (२) पहले अध्यायोंमें जो विषय विस्तारसे कहा गया है, उसका यहाँ संक्षेपसे उपसंहार किया गया है और (३) पहले अध्यायोंमें कहे हुए विषयोंको ही यहाँ प्रकारान्तरसे अर्थात् कुछ दूसरे ही प्रकारसे कहा गया है।

भगवान्‌के उपदेशमें मुख्यतासे दो निष्ठाओंका ही वर्णन हुआ है, जिनका भगवान्‌ने **'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु'** (२ । ३९) पदोंसे संक्षेपरूपसे और **'लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा' ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्'** (३ । ३) पदोंसे स्पष्टरूपसे वर्णन किया है। उन्हीं दो निष्ठाओंको तत्त्वसे जाननेके लिये अर्जुनने अठारहवें अध्यायके आरम्भमें प्रश्न किया। इस वास्ते उन्हीं दो निष्ठाओंमें आये हुए विषयोंका इस अठारहवें अध्यायमें संक्षेपसे, विस्तारसे अथवा प्रकारान्तरसे उपसंहार किया गया है।

जिस भगवद्भक्तिका सातवेंसे वारहवे अध्यायतक विशेषतासे वर्णन हुआ है, वह भगवान्‌के अपने हृदयकी वात है और दोनो निष्ठाओसे विलक्षण है। वह साङ्ख्यनिष्ठा या योगनिष्ठा नहीं है, प्रत्युत भगवन्निष्ठा है, जिसमे केवल भगवत्परायणता है। इसी भगवन्निष्ठाके वर्णनमें भगवान्‌ने अपने उपदेशका उपसहार किया है।

दूसरे अध्यायके उन्तालीसवे श्लोकसे लेकर अध्यायकी समाप्तितक कर्मप्रधान कर्मयोगका वर्णन हुआ है। फिर तीसरे अध्यायमे भी प्रधानतासे उसीका वर्णन हुआ है। दूसरे अध्यायके इकसठवे श्लोकमे 'मत्परः' पद भगवान्‌की परायणताके लिये आया है, उसीको तीसरे अध्यायके तीसवें श्लोकमे थोड़ा विस्तारसे कह दिया। इस प्रकार कर्मप्रधान कर्मयोगमें उपासनाका भी थोड़ा साथ हुआ है। चौथे अध्यायमें भगवान्‌ने कर्मयोगकी परम्परा बताते हुए अपने जन्मों और कर्मोंका तत्त्व बताया और अपने कर्मोंको आदर्श बताते हुए कर्मयोगका वर्णन किया। फिर पॉचवे अध्यायमें उसी कर्मयोग और सांख्ययोगकी बारी-बारीसे (एक बार कर्मयोगकी और एक बार सांख्ययोगकी) चर्चा की और अन्तमें भक्तिका विवेचन करते हुए अध्यायकी समाप्ति की। इस प्रकार दूसरे अध्यायसे पॉचवे अध्यायकी समाप्तितक कर्मप्रधान कर्मयोगका वर्णन हुआ है, उसीको अठारहवे अध्यायके चौथेसे बारहवें श्लोकतक प्रकारान्तरसे कहा गया है।

पॉचवे अध्यायके तेरहवेसे सोलहवे श्लोकतक और तेरहवे अध्यायके उन्नीसवेंसे चौंतीसवे श्लोकतक विचार-प्रधान सांख्ययोगका

वर्णन हुआ है, उसीका अठारहवे अध्यायके तेरहवेसे अठारहवें श्लोकतक प्रकारान्तरसे वर्णन किया गया है ।

तीसरे, चौथे, पॉचवे और छठे अध्यायोमें भक्तिमिश्रित कर्म-योगका जो वर्णन हुआ है, उसीका अठारहवे अध्यायके इकतालीसवेसे अड़तालीसवे श्लोकतक प्रकारान्तरसे वर्णन किया गया है ।

छठे अध्यायके चौवीसवे-पचीसवे श्लोकोमें ध्यानप्रधान साख्ययोगका वर्णन हुआ है, उसीको अठारहवे अध्यायके उन्चासवेसे पचपनवे श्लोकतक प्रकारान्तरसे कहा गया है ।

सातवे अध्यायसे लेकर वारहवे अध्यायतक भक्तियोगका जो विस्तारसे वर्णन हुआ है, उसीका अठारहवे अध्यायके छप्पनवेसे छाछठवे श्लोकतक पहलेकी अपेक्षा कुछ संक्षेपसे और कुछ प्रकारान्तरसे वर्णन हुआ है ।

चौथे अध्यायके तेरहवे श्लोकमे चारो वर्णोंका जो विषय संक्षेपसे कहा गया था, उसीको अठारहवें अध्यायके इकतालीसवेंसे चौवालीसवें श्लोकतक विस्तारसे कहा गया है । यहॉ (१८ । ४१–४४ में) सत्रहवे अध्यायके दूसरे-तीसरे श्लोकोमें आयी स्वभावजा श्रद्धाका भी उपसंहार माना जा सकता है ।

भगवान्ने गीतामें सांख्ययोगका वर्णन करते हुए कहीं कहा कि प्रकृतिके द्वारा ही सव कर्म किये जाते हैं (३ । २७, १३ । २९), कहीं कहा कि गुण ही गुणोंमें वरतते है (३ । २८), कहीं कहा कि द्रष्टा गुणोके सिवाय अन्यको कर्ता नहीं देखता

(१४ । १९) और कहीं कहा कि इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके अर्थों-(विषयों-) में बरतती है (५ । ९) इत्यादि । उसीका अठारहवें अध्यायके तेरहवेसे अठारहवे श्लोकतक संक्षेपसे और प्रकारान्तरसे वर्णन हुआ है ।

सातवें अध्यायके बारहवे श्लोकमें और चौदहवे अध्यायके पाँचवेसे अठारहवे श्लोकतक जो गुणोंका वर्णन हुआ है, उसीको अठारहवें अध्यायके बीसवेसे चालीसवे श्लोकतक विस्तारसे और प्रकारान्तरसे कहा गया है ।

छठे और आठवे अध्यायमे जो ध्यानका विस्तारसे वर्णन हुआ है, उसीका अठारहवे अध्यायके इक्यावनवेसे तिरपनवे श्लोक-तक प्रकारान्तरसे और संक्षेपसे वर्णन हुआ है । यहाँ (१८ । ५१—५३ में) तेरहवे अध्यायके सातवेसे ग्यारहवे श्लोकतक वर्णित ज्ञानयोगके बीस साधनोंका उपसंहार माना जा सकता है ।

तीसरे अध्यायके इकतीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने अपने जिस मतका वर्णन किया था, उसीका अठारहवे अध्यायके छठे श्लोकमें वर्णन हुआ है ।

सातवे अध्यायके आठवेसे बारहवे श्लोकतक, नवे अध्यायके सोलहवेसे उन्नीसवे श्लोकतक, दसवे अध्यायके बीसवेसे अड़तीसवें श्लोकतक और पन्द्रहवे अध्यायके बारहवेंसे पन्द्रहवे श्लोकतक जिन विभूतियोंका भगवान्‌ने वर्णन किया, उन्हींका अठारहवें अध्यायके अठहत्तरवे श्लोकमें संजयने संक्षेपसे उपसंहार किया है ।

ग्यारहवे अध्यायमें भगवान्‌के विश्वरूपका जो वर्णन हुआ, उसीका अठारहवे अध्यायके सतहत्तरवें श्लोकमें संजयने स्मृतिरूपसे वर्णन करते हुए सक्षेपसे उपसंहार किया है ।

तीसरे अध्यायके इकतीसवे श्लोकमे, चौथे अध्यायके उन्तालीसवे श्लोकमे और सत्रहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें जिस श्रद्धाका वर्णन हुआ है, उसीका अठारहवे अध्यायके इकहत्तरवे श्लोकमें भगवान् सक्षेपसे वर्णन करते हैं ।

दूसरे अध्यायके इकतीसवेसे अड़तीसवे श्लोकतक जिस क्षात्र-धर्मका वर्णन हुआ है, उसीका अठारहवे अध्यायके तैतालीसवें श्लोकमें संक्षेपसे वर्णन हुआ है ।

तीसरे अध्यायके तैंतीसवे श्लोकमें जिस स्वभावकी परवशता बतायी गयी है, उसीका अठारहवे अध्यायके उनसठवे-साठवे श्लोकोंमें उपसंहार किया गया है ।

पहले अध्यायके इकतीसवेंसे छियालीसवे श्लोकतक जिस मोहकी बात आयी है, उसीका अठारहवे अध्यायके सातवें, साठवे, बहत्तरवें और तिहत्तरवे श्लोकोंमें संक्षेपसे उपसंहार हुआ है ।

दूसरे अध्यायके पचपनवेसे बहत्तरवे श्लोकतक स्थितप्रज्ञके जिन लक्षणोका वर्णन हुआ है, उन्हींका अठारहवे अध्यायके दसवे-ग्यारहवे श्लोकोमें सक्षेपसे उपसहार हुआ है ।

आठवे अध्यायमें अन्तकालके जो स्मरणकी बात आयी है, उसीका अठारहवे अध्यायके सत्तावनवे, अट्ठावनवे और पैंसठवे श्लोकोंमें सक्षेपसे उपसंहार किया गया है ।

सोलहवें अध्यायके पहलेसे तीसरे श्लोकतक जिस दैवी-सम्पत्तिके लक्षणोंका विस्तारसे वर्णन हुआ है, उन्हीं लक्षणोंका अठारहवें अध्यायके बयालीसवेंसे चौवालीसवें श्लोकतक वर्णधर्मके नामसे संक्षेपसे वर्णन करते हैं।

सोलहवें अध्यायके सातवेंसे बीसवें श्लोकतक जिस आसुरी-सम्पत्तिका विस्तारसे वर्णन हुआ है, उसीका अठारहवें अध्यायके सड़सठवें श्लोकमें गीताश्रवणके अनधिकारीका वर्णन करते हुए संक्षेपसे वर्णन हुआ है।

चौथे अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें जिस स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञकी बात आयी है, उसीका अठारहवें अध्यायके सत्तरवें श्लोकमें **'ज्ञानयज्ञेन'** पदसे उपसंहार हुआ है।

दूसरे अध्यायके ग्यारहवेंसे तीसवें श्लोकतक जिस शोकका निषेध किया है, उसीका अठारहवें अध्यायके छाछठवें श्लोकमें **'मा शुचः'** पदसे उपसंहार हुआ है।

इस प्रकार यह अठारहवाँ अध्याय भगवद्गीताका सार है। इस अध्यायका ठीक मनन करनेसे भगवद्गीताका सार समझमें आ जाता है।

सब ग्रन्थोंका सार है वेद, वेदोंका सार है उपनिषद्, उपनिषदों-का सार है भगवद्गीता और भगवद्गीताका सार है सर्वगुह्यतम तत्त्व अर्थात् सगुण भगवान्‌की शरणागति, जिसका वर्णन अठारहवें अध्यायके छाछठवें श्लोकमें हुआ है।

इस व्याख्याका प्रयोजन

अनेक सन्त-महापुरुषोंके सङ्ग और वचनोंसे हमें गीताके भावोंको समझनेमें बहुत मदद मिली है। गीताके मार्मिक भावोंका अपनेको बोध हो जाय तथा और कोई मनन करे तो उसको भी लाभ हो जाय, इससे गीताकी व्याख्या करनेकी प्रवृत्ति हुई है। व्याख्या करनेसे हमे बहुत आध्यात्मिक लाभ हुआ है और गीताके विषयका बहुत स्पष्ट बोध भी हुआ है। इतना ही नहीं, इस व्याख्याके लिखनेमें गीताका अभ्यास और मनन करनेवाले जिन सज्जनोंसे हमे अमूल्य सहायता मिली है और इस कार्यमें जिनकी प्रेरणा रही है, उनको भी दृष्ट अथवा अदृष्टरूपसे आध्यात्मिक लाभ हुआ है। दूसरे भाई-बहन भी यदि इसका मनन करेंगे तो उनको भी आध्यात्मिक लाभ अवश्य होगा—ऐसी मेरी व्यक्तिगत धारणा है। और क्या होगा, क्या नहीं होगा—इसको भगवान् जाने, परंतु गीताका मनन-विचार करनेसे लाभ होता है—इसमें हमे कभी, किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं है।

विनीत—

स्वामी रामसुखदास

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

गीताका सार

[श्रीमद्भगवद्गीताके अठारहवें अध्यायकी व्याख्या]

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥
वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥

अथाष्टादशोऽध्यायः

सम्बन्ध—

श्रीभगवान्‌ने दूसरे अध्यायके उन्तालीसवें श्लोकमें 'एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।' पदोंसे जिस साङ्ख्ययोग और कर्मयोगकी बात कही है, उसीको तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें साङ्ख्यनिष्ठा और योगनिष्ठाके नामसे कहा है । उन दोनों निष्ठाओंके तत्त्वको अलग-अलग रूपसे ठीक जाननेकी इच्छा अर्जुनके मनमें थी । परतु जिस प्रकार भगवान्‌को सातवेंसे पन्द्रहवें अध्यायतक दैवी-सम्पत्ति और आसुरी-सम्पत्तिको कहनेका अवसर प्राप्त नहीं हुआ, उसी प्रकार अर्जुनको भी तीसरेसे सत्रहवें अध्यायतक उन दोनों निष्ठाओंके विषयमें अपनी जिज्ञासा प्रकट करनेका अवसर प्राप्त नहीं हुआ ।* सत्रहवें अध्यायके बाद अब अवसर प्राप्त होनेपर अर्जुन भगवान्‌के सामने अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हैं ।

---

* तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें दो निष्ठाओंको कहकर भगवान्‌ने चौथे अध्यायके पहले श्लोकमें बताया कि मैंने इस अविनाशी योगको सूर्यसे

कहा था। इसपर अर्जुनने प्रश्न किया कि आपका जन्म तो अभीका है, फिर आपने सृष्टिके आदिमें सूर्यको कैसे उपदेश दिया ? उत्तरमें भगवान्‌ने अपने अवतार और कर्मयोगके तत्त्वका वर्णन किया। चौथे अध्यायके ही चौंतीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनको ज्ञान प्राप्त करनेकी आज्ञा दी—'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया' और बयालीसवें श्लोकमें योगमें स्थित होनेकी आज्ञा दी—'छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥' इन दो अलग-अलग आज्ञाओंके कारण अर्जुनने पाँचवें अध्यायके आरम्भमें दोनोंमें अपने लिये एक निश्चित कल्याणकारक साधन पूछा। उसके उत्तरमें भगवान्‌ने पूरा पाँचवाँ अध्याय कहकर अपनी ओरसे ही छठा अध्याय आरम्भ किया।

छठे अध्यायके तैंतीसवें-चौंतीसवें श्लोकोंमें अर्जुनने मनकी चञ्चलताके विषयमें प्रश्न किया। उसका भगवान्‌ने बहुत संक्षेपसे उत्तर दिया। फिर अर्जुनने सैंतीसवेंसे उन्तालीसवें श्लोकतक योगभ्रष्ट पुरुषकी गतिके विषयमें प्रश्न किया। उसका उत्तर देते हुए भगवान्‌ने छठा अध्याय समाप्त किया। छठे अध्यायके अन्तिम श्लोकमें भगवान्‌ने अपने भक्तको सम्पूर्ण योगियोंमें परम श्रेष्ठ बताया। उसीको लेकर भगवान्‌ने सातवाँ अध्याय आरम्भ किया और उसमें भक्तिका विशेष वर्णन किया।

सातवें अध्यायके अन्तमें आये हुए ब्रह्म, अध्यात्म आदिको लेकर अर्जुनने आठवें अध्यायके आरम्भमें सात प्रश्न किये। उनमेंसे छः प्रश्नोंका उत्तर संक्षेपसे देकर अन्तकालीन गति विषयक सातवें प्रश्नके उत्तरमें भगवान्‌ने विस्तारपूर्वक आठवाँ अध्याय कहा। फिर सातवें अध्यायमें जो विषय छूट गया था, उसी विषयका वर्णन नवें अध्यायमें तथा दसवें अध्यायमें ग्यारहवें श्लोकतक किया। दसवें अध्यायके नवें, दसवें और ग्यारहवें श्लोकमें भक्त और उनपर कृपाकी बात सुनकर अर्जुन बहुत प्रसन्न हुए और प्रभावित भी हुए। अतः अर्जुनने बारहवेंसे अठारहवें श्लोकतक भगवान्‌की स्तुति की और अपनी विभूतियोंको विस्तारसे कहनेके

लिये प्रार्थना की । अपनी मुख्य-मुख्य विभूतियोंको कहते हुए भगवान्‌ने दसवें अध्यायके अन्तमें कहा कि हे अर्जुन ! तेरेको बहुत जाननेकी क्या जरूरत है ? मैं सम्पूर्ण संसारको अपने एक अंशमें व्याप्त करके स्थित हूँ । इसी बातको लेकर ग्यारहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने भगवान्‌से अपना विश्वरूप दिखानेके लिये प्रार्थना की । अपना विश्वरूप दिखाकर भगवान्‌ने ग्यारहवें अध्यायके अन्तमें कहा कि अनन्य भक्तिसे मेरा दर्शन, ज्ञान और मेरेमें प्रवेश—ये तीनों हो जाते हैं ।

ग्यारहवें अध्यायके अन्तमें भगवान्‌ने भक्तिकी महिमा कही और उससे पहले (४ । २४—३७; ५ । १७—२६; ६ । २४—२९ और ८ । ११—१३) निर्गुण-तत्त्वकी उपासनाकी महिमा कही । उन दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है ?—इस बातको अर्जुनने बारहवें अध्यायके आरम्भमें पूछा । उत्तरमें भगवान्‌ने बारहवें अध्यायमें भक्तिकी और तेरहवें-चौदहवें अध्यायोंमें निर्गुण-साधनाकी बात कही । चौदहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें अर्जुनने गुणातीतके लक्षण, आचरण और गुणातीत होनेका उपाय पूछा तो भगवान्‌ने गुणातीतके लक्षण और आचरण बताकर अपनी अव्यभिचारिणी भक्तिको गुणातीत होनेका उपाय बताया । उसी (अव्यभिचारिणी भक्ति-) के वर्णनमें भगवान्‌ने पन्द्रहवाँ अध्याय कहा । पन्द्रहवें अध्यायके अन्तमें 'स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत' पदोंसे यह बात कही कि दैवी-सम्पत्तिवाले पुरुष मेरा भजन करते हैं, और अर्थान्तरमें आसुरी-सम्पत्तिवाले पुरुष मेरा भजन नहीं करते । इससे पहले भी सातवें अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें और नवें अध्यायके बारहवें-तेरहवें श्लोकमें संकेतरूपसे दैवी और आसुरी-सम्पत्तिका वर्णन हुआ था । अतः दैवी और आसुरी-सम्पत्तिका विस्तारसे वर्णन करनेके लिये सोलहवें अध्यायका आरम्भ हुआ ।

श्लोक—

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥ *

सोलहवे अध्यायके उपान्त्य श्लोकको लेकर अर्जुनने सत्रहवे अध्यायके आरम्भमें निष्ठाके विषयमे प्रश्न किया । उत्तरमे भगवान्‌ने तीन प्रकारकी श्रद्धाका वर्णन करते हुए अध्यायको पूरा कर दिया । सत्रहवें अध्यायके बाद अब अर्जुन तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें कही दो निष्ठाओके तत्त्वको अलग-अलग स्पष्ट जाननेके लिये भगवान्‌के सामने अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हैं ।

* अर्जुनके इन दोनों प्रश्नोंके उत्तरमे भगवान्‌ने जो-जो बाते कही हैं, उनके आधारपर अर्जुनके मनमे आये अन्य प्रश्नोंका भी अनुमान लगाया जा सकता है, जो इस प्रकार है—

(क) सन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्—

(१) सन्यास किसको कहते हैं ?—

किसी भी कर्मके साथ कर्तापनका भाव न रहना और बुद्धिका कहीं भी लिप्त न होना सन्यास कहलाता है (१८ । १७) ।

(२) संन्यासके अवान्तर भेद कितने हैं ?—

विवेक-विचारप्रधान साख्ययोग (१८ । १३–४०) और ध्यान-प्रधान साख्ययोग (१८ । ४९–५५) ।

(३) उसका साधक कैसा होना चाहिये ?—

सात्त्विक होना चाहिये (१८ । २६) ।

(४) उसकी साधन-प्रणाली कैसी होनी चाहिये ?—

विचार-प्रधान साख्ययोग (१८ । १३–१७) और ध्यान-प्रधान साख्ययोग (१८ । ५१–५३) ।

(५) उसकी साधन-सामग्री कैसी होती है ?—

सात्त्विक बुद्धि और सात्त्विक धृति (१८ । ५१) ।

(६) संन्यासीके भाव कैसे होते हैं ?—

वह सम्पूर्ण विभक्त प्राणियोंमें विभागरहित एक परमात्मतत्त्वको देखता है (१८ । २०) ।

(७) संन्यासीके आचरण कैसे होते हैं ?—

कर्तृत्वाभिमान और राग-द्वेषसे रहित होकर कर्म करना (१८ । २३) ।

(८) सन्यासका फल क्या होता है ?—

न करता है और न बँधता है (१८ । १७), तथा तत्त्वमें प्रविष्ट हो जाता है (१८ । ५५) ।

(ख) त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन—

(१) त्याग किसे कहते हैं ?—

फल और आसक्तिका त्याग करके कर्तव्य-कर्म करना (१८ । ६) ।

(२) त्यागके कितने भेद हैं ?—

कर्मप्रधान कर्मयोग (१८ । ४–१२) और भक्ति-मिश्रित कर्मयोग (१८ । ४१–४८) ।

(३) त्यागी कैसा होना चाहिये ?—

न तो अकुशल कर्मसे द्वेष करता है और न कुशल कर्ममें आसक्त ही होता है (१८ । १०) ।

(४) त्यागका साधन कैसा होना चाहिये ?—

कर्मप्रधान कर्मयोगमे फल और आसक्तिका त्याग (१८ । ९) ।

तथा भक्तिमिश्रित कर्मयोगमे (पदार्थोंमें अपनेपनका त्याग करके) कर्मोंद्वारा परमात्माका पूजन करना (१८ । ४६) ।

(५) त्यागीके आचरण कैसे होने चाहिये ?—

अपने-अपने कर्मोंमें अभिरति (तत्परता) हो (१८ । ४५) ।

(६) त्यागीके भाव कैसे होने चाहिये ?—

कर्मप्रधान कर्मयोगमें तो कर्तव्यमात्र करना है (१८ । ९) और भक्तिमिश्रित कर्मयोगमें अपने लिये कुछ भी न करके सम्पूर्ण कर्मोंके द्वारा सर्वव्यापक भगवान्का पूजन करना है (१८ । ४६) ।

व्याख्या—

प्रश्न प्रायः दो प्रकारसे हुआ करता है—(१) अपने आचरणमें लानेके लिये और (२) सिद्धान्तको समझनेके लिये। जो केवल पढ़ाई करनेके लिये (सीखनेके लिये) सिद्धान्तको समझते हैं, वे केवल पुस्तकोंके विद्वान् बन सकते हैं और नयी पुस्तक भी बना सकते हैं, पर अपना कल्याण नहीं कर सकते।* अपना कल्याण तो वे ही कर सकते हैं, जो सिद्धान्तको समझकर उसके अनुसार अपना जीवन बनानेके लिये तत्पर हो जाते हैं।

यहाँ अर्जुनका प्रश्न भी केवल सिद्धान्तको जाननेके लिये ही नहीं है, प्रत्युत सिद्धान्तको जानकर उसके अनुसार अपना जीवन बनानेके लिये है। अर्जुन प्रश्न करते हैं कि हे महाबाहो! मैं संन्यासका तत्त्व जानना चाहता हूँ और हे हृषीकेश! हे केशिनिषूदन! मैं त्यागका भी तत्त्व जानना चाहता हूँ। तात्पर्य यह कि संन्यास और त्याग दोनोंका तत्त्व अलग-अलग जानना चाहता हूँ।

---

(७) त्यागका फल क्या होता है?—

परमात्माकी प्राप्ति (१८। ४९)।

(८) संन्यास और त्यागका आपसमें क्या भेद है?—

कर्म करते हुए भी कर्तृत्वाभिमान न होना 'संन्यास' है (१८। १७) और कर्म करते हुए भी उनसे निर्लिप्त रहना अर्थात् अपने लिये कुछ न करना 'त्याग' है (१८। १०-११)।

* असत्‌को असत् जाननेपर भी तबतक सत्‌की प्राप्ति नहीं होती, जबतक मनुष्य सत्‌की प्राप्तिको ही अपने जीवनका सर्वोपरि लक्ष्य नहीं बना लेता।

'एषा तेऽभिहिता सांख्ये' (गीता २ । ३९) में आये 'सांख्य' पदको ही यहाँ 'सन्यास' पदसे कहा गया है । भगवान्ने भी सांख्य और सन्यासको पर्यायवाची माना है; जैसे—पाँचवें अध्यायके दूसरे श्लोकमे 'सन्यास.', चौथे श्लोकमे 'सांख्ययोगो', पाँचवें श्लोकमें 'यत्सांख्यै' और छठे श्लोकमे 'सन्यासस्तु' पदोंका एक ही अर्थमे प्रयोग हुआ है । इस वास्ते यहाँ अर्जुनने सांख्यको ही संन्यास कहा है ।

इसी प्रकार **'बुद्धियोगे त्विमां शृणु'**, (गीता २ । ३९) में आये 'योग' पदको ही यहाँ 'त्याग' पदसे कहा गया है । भगवान्ने भी योग और त्यागको पर्यायवाची माना है: जैसे—दूसरे अध्यायके अड़तालीसवें श्लोकमें **'सङ्गं त्यक्त्वा'** तथा इक्यावनवे श्लोकमें **'फलं त्यक्त्वा,'** तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमे **'कर्मयोगेन योगिनाम्'**, चौथे अध्यायके बीसवें श्लोकमें **'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गम्'**, पाँचवें अध्यायके चौथे श्लोकमे 'योगौ', पाँचवे श्लोकमें **'तद्योगैरपि गम्यते'**, ग्यारहवे श्लोकमें **'सङ्गं त्यक्त्वा'** तथा बारहवे श्लोकमें **'कर्मफलं त्यक्त्वा'**, बारहवे अध्यायके बारहवे श्लोकमें **'त्यागात्'**, पदोंका एक ही अर्थमे प्रयोग हुआ है । इस वास्ते यहाँ अर्जुनने योगको ही त्याग कहा है ।

अच्छी तरहसे रखनेका नाम 'सन्यास' है—**'सम्यक् न्यासः संन्यासः'** । तात्पर्य यह कि प्रकृतिकी चीज सर्वथा प्रकृतिमें देने (छोड देने) और विवेकद्वारा प्रकृतिसे अपना सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर लेनेका नाम 'संन्यास' है ।

कर्म और फलकी आसक्तिको छोडनेका नाम 'त्याग' है। छठे अध्यायके चौथे श्लोकमें आया है कि जो कर्म और फलमें आसक्त नहीं होता, वह योगारूढ हो जाता है* ।

यहाँ 'महाबाहो' सम्बोधन सामर्थ्यका सूचक है । अर्जुनद्वारा इस सम्बोधनका प्रयोग करनेका भाव यह है कि आप सम्पूर्ण विषयोंको कहनेमें समर्थ हैं, इस वास्ते मेरे प्रश्नका उत्तर आप इस प्रकार दें, जिससे मैं विषयको सरलतासे समझ सकूँ ।

'हृषीकेश' सम्बोधन अन्तर्यामीका वाचक है । इसके प्रयोगमें अर्जुनका भाव यह है कि मैं संन्यास और त्यागका तत्त्व जानना चाहता हूँ, इस वास्ते इस विषयमें जो-जो आवश्यक बातें हों, उनको आप (मेरे पूछे बिना भी) कह दें ।

'केशिनिषूदन' सम्बोधन विघ्नोंको दूर करनेवालेका सूचक है । इसके प्रयोगमें अर्जुनका भाव यह है कि जिस प्रकार आप अपने भक्तोंके सम्पूर्ण विघ्नोंको दूर कर देते हैं, उसी प्रकार मेरे भी सम्पूर्ण विघ्नों अर्थात् शङ्काओं और संशयोंको दूर कर दें ।

सम्बन्ध—

अर्जुनकी जिज्ञासाके उत्तरमें पहले भगवान् दूसरे और तीसरे श्लोकमें अन्य दार्शनिक विद्वानोंके चार मत बताते हैं ।

---

* यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥

श्लोक—

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥
त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

व्याख्या—

दार्शनिक विद्वानोंके चार मत हैं—

१—**काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः**—कई विद्वान् कहते हैं कि काम्य कर्मोंके त्यागका नाम **'संन्यास'** है अर्थात् इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टकी निवृत्तिके लिये जो कर्म किये जाते हैं, उनका त्याग करनेका नाम **'संन्यास'** है ।

२—**सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः**—कई विद्वान् कहते हैं कि सम्पूर्ण कर्मोंके फलकी इच्छाका त्याग करनेका नाम **'त्याग'** है अर्थात् फल न चाहकर कर्तव्य-कर्मोंको करते रहनेका नाम **'त्याग'** है ।

३—**त्याज्यं दोष*वदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः**—कई विद्वान् कहते हैं कि सम्पूर्ण कर्मोंको दोषकी तरह छोड़ देना चाहिये ।

---

* 'दोषवत्' पद व्याकरणके 'वति' और 'मतुप्' दोनों प्रत्ययोंसे बनता है; परंतु दोनोंका अर्थ दो तरहका होता है । 'वति' प्रत्यय करनेसे यहाँ 'दोषवत्' पदका अर्थ होता है—कर्मोंको दोषकी तरह छोड़ देना चाहिये, और 'मतुप्' प्रत्यय करनेसे 'दोषवत्' पदका अर्थ होता है—दोषवाले कर्म छोड़ देने चाहिये । परंतु यहाँ 'वति' प्रत्ययका ही अर्थ लेना चाहिये, 'मतुप्' प्रत्ययका नहीं; क्योंकि 'मतुप्' प्रत्ययका अर्थ

४—यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे—अन्य विद्वान् कहते हैं कि अन्य सब कर्मोंको भले ही त्याग दें, पर यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये ।

उपर्युक्त चारों मतोंमें दो विभाग दिखायी देते हैं—पहला और तीसरा मत '**संन्यास**' (सांख्ययोग) का है तथा दूसरा और चौथा मत '**त्याग**' (कर्मयोग) का है । इन दो विभागोंमें भी थोड़ा-थोड़ा अन्तर है । पहले मतमें केवल काम्य-कर्मोंका त्याग है और तीसरे मतमें कर्ममात्रका त्याग है । ऐसे ही दूसरे मतमें कर्मोंके फलका त्याग है और चौथे मतमें यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंके त्यागका निषेध है ।

दार्शनिकोंके उपर्युक्त चार मतोंमें क्या-क्या कमियाँ हैं और उनकी अपेक्षा भगवान्‌के मतमें क्या-क्या विलक्षणताएँ हैं, इसका विवेचन इस प्रकार है—

१—'काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासम्'—संन्यासके इस पहले मतमें केवल काम्य कर्मों*का त्याग बताया गया है; परंतु इसके

भगवान्‌के मतके अनुसार है (गीता १८ । ४८), दार्शनिकोंके मतके अनुसार नहीं ।

दूसरा अन्तर यह है कि 'वति' प्रत्यय अव्यय बनकर क्रियाका विशेषण होता है, और 'मतुप्' प्रत्यय कर्ता और कर्मका विशेषण बनता है ।

* कर्म पाँच प्रकारके होते हैं—

(१) नित्य-कर्म—शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार प्रतिदिन जो आवश्यक दैनिक कर्म किये जाते हैं, उनको 'नित्य-कर्म' कहते हैं; जैसे—संध्या, गायत्री आदि ।

(२) **नैमित्तिक कर्म**—देश, काल, परिस्थिति आदि किसी निमित्तको लेकर जो कर्म किये जाते हैं, उनको नैमित्तिक-कर्म कहते है—जैसे—गङ्गा प्रयाग, नैमिषारण्य, पुष्कर आदि तीर्थोंमे जाकर जो शास्त्र-विहित कर्म किये जाते हैं, वे 'देशकृत नैमित्तिक कर्म' हैं, एकादशी, पूर्णिमा, अमावस्या, व्यतिपात, ग्रहण, होली, दीपावली, अक्षयतृतीया आदिके समय जो शास्त्रविहित कर्म किये जाते हैं, वे 'कालकृत नैमित्तिक कर्म' हैं; पुत्रके उत्पन्न होनेपर, पुत्र या पुत्रीका विवाह होनेपर, किसीकी मृत्यु होनेपर, सन्त-महात्माओंका सत्सङ्ग मिलनेपर जो शास्त्रविहित कर्म किये जाते हैं, वे 'परिस्थितिकृत नैमित्तिक कर्म' हैं।

(३) **काम्य-कर्म**—हमारा मान-सम्मान हो जाय, लोगोंमे हमारी प्रसिद्धि हो जाय, हमारा पुत्र हो जाय, हमें बहुत-साधन मिल जाय, हमारी मनचाही हो जाय आदि इष्टकी प्राप्तिके लिये, और हमारा रोग मिट जाय, आफत मिट जाय, कर्जा दूर हो जाय आदि अनिष्टकी निवृत्तिके लिये जो शास्त्रीय अनुष्ठान किये जाते हैं, वे सब 'काम्य कर्म' कहलाते हैं।

(४) **प्रायश्चित्त कर्म**—हमारे द्वारा बने हुए पापोंको दूर करनेके लिये जो कर्म किये जाते हैं, वे सब 'प्रायश्चित्त कर्म' कहलाते हैं। इसके दो भेद हैं—विशेष प्रायश्चित्त और सामान्य प्रायश्चित्त। जैसे किसीके हाथसे चूहा, बिल्ली, कबूतर आदि मर जाय तो इन ज्ञात पापोंको दूर करनेके लिये धर्मसिन्धु, निर्णयसिन्धु आदि धर्म-ग्रन्थोंमे बताये गये प्रायश्चित्त कर्मोंका अनुष्ठान करना 'विशेष प्रायश्चित कर्म' कहलाते हैं, और ज्ञात-अज्ञात सब पापोंको दूर करनेके लिये गङ्गास्नान, एकादशीव्रत, नामजप, सेवा आदि जो शुभ-कर्म किये जाते हैं, वे 'सामान्य प्रायश्चित्त कर्म' कहलाते हैं।

(५) **आवश्यक कर्तव्य-कर्म**—खेती, व्यापार, नौकरी आदि जीविकाके लिये और खाना-पीना, सोना-जागना आदि शरीरके लिये जो कर्म किये जाते हैं, वे 'आवश्यक कर्तव्य-कर्म' कहलाते हैं।

अलावा भी नित्य, नैमित्तिक आदि आवश्यक कर्तव्य-कर्म बाकी रह जाते हैं। अतः यह मत पूर्ण नहीं है; क्योंकि इसमे न तो कर्तृत्वका त्याग बताया है और न स्वरूपमे स्थिति ही बतायी है। परंतु भगवान्‌के मतमें कर्मोंमें कर्तृत्वाभिमान नहीं रहता और स्वरूपमे स्थिति हो जाती है। जैसे, सोलहवें श्लोकमें **'तत्रैवं सति'** पदोंसे कर्तृत्वाभिमान-का निषेध करके और **'केवलम्'** पदसे स्वरूपमें स्थिति बतायी गयी है।

२—**'त्याज्यं दोषवदित्येके'**—संन्यासके इस दूसरे मतमें सब कर्मोंको दोषकी तरह छोडनेकी बात है। परंतु सम्पूर्ण कर्मोंका त्याग कोई कर ही नहीं सकता* और कर्ममात्रका त्याग करनेसे कोई जीवित भी नहीं रह सकता†। इस वास्ते भगवान्‌के मतमें कहा गया है कि यदि कर्तृत्वाभिमान न हो और बुद्धिमें लेप न हो, तो वह न कुछ करता है और न बँधता है अर्थात् मुक्त हो जाता है (१८।१७)।

३—**'सर्वकर्मफलत्यागम्'**—त्यागके इस पहले मतमें केवल फलका त्याग बताया है। यहाँ फल-त्यागके अन्तर्गत केवल कामनाके त्यागकी ही बात आयी है ‡। ममता-आसक्तिके त्यागकी बात इसके

---

* न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। (गीता ३।५)

† शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ (गीता ३।८)

‡ जहाँ फलके त्यागकी बात कही गयी है, वहाँ फलकी कामनाका त्याग ही समझना चाहिये, क्योंकि फलका त्याग हो ही नहीं सकता। यह नियम है कि प्रत्येक कर्म फलके रूपमे परिणत होता है। जैसे, कोई खेती करता है तो वह अनाजका त्याग कैसे करेगा? व्यापार करता है तो मुनाफेका त्याग कैसे करेगा? जैसे अनाज होना खेतीका फल है, वैसे ही अनाज न होना भी खेतीका फल है। जैसे मुनाफा होना व्यापारका फल

अन्तर्गत नहीं ले सकते; क्योंकि ऐसा लेनेपर दार्शनिकों और भगवान्के मतोंमें कोई अन्तर नहीं रहेगा। भगवान्के मतमें कर्मकी आसक्ति और फलकी आसक्ति-दोनोंके त्यागकी ही बात आयी है—**'सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च'** (गीता १८ । ६) ।

४—**'यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यम्'**—त्याग अर्थात् कर्मयोगके इस दूसरे मतमें यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंका त्याग न करनेकी बात है। परंतु इन तीनोंके अलावा वर्ण, आश्रम, परिस्थिति आदिको लेकर जितने कर्म आते हैं, उनको करने अथवा न करनेके विषयमें कुछ नहीं कहा गया है, यह इसमें अधूरापन है। भगवान्के मतमें इन कर्मोंका केवल त्याग ही नहीं करना चाहिये, प्रत्युत इनको न करते हो, तो जरूर करना चाहिये; क्योंकि इनमेंसे प्रत्येक कर्म मनीषियोंको पवित्र करनेवाला है। साथ ही भगवान्ने **'चैव'** पदसे यज्ञ, दान और तपके साथ-साथ तीर्थ, व्रत आदिका भी ग्रहण किया है (गीता १८ । ५) ।

सम्बन्ध—

पहले दो श्लोकोंमें दार्शनिक विद्वानोंके चार मत बतानेके बाद अब भगवान् अगले तीन श्लोकोंमें पहले त्यागके विषयमें अपना मत बताते हैं।

है, वैसे ही घाटा होना भी व्यापारका फल है। इसी वास्ते भगवान्ने सिद्धि और असिद्धि दोनोंमें सम रहनेको योग अर्थात् समता कहा है 'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते' (गीता २ । ४८)। क्योंकि सिद्धि और असिद्धि दोनों कर्मका फल है। सिद्धि और असिद्धिमें सम रहनेका तात्पर्य है—कर्मफलमें ममता-आसक्ति न करना अथवा कर्मफलसे अपना सम्बन्ध न जोड़ना।

श्लोक—

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥*

व्याख्या—

'निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम'—हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! अब मैं संन्यास और त्याग—दोनोंमेंसे पहले त्यागके विषयमें मेरा मत कहता हूँ, उसको तुम सुनो† ।

---

* इस श्लोकके पूर्वार्द्धकी व्याख्याके रूपमें भगवान्‌ने पाँचवें और छठे श्लोकमें अपना मत बताया, और उत्तरार्द्धकी व्याख्याके रूपमें सातवेंसे नवें श्लोकतक तीन प्रकारके त्यागका वर्णन किया है।

† इस अठारहवें अध्यायमें सांख्ययोग और कर्मयोग—दोनों योग दो-दो प्रकारसे आये हैं—विचारप्रधान सांख्ययोग और ध्यानप्रधान सांख्ययोग तथा कर्मप्रधान कर्मयोग और भक्तिमिश्रित कर्मयोग। अर्जुनकी जिज्ञासाके अनुसार पहले नम्बरमें विचारप्रधान सांख्ययोग, दूसरे नम्बरमें कर्मप्रधान कर्मयोग, तीसरे नम्बरमें ध्यानप्रधान सांख्ययोग, चौथे नम्बरमें भक्तिमिश्रित कर्मयोग और पाँचवें नम्बरमें शरणागति (भक्तियोग) का वर्णन करना चाहिये था। परन्तु भगवान्‌ने ऐसा क्रम न देकर पहले नम्बरमें कर्मप्रधान कर्मयोग (१८। ४-१२), दूसरे नम्बरमें विचारप्रधान सांख्ययोग (१८। १३-४०), तीसरे नम्बरमें भक्तिमिश्रित कर्मयोग (१८। ४१-४८) और चौथे नम्बरमें ध्यानप्रधान सांख्ययोग (१८। ४९-५५) का वर्णन करके फिर पाँचवें नम्बरमें शरणागति (१८। ५६-६६)का वर्णन किया है। इसका कारण यह है कि भगवान् सांख्ययोगकी अपेक्षा भक्तियोगकी विशेष महिमा कहना चाहते हैं कि सांख्ययोगमें सम्पूर्ण कर्मोंका त्याग करके एकान्तमें ध्यान करनेसे जो तत्त्व प्राप्त होता है, वही तत्त्व भक्तियोगमें भगवान्‌का आश्रय लेकर सदा सब काम करते हुए भी प्राप्त हो जाता है (१८। ५६)।

'त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः'—हे पुरुषव्याघ्र ! त्याग तीन तरहका कहा गया है—सात्त्विक, राजस और तामस। वास्तवमें भगवान्‌के मतमें सात्त्विक त्याग ही 'त्याग' है; परंतु उसके साथ राजसी और तामसी त्यागका भी वर्णन करनेका तात्पर्य यह है कि उनके विना भगवान्‌के अभीष्ट सात्त्विक त्यागकी श्रेष्ठता स्पष्ट नहीं होती; क्योंकि परीक्षा या तुलना करके किसी भी वस्तुकी श्रेष्ठता सिद्ध करनेके लिये दूसरी वस्तुएँ सामने रखनी ही पड़ती हैं।

तीन प्रकारका त्याग बतानेका तात्पर्य यह भी है कि साधक सात्त्विक त्यागको ग्रहण करे और राजस तथा तामस त्यागका त्याग करे।

श्लोक—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ ५॥

यदि भगवान् अर्जुनके प्रश्नक्रमके अनुसार उत्तर देते तो भक्तिमिश्रित कर्मयोगके बाद ही भक्तियोगका वर्णन आता, जिससे भगवान् उपर्युक्त प्रकारसे भक्तियोगकी जो विशेष महिमा कहना चाहते थे, वह स्पष्ट नहीं हो पाती। इसी वास्ते भगवान्‌ने व्यतिक्रम करके ध्यानप्रधान सांख्ययोगके बाद ही भक्तियोगका वर्णन किया है।

दूसरी बात, जिस प्रकार शरीर और शरीरीका विवेक सभी योगियोंके लिये परम आवश्यक होनेके कारण भगवान्‌ने उसका वर्णन गीतामें सबसे पहले (२। ११–३० में) किया है, उसी प्रकार फलकी कामना और कर्मकी आसक्तिका त्याग सभी योगियोंके लिये अत्यन्त आवश्यक होनेके कारण यहाँ भगवान् 'त्याग' का वर्णन सबसे पहले आरम्भ करते हैं।

व्याख्या—

'यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यम्'—यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये। यहाँ भगवान्‌ने दूसरोंके मत (१८ । ३) को ठीक बतलाया है। भगवान् कठोर शब्दोंसे किसीके मतका खण्डन नहीं करते। आदर देनेके लिये भगवान् दूसरेके मतका वास्तविक अंश ले लेते है और उसमे अपना मत भी शामिल कर देते हैं। यहाँ भगवान्‌ने दूसरेके मतके अनुसार कहा कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म छोड़ने नहीं चाहिये। इसके साथ भगवान्‌ने अपना मत बताया कि इतना ही नहीं, प्रत्युत उनको न करते हों तो जरूर करना चाहिये—**'कार्यमेव तत्'**। कारण कि यज्ञ, दान और तप—तीनो कर्म मनीषियोंको पवित्र करनेवाले हैं।

'चैव'—पदका तात्पर्य है कि नित्य, नैमित्तिक, जीविका-सम्बन्धी, शरीर-सम्बन्धी आदि जितने भी कर्तव्य-कर्म हैं, उनको भी जरूर करना चाहिये; क्योंकि वे भी मनीषियोंको पवित्र करनेवाले हैं।

'मनीषिणाम्'—जो पुरुष समत्वबुद्धिसे युक्त होकर कर्मजन्य फलका त्याग कर देते हैं, वे मनीषी है—**'कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः'** (गीता २ । ५१)। ऐसे मनीषियोंको वे यज्ञादि कर्म पवित्र करते है। परन्तु जो वास्तवमे मनीषी नहीं है, जिनकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, अर्थात् अपने सुखभोगके लिये ही जो यज्ञ, दानादि कर्म करते है, उनको वे कर्म पवित्र नहीं करते, प्रत्युत वे कर्म बन्धनकारक हो जाते हैं।

इस श्लोकके पूर्वार्द्धमे 'यज्ञदानतपःकर्म'—ऐसा समासयुक्त पद दिया है और उत्तरार्द्धमे 'यज्ञो दानं तपः'—ऐसे अलग-अलग पद दिये है, इसका क्या तात्पर्य है ? इसका तात्पर्य यह है कि भगवान्‌ने समासयुक्त पदसे यह बताया है कि यज्ञ, दान और तपको त्यागना नहीं चाहिये, प्रत्युत जरूर करना चाहिये, और अलग-अलग पदोंसे यह बताया है कि इनमेंसे एक-एक कर्म भी मनीषीको पवित्र करनेवाला है ।

श्लोक—

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

व्याख्या—

'एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि'—यहाँ 'एतानि' पदसे पूर्वश्लोकमे कहे यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको तथा 'अपि' पदसे शास्त्रविहित पठन-पाठन, खेती-व्यापार आदि जीविका-सम्बन्धी कर्म; शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना-जागना आदि शारीरिक कर्म, और परिस्थितिके अनुसार सामने आये अवश्य कर्तव्य-कर्म—इन सभी कर्मोंको लेना चाहिये । इन समस्त कर्मोंको आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके जरूर करना चाहिये । अपनी कामना, ममता और आसक्तिका त्याग करके कर्मोंको केवल प्राणिमात्रके हितके लिये करनेसे कर्मोंका प्रवाह संसारके लिये और योग अपने लिये हो जाता है । परतु कर्मोंको अपने लिये करनेसे कर्म बन्धनकारक हो जाते हैं—अपने व्यक्तित्वको नष्ट नहीं होने देते ।

गीतामे कहीं सङ्ग (आसक्ति) के त्यागकी बात आती है और कहीं कर्मोंके फलके त्यागकी बात आती है । इस श्लोकमें सङ्ग और फल—दोनोके त्यागकी बात आयी है । इसका तात्पर्य यह है कि गीतामें जहाँ सङ्गके त्यागकी बात कही है, वहाँ उसके साथ फलके त्यागकी बात भी समझ लेनी चाहिये और जहाँ फलके त्यागकी बात कही है, वहाँ उसके साथ सङ्गके त्यागकी बात भी समझ लेनी चाहिये । यहाँ अर्जुनने त्यागके तत्त्वकी बात पूछी है; अतः भगवान्‌ने त्यागका यह तत्त्व बतलाया है कि सङ्ग (आसक्ति) और फल दोनोका ही त्याग करना चाहिये, जिससे साधकको यह जानकारी स्पष्ट हो जाय कि आसक्ति न तो कर्ममें रहनी चाहिये और न फलमे रहनी चाहिये । आसक्ति न रहनेसे मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदि कर्म करनेके औजारो (करणो) में तथा प्राप्त वस्तुओंमे ममता नहीं रहती (गीता ५ । ११) ।

सङ्ग (आसक्ति या सम्बन्ध) सूक्ष्म होता है और फलेच्छा स्थूल होती है । सङ्ग या आसक्तिकी सूक्ष्मता वहाँतक है, जहाँ चेतन-स्वरूपने नाशवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ा है । वहींसे आसक्ति पैदा होती है, जिससे जन्म-मरण आदि सब अनर्थ होते हैं—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३ । २१) । आसक्तिको त्यागनेसे नाशवान्‌के साथ जोड़े हुए सम्बन्धका विच्छेद हो जाता है और स्वतःस्वाभाविक रहनेवाली असङ्गताका अनुभव हो जाता है ।

इस विषयमें एक और बात समझनेकी है कि कई दार्शनिक इस नाशवान् संसारको असत् मानते हैं; क्योंकि यह पहले भी नहीं था और पीछे भी नहीं रहेगा, इसलिये वर्तमानमें भी यह नहीं है; जैसे-स्वप्न। कई दार्शनिकोंका यह मत है कि संसार परिवर्तनशील है, हरदम बदलता रहता है, कभी एक रूप नहीं रहता; जैसे—अपना शरीर। कई यह मानते हैं कि परिवर्तनशील होनेपर भी संसारका कभी अभाव नहीं होता, प्रत्युत तत्त्वसे सदा रहता है; जैसे जल (जल ही बर्फ, बादल, भाप और परमाणुरूपसे हो जाता है, पर स्वरूपसे वह मिटता नहीं)। इस तरह अनेक मतभेद हैं; किन्तु नाशवान् जडका अपने अविनाशी चेतन स्वरूपके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, इसमें किसी भी दार्शनिकका मतभेद नहीं है। **'सङ्गं त्यक्त्वा'** पदोंसे भगवान्‌ने उसी सम्बन्धका त्याग कहा है।

प्रकृति सत् है या असत् है अथवा सत्-असत्से विलक्षण है ? अनादि सान्त है या अनादि अनन्त है ?—इस झगड़ेमें पड़कर साधकको अपना अमूल्य समय खर्च नहीं करना चाहिये, प्रत्युत इस प्रकृतिसे तथा प्रकृतिके कार्य संसारसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद करना चाहिये, जो कि स्वतः हो ही रहा है। स्वतः होनेवाले सम्बन्ध-विच्छेदका केवल अनुभव करना है कि शरीर तो प्रतिक्षण बदलता ही रहता है और स्वयं निर्विकाररूपसे सदा ज्यों-का-त्यों रहता है।

अब प्रश्न यह होता है कि फल क्या है ? प्रारब्ध-कर्मके अनुसार अभी हमें जो परिस्थिति, वस्तु, देश, काल आदि प्राप्त हैं,

वह सब कर्मोंका प्राप्त 'फल' है, और भविष्यमें जो परिस्थिति, वस्तु आदि प्राप्त होनेवाली है, वह सब कर्मोंका 'अप्राप्त फल' है। प्राप्त तथा अप्राप्त फलमें आसक्ति रहनेके कारण ही प्राप्तमें ममता और अप्राप्तकी कामना होती है। इसलिये भगवान्‌ने 'त्यक्त्वा फलानि च'* कहकर फलका त्याग करनेकी बात कही है।

कर्मफलका त्याग क्यों करना चाहिये? क्योंकि कर्मफल हमारे साथ रहनेवाला है ही नहीं। कारण यह है कि जिन कर्मोंसे फल बनता है, उन कर्मोंका आरम्भ और अन्त होता है; अतः उनका फल भी प्राप्त और नष्ट होनेवाला ही है। इस वास्ते कर्मफलका त्याग करना है। फलके त्यागमें फलकी आसक्तिका, कामनाका ही त्याग करना है। वास्तवमें आसक्ति हमारे स्वरूपमें है नहीं, केवल मानी हुई है।

दूसरी बात, जो अपना स्वरूप होता है, उसका त्याग नहीं होता; जैसे—प्रज्वलित अग्नि उष्णता और प्रकाशका त्याग नहीं कर सकती। जो चीज अपनी नहीं होती, उसका भी त्याग नहीं होता; जैसे—संसारमें अनेक वस्तुएँ पड़ी हैं; परंतु उनका हम त्याग करें—ऐसा कहना भी नहीं बनता; क्योंकि वे वस्तुएँ हमारी हैं ही नहीं। इस वास्ते त्याग उसीका होता है, जो वास्तवमें अपना नहीं है और

---

* यहाँ 'फलानि' शब्दमें बहुवचन देनेका तात्पर्य यह है कि सकामभावसे कर्म करनेवालोंमें बहुत-से फलोंकी इच्छा होती है— 'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्' (गीता २।४१)। वे इस लोकमें सुख-आराम, मान-सम्मान, यश-प्रतिष्ठा आदि चाहते हैं और परलोकमें स्वर्ग आदिकी प्राप्ति चाहते हैं। भगवान्‌के मतमें इन सभी फलोंकी इच्छाओंका त्याग है।

अपना मान लिया है। ऐसे ही प्रकृति और प्रकृतिके कार्य शरीर आदि हमारे नहीं हैं, फिर भी उनको हम अपना मानते हैं, तो इस अपनेपनकी मान्यताका ही त्याग करना है। त्यागसे तत्काल शान्ति मिलती है—'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' (गीता १२।१२)।

'कर्तव्यानि'—मनुष्यके सामने कर्तव्यरूपसे जो कर्म आ जाय, उसको फल और आसक्तिका त्याग करके सावधानीके साथ तत्परता-पूर्वक करना चाहिये। कर्मयोगमें विधि-निषेधको लेकर अमुक काम करना है और अमुक काम नहीं करना है—ऐसा विचार तो करना ही है; परंतु अमुक काम बड़ा है और अमुक काम छोटा है—ऐसा विचार नहीं करना है। कारण कि जहाँ कर्म और उसके फलसे अपना कोई सम्बन्ध ही नहीं है, वहाँ यह कर्म बडा है, यह कर्म छोटा है, इस कर्मका फल बडा है, इस कर्मका फल छोटा है—ऐसा विचार हो ही नहीं सकता। कर्मका बडा या छोटा होना फलकी इच्छाके कारण ही दीखता है, जब कि कर्मयोगमें फलेच्छाका त्याग होता है।

कर्मयोगसे कर्तापन मिट जाता है। कारण कि कर्मयोगी नाटकके स्वाँगकी तरह अपने कर्तव्यका पालन करनेमात्रके लिये ही सम्पूर्ण कर्म करता है, इस वास्ते कर्मकी समाप्तिके साथ-साथ उसका कर्तापन भी समाप्त हो जाता है। यह नियम है कि मनुष्य जिस उद्देश्यसे कर्म करता है, कर्म पूरा होते ही कर्तापन उस उद्देश्यमें विलीन हो जाता है। जैसे, बद्रीनारायणका उद्देश्य रखकर यात्रा करनेवाला मनुष्य जब बद्रीनारायण पहुँच जाता है, तब 'मै यात्री हूँ और मुझे बद्रीनारायण जाना है' यह कर्तापन नहीं रहता।

कर्म करना राग-पूर्तिके लिये भी होता है और राग-निवृत्तिके लिये भी। कर्मयोगी राग-निवृत्तिके लिये अर्थात् करनेका राग मिटानेके लिये ही सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्म करता है—'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते' (गीता ६ । ३), 'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते' (गीता ३ । ४)। अपने लिये कर्म करनेसे करनेका राग बढ़ता है। इसलिये कर्मयोगी कोई भी कर्म अपने लिये नहीं करता, प्रत्युत केवल दूसरोंके हितके लिये ही करता है। उसके स्थूलशरीरमें होनेवाली 'क्रिया', सूक्ष्मशरीरमें होनेवाला 'परहित-चिन्तन' तथा कारणशरीरमें होनेवाली 'स्थिरता'—तीनों ही दूसरोंके हितके लिये होती हैं, अपने लिये नहीं। इसलिये उसका करनेका राग सुगमतासे मिट जाता है। परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें संसारका राग ही बाधक है। इस वास्ते राग मिटनेपर कर्मयोगीको परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति अपने-आप हो जाती है*।

'कर्तव्य' शब्दका अर्थ होता है—जिसको हम कर सकते हैं तथा जिसको जरूर करना चाहिये और जिसको करनेसे उद्देश्यकी सिद्धि जरूर होती है। उद्देश्य वही कहलाता है, जो नित्यसिद्ध और अनुत्पन्न है अर्थात् जो अनादि है और जिसका कभी विनाश नहीं होता। इस उद्देश्यकी सिद्धि मनुष्यजन्ममें ही होती है और उसकी सिद्धिके लिये ही मनुष्यशरीर मिला है, न कि कर्मजन्य परिस्थितिरूप सुख-दुःख भोगनेके लिये। कर्मजन्य परिस्थिति वह होती है, जो उत्पन्न और नष्ट होती हो। वह परिस्थिति तो मनुष्यके अलावा

* तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति। (गीता ४ । ३८)

पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, वृक्ष-लता, नारकीय-स्वर्गीय आदि सभी योनियोंके प्राणियोंको भी मिलती है, जहाँ कर्तव्यका कोई प्रश्न ही नहीं है और जहाँ उद्देश्यकी पूर्तिका अधिकार भी नहीं है ।

सम्बन्ध—

इसी अध्यायके चौथे श्लोकमें भगवान्‌ने तीन प्रकारके त्यागकी बात कही थी । अब आगे श्लोकोंमें उसी त्रिविध त्यागका वर्णन करते हैं ।

श्लोक—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

व्याख्या—

तीन तरहके त्यागका वर्णन भगवान् इस वास्ते करते हैं कि अर्जुन कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करना चाहता था—**'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके'** (गीता २ । ५); अतः त्रिविध त्याग बताकर अर्जुनको चेत कराना था, और आगेके लिये मनुष्यमात्रको यह बताना था कि नियत कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करना गीताको मान्य (अभीष्ट) नहीं है । गीता तो सात्त्विक त्यागको ही वास्तवमें त्याग मानती है । सात्त्विक त्यागसे संसारके सम्बन्धका सर्वथा विच्छेद हो जाता है ।

दूसरी बात, सत्रहवें अध्यायमें भी भगवान् गुणोंके अनुसार श्रद्धा, आहार आदिके तीन-तीन भेद कहकर आये हैं और आगे भी संन्यासके प्रकरणमें ज्ञान, कर्म आदिके तीन-तीन भेद कहे हैं, इस वास्ते यहाँ भी अर्जुनद्वारा त्यागका तत्त्व पूछनेपर भगवान्‌ने त्यागके तीन भेद कहे हैं ।

'नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते'—पिछले (छठे) श्लोकमें भगवान्‌ने त्यागके विषयमें अपना जो निश्चित उत्तम मत बताया है, उससे यह तामस त्याग बिल्कुल ही विपरीत है और सर्वथा निकृष्ट है, यह बतानेके लिये यहाँ 'तु' पद आया है।

नियत कर्मोंका त्याग करना कभी भी उचित नहीं है; क्योंकि वे तो अवश्यकर्तव्य हैं। नियत कर्मोंका त्याग करनेका तात्पर्य है—बलिवैश्वदेव आदि यज्ञ करना, कोई अतिथि आ जाय तो गृहस्थ-धर्मके अनुसार उसको अन्न, जल आदि देना, विशेष पर्वमें या श्राद्ध-तर्पणके दिन ब्राह्मणोंको भोजन कराना और दक्षिणा देना, अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार प्रातः और सायंकालमें सन्ध्या करना आदि कर्मोंको न मानना और न करना।

'मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः'—ऐसे नियत कर्मोंको मूढतासे अर्थात् बिना विवेक-विचारके छोड़ देना तामस त्याग कहा जाता है। सत्सङ्ग, सभा, समिति आदिमें जाना आवश्यक था, पर आलस्यमें पड़े रहे, आराम करने लग गये अथवा सो गये; घरमें माता-पिता बीमार हैं, उनके लिये वैद्यको बुलाने या ओषधि लानेके लिये जा रहे हैं, रास्तेमें कहींपर लोग ताश-चौपड़ आदि खेल रहे थे, उनको देखकर खुद भी खेलमें लग गये और वैद्यको बुलाना या ओषधि लाना भूल गये; कोर्टमें मुकदमा चल रहा है, उसमें हाजिर होनेके समय हँसी-दिल्लगी, खेल-तमाशा आदिमें लग गये और समय बीत गया; शरीरके लिये शौच-स्नान आदि जो आवश्यक कर्तव्य हैं, उनको आलस्य और प्रमादके कारण छोड़ दिया—यह सब तामस त्यागके उदाहरण हैं।

विहित कर्म और नियत कर्ममें क्या अन्तर है? शास्त्रोंने जिन कर्मोंको करनेकी आज्ञा दी है, वे सभी विहित कर्म कहलाते हैं। उन सम्पूर्ण विहित कर्मोंका पालन एक व्यक्ति कर ही नहीं सकता; क्योंकि शास्त्रोंमें सम्पूर्ण वारों तथा तिथियोंके व्रतका विधान आता है। यदि एक ही मनुष्य सब वारोंमें या सब तिथियोंमें व्रत करेगा तो फिर वह भोजन कब करेगा? इससे यह सिद्ध हुआ कि मनुष्यके लिये सभी विहित कर्म लागू नहीं होते। परंतु उन विहित कर्मोंमें भी वर्ण, आश्रम और परिस्थितिके अनुसार जिसके लिये जो कर्तव्य आवश्यक होता है, उसके लिये वह नियत कर्म कहलाता है। जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—चारो वर्णोंमे जिस-जिस वर्णके लिये जीविका और शरीर-निर्वाह-सम्बन्धी जितने भी नियम हैं, उस-उस वर्णके लिये वे सभी 'नियत कर्म' हैं।

नियत कर्मोंका मोहपूर्वक त्याग करनेसे वह त्याग 'तामस' हो जाता है तथा सुख और आरामके लिये त्याग करनेसे वह त्याग 'राजस' हो जाता है। सुखेच्छा, फलेच्छा तथा आसक्तिका त्याग करके नियत कर्मोंको करनेसे वह त्याग 'सात्त्विक' हो जाता है। तात्पर्य यह है कि मोहमे उलझ जाना तामस पुरुषका स्वभाव है, सुख-आराममें उलझ जाना राजस पुरुषका स्वभाव है और इन दोनोंसे रहित होकर सावधानीपूर्वक निष्कामभावसे कर्तव्य-कर्म करना सात्त्विक पुरुषका स्वभाव है। इस सात्त्विक स्वभाव अथवा सात्त्विक त्यागसे ही कर्म और कर्मफलसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है, राजस और तामस त्यागसे नहीं; क्योंकि राजस और तामस त्याग वास्तवमें त्याग है ही नहीं।

लोग सामान्य रीतिसे स्वरूपसे कर्मोंको छोड़ देनेको ही त्याग मानते हैं; क्योंकि उन्हें प्रत्यक्षमें वही त्याग दीखता है। कौन व्यक्ति कौन-सा काम किस भावसे कर रहा है, इसका उन्हें पता नहीं लगता। परंतु भगवान् भीतरकी कामना-ममता-आसक्तिके त्यागको ही त्याग मानते हैं; क्योंकि ये ही जन्म-मरणके कारण हैं— **'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु** (गीता १३। २१)।

यदि बाहरके त्यागको ही असली त्याग माना जाय तो सभी मरनेवालोंका कल्याण हो जाना चाहिये; क्योंकि उनकी तो सम्पूर्ण वस्तुएँ छूट जाती हैं; और तो क्या, अपना कहलानेवाला शरीर भी छूट जाता है और उनको वे वस्तुएँ प्रायः यादतक नहीं रहतीं! इस वास्ते भीतरका त्याग ही असली त्याग है। भीतरका त्याग होनेसे बाहरसे वस्तुएँ अपने पास रहें या न रहें, मनुष्य उनसे बँधता नहीं।

श्लोक—

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥ ८॥

व्याख्या—

'दुःखमित्येव यत्कर्म'—यज्ञ, दान आदि शास्त्रीय नियत कर्मोंको करनेमें केवल दुःख ही भोगना पड़ता है, और उनमें है ही क्या? क्योंकि उन कर्मोंको करनेके लिये अनेक नियमोंमें बँधना पड़ता है और खर्चा भी करना पड़ता है—इस प्रकार राजस पुरुषको उन कर्मोंमें केवल दुःख-ही-दुःख दीखता है। दुःख दीखनेका कारण यह है कि उनका परलोकपर, शास्त्रोंपर, शास्त्रविहित कर्मोंपर और उन कर्मोंके परिणामपर श्रद्धा-विश्वास नहीं है।

'कायक्लेशभयात्त्यजेत्'—राजस पुरुषको शास्त्रमर्यादा और लोकमर्यादाके अनुसार चलनेसे शरीरमें क्लेश अर्थात् परिश्रमका अनुभव होता है *। राजस पुरुषको अपने वर्ण, आश्रम आदिके धर्मका पालन करनेमें और माता-पिता, गुरु, मालिक आदिकी आज्ञाका पालन करनेमें पराधीनता और दुःखका अनुभव होता है तथा उनकी आज्ञा भङ्ग करके जैसी मर्जी आये, वैसा करनेमें स्वाधीनता और सुखका अनुभव होता है। राजस पुरुष प्रायः कहा करते हैं कि 'किसीके अधीन होकर रहना तो केवल शास्त्रोंकी बातें हैं; शास्त्रोंने कह दीं और लोगोंने मान लीं ! पर है यह मुफ्तमें कोरा बन्धन !' इसी तरह राजस पुरुषोंके विचार यह होते हैं कि 'गृहस्थमें आराम नहीं मिलता, स्त्री-पुत्र आदि हमारे अनुकूल नहीं हैं, अथवा सब कुटुम्बी मर गये हैं, घरमें काम करनेके लिये कोई रहा नहीं, खुदको तकलीफ उठानी पड़ती है, इस वास्ते साधु बन जायँ तो आरामसे रहेंगे, रोटी, कपड़ा आदि सब चीजें मुफ्तमें मिल जायँगी, परिश्रम नहीं करना पड़ेगा; कोई ऐसी सरकारी नौकरी मिल जाय, जिससे काम कम करना पड़े और रुपये आरामसे मिलते रहें, हम काम न करें तो भी उस नौकरीसे हमें कोई छुड़ा न सके, हम नौकरी छोड़ देंगे तो हमें पेन्शन मिलती रहेगी, इत्यादि। ऐसे विचारोंके कारण उन्हें घरका काम-धन्धा करना अच्छा नहीं लगता और वह उसका त्याग कर देता है।

---

* क्लेशका अनुभव होनेमें शरीरकी ममता और आसक्ति ही कारण है।

यहाँ शङ्का होती है कि ज्ञानप्राप्तिके साधनोंमें दुःख और दोषको बार-बार देखनेकी बात कही है* और यहाँ कर्मोंमें दुःख देखकर उनका त्याग करनेको राजस त्याग कहा है अर्थात् कर्मोंके त्यागका निषेध किया है—इन दोनों बातोंमें परस्पर विरोध प्रतीत होता है। इसका समाधान है कि वास्तवमें इन दोनोंमें विरोध नहीं है। इन दोनोंमें अलग-अलग विषय है। वहाँ (गीता १३। ८ में) भोगोंमें दुःख और दोषको देखनेकी बात है और यहाँ नियत कर्तव्य-कर्मोंमें दुःखको देखनेकी बात है। इस वास्ते वहाँ भोगोंको त्यागनेकी बात है और यहाँ कर्तव्य-कर्मोंको त्यागनेकी बात है। भोगोंका तो त्याग करना चाहिये, पर कर्तव्य-कर्मोंका त्याग कभी नहीं करना चाहिये। कारण यह कि जिन भोगोंमे सुखबुद्धि और गुणबुद्धि हो रही है, उन भोगोंमे बार-बार दुःख और दोषको देखनेसे भोगोंसे वैराग्य होगा, जिससे परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होगी; परन्तु नियत कर्तव्य-कर्मोंमें दुःख देखकर उन कर्मोंका त्याग करनेसे सदा पराधीनता और दुःख भोगना ही पडेगा—'**यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः**' (गीता ३। ९)। तात्पर्य यह हुआ कि भोगोंमें दुःख और दोष देखनेसे भोगासक्ति छूटेगी, जिससे कल्याण होगा और कर्तव्यमें दुःख देखनेसे कर्तव्य छूटेगा, जिससे पतन होगा।

कर्तव्य-कर्मोंको त्यागनेमें तो राजस और तामस—ये दो भेद होते हैं, पर परिणाम (आलस्य, प्रमाद, अतिनिद्रा आदि) में दोनों एक हो जाते हैं अर्थात् परिणाममें दोनों ही तामस हो जाते हैं,

---

* 'जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।' (गीता १३। ८)

जिसका फल अधोगति होता है—'अधो गच्छन्ति तामसाः (गीता १४ । १८)।

एक शङ्का यह भी हो सकती है कि सत्सङ्ग, भगवत्कथा, भक्त-चरित्र सुननेसे किसीको वैराग्य हो जाय तो वह प्रभुको पानेके लिये आवश्यक कर्तव्य-कर्मोंको भी छोड़ देता है और केवल भगवान्‌के भजनमे लग जाता है। इस वास्ते उसका वह कर्तव्य-कर्मोंका त्याग राजस कहा जाना चाहिये? पर ऐसी बात नहीं है। सांसारिक कर्मोंको छोड़कर जो भजनमें लग जाता है, उसका त्याग राजस या तामस नहीं हो सकता। कारण कि भगवान्‌को प्राप्त करना मनुष्य-जन्मका ध्येय है; अतः उस ध्येयकी सिद्धिके लिये कर्तव्य-कर्मोंका त्याग करना वास्तवमे कर्तव्यका त्याग करना नहीं है, प्रत्युत असली कर्तव्यको करना है। उस असली कर्तव्यको करते हुए आलस्य, प्रमाद आदि दोप नहीं आ सकते; क्योंकि उसकी रुचि भगवान्‌मे रहती है। परंतु राजस और तामस त्याग करनेवालोमे आलस्य, प्रमाद आदि दोप आयेंगे ही; क्योंकि उनकी रुचि भोगोमें रहती है।

श्लोक—

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

व्याख्या—

'कार्यमित्येव'—यहाँ **'कार्यम्'** पदके साथ **'इति'** और **'एव'** ये दो अव्यय लगानेसे यह अर्थ निकलता है कि केवल कर्तव्यमात्र करना है। इसको करनेमे कोई फलासक्ति नहीं, कोई स्वार्थ नहीं

और कोई क्रियाजन्य सुखभोग भी नहीं। इस प्रकार कर्तव्यमात्र करनेसे कर्ताका उस कर्मसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। ऐसा होनेसे वह कर्म बन्धनकारक नहीं होता अर्थात् संसारके साथ सम्बन्ध नहीं जुड़ता। कर्म तथा उसके फलमें आसक्त होनेसे ही बन्धन होता है—**'फले सक्तो निबध्यते'** (गीता ५। १२)।

'यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन'—शास्त्रविहित कर्मोंमें भी देश, काल, वर्ण, आश्रम, परिस्थितिके अनुसार जिस-जिस कर्ममें जिस-जिसकी नियुक्ति की जाती है, वे सब नियत कर्म कहलाते हैं*, जैसे—साधुको ऐसा करना चाहिये, गृहस्थको ऐसा करना चाहिये, ब्राह्मणको अमुक-काम करना चाहिये, क्षत्रियको अमुक काम करना चाहिये इत्यादि। उन कर्मोंको प्रमाद, आलस्य, उपेक्षा, उदासीनता आदि दोषोंसे रहित होकर तत्परता और उत्साहपूर्वक करना चाहिये। इसी वास्ते भगवान्‌ने कर्मयोगके प्रसङ्गमें जगह-जगह 'समाचार' शब्द दिया है (गीता ३।९,१९,२६)।

'सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव'—सङ्गके त्यागका तात्पर्य है कि कर्म, कर्म करनेके औजार (साधन) आदिमें आसक्ति, प्रियता, ममता आदि न हो, और फलके त्यागका तात्पर्य है कि कर्मके परिणामके साथ सम्बन्ध न हो अर्थात् फलकी इच्छा न हो। इन दोनोंका तात्पर्य है कि कर्म और फलमें आसक्ति तथा इच्छाका त्याग हो।

---

* यहाँ यज्ञ, दान और तपके साहचर्यसे शास्त्रीय विहित-कर्मोंमें भी समयपर जो प्राप्त हो जाते हैं, वे नियत-कर्म लिये जायँगे।

'स त्यागः सात्त्विको मतः'*—कर्म और फलमें आसक्ति तथा कामनाका त्याग करके कर्तव्यमात्र समझकर कर्म करनेसे वह त्याग सात्त्विक हो जाता है। राजस त्यागमें कायक्लेशके भयसे और तामस त्यागमें मोहपूर्वक कर्मोंका स्वरूपसे त्याग किया जाता है। परंतु सात्त्विक त्यागमें कर्मोंका स्वरूपसे त्याग नहीं किया जाता, प्रत्युत कर्मोंको सावधानी एवं तत्परतासे, विधिपूर्वक, निष्कामभावसे किया जाता है। सात्त्विक त्यागसे कर्म और कर्मफलरूप संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। राजस और तामस त्यागमें कर्मोंको स्वरूपसे त्यागनेसे केवल बाहरसे कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद दीखता है; परंतु वास्तवमें (भीतरसे) सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता। इसका कारण यह है कि शरीरके कष्टके भयसे कर्मोंका त्याग करनेसे कर्म

---

* गीताभरमें जहाँ कहीं (७।१२; १४।५–१८, २२; १७।१, २, ८–१०, ११–१३, १७–२२ और १८।२०–२८, ३०–३५, ३७–३९ में) गुणोंका वर्णन हुआ है, वहाँ सत्त्व, रज और तम—यही क्रम रखा गया है। केवल यहीं (१८।७–९ में) व्यतिक्रम हुआ है अर्थात् तम, रज और सत्त्व—ऐसा क्रम रखा गया है। इसका कारण है—(१) यदि छठे श्लोकके बाद ही (सातवें श्लोकमें) सात्त्विक त्यागका वर्णन करते तो भगवान्‌के निश्चित मतमें और सात्त्विक त्यागमें पुनरुक्तिका दोष आ जाता। (२) किसी वस्तुकी उत्तमता तभी सिद्ध होती है, जब उसके पहले अनुत्तम वस्तुका वर्णन किया जाय। इस वास्ते भगवान् सात्त्विक त्यागकी उत्तमता सिद्ध करनेके लिये पहले अनुत्तम तामस और राजस त्यागका वर्णन करते हैं। (३) आगे दसवेंसे बारहवें श्लोकतक 'सात्त्विक त्यागी' का वर्णन हुआ है। यदि सात्त्विक त्यागका वर्णन सात्त्विक त्यागीके पास (नवें श्लोकमें) न देते, तो तामस त्यागके पास होनेसे सात्त्विक त्यागीका सम्बन्ध न जुड़ता।

तो छूट जाते है, पर अपने सुख और आरामके साथ सम्बन्ध जुड़ा ही रहता है । ऐसे ही मोहपूर्वक कर्मोंका त्याग करनेसे कर्म तो छूट जाते है, पर मोहके साथ सम्बन्ध जुड़ा रहता है । तात्पर्य यह हुआ कि कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेपर बन्धन होता है, और कर्मोंको तत्परतासे विधिपूर्वक करनेपर मुक्ति (सम्बन्ध-विच्छेद) होती है ।

सम्बन्ध—

छठे श्लोकमें 'एतानि' और 'अपि तु' पदोंसे कहे गये यज्ञ, दान, तप आदि शास्त्रविहित कर्मोंके करनेमें और शास्त्रनिषिद्ध तथा काम्य कर्मोंके त्यागनेमें क्या भाव होना चाहिये ? यह अगले श्लोकमे बताते है ।

श्लोक—

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥

व्याख्या—

'न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म'—जो शास्त्रविहित पुण्य-कर्म फलकी कामनासे किये जाते हैं और परिणाममें जिनसे पुनर्जन्म होता है (गीता २ । ४२–४४; ९ । २०-२१) तथा जो शास्त्रनिषिद्ध पाप-कर्म है और परिणाममे जिनसे नीच योनियो तथा नरकोंमे जाना पड़ता है (गीता १६ । ७–२०), वे सब-के-सब कर्म 'अकुशल' कहलाते है । साधक ऐसे अकुशल कर्मोंका त्याग तो करता है, पर द्वेषपूर्वक नहीं । कारण कि द्वेषपूर्वक त्याग करनेसे कर्मोंसे तो सम्बन्ध छूट जाता है, पर द्वेषके साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है, जो शास्त्रविहित काम्य-कर्मोंसे तथा शास्त्रनिषिद्ध पाप-कर्मोंसे भी भयंकर है ।

'कुशले नानुषज्जते'—शास्त्रविहित कर्मोंमें भी जो वर्ण, आश्रम, परिस्थिति आदिके अनुसार नियत हैं और जो आसक्ति तथा फलेच्छाका त्याग करके किये जाते हैं तथा परिणाममें जिनसे मुक्ति होती है, ऐसे सभी कर्म 'कुशल' कहलाते हैं। साधक ऐसे कुशल कर्मोंको करते हुए भी उनमें आसक्त नहीं होता।

'त्यागी'—कुशल कर्मोंके करनेमें जिसका राग नहीं होता और अकुशल कर्मोंके त्यागमें जिसका द्वेष नहीं होता, वही असली त्यागी है*। परन्तु वह त्याग पूर्णतया तब सिद्ध होता है, जब कर्मोंको करने अथवा न करनेसे अपनेमें कोई फ़र्क न पड़े अर्थात् निरन्तर निर्लिप्तता बनी रहे†। ऐसा होनेपर पुरुष

---

* दोषबुद्ध्योभयातीतो निषेधान्न निवर्तते।
गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथार्भकः॥
(श्रीमद्भा० ११। ७। ११)

'जो पुरुष अनुकूलता-प्रतिकूलतारूप द्वन्द्वोंसे ऊँचा उठ जाता है, वह शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंका त्याग करता है, पर द्वेषबुद्धिसे नहीं और शास्त्रविहित कर्मोंको करता है, पर गुणबुद्धिसे अर्थात् रागपूर्वक नहीं। जैसे घुटनोंके बलपर चलनेवाले बच्चेकी निवृत्ति और प्रवृत्ति राग-द्वेषपूर्वक नहीं होती, वैसे ही उभयातीत पुरुषकी निवृत्ति और प्रवृत्ति भी राग-द्वेषपूर्वक नहीं होती (बच्चेमें तो अज्ञता रहती है, पर राग-द्वेषसे रहित पुरुषमें विज्ञता रहती है)।'

† नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥
(गीता ३। १८)

'योगारूढ़' हो जाता है * ।

'सत्त्वसमाविष्टः'—आसक्ति आदिका त्याग होनेसे उसकी अपने स्वरूपमे, चिन्मयतामें स्वतः स्थिति हो जाती है । इस वास्ते उसे **'सत्त्वसमाविष्टः'** कहा गया है । इसीको पाँचवें अध्यायके उन्नीसवे श्लोकमे **'तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः'** पदोंसे परमात्मामें स्थित बताया गया है ।

'मेधावी'—जिसके सम्पूर्ण कार्य साङ्गोपाङ्ग होते हैं और कामनाके संकल्पसे रहित होते हैं तथा ज्ञान-अग्निसे जिसने सम्पूर्ण कर्मोंको भस्म कर दिया है, उसे पण्डित भी पण्डित (मेधावी अथवा बुद्धिमान्) कहते हैं † । कारण कि कर्मोंको करते हुए भी कर्मोंसे लिपायमान न होना बड़ी बुद्धिमत्ता है ।

इसी मेधावीको चौथे अध्यायके अठारहवें श्लोकमें **'स बुद्धिमान्मनुष्येषु'** पदोंसे सम्पूर्ण मनुष्योंमे बुद्धिमान् बताया गया है ।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥
(गीता ४ । १८)

* यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥
(गीता ६ । ४)

† यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥
(गीता ४ । १९)

'छिन्नसंशयः'—उस त्यागी पुरुषमें कोई सन्देह नहीं रहता। तत्त्वमें अभिन्नभावसे स्थित रहनेके कारण उसमें किसी तरहका सन्देह रहनेकी सम्भावना ही नहीं रहती। सन्देह तो वहीं रहता है, जहाँ अधूरा ज्ञान होता है अर्थात् कुछ जानते हैं और कुछ नहीं जानते।

सम्बन्ध—

कर्मोंको करनेमें राग न हो और छोड़नेमें द्वेष न हो—इतनी झंझट क्यों किया जाय? कर्मोंका सर्वथा ही त्याग क्यों न कर दिया जाय?—इस शङ्काको दूर करनेके *लिये अगला श्लोक* कहते हैं।

श्लोक—

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

व्याख्या—

'न हि देहभृता* शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः'—देहधारी अर्थात् देहके साथ तादात्म्य रखनेवाले पुरुषोंके द्वारा कर्मोंका सर्वथा त्याग होना सम्भव नहीं है; क्योंकि शरीर प्रकृतिका कार्य है और प्रकृति स्वतः क्रियाशील है। इस वास्ते शरीरके साथ तादात्म्य (एकता) रखनेवाला क्रियासे रहित कैसे हो सकता है? हाँ यह

* यहाँ 'देहभृता' पदको देहाभिमानी अर्थात् देहके साथ तादात्म्य माननेवाले सामान्य पुरुषोंका ही वाचक समझना चाहिये। गुणातीत महापुरुषकी देहसे भी क्रियाएँ होती रहती है; परन्तु देहके साथ तादात्म्य न रहनेसे उसका उन क्रियाओंसे कोई सम्बन्ध नहीं होता अर्थात् वह उन क्रियाओंका कर्ता नहीं बनता।

हो सकता है कि मनुष्य यज्ञ, दान, तप, तीर्थ आदि कर्मोंको छोड़ दे; परन्तु वह खाना-पीना, चलना-फिरना, आना-जाना, उठना-बैठना, सोना-जागना आदि आवश्यक शारीरिक क्रियाओंको कैसे छोड़ सकता है ?

दूसरी बात, भीतरसे कर्मोंका सम्बन्ध छोड़ना ही वास्तवमें छोड़ना है। बाहरसे सम्बन्ध नहीं छोड़ा जा सकता। यदि बाहरसे सम्बन्ध छोड़ भी दिया जाय तो वह कबतक छूटा रहेगा ? जैसे कोई समाधि लगा ले तो उस समय बाहरकी क्रियाओंका सम्बन्ध छूट जाता है। परन्तु समाधि भी एक क्रिया है, एक कर्म है; क्योंकि इसमें प्रकृतिजन्य कारण-शरीरका सम्बन्ध रहता है। इस वास्ते समाधिसे भी व्युत्थान होता है।

कोई भी देहधारी कर्मोंका स्वरूपसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं कर सकता—**'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'** (गीता ३ । ५)। कर्मोंका आरम्भ किये बिना निष्कर्मता (योगनिष्ठा) प्राप्त नहीं होती और कर्मोंको त्यागनेमात्रसे सिद्धि (सांख्यनिष्ठा) भी प्राप्त नहीं होती—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥

(गीता ३ । ४)

मार्मिक बात—पुरुष और प्रकृति—ये दो तत्त्व हैं। इन्हींको सत्-असत्, नित्य-अनित्य, परा-अपरा, चेतन-जड, अविनाशी-विनाशी आदि नामोंसे कहते हैं। ये दोनों ही अनादि हैं—**'प्रकृतिं पुरुषं**

चैव विद्ध्यनादी उभावपि' (गीता १३ । १९)। अनादि होनेसे इन दोनोंका भेद भी अनादि है। जब भेद अनादि हुआ तो उन दोनोंके भेदका ज्ञान अर्थात् विवेक भी अनादि हुआ।

केवल पुरुषने ही प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ा है। प्रकृतिने पुरुषके साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ा है। जहाँ विवेक रहता है, वहाँ पुरुषने विवेककी उपेक्षा करके प्रकृतिसे सम्बन्धकी सद्भावना कर ली अर्थात् सम्बन्धको सत्य मान लिया। सम्बन्धको सत्य माननेसे ही बन्धन हुआ है। वह सम्बन्ध दो तरहका होता है— अपनेको शरीर मानना और शरीरको अपना मानना। अपनेको शरीर माननेसे 'अहंता' और शरीरको अपना माननेसे 'ममता' होती है। इस अहंता-ममतारूप सम्बन्धका घनिष्ठ होना ही देह-धारीका स्वरूप है। ऐसा देहधारी पुरुष कर्मोंको सर्वथा नहीं छोड़ सकता।

दूसरी बात, पुरुष सदा निर्विकार और एकरस रहनेवाला है; परन्तु प्रकृति विकारी और सदा परिवर्तनशील है। जिसमें अच्छी रीतिसे क्रियाशीलता हो, उसको 'प्रकृति' कहते हैं—'**प्रकर्षेण करणं प्रकृतिः**।' उस प्रकृतिके कार्य शरीरके साथ जबतक पुरुष अपना सम्बन्ध (तादात्म्य) मानता रहेगा, तबतक वह कर्मोंका सर्वथा त्याग कर ही नहीं सकता, क्योंकि शरीरमें अहंता-ममता होनेके कारण मनुष्य शरीरसे होनेवाली प्रत्येक क्रियाको अपनी क्रिया मानता है, इस वास्ते वह कभी किसी अवस्थामें भी क्रिया-रहित नहीं हो सकता।

'यस्तु* कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते'—जो किसी भी कर्म और फलके साथ सम्बन्ध नहीं रखता, वही त्यागी है। जबतक मनुष्य कुशल-अकुशलके साथ, अच्छे-मन्देके साथ सम्बन्ध रखता है, तबतक वह त्यागी नहीं है।

यह पुरुष जिस प्राकृत क्रिया और पदार्थको अपना मानता है, उसमे उसकी प्रियता हो जाती है। उसी प्रियताका नाम है——आसक्ति। वह आसक्ति ही वर्तमानके कर्मोंको लेकर **'कर्मासक्ति'** और भविष्यमे मिलनेवाले फलकी इच्छाको लेकर **'फलासक्ति'** कहलाती है। जब मनुष्य फल-त्यागका उद्देश्य बना लेता है, तब उसके सब कर्म संसारके हितके लिये होने लगते हैं, अपने लिये नहीं। कारण कि उसको यह बात अच्छी तरहसे समझमें आ जाती है कि कर्म करनेकी सब-की-सब सामग्री संसारसे मिली है और संसारकी ही है, अपनी नहीं। इन कर्मोंका भी आदि और अन्त होता है तथा उनका फल भी उत्पन्न और नष्ट होनेवाला होता है; परन्तु स्वयं सदा निर्विकार रहता है; न उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है और न कभी विकृत ही होता है। ऐसा विवेक होनेपर फलेच्छाका त्याग सुगमतासे हो जाता है। फलका त्याग करनेमें उस विवेकी पुरुषमें कभी अभिमान भी नहीं आता; क्योंकि कर्म और उसका फल——दोनो ही अपनेसे प्रतिक्षण

---

* यहाँ 'तु' अव्ययका प्रयोग करनेका तात्पर्य है कि जो सामान्य संसारी पुरुष हैं, उनकी अपेक्षा कर्मफलका त्याग करनेवाला पुरुष श्रेष्ठ है, विलक्षण है। कारण कि उसका उद्‌देश्य परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति करनेका अर्थात् अपना कल्याण करनेका होता है।

वियुक्त हो रहे हैं; अतः उनके साथ हमारा सम्बन्ध वास्तवमें है ही कहाँ ? इसीलिये भगवान् कहते हैं कि जो कर्मफलका त्यागी है, वही त्यागी कहा जाता है।

निर्विकारका विकारी कर्मफलके साथ सम्बन्ध कभी था नहीं, है नहीं, हो सकता नहीं और होनेकी सम्भावना भी नहीं है। केवल अविवेकके कारण सम्बन्ध माना हुआ था। उस अविवेकके मिटनेसे मनुष्यकी अभिधा अर्थात् उसका नाम 'त्यागी' हो जाता है—**'स त्यागीत्यभिधीयते'**।

माने हुए सम्बन्धके विषयमें दृष्टान्तरूपसे एक बात कही जाती है। एक व्यक्ति घर-परिवारको छोडकर सच्चे हृदयसे साधु-संन्यासी हो जाता है तो उसके बाद घरवालोंकी कितनी ही उन्नति अथवा अवनति हो जाय अथवा सब-के-सब मर जायँ, उनका नाम-निशान भी न रहे तो भी उसपर कोई असर नहीं पड़ता। इसमें जरा विचार करें कि उस व्यक्तिका परिवारके साथ जो सम्बन्ध था, वह दोनो तरफसे माना हुआ था अर्थात् वह परिवारको अपना मानता था और परिवार उसको अपना मानता था। परन्तु पुरुष और प्रकृतिका सम्बन्ध केवल पुरुषकी तरफसे माना हुआ है, प्रकृतिकी तरफसे माना हुआ नहीं। जब दोनो तरफसे माना हुआ (व्यक्ति और परिवारका) सम्बन्ध भी एक तरफसे छोड़नेपर छूट जाता है, तब केवल एक तरफसे माना हुआ (पुरुष और प्रकृतिका) सम्बन्ध छोड़नेपर छूट जाय, इसमें कहना ही क्या है ?

सम्बन्ध—

कर्मफलका त्याग करनेवाला ही वास्तवमें त्यागी है, सकाम कर्म करनेवाला त्यागी नहीं है—यह बात अगले श्लोकमें बताते हैं।

श्लोक—

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥ १२॥

व्याख्या—

'अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्'—कर्मका फल तीन तरहका होता है—इष्ट, अनिष्ट और मिश्र। जिस परिस्थितिको प्राणी चाहता है, वह **'इष्ट'** कर्मफल है, जिस परिस्थितिको प्राणी नहीं चाहता, वह **'अनिष्ट'** कर्मफल है और जिसमे कुछ भाग इष्टका तथा कुछ भाग अनिष्टका है, वह **'मिश्र'** कर्मफल है। वास्तवमे देखा जाय तो संसारमे प्रायः मिश्रित ही फल होता है; जैसे धन होनेसे अनुकूल (इष्ट) और प्रतिकूल (अनिष्ट)—दोनो ही परिस्थितियाँ आती हैं; धनसे निर्वाह होता है—यह अनुकूलता है और टैक्स लगता है, उसकी रक्षाकी चिन्ता होती है, उसके घटनेपर दुःख होता है—यह प्रतिकूलता है। अतः इष्ट और अनिष्ट कहनेका मतलब यह है कि कभी इष्टकी मुख्यता होती है तो कभी अनिष्टकी मुख्यता होती है।

'भवत्यत्यागिनां प्रेत्य'—उपर्युक्त सभी फल अत्यागियोंको अर्थात् फलकी इच्छा रखकर कर्म करनेवालोंको ही मिलते हैं, संन्यासियोंको नहीं। कारण कि जितने भी कर्म होते हैं, वे सब

प्रकृतिके द्वारा अर्थात् प्रकृतिके कार्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिके द्वारा ही होते हैं और फलरूप परिस्थिति भी प्रकृतिके द्वारा ही बनती है। इस वास्ते कर्मोंका और उनके फलोंका सम्बन्ध केवल प्रकृतिके साथ है, **'स्वयम्'** (चेतनस्वरूप) के साथ नहीं। परन्तु जब **'स्वयम्'** उससे सम्बन्ध तोड़ लेता है तो फिर वह भोगी नहीं बनता, प्रत्युत त्यागी हो जाता है।

अत्यागीका मतलब है—पिछले दो (दसवें-ग्यारहवें) श्लोकोंमें जिन त्यागियोंकी बात आयी है, उनके समान जो त्यागी नहीं हैं अर्थात् जिन्होंने कर्मफलका त्याग नहीं किया है; किंतु आसक्तिपूर्वक कर्म करते रहते हैं। ऐसे अत्यागी मनुष्योंके सामने इष्ट, अनिष्ट और मिश्र—तीनों कर्मफल अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितिके रूपमें आते रहते हैं, जिनसे वे सुखी-दुःखी होते रहते हैं। उनसे सुखी-दुःखी होना ही वास्तवमें बन्धन है।

वास्तवमें अनुकूलतासे सुखी होना ही प्रतिकूलतामें दुःखी होनेका कारण है; क्योंकि परिस्थितिजन्य सुख भोगनेवाला कभी दुःखसे बच ही नहीं सकता। जबतक वह सुख भोगता रहेगा, तब-तक वह प्रतिकूल परिस्थितियोंमें दुःखी होता ही रहेगा। चिन्ता, शोक, भय, उद्वेग आदि उसको कभी छोड़ नहीं सकते और वह भी इनसे कभी छूट नहीं सकता।

'प्रेत्य भवति' कहनेका तात्पर्य है कि जो कर्मफलके त्यागी नहीं हैं, उनको इष्ट, अनिष्ट और मिश्र—ये तीनों कर्मफल मरनेके बाद जरूर मिलते हैं। परंतु इसके साथ **'न तु संन्यासिनां क्वचित्'**

पदोंमें कहा गया है कि जो कर्मफलके त्यागी हैं, उनको कहीं भी अर्थात् यहाँ और मरनेके बाद भी कर्मफल नहीं मिलता। इससे सिद्ध होता है कि अत्यागियोंको मरनेके बाद तो कर्मफल मिलता ही है, पर यहाँ जीते-जी भी कर्मफल मिल सकता है।

'न तु संन्यासिनां क्वचित्'—संन्यासियों (त्यागियों) को कहीं भी अर्थात् इस लोकमें या परलोकमें, इस जन्ममें या मरनेके बाद भी कर्मफल भोगना नहीं पड़ता। हाँ, पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मोंके अनुसार इस जन्ममें उनके सामने अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति तो आती है, पर वे अपने विवेकके बलसे उन परिस्थितियोंके भोगी नहीं बनते, उनसे सुखी-दुःखी नहीं होते अर्थात् सर्वथा निर्लिप्त रहते हैं।

संन्यासियों अर्थात् त्यागियोंको फल क्यों नहीं भोगना पड़ता? क्योंकि वे अपने लिये कुछ भी नहीं करते। कारण यह कि उनको अच्छी तरहसे यह विवेक हो जाता है कि अपना जो सत्स्वरूप है, उसके लिये किसी भी क्रिया और वस्तुकी आवश्यकता है ही नहीं। अपने लिये पानेकी इच्छासे साधक कुछ भी करता है तो वह अपने व्यक्तित्वको ही कायम रखता है; क्योंकि वह दुनियामात्रके हितसे अपना हित अलग मानता है। जब वह दुनियामात्रके हितसे अपना हित अलग नहीं मानता अर्थात् सबके हितमें ही अपना हित मानता है तो वह स्वतः **'सर्वभूतहिते रताः'** हो जाता है। फिर उसके स्थूलशरीरसे होनेवाली क्रियाएँ, सूक्ष्मशरीरसे होनेवाला परहित-चिन्तन और कारणशरीरसे होनेवाली स्थिरता—तीनों ही संसारके मात्र

प्राणियोंके हितके लिये होती है। कारण कि शरीर आदि सब-की-सब सामग्री संसारसे अभिन्न है। उस सामग्रीसे अपना हित चाहता है—यही गल्ती होती है, जो कि अपनी परिच्छिन्नतामें हेतु होती है।

यहाँ **'संन्यासिनाम्'** पदमें त्यागी अर्थात् कर्मयोगी और संन्यासी अर्थात् सांख्ययोगी—दोनोंकी एकता की गयी है; जैसे—कर्मयोगी कर्मोंसे असङ्ग रहता है तो सांख्ययोगी भी कर्मोंसे सर्वथा निर्लिप्त रहता है। कर्मयोगी (निष्कामभावसे) कर्म करते हुए भी फलके साथ सम्बन्ध नहीं रखता तो सांख्ययोगी भी कर्ममात्रके साथ किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं रखता। कर्मयोगी फलसे सम्बन्ध-विच्छेद करता है अर्थात् ममताका त्याग करता है तो सांख्ययोगी कर्तृत्वाभिमान अर्थात् अहंताका त्याग करता है। ममताका त्याग होनेपर अहंताका भी स्वतः त्याग हो जाता है और अहंताका त्याग होनेपर ममताका भी स्वतः त्याग हो जाता है। इस वास्ते भगवान्‌ने कर्मयोगमें ममताके त्यागके बाद अहंताका त्याग बताया है—**'निर्ममो निरहंकारः'** (२ । ७१) और सांख्ययोगमें अहंताके त्यागके बाद ममताका त्याग बताया है—**'अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्। विमुच्य निर्ममः'**········' (१८ । ५३)। इन दोनोंकी इस त्याग करनेकी प्रक्रियामें तो फर्क है; परंतु परिवर्तनशील प्रकृति और प्रकृतिका कार्य—इनमेंसे किसीके भी साथ इन दोनोंका सम्बन्ध नहीं रहता अर्थात् तत्त्वमें कर्मयोगी और सांख्ययोगी—दोनों एक हो जाते हैं।

पहले अर्जुनने यह पूछा था कि मैं सन्यास और त्यागका तत्त्व जानना चाहता हूँ तो भगवान्‌ने यहाँ **'संन्यासिनाम्'** पदमें दोनोंका यह तत्त्व बताया कि कर्मयोगीका यह भाव रहता है कि अपना कुछ नहीं है, अपने लिये कुछ नहीं चाहिये और अपने लिये कुछ नहीं करना है। ऐसे ही सांख्ययोगीका भी यह भाव रहता है कि अपना कुछ नहीं है और अपने लिये कुछ नहीं चाहिये। साख्ययोगी प्रकृति और प्रकृतिके कार्यके साथ किञ्चिन्मात्र भी अपना सम्बन्ध नहीं मानता, इस वास्ते उसके लिये 'अपने लिये कुछ नहीं करना है'— यह कहना ही नहीं बनता।

यहाँ **'त्यागिनाम्'** पद न देकर **'संन्यासिनाम्'** पद देनेका यह तात्पर्य है कि जो निर्लिप्तता सांख्ययोगसे होती है, वही निर्लिप्तता त्यागसे अर्थात् कर्मयोगसे भी होती है *। दूसरी बात, यहाँतक कर्मयोगसे निर्लिप्तता बतायी, अब **'संन्यासिनाम्'** पद कहकर आगे साङ्ख्ययोगसे निर्लिप्तता बतानेका बीज भी डाल देते हैं।

कर्म-सम्बन्धी विशेष बात

पुरुष और प्रकृति—ये दो हैं। इनमेंसे पुरुषमें कभी परिवर्तन नहीं होता और प्रकृति कभी परिवर्तन-रहित नहीं होती। जब यह

---

* साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥
(गीता ५। ४-५)

पुरुष प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है तो प्रकृतिकी क्रिया पुरुषका 'कर्म' बन जाती है; क्योंकि प्रकृतिके साथ सम्बन्ध माननेसे तादात्म्य हो जाता है। तादात्म्य होनेसे जो प्राकृत वस्तुएँ प्राप्त हैं; उनमे ममता होती है और उस ममताके कारण अप्राप्त वस्तुओंकी कामना होती है। इस प्रकार जबतक कामना, ममता और तादात्म्य रहता है, तबतक जो कुछ परिवर्तनरूप क्रिया होती है, उसका नाम 'कर्म' है।

तादात्म्यके टूटनेपर वही कर्म पुरुषके लिये अकर्म हो जाता है अर्थात् वह कर्म क्रियामात्र रह जाता है, उसमे फलजनकता नहीं रहती—यह 'कर्ममे अकर्म' है। अकर्म-अवस्थामे अर्थात् स्वरूपका अनुभव होनेपर उस तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त पुरुषके शरीरसे जो क्रिया होती रहती है, वह 'अकर्ममें कर्म' है *। तात्पर्य यह हुआ कि अपने निर्लिप्त स्वरूपका अनुभव न होनेपर भी वास्तवमे सब क्रियाएँ प्रकृति और उसके कार्य शरीरमे ही होती है; परन्तु प्रकृति या शरीरसे अपनी पृथक्ताका अनुभव न होनेसे वे क्रियाएँ 'कर्म' बन जाती है †।

---

* कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ (गीता ४ । १८)

† प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ (गीता ३ । २७)
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥
(गीता १३ । २९)

कर्म तीन तरहके होते हैं—क्रियमाण, सञ्चित और प्रारब्ध । अभी वर्तमानमें जो कर्म किये जाते है, वे **'क्रियमाण'** कर्म कहलाते हैं * । वर्तमानसे पहले इस जन्ममें किये हुए अथवा पहलेके अनेक मनुष्यजन्मोमे किये हुए जो कर्म संग्रहीत है, वे **'सञ्चित'** कर्म कहलाते हैं । सञ्चितमेंसे जो कर्म फल देनेके लिये प्रस्तुत (उन्मुख) हो गये हैं अर्थात् जन्म, आयु और सुखदायी-दुःखदायी परिस्थितिके रूपमे परिणत होनेके लिये सामने आ गये हैं, वे **'प्रारब्ध'** कर्म कहलाते हैं ।

क्रियमाण कर्म
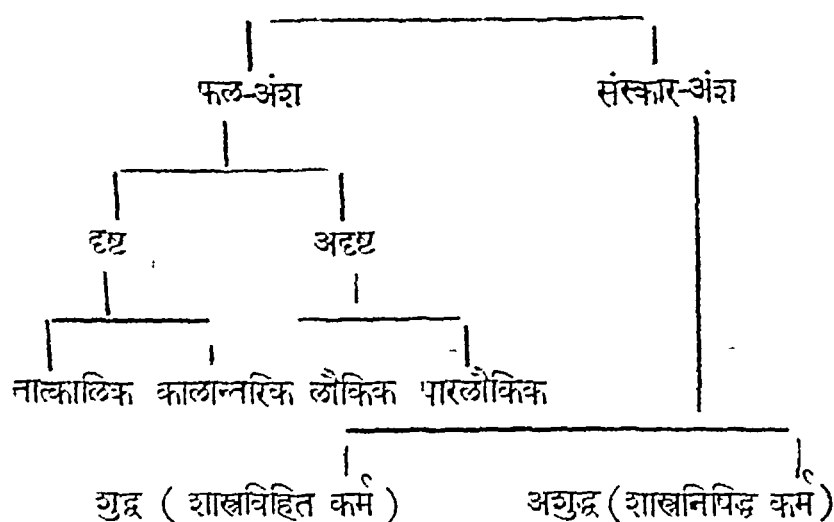
* जो भी नये कर्म और उनके सस्कार वनते है, वे सब केवल मनुष्य-जन्ममे ही वनते हैं (गीता ४ । १२, १५ । २) पशु-पक्षी आदि योनियोंमें नहीं; क्योंकि वे योनियॉ केवल कर्मफल-भोगके लिये ही मिलती हैं ।

क्रियमाण कर्म दो तरहके होते हैं—शुभ और अशुभ। जो कर्म शास्त्रानुसार विधि-विधानसे किये जाते हैं, वे शुभ-कर्म कहलाते हैं और काम, क्रोध, लोभ, आसक्ति आदिको लेकर जो शास्त्रनिषिद्ध कर्म किये जाते है, वे अशुभ-कर्म कहलाते हैं।

शुभ अथवा अशुभ प्रत्येक क्रियमाण कर्मका एक तो फल-अंश बनता है और एक संस्कार-अंश। ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

क्रियमाण कर्मके फल-अंशके दो भेद हैं—दृष्ट और अदृष्ट। इनमेंसे दृष्टके भी दो भेद होते हैं—तात्कालिक और कालान्तरिक। जैसे स्वादिष्ट भोजन करते हुए जो रस आता है, सुख होता है, प्रसन्नता होती है और तृप्ति होती है—यह दृष्टका 'तात्कालिक' फल है और भोजनके परिणाममें आयु, बल, आरोग्य आदिका बढ़ना—यह दृष्टका 'कालान्तरिक' फल है। ऐसे ही जिसका अधिक मिर्च खानेका स्वभाव है, वह जब अधिक मिर्चवाले पदार्थ खाता है तो उसको प्रसन्नता होती है, सुख होता है और मिर्चकी तीक्ष्णताके कारण मुँहमे, जीभमें जलन होती है, आँखोसे और नाकसे पानी निकलता है, सिरसे पसीना निकलता है—यह दृष्टका 'तात्कालिक' फल है और कुपथ्यके कारण परिणाममे पेटमें जलन और रोग, दुःख आदिका होना—यह दृष्टका 'कालान्तरिक' फल है।

इसी प्रकार अदृष्टके भी दो भेद होते हैं—लौकिक और पारलौकिक। जीते-जी ही फल मिल जाय—इस भावसे यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, मन्त्र-जप आदि शुभ-कर्मोंको विधि-विधानसे किया जाय और उसका कोई प्रबल प्रतिबन्ध न हो तो यहाँ ही पुत्र,

अतः उनके कानूनके अनुसार उन पापोंका फल यहाँ जितने अंशमें कम भोगा गया है, उतना इस जन्ममें या मरनेके बाद भोगना ही पड़ेगा। इस वास्ते मनुष्यको ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये कि मेरा पाप तो कम था, पर दण्ड अधिक भोगना पड़ा अथवा मैंने पाप तो किया नहीं पर दण्ड मुझे मिल गया! कारण कि यह सर्वज्ञ, सर्वसुहृद्, सर्वसमर्थ भगवान्‌का विधान है कि पापसे अधिक दण्ड कोई नहीं भोगता और जो दण्ड मिलता है, वह किसी-न-किसी पापका ही फल होता है।*

---

* एक सुनी हुई कहानी है। किसी गाँवमें एक सज्जन रहते थे। उनके घरके सामने एक सुनारका घर था। सुनारके पास सोना आता रहता था और वह गढ़कर देता रहता था। ऐसे वह पैसे कमाता था। एक दिन उसके पास अधिक सोना जमा हो गया। रात्रिमें पहरा लगाने-वाले सिपाहीको इस बातका पता लग गया। उस पहरेदारने रात्रिमें उस सुनारको मार दिया और जिस बक्सेमें सोना था, उसे उठाकर चल दिया। इसी बीच सामने रहनेवाले सज्जन लघुशङ्काके लिये उठकर बाहर आये। उन्होंने पहरेदारको पकड़ लिया कि तू इस बक्सेको कैसे ले जा रहा है? तो पहरेदारने कहा—तू चुप रह, हल्ला मत कर। इसमेंसे कुछ तू ले ले और कुछ मैं ले लूँ। सज्जन बोले—मैं कैसे ले लूँ! मैं चोर थोड़ा ही हूँ। पहरेदारने कहा—देख, तू समझ जा, मेरी बात मान ले, नहीं तो दुःख पायेगा। पर वे सज्जन माने नहीं। तब पहरेदारने बक्सा नीचे रख दिया और उस सज्जनको पकड़कर जोरसे सीटी बजा दी। सीटी सुनते ही और जगह पहरा लगानेवाले सिपाही दौड़कर वहाँ आ गये। उसने सबसे कहा कि यह इस घरसे बक्सा लेकर आया है और मैंने इसको पकड़ लिया है। तब सिपाहियोंने घरमें घुसकर देखा कि सुनार मरा पड़ा है। उन्होंने उस सज्जनको पकड़ लिया और

राज्यके हवाले कर दिया। जजके सामने बहस हुई तो उस सज्जनने कहा कि मैंने नहीं मारा है उस पहरेदार सिपाहीने मारा है। सब सिपाही आपसमें मिले हुए थे, उन्होंने कहा कि नहीं, इसीने मारा है, हमने खुद रात्रिमें इसे पकड़ा है, इत्यादि।

मुकदमा चला। चलते-चलते अन्तमें उस सज्जनके लिये फाँसीका हुक्म हुआ। फाँसीका हुक्म होते ही उस सज्जनके मुखसे निकला—देखो, सरासर अन्याय हो रहा है! भगवान्‌के दरबारमें कोई न्याय नहीं! मैंने मारा नहीं, मुझे दण्ड हो और जिसने मारा है, वह बेदाग छूट जाय, जुर्माना भी नहीं; यह अन्याय है! जजपर इसका असर पड़ा कि वास्तवमें यह सच्चा बोल रहा है, इसकी किसी तरहसे जाँच होनी चाहिये। ऐसा विचार करके उस जजने एक षड्यन्त्र रचा।

सुबह होते ही एक आदमी रोता-चिल्लाता हुआ आता है और कहता है—हमारे भाईकी हत्या हो गयी, सरकार! इसकी जाँच होनी चाहिये। तब जजने उसी सिपाहीको और कैदी सज्जनको मरे व्यक्तिकी लाश उठाकर लानेके लिये भेजा। दोनों उस आदमीके साथ वहाँ गये, जहाँ लाश पड़ी थी। खाटपर लाशके ऊपर कपड़ा बिछा था। खून बिखरा पड़ा था। दोनोंने उस खाटको उठाया और उठाकर ले चले। साथका दूसरा आदमी खबर देनेके बहाने दौड़कर आगे चला गया। तब चलते-चलते सिपाहीने कैदीसे कहा—देख, उस दिन तू मेरी बात मान लेता तो सोना मिल जाता और फाँसी भी नहीं होती, अब देख लिया सच्चाईका फल? कैदीने कहा—मैंने तो अपना काम सच्चाईका ही किया था, फाँसी हो गयी तो हो गयी! हत्या की तूने और दण्ड भोगना पड़ा मेरेको! भगवान्‌के यहाँ न्याय नहीं!

खाटपर झूठमूठ मरे हुएके समान पड़ा हुआ आदमी उन दोनोंकी बातें सुन रहा था। उसने खाटपर पड़े-पड़े उन दोनोंकी बातें लिख लीं कि सिपाहीने यह कहा और कैदीने यह कहा। जब जजके सामने खाट

रखी गयी तो खूनभरे कपड़ेको हटाकर वह उठ खड़ा हुआ और उसने सारी बात जजको बता दी कि रास्तेमें सिपाही यह बोला और कैदी यह बोला। यह सुनकर जजको बड़ा आश्चर्य हुआ। सिपाही भी हक्का-बक्का रह गया। सिपाहीको पकड़कर कैद कर लिया गया। परंतु जजके मनमें सन्तोष नहीं हुआ। उसने कैदीको एकान्तमें बुलाकर कहा कि इस मामलेमें तो मैं तुम्हें निर्दोष मानता हूँ, पर सच-सच बताओ कि इस जन्ममें तुमने कोई हत्या की है क्या? वह बोला—बहुत पहलेकी घटना है। एक दुष्ट था जो छिपकर मेरे घर मेरी स्त्रीके पास आया करता था। मैंने अपनी स्त्रीको तथा उसको अलग-अलग खूब समझाया। पर वह माना नहीं। एक रात वह घरपर था और अचानक मैं आ गया। मेरेको गुस्सा आया हुआ था। मैंने तलवारसे उसका गला काट दिया और घरके पीछे जो नदी है, उसमें फेंक दिया। इस घटनाका किसीको पता नहीं लगा। यह सुनकर जज बोला—तुम्हारेको इस समय फाँसी होगी ही; मैंने भी सोचा कि मैंने किसीसे घूस (रिश्वत) नहीं खायी, कभी बेईमानी नहीं की, फिर मेरे हाथसे इसके लिये फाँसीका हुक्म लिखा कैसे गया? अब सन्तोष हुआ। उसी पापका फल तुम्हें यह भोगना पड़ेगा। सिपाहीको अलग फाँसी होगी।

इस कहानीसे यह पता लगता है कि मनुष्यके कब किये हुए पापका फल कब मिलेगा—इसका कुछ पता नहीं। भगवान्‌का विधान विचित्र है। जबतक पुराने पुण्य प्रबल रहते हैं, तबतक उग्र पापका फल भी तत्काल नहीं मिलता। जब पुराने पुण्य खतम होते हैं, तब उस पापकी बारी आती है। पापका फल दण्ड तो भोगना पड़ेगा ही, चाहे इस जन्ममें भोगना पड़े या जन्मान्तरमें।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म जन्मकोटिशतैरपि॥

इसी तरह धन-सम्पत्ति, मान, आदर, प्रशंसा, नीरोगता आदि अनुकूल परिस्थितिके रूपमें पुण्य-कर्मोंका जितना फल यहाँ भोग लिया है, उतना अंश तो यहाँ नष्ट हो ही गया और जितना बाकी रह गया है, वह परलोकमें फिर भोगा जा सकता है। यदि पुण्य-कर्मोंका पूरा फल यहीं भोग लिया गया है तो पुण्य यहींपर समाप्त हो जायँगे।

क्रियमाण-कर्मके संस्कार-अंशके भी दो भेद हैं—शुद्ध एवं पवित्र संस्कार और अशुद्ध एवं अपवित्र संस्कार। शास्त्रविहित कर्म करनेसे जो संस्कार पड़ते हैं, वे शुद्ध एवं पवित्र होते हैं और शास्त्र, नीति लोकमर्यादाके विरुद्ध कर्म करनेसे जो संस्कार पड़ते हैं, वे अशुद्ध एवं अपवित्र होते हैं।

इन दोनों शुद्ध और अशुद्ध संस्कारोंको लेकर स्वभाव (प्रकृति, आदत) बनता है। उन संस्कारोंमेंसे अशुद्ध अंशका सर्वथा नाश करनेपर स्वभाव शुद्ध, निर्मल, पवित्र हो जाता है; परंतु जिन पूर्वकृत कर्मोंसे स्वभाव बना है, उन कर्मोंकी भिन्नताके कारण जीवन्मुक्त पुरुषोंके स्वभावोंमें भी भिन्नता रहती है। इन विभिन्न स्वभावोंके कारण ही उनके द्वारा विभिन्न कर्म होते हैं, पर वे कर्म-दोषी नहीं होते, प्रत्युत सर्वथा शुद्ध होते हैं और उन कर्मोंसे दुनियाका कल्याण होता है।

संस्कार-अंशसे जो स्वभाव बनता है, वह एक दृष्टिसे महान् प्रबल होता है—**'स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते'**, अतः उसे मिटाया नहीं

जा सकता* । इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णोंका जो स्वभाव है, उसकी कर्म करनेमें मुख्यता रहती है । इस वास्ते भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है कि जिस कर्मको तू मोहवश नहीं करना चाहता, उसको भी अपने स्वाभाविक कर्मसे बँधा हुआ परवश होकर करेगा (गीता १८ । ६०) ।

अब इसमें विचार करनेकी एक बात है कि एक ओर तो स्वभावकी महान् प्रबलता है कि उसको कोई छोड ही नहीं सकता, और दूसरी ओर मनुष्य-जन्मके उद्योगकी महान् प्रबलता है कि मनुष्य सब कुछ करनेमें स्वतन्त्र है । तो इन दोनोंमें किसकी विजय होगी और किसकी पराजय होगी ? इसमें विजय-पराजयकी बात नहीं है । अपनी-अपनी जगह दोनो ही प्रबल हैं । परंतु यहाँ स्वभाव न छोड़नेकी जो बात है, वह जाति-विशेषके स्वभावकी बात है । तात्पर्य यह कि जीव जिस वर्णमे जन्मा है, जैसा रज-वीर्य था, उसके अनुसार बना हुआ जो स्वभाव है, उसको

---

* व्याघ्रस्तुष्यति कानने सुगहनां सिंहो गुहां सेवते
हसो वाञ्छति पद्मिनीं कुसुमिता गृध्रः श्मशाने स्थले ।
साधुः सत्कृतिसाधुमेव भजते नीचोऽपि नीच जन
या यस्य प्रकृतिः स्वभावजनिता केनापि न त्यज्यते ॥

'व्याघ्र घने वनमे संतुष्ट रहता है, सिंह गहन गुफाका सेवन करता है, हस खिली हुई कमलिनीको चाहता है, गीध श्मशान-भूमिमें रहना पसंद करता है, सज्जन पुरुष अच्छे आचरणोवाले सज्जन पुरुषोमे और नीच पुरुष नीच लोगोंमें ही रहना चाहते है । सच है, स्वभावसे पैदा हुई जिसकी जैसी प्रकृति है, उस प्रकृतिको कोई नहीं छोड़ता ।'

कोई बदल नहीं सकता, अतः वह स्वभाव दोषी नहीं है, निर्दोष है। जैसे, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णोंके जो स्वभाव है, वह स्वभाव नहीं बदल सकता और उसको बदलनेकी आवश्यकता भी नहीं है तथा उसको बदलनेके लिये शास्त्र भी नहीं कहता। परंतु उस स्वभावमे जो अशुद्ध-अंश (राग-द्वेष) है, उसको मिटानेकी सामर्थ्य भगवान्‌ने मनुष्यको दी है। अतः जिन दोषोसे मनुष्यका स्वभाव अशुद्ध बना है, उन दोषोको मिटाकर मनुष्य स्वतन्त्रतापूर्वक अपने स्वभावको शुद्ध बना सकता है। मनुष्य चाहे तो कर्मयोगकी दृष्टिसे अपने प्रयत्नसे राग-द्वेषको मिटाकर स्वभाव शुद्ध बना ले*, चाहे भक्तियोगकी दृष्टिसे सर्वथा भगवान्‌के शरण होकर अपना स्वभाव शुद्ध बना ले (१८ । ६२)। इस प्रकार प्रकृति (स्वभाव)-की प्रबलता भी सिद्ध हो गयी और मनुष्यकी स्वतन्त्रता भी सिद्ध हो गयी। तात्पर्य यह हुआ कि शुद्ध स्वभावको रखनेमे प्रकृतिकी प्रबलता है और अशुद्ध स्वभावको मिटानेमे मनुष्यकी स्वतन्त्रता है।

जैसे, लोहेकी तलवारको पारस छुआ दिया जाय तो तलवार सोना बन जायगी, परंतु उसकी मार, धार और आकार—ये तीनो नहीं बदलते। इस प्रकार सोना बनानेमे पारसकी प्रधानता रही और 'मार-धार-आकार'मे तलवारकी प्रधानता रही। ऐसे ही जिन लोगोने अपने स्वभावको परम शुद्ध बना लिया है, उनके कर्म भी सर्वथा शुद्ध होते है। परंतु स्वभावके शुद्ध होनेपर भी वर्ण, आश्रम,

---

* इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ (गीता ३ । ३४)

सम्प्रदाय, साधन-पद्धति, मान्यता आदिके अनुसार आपसमें उनके कर्मोंकी भिन्नता रहती है। जैसे, किसी ब्राह्मणको तत्त्वबोध हो जानेपर भी वह खान-पान आदिमें पवित्रता रखेगा और अपने हाथसे बनाया हुआ भोजन ही ग्रहण करेगा, क्योंकि उसके स्वभावमें पवित्रता है। परंतु किसी हरिजन आदि साधारण वर्ण-वालेको तत्त्वबोध हो जाय तो वह खान-पान आदिमें पवित्रता नहीं रखेगा और दूसरोंकी जूठन भी खा लेगा; क्योंकि उसका स्वभाव ही ऐसा पड़ा हुआ है। पर ऐसा स्वभाव उसके लिये दोषी नहीं होगा।

जीवका असत्‌के साथ सम्बन्ध जोड़नेका स्वभाव अनादिकालसे बना हुआ है, जिसके कारण वह जन्म-मरणके चक्करमें पड़ा हुआ है और बार-बार ऊँच-नीच योनियोंमें जाता है। उस स्वभावको मनुष्य शुद्ध कर सकता है अर्थात् उसमें जो कामना, ममता और तादात्म्य है, उनको मिटा सकता है। कामना, ममता और तादात्म्यके मिटनेके बाद जो स्वभाव रहता है, वह स्वभाव दोषी नहीं रहता। इस वास्ते उसको मिटाना नहीं है और मिटानेकी आवश्यकता भी नहीं है।

जब मनुष्य अहंकारका आश्रय छोड़कर सर्वथा भगवान्‌के शरण हो जाता है, तो उसका स्वभाव शुद्ध हो जाता है, जैसे लोहा पारसके स्पर्शसे शुद्ध सोना बन जाता है। स्वभाव शुद्ध होनेसे फिर वह स्वभावज-कर्म करते हुए भी दोषी और पापी नहीं बनता (१८। ४७)। सर्वथा भगवान्‌के शरण होनेके बाद

भक्तका प्रकृतिके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। फिर भक्तके जीवनमें भगवान्‌का स्वभाव काम करता है। भगवान् समस्त प्राणियोंके सुहृद् हैं—**'सुहृदं सर्वभूतानाम्'** (गीता ५ । २९) तो भक्त भी समस्त प्राणियोंका सुहृद् हो जाता है—**'सुहृदः सर्वदेहिनाम्'** (श्रीमद्भा० ३ । २५ । २१)।

इसी तरह कर्मयोगकी दृष्टिसे जब मनुष्य राग-द्वेषको मिटा देता है, तब उसके स्वभावकी शुद्धि, वृद्धि और पुष्टि हो जाती है, जिससे अपने स्वार्थका भाव मिटकर केवल दुनियाके हितका भाव स्वतः हो जाता है । जैसे भगवान्‌का स्वभाव प्राणिमात्रका हित करनेका है, ऐसे ही उसका स्वभाव भी प्राणिमात्रका हित करनेका हो जाता है —**'सर्वभूतहिते रताः'**(गीता ५ । २५, १२ । ४) । जब उसकी सब चेष्टाएँ प्राणिमात्रके हितमें हो जाती हैं तो उसकी भगवान्‌की सर्वभूतसुहृत्ता-शक्तिके साथ एकता हो जाती है । उसके उस स्वभावमें भगवान्‌की सुहृत्ता-शक्ति कार्य करने लगती है ।

वास्तवमें भगवान्‌की वह सर्वभूतसुहृत्ता-शक्ति मनुष्यमात्रके लिये समान रीतिसे खुली हुई है; परंतु अपने अहंकार और राग-द्वेषके कारण उस शक्तिमें बाधा लग जाती है अर्थात् वह शक्ति कार्य नहीं करती । महापुरुषोंमें अहंकार (व्यक्तित्व) और राग-द्वेष नहीं रहते, इस वास्ते उनमें यह शक्ति कार्य करने लग जाती है ।

सञ्चित कर्म

सञ्चित कर्म

संस्कार-अंश	फल-अंश
स्फुरणा	प्रारब्ध

अनेक मनुष्य-जन्मोंमे किये हुए जो कर्म (फल-अंश और संस्कार-अंश) अन्त.करणमें संगृहीत रहते हैं, वे सञ्चित कर्म कहलाते हैं। उनमे फल-अंशसे तो 'प्रारब्ध' वनता है और संस्कार-अंशसे 'स्फुरणा' होती रहती है। उन स्फुरणाओमे भी वर्तमानमें किये गये जो नये क्रियमाण कर्म सञ्चितमे भरती हुए है, प्राय· उनकी ही स्फुरणा होती है। कभी-कभी सञ्चितमें भरती हुए पुराने कर्मोंकी स्फुरणा भी हो जाती है*; जैसे—किसी वर्तनमें पहले प्याज डाल दें और उसके

---

* स्फुरणा सञ्चितके अनुसार भी होती है और प्रारब्धके अनुसार भी होती है। सञ्चितके अनुसार जो स्फुरणा होती है, वह मनुष्यको कर्म करनेके लिये वाध्य नही करती। परन्तु सञ्चितकी स्फुरणामे भी यदि राग-द्वेष हो जायँ तो वह 'सकल्प' वनकर मनुष्यको कर्म करनेके लिये वाध्य कर सकती है। प्रारब्धके अनुसार जो स्फुरणा होती है, वह (फल-भोग करानेके लिये) मनुष्यको कर्म करनेके लिये वाध्य करती है; परन्तु वह विहित-कर्म करनेके लिये ही वाध्य करती है, निषिद्ध-कर्म करनेके लिये नहीं। कारण कि विवेकप्रधान मनुष्यशरीर निषिद्ध-कर्म करनेके लिये नहीं है। अतः अपनी विवेकशक्तिको प्रवल करके निषिद्धका त्याग करनेकी जिम्मेवारी मनुष्यपर है और ऐसा करनेमे वह स्वतन्त्र है।

ऊपर क्रमशः गेहूँ, चना, ज्वार, बाजरा डाल दे तो निकालते समय जो सबसे पीछे डाला था, वही (बाजरा) सबसे पहले निकलेगा, पर बीचमें कभी-कभी प्याजका भी भभका आ जायेगा। परंतु यह दृष्टान्त पूरा नहीं घटता; क्योंकि प्याज, गेहूँ आदि सावयव पदार्थ हैं और सञ्चित कर्म निरवयव है। यह दृष्टान्त केवल इतने ही अंशमें बतानेके लिये दिया है कि नये क्रियमाण कर्मोंकी स्फुरणा ज्यादा होती है और कभी-कभी पुराने कर्मोंकी भी स्फुरणा होती है।

इसी तरह जब नींद आती है तो उसमें भी स्फुरणा होती है। नींदमें जाग्रत्-अवस्थाके दब जानेके कारण सञ्चितकी वह स्फुरणा स्वप्नरूपसे दीखने लग जाती है, उसीको स्वप्नावस्था कहते हैं।*

---

* जाग्रत्-अवस्थामें भी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों अवस्थाएँ होती हैं; जैसे—मनुष्य जाग्रत्-अवस्थामें बड़ी सावधानीसे काम करता है तो यह जाग्रत्में जाग्रत्-अवस्था है। जाग्रत्-अवस्थामें मनुष्य जिस कामको करता है, उस कामके अलावा अचानक जो दूसरी स्फुरणा होने लगती है, वह जाग्रत्में स्वप्न-अवस्था है। जाग्रत्-अवस्थामें कभी-कभी काम करते हुए भी उस कामकी तथा पूर्वकर्मोंकी कोई भी स्फुरणा नहीं होती, बिल्कुल वृत्ति-रहित अवस्था हो जाती है, वह जाग्रत्में सुषुप्ति-अवस्था है।

कर्म करनेका वेग ज्यादा रहनेसे जाग्रत्-अवस्थामें जाग्रत् और स्वप्न-अवस्था तो ज्यादा होती है, पर सुषुप्ति-अवस्था बहुत थोड़ी होती है। अगर कोई साधक जाग्रत्की स्वाभाविक सुषुप्तिको स्थायी बना ले तो उसका साधन बहुत तेज हो जायगा, क्योंकि जाग्रत्-सुषुप्तिमें साधकका परमात्माके साथ निरावरणरूपसे स्वतः सम्बन्ध होता है। ऐसे तो सुषुप्ति-अवस्थामें भी संसारका सम्बन्ध टूट जाता है; परंतु बुद्धि-वृत्ति अज्ञानमें

स्वप्नावस्थामें बुद्धिकी सावधानी न रहनेके कारण क्रम, व्यतिक्रम और अनुक्रम—ये नहीं रहते। जैसे, शहर तो दिल्लीका दीखता है और बाजार बम्बईका तथा उस बाजारमें दूकानें कलकत्ताकी दीखती हैं; कोई जीवित आदमी दीख जाता है अथवा किसी मरे हुए आदमीसे मिलना हो जाता है, बातचीत हो जाती है।

जाग्रत्-अवस्थामें हरेक मनुष्यके मनमें अनेक तरहकी स्फुरणाएँ होती रहती हैं। जब जाग्रत्-अवस्थामें शरीर, इन्द्रियाँ और मनपरसे बुद्धिका अधिकार हट जाता है तब मनुष्य जैसा मनमें आता है, वैसा बोलने लगता है। इस तरह उचित-अनुचितका विचार करनेकी शक्ति काम न करनेसे वह 'सीधा-सरल पागल' कहलाता है। परंतु जिसके शरीर, इन्द्रियाँ और मनपर बुद्धिका अधिकार रहता है, वह जो उचित समझता है, वही बोलता है और जो अनुचित समझता है, वह नहीं बोलता। बुद्धि सावधान रहनेसे वह सावचेत रहता है। इसलिये वह 'चतुर पागल' है।

इस प्रकार मनुष्य जबतक परमात्मप्राप्ति नहीं कर लेता, तबतक वह अपनेको स्फुरणाओंसे बचा नहीं सकता। परमात्मप्राप्ति

लीन हो जानेसे स्वरूपका स्पष्ट अनुभव नहीं होता। जाग्रत्-सुषुप्तिमें बुद्धि जाग्रत् रहनेसे स्वरूपका स्पष्ट अनुभव होता है।

यह जाग्रत्-सुषुप्ति समाधिसे भी विलक्षण है; क्योंकि यह स्वतः होती है और समाधिमें अभ्यासके द्वारा वृत्तियोंको एकाग्र तथा निरुद्ध करना पड़ता है। इस वास्ते समाधिमें पुरुषार्थ साथमें रहनेके कारण शरीरमें स्थिति होती है; परंतु जाग्रत्-सुषुप्तिमें अभ्यास और अहंकारके बिना वृत्तियाँ स्वतः निरुद्ध होनेके कारण स्वरूपमें स्थिति होती है अर्थात् स्वरूपका अनुभव होता है।

होनेपर बुरी स्फुरणाएँ सर्वथा मिट जाती हैं। इस वास्ते जीवनमुक्त पुरुषके मनमें अपवित्र बुरे विचार कभी आते ही नहीं। अगर उसके कहलानेवाले शरीरमें प्रारब्धवश व्याधि आदि किसी कारणवश कभी बेहोशी, उन्माद आदि हो जाता है तो उसमें भी वह न तो शास्त्रनिषिद्ध बोलता है और शास्त्रनिषिद्ध कुछ करता ही है; क्योंकि अन्तःकरण शुद्ध हो जानेसे शास्त्रनिषिद्ध बोलना या करना उसके स्वभावमें नहीं रहता।

प्रारब्ध कर्म

प्रारब्ध कर्म
- अनुकूल परिस्थिति
  - स्वेच्छापूर्वक क्रिया-प्रवृत्ति
  - अनिच्छापूर्वक क्रिया
  - परेच्छापूर्वक क्रिया
- मिश्रित (अनुकूल-प्रतिकूल) परिस्थिति
  - स्वेच्छापूर्वक क्रिया
  - अनिच्छापूर्वक क्रिया
  - परेच्छापूर्वक क्रिया
- प्रतिकूल परिस्थिति
  - स्वेच्छापूर्वक क्रिया
  - अनिच्छापूर्वक क्रिया
  - परेच्छापूर्वक क्रिया
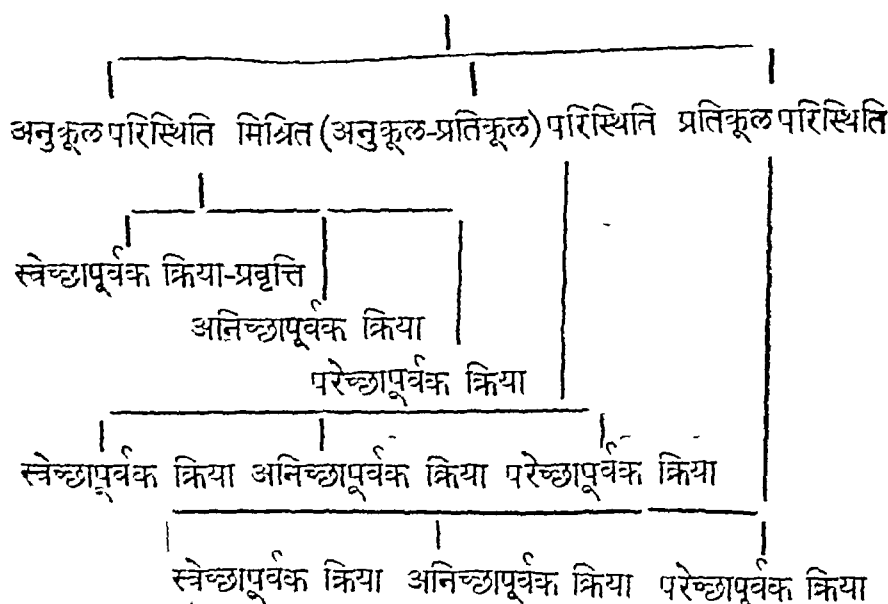
सञ्चितमेंसे जो कर्म फल देनेके लिये सम्मुख होते हैं, उन कर्मोंको प्रारब्ध कर्म कहते हैं *। प्रारब्ध कर्मोंका फल तो अनुकूल

* 'प्रकर्षेण आरब्धः प्रारब्धः' अर्थात् अच्छी तरहसे फल देनेके लिये जिसका आरम्भ हो चुका है, वह प्रारब्ध है।

या प्रतिकूल परिस्थितिके रूपमें सामने आता है; परंतु उन प्रारब्ध कर्मोंको भोगनेके लिये प्राणियोंकी प्रवृत्ति तीन प्रकारसे होती है—(१) स्वेच्छापूर्वक, (२) अनिच्छा-(दैवेच्छा-) पूर्वक और (३) परेच्छापूर्वक । उदाहरणार्थ—

(१) किसी व्यापारीने माल खरीदा तो उसमें मुनाफा हो गया। ऐसे ही किसी व्यापारीने माल खरीदा तो उसमें घाटा लग गया। इन दोनोंमें मुनाफा होना और घाटा लगना तो उनके शुभ-अशुभ कर्मोंसे बने हुए प्रारब्धका फल है; परन्तु माल खरीदनेमें उनकी प्रवृत्ति स्वेच्छापूर्वक हुई है।

(२) कोई सज्जन कहीं जा रहा था तो आगे आनेवाली नदीमें बाढ़के प्रवाहके कारण एक धनका टोकरा बहकर आया और उस सज्जनने उसे निकाल लिया। ऐसे ही कोई सज्जन कहीं जा रहा था तो उसपर वृक्षकी एक टहनी गिर पड़ी और उसको चोट लग गयी। इन दोनोंमें धनका मिलना और चोट लगना तो उनके शुभ-अशुभ कर्मोंसे बने हुए प्रारब्धका फल है; परंतु धनका टोकरा मिलना और वृक्षकी टहनी गिरना—यह प्रवृत्ति अनिच्छा-(दैवेच्छा-) पूर्वक हुई है।

(३) किसी धनी व्यक्तिने किसी बच्चेको गोद ले लिया अर्थात् उसको पुत्र-रूपमें स्वीकार कर लिया, जिससे उसका सब धन उस बच्चेको मिल गया। ऐसे ही चोरोंने किसीका सब धन लूट लिया। इन दोनोंमें, बच्चेको धन मिलना और चोरीमें धनका चला जाना तो उनके शुभ-अशुभ कर्मोंसे बने हुए प्रारब्धका फल है;

परंतु गोदमें जाना और चोरी होना—यह प्रवृत्ति परेच्छापूर्वक हुई है।

यहाँ एक बात और समझ लेनी चाहिये कि कर्मोंका फल 'कर्म' नहीं होता, प्रत्युत 'परिस्थिति' होती है अर्थात् प्रारब्ध कर्मोंका फल परिस्थितिरूपसे सामने आता है। अगर नये (क्रियमाण) कर्मको प्रारब्धका फल मान लिया जाय तो फिर 'ऐसा करो, ऐसा मत करो'—यह शास्त्रोंका, गुरुजनोंका विधि-निषेध निरर्थक हो जायगा। दूसरी बात, पहले जैसे कर्म किये थे, उन्हींके अनुसार जन्म होगा और उन्हींके अनुसार कर्म होंगे तो वे कर्म फिर अगाड़ी नये कर्म पैदा कर देंगे, जिससे यह कर्म-परम्परा चलती ही रहेगी अर्थात् इसका कभी अन्त ही नहीं आयेगा।

प्रारब्ध कर्मसे मिलनेवाले फलके दो भेद हैं—प्राप्त फल और अप्राप्त फल। अभी प्राणियोंके सामने जो अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति आ रही है, वह 'प्राप्त' फल है और इसी जन्ममें जो अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति भविष्यमें आनेवाली है, वह 'अप्राप्त' फल है।

क्रियमाण कर्मोंका जो फल-अंश सञ्चितमें जमा रहता है, वही प्रारब्ध बनकर अनुकूल, प्रतिकूल और मिश्रित परिस्थितिके रूपमें प्राणीके सामने आता है। जबतक सञ्चित कर्म रहते हैं, तबतक प्रारब्ध बनता ही रहता है और प्रारब्ध परिस्थितिके रूपमें परिणत होता ही रहता है। यह परिस्थिति प्राणीको सुखी-दुःखी होनेके लिये बाध्य नहीं करती। सुखी-दुःखी होनेमें तो परिवर्तनशील

परिस्थितिके साथ सम्बन्ध जोड़ना ही मुख्य कारण है। परिस्थितिके साथ सम्बन्ध जोड़ने अथवा न जोड़नेमें यह प्राणी सर्वथा स्वाधीन है, पराधीन नहीं है। जो परिवर्तनशील परिस्थितिके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, वह अविवेकी पुरुष तो सुखी-दुःखी होता ही रहता है। परंतु जो परिस्थितिके साथ सम्बन्ध नहीं मानता, वह विवेकी पुरुष कभी सुखी-दुःखी नहीं होता; अतः उसकी स्थिति स्वतः साम्यावस्थामें होती है, जो कि उसका स्वरूप है।

कर्मोंमें मनुष्यके प्रारब्धकी प्रधानता है या पुरुषार्थकी ? अथवा प्रारब्ध बलवान् है या पुरुषार्थ ?—इस विषयमें बहुत-सी शङ्काएँ हुआ करती हैं। उनके समाधानके लिये पहले यह समझ लेना जरूरी है कि प्रारब्ध और पुरुषार्थ क्या है ?

मनुष्यमें चार तरहकी चाहनाएँ हुआ करती हैं—एक धनकी, दूसरी धर्मकी, तीसरी भोगकी और चौथी मुक्तिकी। प्रचलित भाषामें इन्हीं चारोंको अर्थ, धर्म, काम और मोक्षके नामसे कहा जाता है—

(१) अर्थ—धनको 'अर्थ' कहते हैं। वह धन दो तरहका होता है—स्थावर और जङ्गम। सोना, चाँदी, रुपये, जमीन, जायदाद, मकान आदि स्थावर हैं और गाय, भैंस, ऊँट, भेड़, बकरी आदि जङ्गम हैं।

(२) धर्म—सकाम अथवा निष्काम भावसे जो यज्ञ, तप, दान, व्रत, तीर्थ आदि किये जाते हैं, उसको 'धर्म' कहते हैं।

(३) काम—सांसारिक सुख-भोगको 'काम' कहते हैं। वह सुखभोग आठ तरहका होता है—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, मान, बड़ाई और आराम।

(क) **शब्द**—शब्द दो तरहका होता है—वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक। व्याकरण, कोश, साहित्य, उपन्यास, गल्प, कहानी आदि 'वर्णात्मक' शब्द हैं*। खाल, तार और फूँकके तीन बाजे और तालका आधा बाजा—ये साढ़े तीन प्रकारके बाजे 'ध्वन्यात्मक' शब्दको प्रकट करनेवाले हैं†। इन वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक शब्दोंको सुननेसे जो सुख मिलता है, वह शब्दका सुख है।

(ख) **स्पर्श**—स्त्री, पुत्र, मित्र आदिके साथ मिलनेसे तथा ठण्डा, गरम, कोमल आदिसे अर्थात् त्वचाके साथ संयोग होनेसे जो सुख होता है, वह स्पर्शका सुख है।

(ग) **रूप**—नेत्रोंसे खेल, तमाशा, बायस्कोप, बाजीगरी, वन, पहाड़, सरोवर, मकान आदिकी सुन्दरताको देखकर जो सुख होता है, वह रूपका सुख है।

(घ) **रस**—मधुर (मीठा), अम्ल (खट्टा), लवण (नमकीन), कटु (कड़वा), तिक्त (तीखा) और कषाय

---

* वर्णात्मक शब्दमें भी दस रस होते हैं—शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत, शान्त और वात्सल्य। ये दसों ही रस चित्त द्रवित होनेमें होते हैं। इन दसों रसोंका उपयोग भगवान्‌के लिये किया जाय तो ये सभी रस कल्याण करनेवाले हो जाते हैं और इनमें सुख भोगा जाय तो ये सभी रस पतन करनेवाले हो जाते हैं।

† ढोल, ढोलकी, तबला, पखावज, मृदङ्ग आदि 'खाल'के, सितार, सारङ्गी, मोरचंग आदि 'तार'के, मशक, पेटी (हारमोनियम), बाँसुरी, पूँगी आदि 'फूँक'के, और झाँझ, मजीरा, करताल आदि 'ताल'के बाजे हैं।

(कसैला)—इन छः रसोंको चखनेसे जो सुख होता है, वह रसका सुख है ।

(ङ) गन्ध—नाकसे अतर, तेल, फुलेल, लवेण्डर, पुष्प आदि सुगन्धवाले और लहसुन, प्याज आदि दुर्गन्धवाले पदार्थोंको सूँघनेसे जो सुख होता है, वह गन्धका सुख है ।

(च) मान—शरीरका आदर-सत्कार होनेसे जो सुख होता है, वह मानका सुख है ।

(छ) बड़ाई—नामकी प्रशंसा, वाह-वाह होनेसे जो सुख होता है, वह बड़ाईका सुख है ।

(ज) आराम—शरीरसे परिश्रम न करनेसे अर्थात् सुखपूर्वक पड़े रहनेसे जो सुख होता है, वह आरामका सुख है ।

(४) मोक्ष—आत्मसाक्षात्कार, तत्त्वज्ञान, कल्याण, उद्धार, मुक्ति, भगवद्दर्शन, भगवत्प्रेम आदिका नाम 'मोक्ष' है ।

इन चारों (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष) में देखा जाय तो अर्थ और धर्म—दोनो ही परस्पर एक-एककी वृद्धि करनेवाले हैं अर्थात् अर्थसे धर्मकी और धर्मसे अर्थकी वृद्धि होती है । परन्तु धर्मका पालन कामनापूर्तिके लिये किया जाय तो वह धर्म भी कामनापूर्ति करके नष्ट हो जायगा और अर्थको कामनापूर्तिमें लगाया जाय तो वह अर्थ भी कामनापूर्ति करके नष्ट हो जायगा । तात्पर्य यह कि कामना धर्म और अर्थ—दोनोंको खा जाती है । इसी वास्ते गीतामें भगवान्‌ने कामनाको 'महाशन' (बहुत खानेवाला)

बतलाते हुए उसके त्यागकी बात विशेषतासे कही है (गीता ३ । ३७—४३) ।

यदि धर्मका अनुष्ठान कामनाका त्याग करके किया जाय तो वह अन्तःकरण शुद्ध करके मुक्त कर देता है । ऐसे ही धनको कामनाका त्याग करके दूसरोंके उपकारमें, हितमें, सुखमें खर्च किया जाय तो वह भी अन्तःकरण शुद्ध करके मुक्त कर देता है ।

अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—इन चारोंमे 'अर्थ' (धन) और 'काम' (भोग) की प्राप्तिमें प्रारब्धकी मुख्यता और पुरुषार्थकी गौणता है, तथा 'धर्म' और 'मोक्ष'मे पुरुषार्थकी मुख्यता और प्रारब्धकी गौणता है । प्रारब्ध और पुरुषार्थ—दोनोंका क्षेत्र अलग-अलग है और दोनों ही अपने-अपने क्षेत्रमें प्रधान हैं । इस वास्ते कहा है—

संतोषस्त्रिषु कर्तव्यः स्वदारे भोजने धने ।
त्रिषु चैव न कर्तव्यः स्वाध्याये जपदानयोः ॥

अर्थात् अपनी स्त्री, पुत्र, परिवार, भोजन और धनमे तो सन्तोष करना चाहिये और स्वाध्याय, पाठ-पूजा, नाम-जप, कीर्तन और दान करनेमें कभी सन्तोष नहीं करना चाहिये । तात्पर्य यह हुआ कि प्रारब्धके फल—धन और भोगमें तो सन्तोष करना चाहिये; क्योंकि वे प्रारब्धके अनुसार जितने मिलनेवाले हैं, उतने ही मिलेंगे, उससे अधिक नहीं । परन्तु धर्मका अनुष्ठान और अपना कल्याण करनेमें कभी सन्तोष नहीं करना चाहिये; क्योंकि यह नया पुरुषार्थ है और इसी पुरुषार्थके लिये मनुष्यशरीर मिला है ।

कर्मके दो भेद हैं—शुभ (पुण्य) और अशुभ (पाप)। शुभ-कर्मका फल सुखदायी परिस्थिति प्राप्त होना है और अशुभ-कर्मका फल दुःखदायी परिस्थिति प्राप्त होना है। कर्म बाहरसे किये जाते हैं, इस वास्ते उन कर्मोंका फल भी बाहरकी परिस्थितिके रूपमें ही प्राप्त होता है। परन्तु उन परिस्थितियोंसे जो सुख-दुःख होते हैं, वे भीतर होते हैं। इस वास्ते उन परिस्थितियोंमें सुखी तथा दुःखी होना शुभाशुभ कर्मोंका अर्थात् प्रारब्धका फल नहीं है, प्रत्युत अपनी मूर्खताका फल है। अगर वह मूर्खता चली जाय, भगवान्पर* अथवा प्रारब्धपर† विश्वास हो जाय तो दुःखदायी-से-दुःखदायी परिस्थिति आनेपर भी चित्तमें प्रसन्नता होगी, हर्ष होगा। कारण कि दुःखदायी परिस्थितिमें पाप कटते हैं, अगाड़ी पाप न करनेमें सावधानी आती है और पापोंके नष्ट होनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है।

---

* लालने ताडने मातुर्नाकारुण्यं यथार्भके।
तद्वदेव महेशस्य नियन्तुर्गुणदोषयोः॥

'जिस प्रकार बच्चेका पालन करने और ताड़ना देने—दोनोंमें माताकी कहीं अकृपा नहीं होती, उसी प्रकार जीवोंके गुण-दोषोंका नियन्त्रण करनेवाले परमेश्वरकी कहीं किसीपर अकृपा नहीं होती।'

† यद्भावि तद्भवत्येव यदभाव्यं न तद्भवेत्।
इति निश्चितबुद्धीनां न चिन्ता बाधते क्वचित्॥
(नारदपुराण पूर्व० ३७। ४७)

'जो होनेवाला है, वह होकर ही रहता है और जो नहीं होनेवाला है, वह कभी नहीं होता—ऐसा निश्चय जिनकी बुद्धिमें होता है, उन्हें चिन्ता कभी नहीं सताती।'

साधकको सुखदायी और दुःखदायी परिस्थितिका सदुपयोग करना चाहिये, दुरुपयोग नहीं। सुखदायी परिस्थिति आ जाय तो अनुकूल सामग्रीको दूसरोंके हितके लिये सेवाबुद्धिसे खर्च करना सुखदायी परिस्थितिका सदुपयोग है और उसका सुखबुद्धिसे भोग करना दुरुपयोग है। ऐसे ही दुःखदायी परिस्थिति आ जाय तो सुखकी इच्छाका त्याग करना और 'मेरे पूर्वकृत पापोंका नाश करनेके लिये, भविष्यमें पाप न करनेकी सावधानी रखनेके लिये और मेरी उन्नति करनेके लिये ही प्रभु-कृपासे ऐसी परिस्थिति आयी है'—ऐसा समझकर परम प्रसन्न रहना दुःखदायी परिस्थितिका सदुपयोग है और उससे दुःखी होना दुरुपयोग है।

मनुष्यशरीर सुख-दुःख भोगनेके लिये नहीं है। सुख भोगनेके स्थान स्वर्गादिक हैं और दुःख भोगनेके स्थान नरक तथा चौरासी लाख योनियाँ हैं। इस वास्ते वे भोगयोनियाँ हैं और मनुष्य कर्मयोनि है। परन्तु यह कर्मयोनि उनके लिये है जो मनुष्यशरीरमें सावधान नहीं होते, केवल जन्म-मरणके चक्करमें ही पडे हुए हैं। वास्तवमें मनुष्यशरीर सुख-दुःखसे ऊँचा उठनेके लिये अर्थात् मुक्तिकी प्राप्तिके लिये ही मिला है। इस वास्ते इसको कर्मयोनि न कहकर 'साधनयोनि' ही कहना चाहिये।

प्रारब्ध-कर्मोंके फलस्वरूप जो सुखदायी और दुःखदायी परिस्थिति आती है, उन दोनोंमें सुखदायी परिस्थितिका स्वरूपसे त्याग करनेमें तो मनुष्य स्वतन्त्र है, पर दुःखदायी परिस्थितिका स्वरूपसे त्याग करनेमें मनुष्य परतन्त्र है अर्थात् उसका

स्वरूपसे त्याग नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि सुखदायी परिस्थिति दूसरोंका हित करने, उन्हें सुख देनेके फलस्वरूप बनी है और दुःखदायी परिस्थिति दूसरोको दुःख देनेके फलस्वरूप वनी है। इसको एक दृष्टान्तसे इस प्रकार समझ सकते हैं—

श्यामलालने रामलालको सौ रुपये उधार दिये। रामलालने वायदा किया कि अमुक महीने मै ब्याजसहित रुपये लौटा दूँगा। महीना बीत गया, पर रामलालने रुपये नहीं लौटाये तो श्यामलाल रामलालके घर पहुँचा और बोला—'तुमने वायदेके अनुसार रुपये नहीं दिये? अब दो।' रामलालने कहा—'अभी मेरे पास रुपये नहीं हैं, परसों दे दूँगा।' श्यामलाल तीसरे दिन पहुँचा और बोला—'लाओ मेरे रुपये!' रामलालने कहा—'अभी मै आपके पैसे नहीं जुटा सका, परसों आपके रुपये जरूर दूँगा।' तीसरे दिन फिर श्यामलाल पहुँचा और बोला—'रुपये दो!' तो रामलालने कहा—'कल जरूर दूँगा।' दूसरे दिन श्यामलाल फिर पहुँचा और बोला—लाओ मेरे रुपये!' रामलालने कहा—'रुपये जुटे नहीं, मेरे पास रुपये हैं नहीं तो मै कहाँसे दूँ? परसो आना। रानलालकी बाते सुनकर श्यामलालको गुस्सा आ गया और 'परसो-परसों करता है, रुपये देता नहीं'—ऐसा कहकर उसने रामलालको पाँच जूते मार दिये। रामलालने कोर्टमें नालिश अर्थात् शिकायत कर दी। श्यामलालको बुलाया गया और पूछा गया—'तुमने इसके घरपर जाकर जूता मारा है?' तो श्यामलालने कहा—'हाँ साहब, मैंने जूता मारा है।' मैजिस्ट्रेटने पूछा—'क्यों मारा?'

श्यामलालने कहा—'इसको मैंने रुपये दिये थे और इसने वायदा किया था कि मैं इस महीने रुपये लौटा दूँगा। महीना बीत जानेपर मैंने इसके घरपर जाकर रुपये माँगे तो कल-परसों, कल-परसों कहकर इसने मुझे बहुत तंग किया। इसपर मैंने गुस्सेमें आकर इसे पाँच जूते मार दिये। तो सरकार! पाँच जूतोंके पाँच रुपये काटकर शेष रुपये मुझे दिला दीजिये।'

मैजिस्ट्रेटने हँसकर कहा—'यह फौजदारी कोर्ट है। यहाँ रुपये दिलानेका कायदा (नियम) नहीं है। यहाँ दण्ड देनेका कायदा है। इस वास्ते आपको जूता मारनेके बदलेमें कैद या जुर्माना भोगना ही पड़ेगा। आपको रुपये लेने हो तो दीवानी कोर्टमें जाकर नालिश करो, वहाँ रुपये दिलानेका कायदा है; क्योंकि वह विभाग अलग है।'

इस तरह अशुभ-कर्मोंका फल जो दुःखदायी परिस्थिति है, वह 'फौजदारी' है, इस वास्ते उसका स्वरूपसे त्याग नहीं कर सकते और शुभ-कर्मोंका फल जो सुखदायी परिस्थिति है, वह 'दीवानी' है, इस वास्ते उसका स्वरूपसे त्याग किया जा सकता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि मनुष्यके शुभ-अशुभ कर्मोंका विभाग अलग-अलग है। इस वास्ते शुभ-कर्मों (पुण्यों) और अशुभ-कर्मों (पापों) का अलग-अलग संग्रह होता है। ये दोनों एक-एकसे कटते नहीं अर्थात् पापोंसे पुण्य नहीं कटते और पुण्योंसे पाप नहीं कटते।

संसारमें एक आदमी पुण्यात्मा है, सदाचारी है और दुःख पा रहा है तथा एक आदमी पापात्मा है, दुराचारी है और सुख भोग रहा है—इस बातको लेकर अच्छे-अच्छे पुरुषोंके भीतर भी यह शङ्का हो जाया करती है कि इसमें ईश्वरका न्याय कहाँ है !* इसका समाधान यह है कि अभी पुण्यात्मा जो दुःख पा रहा है, यह पूर्वके किसी जन्ममें किये हुए पापका फल है, अभी किये हुए पुण्यका नहीं। ऐसे ही अभी पापात्मा जो सुख भोग रहा है, यह भी पूर्वके किसी जन्ममे किये हुए पुण्यका फल है, अभी किये हुए पापका नहीं।

इसमें एक तात्त्विक बात और है। कर्मोंके फलरूपमे जो अनुकूल परिस्थिति आती है, उससे सुख ही होता है और प्रतिकूल परिस्थिति आती है, उससे दुःख ही होता है—ऐसी बात है नहीं।

---

* महाभारत, वनपर्वमें एक कथा आती है। एक दिन द्रौपदीने युधिष्ठिरजी महाराजसे कहा कि आप धर्मको छोड़कर एक पैर भी आगे नहीं रखते, पर आप वनवासमे दुःख पा रहे हैं और दुर्योधन धर्मकी किञ्चिन्मात्र भी परवाह न करके केवल स्वार्थ-परायण ही हो रहा है, पर वह राज्य कर रहा है, आरामसे रह रहा है और सुख भोग रहा है ! ऐसा प्रश्न करनेपर युधिष्ठिरजी महाराजने उत्तर दिया कि जो सुख पानेकी इच्छासे धर्मका पालन करते हैं, वे धर्मके तत्त्वको जानते ही नहीं ! वे तो पशुओंकी तरह सुख-भोगके लिये लोलुप और दुःखसे भयभीत रहते हैं, फिर वेचारे धर्मके तत्त्वको कैसे जानें ! इस वास्ते मनुष्यकी मनुष्यता इसीमें है कि वे सुखदायी और दुःखदायी परिस्थितिकी परवाह न करके शास्त्रके अनुसार केवल अपने धर्म (कर्तव्य) का पालन करते रहें।

जैसे, अनुकूल परिस्थिति आनेपर मनमें अभिमान होता है, छोटोंसे घृणा होती है, अपनेसे अधिक सम्पत्तिवालोंको देखकर उनसे ईर्ष्या होती है, असहिष्णुता होती है, अन्तःकरणमें जलन होती है और मनमें ऐसे दुर्भाव आते हैं कि उनकी सम्पत्ति कैसे नष्ट हो तथा वक्तपर उनको नीचा दिखानेकी चेष्टा भी होती है। इस तरह सुख-सामग्री और धन-सम्पत्ति पासमे रहनेपर भी वह सुखी नहीं हो सकता। परंतु बाहरी सामग्रीको देखकर अन्य लोगोंको यह भ्रम होता है कि वह बड़ा सुखी है। ऐसे ही किसी विरक्त और त्यागी मनुष्यको देखकर भोग-सामग्रीवाले मनुष्यको उसपर दया आती है कि बेचारेके पास धन-सम्पत्ति आदि सामग्री नहीं है, बेचारा बड़ा दुःखी है! परंतु वास्तवमे विरक्तके मनमें बड़ी शान्ति और बड़ी प्रसन्नता रहती है। वह शान्ति और प्रसन्नता धनके कारण किसी धनीमें नहीं रह सकती। इस वास्ते धनका होनामात्र सुख नहीं है और धनका अभावमात्र दुःख नहीं है। सुख-नाम हृदयकी शान्ति और प्रसन्नताका है और दुःख-नाम हृदयकी जलन और सन्तापका है।

पुण्य और पापका फल भोगनेमें एक नियम नहीं है। पुण्य तो निष्कामभावसे भगवान्‌के अर्पण करनेसे खत्म हो सकता है, परंतु पाप भगवान्‌के अर्पण करनेसे खत्म नहीं होता। पापका फल तो भोगना ही पड़ता है; क्योंकि भगवान्‌की आज्ञाके विरुद्ध किया हुआ काम भगवान्‌के अर्पण कैसे हो सकता है? और अर्पण करनेवाला भी भगवान्‌के विरुद्ध कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण कैसे

कर सकता है ? प्रत्युत भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार किये हुए कर्म ही भगवान्‌के अर्पण होते हैं। इस विषयमें एक कहानी आती है।

एक राजा अपनी प्रजा-सहित हरिद्वार गया। उसके साथमें सब तरहके लोग थे। उनमें एक चमार भी था। उस चमारने सोचा कि ये बनिये लोग बड़े चतुर होते हैं। ये अपनी बुद्धिमानीसे धनी बन गये हैं। अगर हम भी उनकी बुद्धिमानीके अनुसार चलें तो हम भी धनी बन जायँ! ऐसा विचार करके वह एक चतुर बनियेकी क्रियाओंपर निगरानी रखकर चलने लगा। जब हरिद्वारके ब्रह्मकुण्डमे पण्डा दान-पुण्यका संकल्प कराने लगा तो उस बनियेने कहा—'मैंने अमुक ब्राह्मणको सौ रुपये उधार दिये थे, आज मै उनको दानरूपमें श्रीकृष्णार्पण करता हूँ।' पण्डेने संकल्प भरवा दिया। चमारने देखा कि इसने एक कौड़ी भी नहीं दी और लोगोंमें प्रसिद्ध हो गया कि इसने सौ रुपयोका दान कर दिया, कितना बुद्धिमान् है! मै भी इससे कम नहीं रहूँगा। जब पण्डेने चमारसे संकल्प भरवाना शुरू किया तो चमारने कहा—'अमुक बनियेने मुझे सौ रुपये उधार दिये थे तो उन सौ रुपयोको मै श्रीकृष्णार्पण करता हूँ।' उसकी ग्रामीण बोलीको पण्डा पूरी तरह समझा नहीं और संकल्प भरवा दिया। इससे चमार बड़ा खुश हो गया कि मैंने भी बनियेके समान सौ रुपयोंका दान-पुण्य कर दिया!

सब घर पहुँचे। समयपर खेती हुई। ब्राह्मण और चमारके खेतोमें खूब अनाज पैदा हुआ। ब्राह्मण देवताने बनियेसे कहा—'सेठ! आप चाहें तो सौ रुपयोंका अनाज ले लो, इससे आपको

नफा भी हो सकता है। मुझे तो आपका कर्जा चुकाना है।' बनियेने कहा—'ब्राह्मण देवता ! जब मैं हरिद्वार गया था, तब मैंने आपको उधार दिये हुए सौ रुपये दान कर दिये।' ब्राह्मण बोला—'सेठ ! मैंने आपसे सौ रुपये उधार लिये हैं, दान नहीं लिये। इस वास्ते इन रुपयोंको मैं रखना नहीं चाहता, ब्याज-सहित पूरा चुकाना चाहता हूँ।' सेठने कहा—'आप देना ही चाहते हैं तो अपनी बहन अथवा कन्याको दे सकते हैं। मैंने सौ रुपये भगवान्‌के अर्पण कर दिये हैं, इस वास्ते मैं तो लूँगा नहीं।' अब ब्राह्मण और क्या करता ? वह अपने घर लौट गया।

अब जिस बनियेसे चमारने सौ रुपये लिये थे, वह बनिया चमारके खेतमें पहुँचा और बोला—'लाओ मेरे रुपये। तुम्हारा अनाज हुआ है, सौ रुपयोंका अनाज ही दे दो।' चमारने सुन रखा था कि ब्राह्मणके देनेपर भी बनियेने उससे रुपये नहीं लिये। अतः उसने सोचा कि मैंने भी संकल्प कर रखा है तो मेरेको रुपये क्यों देने पड़ेंगे ? ऐसा सोचकर चमार बनियेसे बोला—'मैंने तो अमुक सेठकी तरह गङ्गाजीमें खड़े होकर सब रुपये श्रीकृष्णार्पण कर दिये तो मेरेको रुपये क्यों देने पड़ेंगे ? बनिया बोला—'तेरे अर्पण कर देनेसे कर्जा नहीं छूट सकता; क्योंकि तूने मेरेसे कर्जा लिया है तो तेरे छोड़नेसे कैसे छूट जायगा ? मैं तो अपने सौ रुपये ब्याज-सहित पूरे लूँगा, लाओ मेरे रुपये।' ऐसा कहकर उसने चमारसे अपने रुपयोंका अनाज ले लिया।

इस कहानीसे यह सिद्ध होता है कि हमारेपर दूसरोंका जो कर्जा है, वह हमारे छोड़नेसे नहीं छूट सकता। ऐसे ही हम भगवदाज्ञानुसार शुभ-कर्मोंको तो भगवान्‌के अर्पण कर उनके बन्धनसे छूट सकते हैं, पर अशुभ-कर्मोंका फल तो हमारेको भोगना ही पड़ेगा। इस वास्ते शुभ और अशुभ-कर्मोंमें एक कायदा, कानून नहीं है। अगर ऐसा कायदा बन जाय कि भगवान्‌के अर्पण करनेसे ऋण और पाप-कर्म छूट जायँ तो फिर सभी प्राणी मुक्त हो जायँ; परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। हाँ, इसमें एक मार्मिक बात है कि अपने-आपको सर्वथा भगवान्‌के अर्पित कर देनेपर अर्थात् सर्वथा भगवान्‌के शरण हो जानेपर पाप-पुण्य सर्वथा नष्ट हो जाते हैं* (गीता १८ । ६६)।

दूसरी शङ्का यह होती है कि धन और भोगोंकी प्राप्ति प्रारब्ध कर्मके अनुसार होती है—ऐसी बात समझमें नहीं आती; क्योंकि हम देखते हैं कि इन्कम-टैक्स, सेल-टैक्स आदिकी चोरी करते हैं तो धन बच जाता है और टैक्स पूरा देते हैं तो धन चला जाता है तो धनका आना-जाना प्रारब्धके अधीन कहाँ हुआ? यह तो चोरीके ही अधीन हुआ!

---

* देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥
(श्रीमद्भा० ११ । ५ । ४१)

'राजन्! जो सारे कार्योंको छोड़कर सम्पूर्णरूपसे शरणागतवत्सल भगवान्‌की शरणमें आ जाता है, वह देव, ऋषि, कुटुम्बीजन और पितृगण—इन किसीका भी ऋणी और सेवक नहीं रहता।'

इसका समाधान इस प्रकार है। वास्तवमें धन प्राप्त करना और भोग भोगना—इन दोनोंमे ही प्रारब्धकी प्रधानता है। परंतु इन दोनोंमे भी किसीका धन-प्राप्तिका प्रारब्ध होता है, भोगका नहीं और किसीका भोगका प्रारब्ध होता है, धन-प्राप्तिका नहीं तथा किसीका धन और भोग दोनोंका ही प्रारब्ध होता है। जिसका धन-प्राप्तिका प्रारब्ध तो है, पर भोगका प्रारब्ध नहीं है, उसके पास लाखों रुपये रहनेपर भी बीमारीके कारण वैद्य, डॉक्टरके मना करनेपर वह भोगोंको भोग नहीं सकता, उसको खानेमे रूखा-सूखा ही मिलता है। जिसका भोगका प्रारब्ध तो है, पर धनका प्रारब्ध नहीं है, उसके पास धनका अभाव होनेपर भी उसके सुख-आराममे किसी तरहकी कमी नहीं रहती *। उसको किसीकी दयासे, मित्रतासे, काम-धंधा मिल जानेसे प्रारब्धके अनुसार जीवन-निर्वाहकी सामग्री मिलती रहती है।

अगर धनका प्रारब्ध नहीं है तो चोरी करनेपर भी धन नहीं मिलेगा, प्रत्युत चोरी किसी प्रकारसे प्रकट हो जायगी तो बचा हुआ

---

* सर्वथा त्यागीको भी अनुकूल वस्तुएँ बहुत मिलती हुई देखी जाती हैं (यह बात अलग है कि वह उन्हे स्वीकार न करे)। त्यागमे तो एक और विलक्षणता भी है कि जो मनुष्य धनका त्याग कर देता है, जिसके मनमें धनका महत्त्व नहीं है और अपनेको धनके अधीन नहीं मानता, उसके लिये धनका एक नया प्रारब्ध बन जाता है। कारण कि त्याग भी एक बड़ा भारी पुण्य है, जिससे तत्काल एक नया प्रारब्ध बनता है।

धान नहीं धीणो नहीं, नहीं रुपैयो रोक।
जिमण बैठ्या रामदास, आन मिलै सब थोक ॥

धन भी चला जायगा तथा दण्ड और मिलेगा। यहाँ दण्ड मिले या न मिले, पर परलोकमें तो दण्ड जरूर मिलेगा। उससे वह बच नहीं सकता। अगर प्रारब्धवश चोरी करनेसे धन मिल भी जाय तो भी उस धनका उपभोग नहीं हो सकेगा। वह धन बीमारीमें, चोरीमें, डाकेमें, मुकदमेंमें, ठगाईमें चला जायगा। तात्पर्य यह कि वह धन जितने दिन टिकनेवाला है, उतने ही दिन टिकेगा और फिर नष्ट हो जायगा। इतना ही नहीं, इन्कम-टैक्स आदिकी चोरी करनेके जो संस्कार भीतर पडे हैं, वे संस्कार जन्म-जन्मान्तरतक उसे चोरी करनेके लिये उकसाते रहेंगे और वह उनके कारण दण्ड पाता रहेगा।

अगर धनका प्रारब्ध है तो कोई गोद ले लेगा अथवा मरता हुआ कोई व्यक्ति उसके नामसे वसीयतनामा लिख देगा अथवा मकान बनाते समय नींव खोदते ही जमीनमें गड़ा हुआ धन मिल जायगा आदि-आदि। इस प्रकार प्रारब्धके अनुसार जो धन मिलनेवाला है, वह किसी-न-किसी कारणसे मिलेगा ही *। परंतु मनुष्य प्रारब्धपर तो विश्वास करता नहीं, कम-से-कम अपने पुरुषार्थपर भी विश्वास नहीं करता कि हम मेहनतसे कमाकर खा लेंगे। इसी कारण उसकी चोरी आदि दुष्कर्मोंमें प्रवृत्ति हो जाती

---

* प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यो दैवोऽपि तं लङ्घयितुं न शक्तः।
तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम्॥

'प्राप्त होनेवाला धन मनुष्यको मिलता ही है, दैव भी उसका उल्लंघन नहीं कर सकता। इसलिये न तो मैं शोक करता हूँ और न मुझे विस्मय ही होता है; क्योंकि जो हमारा है, वह दूसरोंका नहीं हो सकता।'

है, जिससे हृदयमें जलन रहती है, दूसरोंसे छिपाव करना पड़ता है, पकड़े जानेपर दण्ड पाना पड़ता है आदि-आदि । अगर मनुष्य विश्वास और सन्तोष रखे तो हृदयमें महान् शान्ति, आनन्द, प्रसन्नता रहती है तथा आनेवाला धन भी आ जाता है और जितना जीनेका प्रारब्ध है, उतनी जीवन-निर्वाहकी सामग्री किसी-न-किसी तरह मिलती ही रहती है ।

जैसे व्यापारमें घाटा लगना, घरमें किसीकी मृत्यु होना, बिना कारण अपयश और अपमान होना आदि दुःखदायी परिस्थितिको कोई भी नहीं चाहता, पर फिर भी वह आती ही है, ऐसे ही सुखदायी परिस्थिति भी आती ही है, उसको कोई रोक नहीं सकता । भागवतमें आया है—

सुखमैन्द्रियकं राजन् स्वर्गे नरक एव च ।
देहिनां यद् यथा दुःखं तस्मान्नेच्छेत तद् बुधः ॥

(श्रीमद्भा० ११ । ८ । १)

'राजन् ! प्राणियोंको जैसे इच्छाके बिना प्रारब्धानुसार दुःख प्राप्त होते हैं, वैसे ही इन्द्रियजन्य सुख स्वर्गमें और नरकमें भी प्राप्त होते हैं । अतएव बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह उन सुखोंकी इच्छा न करे ।'

जैसे धन और भोगका प्रारब्ध अलग-अलग होता है अर्थात् किसीका धनका प्रारब्ध होता है और किसीका भोगका प्रारब्ध होता है, ऐसे ही धर्म और मोक्षका पुरुषार्थ भी अलग-अलग होता है अर्थात् कोई धर्मके लिये पुरुषार्थ करता है और कोई मोक्षके लिये

पुरुषार्थ करता है। धर्मके अनुष्ठानमें शरीर, धन आदि वस्तुओंकी मुख्यता रहती है और मोक्षकी प्राप्तिमें भाव तथा विचारकी मुख्यता रहती है।

एक 'करना' होता है और एक 'होना' होता है। दोनों विभाग अलग-अलग हैं। करनेकी चीज है—कर्तव्य और होनेकी चीज है—फल। मनुष्यका कर्म करनेमें अधिकार है, फलमें नहीं—**'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'** (गीता २। ४७)। तात्पर्य यह है कि होनेकी पूर्ति प्रारब्धके अनुसार अवश्य होती है, उसके लिये 'यह होना चाहिये और यह नहीं होना चाहिये'—ऐसी इच्छा नहीं करनी चाहिये और करनेमें शास्त्र और लोक-मर्यादाके अनुसार कर्तव्य-कर्म करना चाहिये। 'करना' पुरुषार्थके अधीन है और 'होना' प्रारब्धके अधीन है। इस वास्ते मनुष्य करनेमें स्वाधीन है और होनेमें पराधीन है। मनुष्यकी उन्नतिमें खास बात है—'करनेमें सावधान रहे और होनेमें प्रसन्न रहे।'

क्रियमाण, सञ्चित और प्रारब्ध—तीनों कर्मोंसे मुक्त होनेका क्या उपाय है ?

प्रकृति और पुरुष—ये दो हैं। प्रकृति सदा क्रियाशील है, पर पुरुषमें कभी परिवर्तनरूप क्रिया नहीं होती। प्रकृतिसे अपना सम्बन्ध माननेवाला 'प्रकृतिस्थ' पुरुष ही कर्ता-भोक्ता बनता है। जब वह प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है अर्थात् अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है, तब उसपर कोई भी कर्म लागू नहीं होता।

प्रारब्ध-सम्बन्धी अन्य बातें इस प्रकार हैं—

(१) बोध हो जानेपर भी ज्ञानीका प्रारब्ध रहता है—यह कथन केवल अज्ञानियोंको समझानेमात्रके लिये है। कारण कि अनुकूल या प्रतिकूल घटनाका घट जाना ही प्रारब्ध है। प्राणीको सुखी या दुःखी करना प्रारब्धका काम नहीं है, प्रत्युत अज्ञानका काम है। अज्ञान मिटनेपर मनुष्य सुखी-दुःखी नहीं होता। उसे केवल अनुकूलता-प्रतिकूलताका ज्ञान होता है। ज्ञान होना दोषी नहीं है। प्रत्युत सुख-दुःखरूप विकार होना दोषी है। इस वास्ते वास्तवमें ज्ञानीका प्रारब्ध नहीं होता।

(२) जैसा प्रारब्ध होता है, वैसी बुद्धि बन जाती है। जैसे, एक ही बाजारमें एक व्यापारीने माल बिक्री कर दिया और एक व्यापारीने माल खरीद लिया। बादमें जब बाजार-भाव तेज हो जाता है तो बिक्री करनेवाले व्यापारीको नुकसान होता है तथा खरीदनेवाले व्यापारीको नफा होता है; और जब बाजार-भाव मन्दा हो जाता है तो बिक्री करनेवाले व्यापारीको नफा होता है तथा खरीदनेवाले व्यापारीको नुकसान होता है। तो खरीदने और बेचनेकी बुद्धि प्रारब्धसे बनती है अर्थात् नफा या नुकसानका जैसा प्रारब्ध होता है, उसीके अनुसार पहले बुद्धि बन जाती है, जिससे प्रारब्धके अनुसार फल भुगताया जा सके। परन्तु खरीदने और बेचनेकी क्रिया न्याययुक्त की जाय अथवा अन्याययुक्त की जाय—इसमें मनुष्य स्वतन्त्र है; क्योंकि यह क्रियमाण (नया कर्म) है, प्रारब्ध नहीं।

(३) एक आदमीके हाथसे गिलास गिरकर टूट गया तो यह उसकी असावधानी है या प्रारब्ध ?

कर्म करते समय तो सावधान रहना चाहिये, पर जो (अच्छा या बुरा) हो गया, उसे पूरी तरहसे प्रारब्ध—होनहार ही मानना चाहिये । उस समय जो यह कहते हैं कि यदि तू सावधानी रखता तो गिलास न टूटता—इससे यह समझना चाहिये कि अब आगेसे मुझे सावधानी रखनी है कि दुबारा ऐसी गलती न हो जाय । वास्तवमें जो हो गया, उसे असावधानी न मानकर होनहार मानना चाहिये । इस वास्ते करनेमें सावधान और होनेमें प्रसन्न रहे ।

(४) प्रारब्धसे होनेवाले और कुपथ्यसे होनेवाले रोगमें क्या फर्क है ?

कुपथ्यजन्य रोग दवाईसे मिट सकता है, परंतु प्रारब्धजन्य रोग दवाईसे नहीं मिटता । महामृत्युञ्जय आदिका जप और यज्ञ-यागादि अनुष्ठान करनेसे प्रारब्धजन्य रोग भी कट सकता है, अगर अनुष्ठान प्रबल हो तो ।

रोगके दो प्रकार हैं—आधि (मानसिक रोग) और व्याधि (शारीरिक रोग) । आधिके भी दो भेद हैं—एक तो शोक, चिन्ता आदि और दूसरा, पागलपन । चिन्ता, शोक आदि तो अज्ञानसे होते हैं और पागलपन प्रारब्धसे होता है । अतः ज्ञान होनेपर चिन्ता-शोकादि तो मिट जाते हैं, पर प्रारब्धके अनुसार पागलपन हो सकता है । हाँ, पागलपन होनेपर भी ज्ञानीके द्वारा कोई अनुचित, शास्त्रनिषिद्ध क्रिया नहीं होती ।

(५) जान करके जो आत्महत्या कर लेता है, उसे 'अकाल-मृत्यु' कहते हैं। आत्महत्या करनेवालेको मनुष्यकी हत्याका पाप लगता है। यह नया पाप-कर्म है, प्रारब्ध नहीं।

दुर्घटना आदिसे जो मृत्यु हो जाती है, वह 'आकस्मिक-मृत्यु' है। स्वाभाविक मृत्युकी तरह आकस्मिकमृत्यु भी प्रारब्धके अनुसार (आयु पूरी होनेपर) होती है।

(६) एक आदमीने दूसरे आदमीको मार दिया तो यह उसने पिछले जन्मके वैरका बदला लिया और मरनेवालेने पुराने कर्मोंका फल पाया, फिर मारनेवालेका क्या दोष ?

मारनेवालेका दोष है। दण्ड देना शासकका काम है, सर्वसाधारणका नहीं। एक आदमीको दस बजे फाँसी मिलनी है। एक-दूसरे आदमीने उस (फाँसीकी सजा पानेवाले) आदमीको जल्लादोंके हाथोंसे छुडा लिया और ठीक दस बजे उसे कत्ल कर दिया! ऐसी हालतमें उस कत्ल करनेवाले आदमीको भी फाँसी होगी कि यह आज्ञा तो राज्यने जल्लादोंको दी थी, पर तुम्हे किसने आज्ञा दी थी ?

मारनेवालेको यह याद नहीं है कि मैं पिछले जन्मका बदला ले रहा हूँ, फिर भी मारता है तो यह उसका दोष है। दूसरेको मारनेका अधिकार किसीको भी नहीं है। मरना कोई भी नहीं चाहता। दूसरेको मारना अपने विवेकका अनादर है। मनुष्यमात्रको विवेकशक्ति प्राप्त है और उस विवेकके अनुसार अच्छे या बुरे कार्य

करनेमें वह स्वतन्त्र है। अतः विवेकका अनादर करके दूसरेको मारना अथवा मारनेकी नीयत रखना दोष है।

यदि पूर्वजन्मका बदला एक-दूसरे ऐसे ही चुकाते रहे तो यह शृङ्खला कभी खत्म नहीं होगी और मनुष्य कभी मुक्त नहीं हो सकेगा।

पिछले जन्मका बदला अन्य (साँप आदि) योनियोंमें लिया जा सकता है। मनुष्ययोनि बदला लेनेके लिये नहीं है। हाँ, यह हो सकता है कि पिछले जन्मका हत्यारा व्यक्ति हमें स्वाभाविक ही अच्छा नहीं लगेगा, बुरा लगेगा। परंतु बुरे लगनेवाले व्यक्तिसे द्वेष करना या उसे कष्ट देना दोष है; क्योंकि यह नया कर्म है।

जैसा प्रारब्ध है, उसीके अनुसार उसकी बुद्धि बन गयी, फिर दोष किस बातका?

बुद्धिमें जो द्वेष है, उसके वशमें हो गया—यह दोष है। उसे चाहिये कि वह उसके वशमें न होकर विवेकका आदर करे। गीता भी कहती है कि बुद्धिमें जो राग-द्वेष रहते हैं (३। ४०), उनके वशमें न हो—**'तयोर्न वशमागच्छेत्'** (३। ३४)।

(७) प्रारब्ध और भगवत्कृपामें क्या अन्तर है।

इस जीवको जो कुछ मिलता है, वह प्रारब्धके अनुसार मिलता है, पर प्रारब्ध-विधानके विधाता स्वयं भगवान् हैं। कारण कि कर्म जड़ होनेसे स्वतन्त्र फल नहीं दे सकते, वे तो भगवान्‌के विधानसे ही फल देते हैं। जैसे, एक आदमी किसीके खेतमें दिनभर काम करता है तो उसको शामके समय कामके अनुसार पैसे मिलते हैं, पर मिलते हैं खेतके मालिकसे।

पैसे तो काम करनेसे ही मिलते है, बिना काम किये पैसे मिलते हैं क्या ?

पैसे तो काम करनेसे ही मिलते है, परंतु बिना मालिकके पैसे देगा कौन ? यदि कोई जगलमे जाकर दिनभर मेहनत करे तो क्या उसको पैसे मिल जायँगे ? नहीं मिल सकते। उसमे यह देखा जायगा कि किसके कहनेसे काम किया और किसकी जिम्मेवारी रही।

अगर कोई नौकर कामको बड़ी तत्परता, चतुरता और उत्साहसे करता है, पर करता है केवल मालिककी प्रसन्नताके लिये तो मालिक उसको मजदूरीसे अधिक पैसे भी दे देता है और तत्परता आदि गुणोको देखकर उसको अपने खेतका हिस्सेदार भी बना देता है। ऐसे ही भगवान् मनुष्यको उसके कर्मोके अनुसार फल देते है। अगर कोई मनुष्य भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार, उन्हींकी प्रसन्नताके लिये सब कार्य करता है, उसे भगवान् दूसरोकी अपेक्षा अधिक ही देते है, परंतु जो भगवान्‌के सर्वथा समर्पित होकर सब कार्य करता है, उस भक्तके भगवान् भी भक्त बन जाते है !* ससारमे कोई भी नौकरको अपना मालिक नहीं बनाता; परतु भगवान् शरणागत भक्तको अपना मालिक बना लेते हैं। ऐसी उदारता केवल प्रभुमे ही है। ऐसे प्रभुके चरणोकी शरण न होकर जो मनुष्य प्राकृत—उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंके पराधीन रहते है, उनकी बुद्धि सर्वथा ही भ्रष्ट हो चुकी है ! वे इस बातको समझ ही नहीं सकते। हमारे सामने

---

* एवं स्वभक्तयो राजन् भगवान् भक्तभक्तिमान्।
(श्रीमद्भा० १०। ८६। ५९)

प्रत्यक्ष उत्पन्न और नष्ट होनेवाले पदार्थ मेरेको कहाँतक सहारा दे सकते हैं।

सम्बन्ध—

जिस प्रकार कर्मयोगमें कर्मोंका अपने साथ सम्बन्ध नहीं रहता, ऐसे ही सांख्यसिद्धान्तमें भी कर्मोंका अपने साथ किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता—इसका विवेचन आगे करते हैं।

श्लोक—

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥ १३॥

व्याख्या—

'पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि'—हे महाबाहो! जिसमें सम्पूर्ण कर्मोंका अन्त हो जाता है, ऐसे सांख्यसिद्धान्तमें सम्पूर्ण विहित और निषिद्ध कर्मोंके होनेमें पाँच हेतु बताये गये हैं। स्वयं (स्वरूप) उन कर्मोंमें हेतु नहीं है।

'निबोध मे'—इस अध्यायमें भगवान्‌ने जहाँ सांख्यसिद्धान्तका वर्णन आरम्भ किया है, वहाँ **'निबोध'** क्रियाका प्रयोग किया है (१८। १३, ५०), जबकि दूसरी जगह **'शृणु'** क्रियाका प्रयोग किया है (१८। ४, १९, २९, ३६, ४५, ६४)। तात्पर्य यह है कि सांख्य-सिद्धान्तमें तो **'निबोध'** पदसे अच्छी तरह समझनेकी बात कही है और दूसरी जगह **'शृणु'** पदसे सुननेकी बात कही है। कारण कि सांख्यसिद्धान्तको गहरी रीतिसे समझना चाहिये। अगर उसे अपने-आप (स्वयं) से गहरी रीतिसे समझा जाय तो तत्काल तत्त्वका अनुभव हो जाता है।

'सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्'—कर्म चाहे शास्त्रविहित हो, चाहे शास्त्रनिषिद्ध हो, चाहे शारीरिक हो, चाहे मानसिक हो, चाहे वाचिक हो, चाहे स्थूल हो और चाहे सूक्ष्म हो—इन सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिके लिये पाँच हेतु कहे गये हैं। जब पुरुषका इन कर्मोंमें कर्तृत्व रहता है तो कर्मसिद्धि और कर्म-संग्रह दोनो होते हैं और जब पुरुषका इन कर्मोंके होनेमे कर्तृत्व नहीं रहता तो कर्मसिद्धि तो होती है, पर कर्मसग्रह नही होता, प्रत्युत केवल क्रियामात्र होती है। जैसे संसारमात्रमे परिवर्तन होता है अर्थात् नदियाँ बहती है, वायु चलती है, वृक्ष बढ़ते हैं आदि-आदि क्रियाएँ होती रहती हैं, परंतु इन क्रियाओंसे कर्मसग्रह नहीं होता अर्थात् ये क्रियाएँ पाप-पुण्यजनक अथवा बन्धनकारक नहीं होतीं। तात्पर्य यह हुआ कि कर्तृत्वाभिमानसे ही कर्मसिद्धि और कर्मसंग्रह होता है। कर्तृत्वाभिमान मिटनेपर क्रियामात्रमे अधिष्ठान, करण, चेष्टा और दैव—ये चार हेतु ही होते हैं (१८ । १४)।

यहाँ सांख्यसिद्धान्तका वर्णन हो रहा है। सांख्यसिद्धान्तमे विवेक-विचारकी प्रधानता होती है, फिर भगवान्‌ने **'सर्वकर्मणां सिद्धये'** वाली कर्मोंकी बात यहाँ क्यो छेडी? क्योकि अर्जुनके सामने युद्धका प्रसङ्ग है। क्षत्रिय होनेके नाते युद्ध उनका कर्तव्य-कर्म है। इस वास्ते कर्मयोगसे अथवा सांख्ययोगसे ऐसे कर्म करने चाहिये, जिससे कर्म करते हुए भी कर्मोमे सर्वथा निर्लिप्त रहे—यह बात भगवान्‌को कहनी है। अर्जुनने सांख्यका तत्त्व पूछा है, इस वास्ते भगवान् सांख्यसिद्धान्तसे कर्म करनेकी बात कहना प्रारम्भ करते हैं।

अर्जुन स्वरूपसे कर्मोंका त्याग करना चाहते थे, इस वास्ते उनको यह समझाना था कि कर्मोंका ग्रहण और त्याग—दोनों ही कल्याणमे हेतु नहीं है। कल्याणमें हेतु तो परिवर्तनशील नाशवान् प्रकृतिसे अपरिवर्तनशील अविनाशी अपने स्वरूपका सम्बन्ध-विच्छेद ही है। उस सम्बन्ध-विच्छेदकी दो प्रक्रियाएँ हैं—कर्मयोग और साख्ययोग। कर्मयोगमे तो फलका अर्थात् ममताका त्याग मुख्य है और साख्ययोगमें अहंताका त्याग मुख्य है। परंतु ममताके त्यागसे अहंताका और अहंताके त्यागसे ममताका त्याग स्वतः हो जाता है। कारण कि अहंतामे भी ममता होती है; जैसे—मेरी बात रहे, मेरी बात कट न जाय—यह मैपनके साथ भी मेरापन है। इस वास्ते ममता (मेरापन) को छोड़नेसे अहंता (मैपन) छूट जाती है *। ऐसे ही पहले अहंता होती है, तब ममता होती है

* साक्षात् परमात्माका अंश होनेसे इस जीवकी परमात्माके साथ स्वतःसिद्ध आत्मीयता है। उस परमात्मासे विमुख होकर जीवने अहंताके साथ ममता कर ली, जिससे स्वयंको 'मैं ससारी हूँ, मैं त्यागी हूँ, मैं विवेकी हूँ, मैं पढा-लिखा समझदार हूँ'—ऐसा व्यक्तित्व (मैंपन) प्रिय लगता है और यह छूट न जाय—इसका भय लगता है। तो यह अहंताके साथ ममता है। इसका त्याग करनेके लिये कर्मयोगमे 'मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नही चाहिये और मेरे लिये कुछ नहीं करना है' इसी भावसे ससारके हितके लिये सब क्रियाएँ करे (कारण कि कर्मका सम्बन्ध 'पर'के प्रति है, 'स्व'के प्रति नही)। ऐसा करनेसे ममता छूट जायगी। ममता छूटते ही अहंता भी सर्वथा छूट जायगी।

कर्मयोगमे स्थूल शरीरसे क्रिया, सूक्ष्मशरीरसे परहितचिन्तन और कारण-शरीरसे स्थिरता (एकाग्रता)—ये तीनों ही ससारके हितार्थ

अर्थात् पहले 'मै' होता है, तब मेरापन होता है। परंतु जहाँ अहंता (मैपन) का ही त्याग कर दिया जायगा, वहाँ ममता (मेरापन) कैसे रहेगी ? वह भी छूट ही जायगी।

दूसरी बात, अर्जुनके सामने युद्धकी परिस्थिति थी। अतः उसको यह बात भी बतानी थी कि कोई भी परिस्थिति मनुष्यके कल्याणमे बाधक नहीं है अर्थात् वह प्रत्येक परिस्थितिको परमात्म-प्राप्तिका साधन बना सकता है। मनुष्यजन्म परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मिला है, इस लिये उसमें जो भी अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति आती है, वह सब साधन-सामग्री ही है।

अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति साधन-सामग्री कैसे है ? अनुकूल परिस्थिति आ जाय तो वस्तुओके द्वारा दूसरोकी सेवा करे और

होते हैं। इस वास्ते दूसरोंके हितके लिये कर्म करते-करते सबके हितका चिन्तन होता है, हितका चिन्तन होते-होते स्वतः ही स्थिरता आती है, उस स्थिरतामे अहता और ममता दोनोंका त्याग होता है और त्याग होनेसे शान्ति मिलती है।

ससारके त्यागसे जो शान्ति मिलती है, वह स्वरूप अथवा साध्य नहीं है, प्रत्युत वह तो एक साधन है—'योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते' (गीता ६। ३) परतु परमात्माकी प्राप्तिसे जो शान्ति मिलती है, वह साध्य है अर्थात् परमात्माका स्वरूप है—'शान्तिं निर्वाणपरमाम्' (गीता ६। १५)।

अब साधकको सावधानी यह रखनी है कि वह उस साधनजन्य शान्तिका भोग न करे। भोग न करनेसे स्वतः वास्तविकताकी अनुभूति हो जायगी और यदि भोग करेगा तो वहीपर अटक जायगा।

भीतरसे कामना, ममता और आसक्तिका त्याग करे। प्रतिकूल परिस्थितिमें वस्तुओंका अभाव रहता है, इस वास्ते प्रतिकूल परिस्थिति आ जाय तो वस्तुओंकी इच्छाका त्याग कर दे। ऐसा करनेसे दोनों ही परिस्थितियाँ परमात्माकी प्राप्ति करानेवाली बन जायँगी।

सम्बन्ध—

सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिमें पाँच हेतु कौन-से हैं? अब यह बतलाते हैं।

श्लोक—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥ १४॥

व्याख्या—

'अधिष्ठानम्'—शरीर और जिस देशमें यह शरीर स्थित है, वह देश—ये दोनों 'अधिष्ठान' हैं।

'कर्ता'—सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृति और प्रकृतिके कार्यके द्वारा ही होती हैं। वे क्रियाएँ चाहे समष्टि हों, चाहे व्यष्टि हों; परंतु उन क्रियाओंका कर्ता स्वयं नहीं है। केवल अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला अर्थात् जिसको चेतन और जड़का ज्ञान नहीं है—ऐसा अविवेकी पुरुष ही जब प्रकृतिसे होनेवाली क्रियाओंको अपनी मान लेता है तो वह 'कर्ता' बन जाता है* ऐसा 'कर्ता' ही कर्मोंकी सिद्धिमें हेतु बनता है।

---

* सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिके द्वारा ही होती हैं—इसका वर्णन गीतामें कई रीतियोंसे आता है; जैसे—

(१) सब कर्म प्रकृतिके द्वारा ही किये जाते हैं—'प्रकृतेः

'करणं च पृथग्विधम्'—कुल तेरह करण हैं । पाणि, पाद, वाक्, उपस्थ और पायु—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ और श्रोत्र, चक्षु, त्वक्, रसना और घ्राण—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—ये दस 'बहिःकरण' हैं तथा मन, बुद्धि और अहंकार—ये तीन 'अन्तःकरण' हैं ।

क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः' (३ । २७), 'प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः' (१३ । २९) ।

(२) गुण ही गुणोंमें बरतते हैं—'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' (३ । २८); द्रष्टा गुणोंके सिवाय अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता—'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति' (१४ । १९) ।

(३) सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थों (विषयों)में बरतती हैं—'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते' (५ । ९) ।

(४) (यहाँ १८ । १४ में) कर्मोंकी सिद्धिमें अधिष्ठान आदि पाँच हेतु बताये गये हैं ।

इन सबका तात्पर्य यह है कि प्रकृति और पुरुष इन दोनोंमेंसे केवल प्रकृतिमें ही क्रियाएँ होती हैं, पुरुषमें नहीं । प्रकृतिके साथ तादात्म्य करनेसे ही पुरुष उन क्रियाओंको अपनी मान लेता है । जैसे, कोई मनुष्य वायुयानमें बैठकर यह मान लेता है कि मैं वायुयानद्वारा जा रहा हूँ; जब कि वास्तवमें वायुयान ही चलता है, मनुष्य नहीं । ऐसे ही पुरुष अपनेको प्रकृतिकी क्रियाओंका कर्ता मान लेता है—'अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते' (३ । २७) ।

तत्त्वको जाननेवाला विवेकी पुरुष ऐसा अनुभव करता है कि सब क्रियाएँ प्रकृति और प्रकृतिके कार्यमें ही हो रही हैं, इनमें मैं कुछ भी नहीं करता हूँ—'नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' (५ । ८) । इस वास्ते वह कर्मोंमें साङ्गोपाङ्ग प्रवृत्त होनेपर भी वास्तवमें कुछ भी नहीं करता—'कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ।' (४ । २०) ।

'विविधाश्च पृथक्चेष्टा'—उपर्युक्त तेरह करणोंकी अलग-अलग चेष्टाएँ होती हैं; जैसे—**पाणि** (हाथ)—आदान-प्रदान करना, **पाद** (पैर)—आना-जाना, चलना-फिरना, **वाक्**—बोलना, **उपस्थ**—मूत्रका त्याग करना, **पायु** (गुदा)—मलका त्याग करना, **श्रोत्र**—सुनना, **चक्षु**—देखना, **त्वक्**—स्पर्श करना, **रसना**—चखना, **घ्राण**—सूँघना, **मन**—मनन करना, **बुद्धि**—निश्चय करना और **अहंकार**—मैं ऐसा हूँ आदि अभिमान करना।

'दैवं चैवात्र पञ्चमम्'—कर्मोंकी सिद्धिमें पाँचवें हेतुका नाम 'दैव' है। यहाँ 'दैव' नाम संस्कारोंका है। मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा ही संस्कार उसके अन्तःकरणपर पड़ता है। शुभ-कर्मका शुभ संस्कार पड़ता है और अशुभ-कर्मका अशुभ संस्कार पड़ता है। वे ही संस्कार आगे कर्म करानेमें हेतु होते हैं। जिसके जिस कर्मका संस्कार जितना अधिक होगा, उस काममें वह उतनी ही सुगमतासे लग जायगा और जिस कर्मके विशेष संस्कार नहीं हैं, उसको करनेमें कुछ परिश्रम पड़ेगा। इसी प्रकार मनुष्य सुनेगा, पुस्तकें पढ़ेगा और विचार भी करेगा तो वे भी अपने-अपने संस्कारोंके अनुसार ही करेगा। तात्पर्य यह कि मनुष्यके अन्तःकरणमें शुभ और अशुभ—जैसे संस्कार होते हैं, उन्हींके अनुसार वह कर्म करता है।

इस श्लोकमें कर्मोंकी सिद्धिमें पाँच हेतु बताये गये हैं—अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और दैव। इसका कारण यह है कि आधारके बिना कोई भी काम कहाँ किया जायगा? इस वास्ते

'अधिष्ठान' पद आया है। कर्ताके बिना क्रिया कौन करेगा ? इस वास्ते 'कर्ता' पद आया है। क्रिया करनेके साधन (करण) होनेसे ही तो कर्ता क्रिया करेगा, इस वास्ते 'करण' पद आया है। करनेके साधन होनेपर भी क्रिया नहीं की जायगी तो कर्मसिद्धि कैसे होगी ? इस वास्ते 'चेष्टा' पद आया है। कर्ता अपने-अपने संस्कारोंके अनुसार ही क्रिया करेगा, संस्कारोंके विरुद्ध अथवा संस्कारोंके बिना क्रिया नहीं कर सकेगा, इस वास्ते 'दैव' पद आया है। इस प्रकार इन पाँचोंके होनेसे ही कर्मसिद्धि होती है।

श्लोक—

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥ १५॥

व्याख्या—

'शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः'—पिछले (चौदहवें) श्लोकमें कर्मोंके होनेमें जो अधिष्ठान आदि पाँच हेतु बताये गये हैं, वे पाँचों हेतु इन पदोंमें आ जाते हैं; जैसे—**'शरीर'** पदमें अधिष्ठान आ गया, **'वाक्'** पदमें बहिःकरण और **'मन'** पदमें अन्तःकरण आ गया, **'नरः'** पदमें कर्ता आ गया, और **'प्रारभते'** पदमें सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी चेष्टा आ गयी। अब रही **'दैव'** की बात। यह दैव अर्थात् संस्कार अन्तःकरणमें ही रहता है; परंतु उसका स्पष्ट रीतिसे पता नहीं लगता। उसका पता तो उससे उत्पन्न हुई वृत्तियोंसे और उसके अनुसार किये हुए कर्मोंसे ही लगता है।

'न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः'—मनुष्य शरीर, वाणी और मनसे जो कर्म प्रारम्भ करता है अर्थात् कहीं शरीरकी

प्रधानतासे, कहीं वाणीकी प्रधानतासे और कहीं मनकी प्रधानतासे जो कर्म करता है, वह चाहे न्याय्य—शास्त्रविहित हो, चाहे विपरीत—शास्त्रविरुद्ध हो, उसमें ये (पिछले श्लोकमें आये) पाँच हेतु होते हैं ।

शरीर, वाणी और मन—इन तीनोंके द्वारा ही सम्पूर्ण कर्म होते हैं । इनके द्वारा किये गये कर्मोंको ही कायिक, वाचिक और मानसिक-कर्मकी संज्ञा दी जाती है । इन तीनोंमें अशुद्धि आनेसे ही बन्धन होता है । इसी वास्ते इन तीनों (शरीर, वाणी और मन) की शुद्धिके लिये सत्रहवें अध्यायके चौदहवें, पंद्रहवें और सोलहवें श्लोकमें क्रमशः कायिक, वाचिक और मानसिकतपका वर्णन किया गया है । तात्पर्य यह है कि शरीर, वाणी और मनसे कोई भी शास्त्रनिषिद्ध कर्म न किया जाय, केवल शास्त्रविहित कर्म ही किये जायँ तो वह 'तप' हो जाता है । सत्रहवें अध्यायके ही सत्रहवें श्लोकमें 'अफलाकाङ्क्षिभिः' पद देकर यह बताया है कि निष्काम-भावसे किया हुआ तप सात्त्विक होता है । सात्त्विक तप बाँधनेवाला नहीं होता, मुक्ति देनेवाला होता है । परंतु राजस-तामस तप बाँधनेवाले होते हैं ।

इन शरीर, वाणी आदिको अपना समझकर अपने लिये कर्म करनेसे ही इनमें अशुद्धि आती है, इस वास्ते इनको शुद्ध किये बिना केवल विचारसे बुद्धिके द्वारा सांख्यसिद्धान्तकी बातें तो समझमें आ सकती हैं, परंतु 'कर्मोंके साथ मेरा किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है'—ऐसा स्पष्ट बोध नहीं हो सकता । ऐसी हालतमें साधक

शरीर आदिको अपना न समझे और अपने लिये कोई कर्म न करे तो वे बहुत जल्दी शुद्ध हो जायँगे; अतः चाहे कर्मयोगकी दृष्टिसे इनको शुद्ध करके इनसे सम्बन्ध तोड़ ले, चाहे सांख्ययोगकी दृष्टिसे प्रबल विवेकके द्वारा इनसे सम्बन्ध तोड़ ले तो वास्तविक तत्त्वकी प्राप्ति हो जायगी। इस तरह दोनों ही साधनोंसे प्रकृति और प्रकृतिके कार्यके साथ अपने माने हुए सम्बन्धका विच्छेद हो जाता है।

जिस समष्टि-शक्तिसे संसारमात्रकी क्रियाएँ होती हैं, उसी समष्टि-शक्तिसे व्यष्टि शरीरकी क्रियाएँ भी स्वाभाविक होती हैं। विवेकको महत्त्व न देनेके कारण स्वयं उन क्रियाओंमेंसे खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना-जगना आदि जिन क्रियाओंका कर्ता अपनेको मान लेता है, वहाँ कर्मसंग्रह होता है अर्थात् वे क्रियाएँ बाँधनेवाली हो जाती हैं। परंतु जहाँ स्वयं अपनेको कर्ता नहीं मानता, वहाँ कर्मसंग्रह नहीं होता। वहाँ तो केवल क्रियामात्र होती है। इस वास्ते वे क्रियाएँ फलोत्पादक अर्थात् बाँधनेवाली नहीं होतीं। जैसे, बचपनसे जवान होना, श्वासका आना-जाना, आँखोंका खोलना-मींचना, भोजनका पाचन होना तथा रस आदि बन जाना आदि क्रियाएँ बिना कर्तृत्वाभिमानके प्रकृतिके द्वारा स्वतः स्वाभाविक होती हैं और उनका कोई कर्मसंग्रह अर्थात् पाप-पुण्य नहीं होता। ऐसे ही कर्तृत्वाभिमान न रहनेपर 'सभी क्रियाएँ प्रकृतिके द्वारा ही होती हैं'—ऐसा स्पष्ट अनुभव हो जाता है।

सम्बन्ध—

भगवान्‌ने सांख्यसिद्धान्त बतानेके लिये जो उपक्रम किया है, उसमें कर्मोंके होनेमें पाँच हेतु बतानेका क्या आशय है ? इसका वर्णन अगले श्लोकमें करते हैं ।

श्लोक—

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥

व्याख्या—

ऐसे पाँच हेतु होनेपर जो केवल (शुद्ध) आत्माको कर्ता मानता है, वह दुर्मति ठीक नहीं समझता; क्योंकि उसकी बुद्धि दूषित है, शुद्ध नहीं है । '**अकृतबुद्धित्वात्**'—जैसा जन्मा था, वैसी-की-वैसी ही बुद्धि है । बुद्धिको शुद्ध नहीं किया है । उसने विवेक-विचारको महत्त्व नहीं दिया है अर्थात् जड़ और चेतनका, प्रकृति और पुरुषका जो वास्तविक विवेक है, अलगाव है, उसकी तरफ उसने ध्यान नहीं दिया है । इस वास्ते उसकी बुद्धिमें दोष आ गया है । उस दोषके कारण वह अपनेको कर्ता मान लेता है ।

'**केवलं आत्मानम्**'—केवल (शुद्ध) आत्मा कर्मोंमें अच्छी तरह प्रवृत्त होता हुआ भी कुछ नहीं करता है—'कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः' (गीता ४ । २०) परंतु तादात्म्यके कारण 'मैं नहीं करता हूँ'—ऐसा बोध नहीं होता । बोध न होनेमें '**दुर्मतिः**' ही कारण है अर्थात् जिसने बुद्धिको शुद्ध नहीं किया है, वह दुर्मति ही अपनेको कर्ता मान लेता है; जब कि शुद्ध आत्मामें कर्तृत्व नहीं है ।

'केवलम्' पद कर्मयोग और साङ्ख्ययोग—दोनोमे ही आया है। प्रकृति और पुरुषके विवेकको लेकर कर्मयोग और साङ्ख्ययोग चलते हैं। कर्मयोगमे सब क्रियाएँ शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोके द्वारा ही होती है, पर उनके साथ सम्बन्ध नही जुड़ता अर्थात् उनमे ममता नहीं होती। ममता न होनेसे शरीर, मन आदिकी संसारके साथ जो एकता है, वह एकता अनुभवमे आ जाती है। एकताका अनुभव होते ही स्वरूपमे स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव हो जाता है। इस वास्ते कर्मयोगमे 'केवल' पद शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोके साथ दिया गया है—**'कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि'** (गीता ५। ११)।

साङ्ख्ययोगमे विवेक-विचारकी प्रधानता है। जितने भी कर्म होते है, वे सब पॉच हेतुओसे ही होते हैं, अपने स्वरूपसे नहीं। परतु अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला अपनेको कर्ता मान लेता है। विवेकसे मोह मिट जाता है। मोह मिटनेसे वह अपनेको कर्ता कैसे मान सकता है ? अर्थात् उसे अपने शुद्ध स्वरूपका अनुभव हो जाता है। इस वास्ते सांख्ययोगमें 'केवल' पद स्वरूपके साथ दिया गया है—**'केवलम् आत्मानम्'**।

अब इसमे एक बात विशेष ध्यान देनेकी है कि कर्मयोगमें 'केवल' शब्द शरीर, मन आदिके साथ रहनेसे शरीर, मन, बुद्धि आदिके साथ 'अहं' भी ससारकी सेवामे लग जायगा और स्वरूप ज्यो-का-त्यो रह जायगा, और साङ्ख्ययोगमे स्वरूपके साथ 'केवल' रहनेसे 'मै निर्लेप हूँ; मै शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हूँ' इस प्रकार सूक्ष्मरीतिसे

'अहं' की गन्ध रह जायगी । 'मैं निर्लेप हूँ; मेरेमें कर्तृत्व नहीं है'— ऐसी स्थिति बहुत कालतक रहनेसे यह अहं भी अपने-आप गल जायगा अर्थात् अपने कारण प्रकृतिमें लीन हो जायगा ।

सम्बन्ध—

पिछले श्लोकमें यह बताया कि शुद्ध स्वरूपको कर्ता देखनेवाला दुर्मति ठीक नहीं देखता । तो ठीक देखनेवाला कौन है ? इसका वर्णन अगले श्लोकमें करते हैं ।

श्लोक—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १७ ॥

व्याख्या—

'यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते'—जिसमें 'मैं करता हूँ'—ऐसा अहंकृतभाव नहीं है और जिसकी बुद्धिमें 'मेरेको फल मिलेगा'—ऐसे स्वार्थभावका लेप नहीं है । इसको ऐसे समझना चाहिये—जैसे, शास्त्रविहित और शास्त्रनिषिद्ध—ये सभी क्रियाएँ एक प्रकाशमें होती हैं और प्रकाशके ही आश्रित होती हैं; परंतु प्रकाश किसी भी क्रियाका 'कर्ता' नहीं बनता अर्थात् प्रकाश उन क्रियाओंको न करनेवाला है और न करानेवाला है । ऐसे ही स्वरूपकी सत्ताके बिना विहित और निषिद्ध—कोई भी क्रिया नहीं होती; परंतु वह सत्ता उन क्रियाओंको न करनेवाली है और न करानेवाली है—ऐसा जिसको साक्षात् अनुभव हो जाता है, उसमें 'मैं क्रियाओंको करनेवाला हूँ'—ऐसा अहंकृतभाव नहीं रहता, और

'अमुक चीज चाहिये, अमुक चीज नहीं चाहिये'; 'अमुक घटना होनी चाहिये, अमुक घटना नहीं होनी चाहिये'—ऐसा बुद्धिमे लेप (द्वन्द्वमोह) नहीं रहता । अहंकृतभाव और बुद्धिमे लेप न रहनेसे उसके कर्तृत्व और भोक्तृत्व—दोनो नष्ट हो जाते हैं । नष्ट क्या हो जाते हैं । अपनेमे कर्तृत्व और भोक्तृत्व—ये दोनो ही नहीं हैं, इसका वास्तविक अनुभव हो जाता है ।

प्रकृतिका कार्य स्वतः-स्वाभाविक ही चल रहा है, परिवर्तित हो रहा है और अपना स्वरूप केवल उसका प्रकाशक है—ऐसा समझकर जो अपने स्वरूपमे स्थित रहता है, उसमे 'मै करता हूँ' ऐसा अहंकृतभाव नहीं होता; क्योकि अहंकृतभाव प्रकृतिके कार्य शरीरको स्वीकार करनेसे ही होता है । अहंकृतभाव सर्वथा मिटनेपर उसकी बुद्धिमें 'फल मेरेको मिले' ऐसा लेप भी नहीं होता अर्थात् फलकी कामना नहीं होती ।

'हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते'—वह इन सम्पूर्ण लोकोको एक साथ मार डाले तो भी वह मारता नहीं; क्योकि उसमे कर्तृत्व नहीं है, और वह बँधता भी नहीं; क्योकि उसमे भोक्तृत्व नहीं है । तात्पर्य यह कि उसका न क्रियाओके साथ सम्बन्ध है और न फलके साथ सम्बन्ध है ।

वास्तवमे प्रकृति ही क्रिया और फलमे परिणत होती है । परंतु इस वास्तविकताका अनुभव न होनेसे ही पुरुष कर्ता और भोक्ता बनता है । कारण कि जब अहंकारपूर्वक क्रिया होती है, तब कर्ता, करण और कर्म—तीनो मिलते हैं और तभी कर्मसंग्रह होता है ।

परंतु जिसमें अहंकृतभाव नहीं रहा, केवल सबका प्रकाशक, आश्रय, सामान्य चेतन ही रहा, फिर वह कैसे किसको मारे ? और कैसे किससे बँधे ? उसका 'मारना' और 'बँधना' सम्भव ही नहीं है।*

सम्पूर्ण लोकोंको मारना क्या है ? जिसमें अहंकृतभाव नहीं है और जिसकी बुद्धिमें लेप नहीं है—ऐसे पुरुषका शरीर जिस वर्ण और आश्रममें रहता है, उसके अनुसार उसके सामने जो परिस्थिति आ जाती है, उसमें प्रवृत्त होनेपर उसे पाप नहीं लगता। जैसे, किसी जीवन्मुक्त क्षत्रियके लिये स्वतः युद्धकी परिस्थिति प्राप्त हो जाय तो वह उसके अनुसार सबको मारकर भी न तो मारता है और न बँधता है। कारण कि उसमें अभिमान और स्वार्थभाव नहीं है।

यहाँ अर्जुनके सामने भी युद्धका प्रसङ्ग है। इस वास्ते भगवान्‌ने 'हत्वापि' पदसे अर्जुनको युद्धके लिये प्रेरणा की है। 'अपि' पदका भाव है—**'कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः'** (गीता ४। २०) "कर्मोंमें अच्छी तरह प्रवृत्त होनेपर भी वह कुछ नहीं करता।' **'सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते'** (गीता ६। ३१) 'सर्वथा बर्ताव करता हुआ भी वह योगी मेरेमें

---

* य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥

(गीता २। १९)

'जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते; क्योंकि यह आत्मा वास्तवमें न तो किसीको मारता है और न किसीके द्वारा मारा जाता है।'

रहता है।' तात्पर्य यह है कि कर्मोंमें साङ्गोपाङ्ग प्रवृत्त होनेपर और जिस समय कर्मोंमें प्रवृत्ति नहीं है, उस समय भी स्वरूपकी निर्विकल्पता ज्यों-की-त्यों रहती है अर्थात् क्रिया करनेसे अथवा क्रिया न करनेसे स्वरूपमें कुछ भी फर्क नहीं पड़ता। कारण कि क्रिया-विभाग प्रकृतिमें है, स्वरूपमें नहीं।

वास्तवमें यह अहंभाव (व्यक्तित्व) ही मनुष्यमें भिन्नता करनेवाला है। अहंभाव न रहनेसे परमात्माके साथ भिन्नताका कोई कारण ही नहीं है। फिर तो केवल सबका आश्रय, प्रकाशक सामान्य चेतन रहता है। वह न तो क्रियाका कर्ता बनता है और न फलका भोक्ता ही बनता है। क्रियाओंका कर्ता और फलका भोक्ता तो पहले भी नहीं था। केवल नाशवान् शरीरके साथ सम्बन्ध मानकर जिस अहंभावको स्वीकार किया है, उसी अहंभावसे उसमें कर्तापन और भोक्तापन आया है।

'अहं' दो प्रकारका होता है—अहंस्फूर्ति और अहंकृति। गाढ नींदसे उठते ही सबसे पहले मनुष्यको अपने होनेपन (सत्तामात्र) का भान होता है, इसको 'अहंस्फूर्ति' कहते हैं। इसके बाद वह अपनेमें 'मैं अमुक नाम, वर्ण, आश्रम आदिका हूँ'—ऐसा आरोप करता है, यही असत्का सम्बन्ध है। असत्के सम्बन्धसे अर्थात् शरीरके साथ तादात्म्य माननेसे शरीरकी क्रियाको लेकर 'मैं करता हूँ'—ऐसा भाव उत्पन्न होता है, इसको 'अहंकृति' कहते हैं।

'अहं' को लेकर ही अपनेमें परिच्छिन्नता आती है। इस वास्ते अहंस्फूर्तिमें भी परिच्छिन्नता-(व्यक्तित्व-) का दोष रहता है;

परंतु यह परिच्छिन्नता बन्धनकारक नहीं होती अर्थात् परिच्छिन्नता रहनेपर भी अहंस्फूर्ति दोषी नहीं होती; कारण कि अहंकृति अर्थात् कर्तृत्वके बिना अपनेमें गुण-दोषका आरोप नहीं होता। अहंकृति आनेसे ही अपनेमें गुण-दोषका आरोप होता है, जिससे शुभ-अशुभ कर्म बनते हैं। बोध होनेपर अहंस्फूर्तिमें जो परिच्छिन्नता है, वह जल जाती है और स्फूर्तिमात्र रह जाती है। ऐसी स्थितिमें मनुष्य न मारता है और न बँधता है।

'न हन्ति न निबध्यते' (न मारता है और न बँधता है) का क्या भाव है ? एक निर्विकल्प अवस्था होती है और एक निर्विकल्प-बोध होता है। निर्विकल्प अवस्था साधन-साध्य है और उसका उत्थान भी होता है अर्थात् वह एकरस नहीं रहती। इस निर्विकल्प-अवस्थासे भी असङ्गता होनेपर स्वतःसिद्ध निर्विकल्प-बोधका अनुभव होता है। निर्विकल्प-बोध साधन-साध्य नहीं है और उसमें निर्विकल्पता किसी भी अवस्थामें किञ्चिन्मात्र भी भंग नहीं होती। निर्विकल्प-बोधमें कभी परिवर्तन हुआ नहीं, होगा नहीं और होना सम्भव भी नहीं। तात्पर्य यह कि उस निर्विकल्प-बोधमें कभी हलचल आदि नहीं होते, यही **'न हन्ति न निबध्यते'** का भाव है।

अहंकृतभाव और बुद्धिमें लेप न रहनेका उपाय है कि क्रियारूपसे परिवर्तन केवल प्रकृतिमें ही होता है और उन क्रियाओंका भी आरम्भ और अन्त होता है तथा उन कर्मोंके फलरूपसे जो पदार्थ मिलते हैं, उनका भी संयोग-वियोग होता है। इस प्रकार क्रिया और पदार्थ—दोनोंके साथ संयोग-वियोग होता रहता है। संयोग-

नियोग होनेपर भी स्वयं तो प्रकाशकरूपसे ज्यों-का-त्यों ही रहता है। विवेक-विचारसे ऐसा अनुभव होनेपर अहंकृतभाव और बुद्धिमें लेप नहीं रहता।

सम्बन्ध—

ज्ञान और प्रवृत्ति (क्रिया) दोषी नहीं होते, प्रत्युत कर्तृत्वाभिमान ही दोषी होता है; क्योंकि कर्तृत्वाभिमानसे ही कर्मसंग्रह होता है—यह बात बतानेके लिये अगला श्लोक कहते हैं।

श्लोक—

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः॥ १८॥

व्याख्या—

इसी अध्यायके चौदहवें श्लोकमें भगवान्‌ने कर्मोंके बननेमें पाँच हेतु बताये—अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और दैव (संस्कार)। इन पाँचोंमें भी मूल हेतु है—कर्ता। इसी मूल हेतुको मिटानेके लिये भगवान्‌ने सोलहवें श्लोकमें कर्तृत्वभाव रखनेवालेकी बड़ी निन्दा की और सत्रहवें श्लोकमें कर्तृत्वभाव न रखनेवालेकी बड़ी प्रशंसा की। कर्तृत्वभाव बिल्कुल न रहे, यह साफ-साफ समझानेके लिये ही अठारहवाँ श्लोक कहा गया है।

'ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना'—ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता—यह तीन प्रकारकी कर्म-प्रेरणा है, 'ज्ञान'को सबसे पहले कहनेमें यह भाव है कि हरेक मनुष्यकी कोई भी प्रवृत्ति होती है तो प्रवृत्तिसे पहले ज्ञान होता है। जैसे, जल पीनेकी प्रवृत्तिसे पहले प्यासका ज्ञान होता है, फिर वह जलसे प्यास बुझाता है। जल

आदि जिस विषयका ज्ञान होता है, वह 'ज्ञेय' कहलाता है और जिसको ज्ञान होता है, वह 'परिज्ञाता' कहलाता है। ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता—तीनो होनेसे ही कर्म करनेकी प्रेरणा होती है। यदि इन तीनोंमेसे एक भी न हो तो कर्म करनेकी प्रेरणा नहीं होती।

'परिज्ञाता' उसको कहते हैं, जो **'परितः'** ज्ञाता है अर्थात् जो सब तरहकी क्रियाओंकी स्फुरणाका ज्ञाता है। वह केवल 'ज्ञाता' मात्र है अर्थात् उसे क्रियाओंकी स्फुरणामात्रका ज्ञान होता है, उसमें अपने लिये कुछ चाहनेका अथवा उस क्रियाको करनेका अभिमान आदि बिल्कुल नहीं होते।

कोई भी क्रिया करनेकी स्फुरणा एक व्यक्तिविशेषमे ही होती है। इसलिये शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन विषयोको लेकर सुननेवाला, स्पर्श करनेवाला, देखनेवाला, चखनेवाला और सूँघनेवाला—इस तरह अनेक 'कर्ता' हो सकते हैं, परंतु उन सबको जाननेवाला एक ही रहता है, उसे ही यहाँ **'परिज्ञाता'** कहा है।

'करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः'—कर्मसंग्रहके तीन हेतु हैं—करण, कर्म तथा कर्ता। इन तीनोंके सहयोगसे कर्म पूरा होता है। जिन साधनोंसे कर्ता कर्म करता है, उन इन्द्रियो आदि क्रिया करनेके साधनोंको 'करण' कहते हैं। खाना-पीना, उठना-बैठना, चलना-फिरना, आना-जाना आदि जो चेष्टाएँ की जाती हैं, उनको 'कर्म' कहते हैं। करण और क्रियासे अपना सम्बन्ध जोड़कर कर्म करनेवालेको 'कर्ता' कहते हैं। इस प्रकार इन तीनोके मिलनेसे ही कर्म बनता है।

भगवान्‌को यहाँ खास बात यह बतानी है कि कर्म-संग्रह कैसे होता है ? अर्थात् कर्म बाँधनेवाला कैसे होता है ? कर्म बननेके तीन हेतु बताते हुए भगवान्‌का लक्ष्य मूल हेतु 'कर्ता' को बतानेमे है; क्योंकि कर्मसंग्रहका खास सम्बन्ध कर्तासे है। यदि कर्तापन न हो तो कर्म-संग्रह नहीं होता, केवल क्रियामात्र होती है।

कर्म-संग्रहमे 'करण' हेतु नहीं है; क्योंकि करण कर्ताके अधीन होता है। कर्ता जैसा कर्म करना चाहता है, वैसा ही कर्म होता है, इसलिये 'कर्म' भी कर्मसंग्रहमे खास हेतु नहीं है। सांख्यसिद्धान्तके अनुसार खास बाँधनेवाला है—अहंकृत-भाव और इसीसे कर्मसंग्रह होता है। अहंकृतभाव न रहनेसे कर्मसंग्रह नहीं होता अर्थात् कर्म फलजनक नहीं होता। इस मूलका ज्ञान करानेके लिये ही भगवान्‌ने करण और कर्मको पहले रखकर कर्ताको कर्मसंग्रहके पासमें रखा है, जिससे यह ख्यालमें आ जाय कि बाँधनेवाला 'कर्ता' ही है।

सम्बन्ध—

गुणातीत होनेके उद्देश्यसे अब अगले श्लोकसे त्रिगुणात्मक पदार्थोंका प्रकरण आरम्भ करते हैं।

श्लोक—

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

'ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः'—पिछले श्लोकमें भगवान्‌ने किसी कर्मकी प्रेरणा होनेमे तीन हेतु बताये तथा तीन ही हेतु किसी कर्मके बननेमें बताये। इस प्रकार कर्मसंग्रह होनेतकमे

कुल छः बातें बतायीं। अब इस श्लोकमें ज्ञान, कर्म तथा कर्ता—इन तीनोंका विवेचन करनेकी ही बात भगवान् कहते हैं। कर्म-प्रेरक-विभागमेंसे विवेचन करनेके लिये केवल 'ज्ञान' लिया है तथा कर्मसंग्रह-विभागमेंसे केवल 'कर्म' तथा 'कर्ता' लिये हैं। इस प्रकार कर्मप्रेरक-विभागमें 'ज्ञाता' तथा 'ज्ञेय' को और कर्मसंग्रह-विभागमें 'करण' को छोड़ दिया है।

कर्मप्रेरक-विभागके 'ज्ञाता' और 'ज्ञेय' का विवेचन क्यों नहीं किया? कारण कि ज्ञाता जब क्रियासे सम्बन्ध जोड़ता है, तब वह 'कर्ता' कहलाता है और उस कर्ताके तीन (सात्त्विक, राजस और तामस) भेदोंके अन्तर्गत ही ज्ञाताके भी तीन भेद हो जाते हैं। परंतु ज्ञाता जब ज्ञप्तिमात्र रहता है, तो उसके तीन भेद नहीं होते; क्योंकि उसमें गुणोंका सङ्ग नहीं है। गुणोंका सङ्ग होनेसे ही उसके तीन भेद होते हैं। इसवास्ते वृत्ति-ज्ञान ही सात्त्विक, राजस तथा तामस होता है।

जिसे जाना जाय, उस विषयको 'ज्ञेय' कहते हैं। जाननेके विषय अनेक हैं, इसलिये इसके अलग भेद नहीं किये गये। परंतु जाननेयोग्य सब विषयोंका एकमात्र लक्ष्य 'सुख' प्राप्त करना ही रहता है। जैसे, कोई विद्या पढ़ता है, कोई धन कमाता है, कोई अधिकार पानेकी चेष्टा करता है तो इन सब विषयोंको जानने, पानेकी चेष्टाका लक्ष्य एकमात्र 'सुख' ही रहता है। विद्या पढ़नेमें यही भाव रहता है कि ज्यादा पढ़कर ज्यादा धन कमाऊँगा, मान पाऊँगा और उनसे मैं सुखी होऊँगा। ऐसे ही हरेक कर्मका लक्ष्य परम्परासे सुख ही

रहता है। इस वास्ते भगवान्‌ने ज्ञेयके तीन भेद सात्त्विक, राजस और तामस 'सुख'के नामसे आगे (१८ । ३६—३९ में) किये हैं।

ऐसे ही भगवान्‌ने करणके भी तीन भेद नहीं किये। कारण कि इन्द्रियाँ आदि जितने भी करण हैं, वे सब साधनमात्र हैं। इस वास्ते उनके तीन भेद नहीं होते। परंतु इन सभी करणोंमें 'बुद्धि' की ही प्रधानता है; क्योंकि मनुष्य करणोंसे जो कुछ भी काम करता है, उसको वह बुद्धिपूर्वक (विचारपूर्वक) ही करता है। इस वास्ते भगवान्‌ने करणके तीन भेद सात्त्विक, राजस और तामस 'बुद्धि'के नामसे आगे (१८ । ३०—३२ मे) किये हैं।

बुद्धिको दृढतासे रखनेमे 'धृति' बुद्धिकी सहायक बनती है। ज्ञानयोगकी साधनामे भगवान्‌ने दो जगह (६ । २५ में तथा १८ । ५१ मे) बुद्धिके साथ धृति पद भी दिया है। इससे यह मालूम देता है कि ज्ञानमार्गमें बुद्धिके साथ धृतिकी विशेष आवश्यकता है। इस वास्ते भगवान्‌ने धृतिके भी तीन भेद (१८ । ३३—३५ में) बताये हैं।

'त्रिधैव' पदमे यह भाव है कि ये भेद तीन (सात्त्विक, राजस और तामस) ही होते है, कम और ज्यादा नहीं होते अर्थात् न दो होते है और न चार होते है। कारण कि सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण ही प्रकृतिसे उत्पन्न है—**'सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः'** (गीता १४ । ५)। इसलिये इन तीनो गुणोको लेकर तीन ही भेद होते है।

'प्रोच्यते गुणसंख्याने'—जिस शास्त्रमें गुणोंके सम्बन्धसे प्रत्येक पदार्थके भिन्न-भिन्न भेदोंकी गणना की गयी है, उसी शास्त्रके अनुसार मैं तुम्हें ज्ञान, कर्म तथा कर्ताके भेद बता रहा हूँ।

'यथावत्'—गुणसंख्यान-शास्त्रमें इस विषयका जैसा वर्णन हुआ है, वैसा-का-वैसा तुझे सुना रहा हूँ; अपनी तरफसे कुछ कम या अधिक करके नहीं सुना रहा हूँ।

'शृणु'—इस विषयको ध्यानसे सुनो। कारण कि सात्त्विक, राजस और तामस—इन तीनोंमेंसे 'सात्त्विक' चीजे तो कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करके परमात्मतत्त्वका बोध करानेवाली हैं; 'राजस' चीजे जन्म-मरण देनेवाली हैं; और 'तामस' चीजें पतन करनेवाली अर्थात् नरकों और नीच योनियोंमें ले जानेवाली हैं। इस वास्ते इनका वर्णन सुनकर सात्त्विक चीजोंको ग्रहण तथा राजस-तामस चीजोंका त्याग करना चाहिये।

'तानि'—इन ज्ञान आदिका तेरे स्वरूपके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। तेरा स्वरूप तो सदा निर्लेप है।

'अपि'—इनके भेदोंको सुनकर उनको जाननेकी भी बड़ी भारी आवश्यकता है; क्योंकि इनको ठीक तरहसे जाननेपर **'यस्य नाहंकृतो भावो ....न हन्ति न निबध्यते'** (१८।१७)—इस श्लोकका ठीक अनुभव हो जायगा अर्थात् अपने स्वरूपकी प्राप्ति हो जायगी।

सम्बन्ध—

अब सात्त्विक ज्ञानका वर्णन करते हैं।

श्लोक—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥ २०॥

व्याख्या—

'सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते'—जिस ज्ञानके द्वारा साधक स्थावर-जङ्गम आदि सम्पूर्ण विभक्त प्राणियोंमें एक अविभक्त अविनाशी भाव-(सत्ता-) को देखता है, वह ज्ञान 'सात्त्विक' है। व्यक्ति, वस्तु आदिमें जो 'है'-पन दीखता है, वह उन व्यक्ति, वस्तु आदिका नहीं है, प्रत्युत सबमें परिपूर्ण परमात्माका ही है। उन व्यक्ति, वस्तु आदिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है; क्योंकि उनमें प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है। कोई भी व्यक्ति, वस्तु आदि ऐसी नहीं है, जिसमें परिवर्तन न होता हो; परंतु अपनी अज्ञता-(बेसमझी-) से उनकी सत्ता दीखती है।

जब अज्ञता मिट जाती है, ज्ञान हो जाता है तो साधककी दृष्टि उस अविनाशी तत्त्वकी तरफ ही जाती है, जिसकी सत्तासे यह सब सत्तावान् हो रहा है।

'अविभक्तं विभक्तेषु'—ज्ञान होनेपर साधककी दृष्टि परिवर्तन-शील वस्तुओंको भेदकर परिवर्तनरहित तत्त्वकी ओर ही जाती है*। फिर वह विभक्त अर्थात् अलग-अलग वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति,

* समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥ (गीता १३। २७)
'जो पुरुष नष्ट होते हुए सम्पूर्ण चराचर भूतोंमें परमेश्वरको नाशरहित और समभावसे स्थित देखता है, वही यथार्थ देखता है।'

घटना आदिमें विभागरहित एक ही तत्त्वको देखता है *। तात्पर्य यह कि अलग-अलग वस्तु, व्यक्ति आदिका अलग-अलग ज्ञान और यथायोग्य अलग-अलग व्यवहार होते हुए भी वह इन विकारी वस्तुओंमें उस स्वतःसिद्ध निर्विकार एक तत्त्वको देखता है। उसके देखनेकी यही पहचान है कि उसके अन्तःकरणमे राग-द्वेष नहीं होते।

'तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्'—उस ज्ञानको तू सात्त्विक जान। परिवर्तनशील वस्तुओं, वृत्तियोंके सम्बन्धसे ही इसे 'सात्त्विक ज्ञान' कहते हैं। सम्बन्ध-रहित होनेपर यही ज्ञान 'वास्तविक बोध' कहलाता है, जिसको भगवान्‌ने सब साधनोंसे जाननेयोग्य ज्ञेय-तत्त्व बताया है—**'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते'** (गीता १३।१२)।

संसारका ज्ञान इन्द्रियोंसे होता है, इन्द्रियोंका ज्ञान बुद्धिसे होता है और बुद्धिका ज्ञान 'मै' से होता है। वह 'मै' बुद्धि, इन्द्रियाँ और विषय—इन तीनोको जानता है। परंतु उस 'मै' का भी एक प्रकाशक है, जिसमें 'मै'का भी भान होता है। वह प्रकाश

---

* अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥ (गीता १३।१६)

'वह परमात्मा विभागरहित एकरूपसे आकाशके सदृश परिपूर्ण होनेपर भी चराचर सम्पूर्ण भूतोंमें विभक्त-सा स्थित प्रतीत होता है; तथा वह जाननेयोग्य परमात्मा विष्णुरूपसे सबको धारण-पोषण करनेवाला और रुद्ररूपसे संहार करनेवाला तथा ब्रह्मारूपसे सबको उत्पन्न करनेवाला है।'

सर्वदेशीय और असीम है तथा 'मैं' एकदेशीय और सीमित है। उस प्रकाशमें जैसे 'मैं' का भान होता है, वैसे ही 'तू', 'यह' और 'वह' का भी भान होता है। वह प्रकाश किसीका भी विषय नहीं है। वास्तवमें वह प्रकाश निर्गुण ही है; परंतु व्यक्ति-विशेषमें रहनेवाला होनेसे (वृत्तियोंके सम्बन्धसे) उसे 'सात्त्विक ज्ञान' कहते हैं।

इस सात्त्विक ज्ञानको दूसरे ढंगसे इस प्रकार समझना चाहिये—'मैं', 'तू', 'यह' और 'वह'—ये चारों ही किसी प्रकाशमें काम करते हैं। इन चारोंके अन्तर्गत सम्पूर्ण प्राणी आ जाते हैं, जो विभक्त हैं और इनका जो प्रकाशक है, वह अविभक्त (विभाग-रहित) है।

बोलनेवाला 'मैं', उसके सामने सुननेवाला 'तू' और पासवाला 'यह' तथा दूरवाला 'वह' कहा जाता है अर्थात् बोलनेवाला अपनेको 'मैं' कहता है, सामनेवालेको 'तू' कहता है, पासवालेको 'यह' कहता है और दूरवालेको 'वह' कहता है। जो 'तू' बना हुआ था, वह 'मैं' हो जाय तो 'मैं' बना हुआ 'तू' हो जायगा और 'यह' तथा 'वह' वही रहेंगे। इसी प्रकार 'यह' कहलानेवाला अगर 'मैं' बन जाय तो 'तू' कहलानेवाला 'यह' बन जायगा और 'मैं' कहलानेवाला 'तू' बन जायगा। 'वह' परोक्ष होनेसे अपनी जगह ही रहा। अब 'वह' कहलानेवाला 'मैं' बन जायगा तो उसकी

दृष्टिमें 'मै', 'तू' और 'यह' कहलानेवाले सब 'वह' हो जायँगे * । इस प्रकार 'मै', 'तू', 'यह' और 'वह'—ये चारो ही एक-दूसरेकी दृष्टिमें चारो ही बन सकते है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि 'मै', 'तू', 'यह' और 'वह'—ये सब परिवर्तनशील है अर्थात् टिकनेवाले नहीं है, वास्तविक नहीं है। अगर वास्तविक होते तो एक ही रहते। वास्तविक तो इन सबका प्रकाशक और आश्रय है, जिसके प्रकाशमे 'मै', 'तू', 'यह' और 'वह' का भान हो रहा है। उस प्रकाशकमे 'मै', 'तू', 'यह' और 'वह'—ये चारो ही नहीं है, प्रत्युत उसीसे इन चारोको सत्ता मिलती है, अपनी मान्यताके कारण 'मै', 'तू', 'यह', 'वह' का तो भान होता है, पर प्रकाशकका भान नहीं होता। वह प्रकाशक सबको प्रकाशित करता है, स्वयंप्रकाश-स्वरूप है और सदा ज्यो-का-त्यो रहता है। 'मै', 'तू', 'यह' और 'वह'—यह सब विभक्त प्राणियोका

---

* उदाहरणके रूपमें—राम, श्याम, गोविन्द और गोपाल—ये चार व्यक्ति हैं। राम और श्याम एक-दूसरेके सामने हैं, गोविन्द उनके पास है और गोपाल उनसे दूर है। राम अपनेको 'मैं' कहता है, अपने सामनेवाले श्यामको 'तू' कहता है, पासवाले गोविन्दको 'यह' कहता है और दूरवाले गोपालको 'वह' कहता है। अब यदि श्याम अपनेको 'मैं' कहे तो रामको वह 'तू' कहेगा, गोविन्दको 'यह' कहेगा तथा गोपालको 'वह' कहेगा। इसी तरह अगर गोविन्द अपनेको 'मैं' कहे तो वह श्यामको 'यह' कहेगा और रामको 'तू' कहेगा अथवा श्यामको 'तू' और रामको 'यह' कहेगा; तथा दूरवाले गोपालको 'वह' कहेगा। अब अगर गोपाल अपनेको 'मैं' कहे तो वह राम, श्याम और गोविन्द—तीनोंको 'वह' कहेगा। इस प्रकार राम, श्याम, गोविन्द और गोपाल—ये चारों ही एक-दूसरेकी दृष्टिमें 'मैं', 'तू', 'यह' और 'वह' बन सकते हैं।

स्वरूप है और जो वास्तविक प्रकाशक है, वह विभागरहित है। यही वास्तवमें 'सात्त्विक ज्ञान' है।

विभागवाली, परिवर्तनशील और नष्ट होनेवाली जितनी वस्तुएँ हैं, यह ज्ञान उन सबका प्रकाशक है और स्वयं भी निर्मल तथा विकाररहित है—**'तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्'** (गीता १४ । ६) इस वास्ते इस ज्ञानको 'सात्त्विक' कहा जाता है।

वास्तवमें यह 'सात्त्विक ज्ञान' प्रकाश्यकी दृष्टि (सम्बन्ध) से, 'प्रकाशक' और विभक्तकी दृष्टिसे 'अविभक्त' कहा जाता है। प्रकाश्य और विभक्तसे रहित होनेपर तो यह निर्गुण, निरपेक्ष 'वास्तविक ज्ञान' ही है।

सम्बन्ध—

अव राजस ज्ञानका वर्णन करते है।

श्लोक—

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥ २१॥

व्याख्या—

'पृथक्त्वेन तु* यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्'—राजस ज्ञानमें 'राग' की मुख्यता होती है—**'रजो रागात्मकं विद्धि'** (गीता १४ । ७) रागका यह कायदा है कि वह जिसमें आ जाता है, उसमें किसीके प्रति आसक्ति, प्रियता पैदा करा देता है

---

* यहाँ 'तु' पद राजस ज्ञानको सात्त्विक ज्ञानसे भिन्न बतानेके लिये आया है।

और किसीके प्रति द्वेष पैदा करा देता है। इस रागके कारण ही मनुष्य, देवता, यक्ष-राक्षस, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, वृक्ष-लता आदि जितने भी चर-अचर प्राणी हैं, उन प्राणियोंकी विभिन्न आकृति, स्वभाव, नाम, रूप, गुण आदिको लेकर राजस ज्ञानवाला पुरुष उनमें रहनेवाले एक ही अविनाशी आत्माको तत्त्वसे अलग-अलग समझता है।

'वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्'—इसी तरहसे ही जिस ज्ञानसे मनुष्य अलग-अलग शरीरोंमें अन्तःकरण, स्वभाव, इन्द्रियाँ, प्राण आदिके सम्बन्धसे प्राणियोंको भी अलग-अलग मानता है, वह ज्ञान 'राजस' कहलाता है। राजस ज्ञानमें जड़-चेतनका विवेक नहीं होता।

सम्बन्ध—

अब तामस ज्ञानका वर्णन करते हैं।

श्लोक—

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥ २२॥

व्याख्या—

'यत्तु* कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तम्'—तामस पुरुष एक ही शरीरमें आसक्त रहता है अर्थात् उत्पन्न और नष्ट होनेवाले इस पाञ्चभौतिक शरीरको ही अपना स्वरूप मानता है। वह मानता है कि मैं ही छोटा बच्चा था, मैं ही जवान हूँ और मैं ही बूढ़ा हो जाऊँगा; मैं भोगी, बलवान् और सुखी हूँ; मैं धनी और बड़े कुटुम्बवाला हूँ; मेरे समान

* इस श्लोकमें राजस ज्ञानसे भी तामस ज्ञानको भिन्न बतानेके लिये 'तु' पद आया है।

दूसरा कौन है; इत्यादि ऐसी मान्यता मूढ़ताके कारण ही होती है, इस वास्ते भगवान्‌ने कहा है—'इत्यज्ञानविमोहिताः' (१६ । १५)

'अहैतुकम्'—तामस पुरुषकी मान्यता युक्ति और शास्त्रप्रमाणसे विरुद्ध होती है । यह शरीर हरदम बदल रहा है, शरीरादि वस्तुमात्र अभावमें परिवर्तित हो रही है, दृश्यमात्र अदृश्य हो रहा है और इनमें तू सदा ज्यों-का-त्यों रहता है तो यह शरीर और तू एक कैसे हो सकते हैं ?—इस प्रकारकी युक्तियोंको वह स्वीकार नहीं करता ।

'अतत्त्वार्थवदल्पं च'—यह 'शरीर' और 'मैं', दोनों अलग-अलग हैं—इस वास्तविक ज्ञान (विवेक) से वह रहित है । उसकी समझ अत्यन्त तुच्छ है अर्थात् तुच्छताकी प्राप्ति करानेवाली है । इस वास्ते इसको 'ज्ञान' कहनेमें भगवान्‌को संकोच हुआ है । कारण कि तामस पुरुषमें मूढ़ताकी प्रधानता होती है । मूढ़ता और ज्ञानका आपसमें विरोध है । इस वास्ते भगवान्‌ने 'ज्ञान' पद न देकर 'यत्' और 'तत्' पदसे ही काम चलाया है ।

'तत्तामसमुदाहृतम्'—युक्तिरहित, अल्प और अत्यन्त तुच्छ समझको ही महत्त्व देना 'तामस' कहा गया है ।

जब तामस समझ 'ज्ञान' है ही नहीं और भगवान्‌को भी इसको 'ज्ञान' कहनेमें संकोच हुआ है तो फिर इसका वर्णन ही क्यों किया गया ? कारण कि भगवान्‌ने उन्नीसवें श्लोकमें ज्ञानके त्रिविध भेद कहनेका उपक्रम किया है, इस वास्ते सात्त्विक और राजस-ज्ञानका वर्णन करनेके बाद तामस समझको भी कहनेकी आवश्यकता थी ।

सम्बन्ध—

अब सात्त्विक कर्मका वर्णन करते हैं—

श्लोक—

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

व्याख्या—

'नियतम्'—जिस व्यक्तिके लिये वर्ण और आश्रमके अनुसार जिस परिस्थितिमें और जिस समय शास्त्रोंने जैसा करनेके लिये कहा है, उसके लिये वह कर्म 'नियत' हो जाता है।

यहाँ **'नियतम्'** पदसे एक तो कर्मोंका स्वरूप बताया है और दूसरे शास्त्रनिषिद्ध कर्मका निषेध किया है।

'सङ्गरहितम्'—वह नियत-कर्म कर्तृत्वाभिमानसे रहित होकर किया जाय। कर्तृत्वाभिमानसे रहित कहनेका भाव है कि जैसे वृक्ष आदिमें मूढ़ता होनेके कारण उनको कर्तृत्वका भान नहीं होता, पर उनकी भी ऋतु आनेपर पत्तोंका झड़ना, नये पत्तोंका निकलना, शाखा कटनेपर घावका मिल जाना, शाखाओंका बढ़ना, फल-फूलका लगना आदि सभी क्रियाएँ समष्टि शक्तिके द्वारा अपने-आप ही होती हैं; ऐसे ही इन सभी शरीरोंका बढ़ना-घटना, खाना-पीना, चलना-फिरना आदि सभी क्रियाएँ भी समष्टि शक्तिके द्वारा अपने-आप हो रही हैं। इन क्रियाओंके साथ न अभी कोई सम्बन्ध है, न पहले कोई सम्बन्ध था और न आगे ही कोई सम्बन्ध होगा। इस प्रकार जब साधकको प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है तो फिर उसमें कर्तृत्व

नहीं रहता। कर्तृत्व न रहनेपर उसके द्वारा जो कर्म होगा, वह सङ्गरहित अर्थात् कर्तृत्वाभिमान-रहित ही होगा।

यहाँ सांख्य-प्रकरणमें कर्तृत्वका त्याग मुख्य होनेसे और आगे 'अरागद्वेषतः कृतम्' पदोंमें भी आसक्तिके त्यागकी बात आनेसे यहाँ 'सङ्गरहितम्' पदका अर्थ कर्तृत्व-अभिमानरहित लिया गया है।

'अरागद्वेषतः कृतम्'—राग-द्वेषसे रहित हो करके कर्म किया जाय अर्थात् कर्मका ग्रहण रागपूर्वक न हो और कर्मका त्याग द्वेष-पूर्वक न हो तथा कर्म करनेके जितने साधन (शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदि) हैं, उनमें भी राग-द्वेष न हो।

'अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते'—पहले 'अरागद्वेषतः' पदसे वर्तमानमें रागका अभाव बताया. अब 'अफलप्रेप्सुना' कहकर भविष्यमें रागका अभाव बताते हैं। तात्पर्य यह कि भविष्यमें मिलनेवाले फलकी इच्छासे रहित पुरुषके द्वारा कर्म किया जाय अर्थात् क्रिया और पदार्थोंसे निर्लिप्त रहते हुए असङ्गता-पूर्वक कर्म किया जाय तो वह सात्त्विक कहा जाता है।

इस सात्त्विक कर्ममें सात्त्विकता तभीतक है, जबतक अत्यन्त सूक्ष्मरूपसे भी प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है। जब प्रकृतिसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा, तो यह कर्म 'अकर्म' हो जायगा।

सम्बन्ध—

अब राजस कर्मका वर्णन करते हैं।

श्लोक—

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

व्याख्या—

'यत्तु*कामेप्सुना कर्म'—हम कर्म करेंगे तो हमें पदार्थ मिलेंगे, सुख-आराम मिलेगा, भोग मिलेंगे आदि फलकी इच्छावाले व्यक्तिके द्वारा कर्म किया जाय।

'साहंकारेण'—कर्मोंको करते हुए दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें विलक्षणताका, विशेपनाका अनुभव होता है, जैसे—दूसरे आदमी हमारे समान सुचारुरूपसे सङ्गोपाङ्ग कार्य नहीं कर सकते; हमारेमें काम करनेकी जो योग्यता, विद्या, चतुरता आदि हैं, वे हरेक आदमीमें नहीं मिलेंगे, हम जो भी काम करते हैं, उसको बहुत ही ईमानदारीसे और जल्दी करते हैं, आदि। इस प्रकार अहंकारपूर्वक किया गया कर्म राजस कहलाता है।

'वा पुनः'—आगे भविष्यमें मिलनेवाले फलको लेकर किया जाय अथवा वर्तमानमें अपनी विशेषताको लेकर किया जाय, इन दोनों भावोंमेंसे जब एक भाव होनेपर भी कर्म राजस हो जाता है तब दोनों भाव होनेपर वह राजस हो ही जायगा।

'क्रियते बहुलायासम्'—राजसी पुरुषका शरीरमे, इन्द्रियोंमे, अन्तःकरणमे राग होनेके कारण उसे कर्म करनेमें परिश्रमका अधिक भान होता है। दूसरा कारण यह भी है कि राजस पुरुष कर्म करते हुए कर्मोंका बहुत अधिक विस्तार कर देता है। यह भी कर ले, वह भी कर ले; यह काम ऐसा करनेसे इतनी भोग-सामग्री हो जायगी,

---

* राजसकर्मको सात्त्विककर्मसे भिन्न बतानेके लिये यहाँ 'तु' पदका प्रयोग हुआ है।

धन-सम्पत्ति बढ़ जायगी; उस कामको करनेसे मान-बड़ाई, प्रशंसा हो जायगी आदि भावोंको लेकर वह कार्योंका विस्तार कर देता है, जिससे अधिक परिश्रम होता है।

'तद्राजसमुदाहृतम्'—ऐसे फलकी इच्छावाले पुरुषके द्वारा अहंकार और परिश्रमपूर्वक किया हुआ जो कर्म है, वह 'राजस' कहा गया है।

सम्बन्ध—

अब तामस कर्मका वर्णन करते हैं।

श्लोक—

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

व्याख्या—

'अनुबन्धम्'—जिसको फलकी कामना होती है, वह मनुष्य तो फलप्राप्तिके लिये विचारपूर्वक कर्म करेगा; परंतु तामसी पुरुषमें मूढ़ताकी प्रधानता होनेसे वह कर्म करनेमें विचार करता ही नहीं। इस कार्यको करनेसे मेरा तथा दूसरे प्राणियोंका अभी और परिणाममें कितना नुकसान होगा, कितना अहित होगा—इस अनुबन्ध अर्थात् परिणामको न देखकर वह कार्य आरम्भ कर देता है।

'क्षयम्'—इस कार्यको करनेसे अपने और दूसरोंके शरीरोंकी कितनी हानि होगी, धन और समयका कितना खर्चा होगा; इससे दुनियामें मेरा कितना अपमान, निन्दा, तिरस्कार आदि होगा; मेरा लोक-परलोक बिगड़ जायगा आदि नुकसानको न देखकर ही वह कार्य आरम्भ कर देता है।

'हिंसाम्'—इस कर्मसे कितने जीवोंकी हत्या होगी; कितने श्रेष्ठ व्यक्तियोंके सिद्धान्तों और मान्यताओंकी हत्या हो जायगी; दूसरे मनुष्योंकी मनुष्यताकी कितनी भारी हिंसा हो जायगी; अभीके और भावी जीवोंके शुद्ध भाव, आचरण, वेशभूषा, खान-पान आदिकी कितनी भारी हिंसा हो जायगी; इससे मेरा और दुनियाका कितना अधःपतन होगा आदि हिंसाको न देखकर ही वह कार्य आरम्भ कर देता है।

'अनवेक्ष्य च पौरुषम्'—इस कामको करनेकी मेरेमें कितनी योग्यता है, कितना बल, सामर्थ्य है; मेरे पास कितना समय है, कितनी बुद्धि है, कितनी कला है, कितना ज्ञान है आदि अपने पौरुष-(पुरुषार्थ-) को न देखकर ही वह कार्य आरम्भ कर देता है।

'मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते'—तामसी पुरुष कर्म करते समय उसके परिणाम, उससे होनेवाले नुकसान, हिंसा और अपनी सामर्थ्यका कुछ भी विचार न करके, जब जैसा मनमें भाव आया, उसी समय बिना विवेक-विचारके वैसा ही कर बैठता है। इस प्रकार किया गया कर्म 'तामस' कहलाता है।

सम्बन्ध—

अब सात्त्विक कर्ताके लक्षण बताते हैं।

श्लोक—

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥ २६॥

व्याख्या—

'रागी'—रागका स्वरूप रजोगुण होनेके कारण भगवान्ने राजस कर्ताके लक्षणोंमें सबसे पहले 'रागी' पद दिया है। रागका अर्थ है—कर्मोंमें, कर्मोंके फलोंमें तथा वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ आदिमें मनका खिंचाव होना, मनकी प्रियता होना। इन चीजोंका जिसपर रंग चढ़ जाता है, वही 'रागी' होता है।

'कर्मफलप्रेप्सुः'—राजस पुरुष कोई भी काम करेगा तो वह किसी फलकी चाहनाको लेकर ही करेगा, जैसे—मैं ऐसा-ऐसा अनुष्ठान कर रहा हूँ, दान दे रहा हूँ, उससे यहाँ धन, मान, बड़ाई आदि मिलेंगे और परलोकमें स्वर्गादिके भोग, सुख आदि मिलेंगे; मैं ऐसी-ऐसी दवाइयोंका सेवन कर रहा हूँ तो उनसे मेरा शरीर नीरोग रहेगा, आदि।

'लुब्धः'—राजस पुरुषको जितना जो कुछ मिलता है, उसमें वह सन्तोष नहीं करता, प्रत्युत 'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई' की तरह 'और मिलता रहे, और मिलता रहे' अर्थात् आदर, सत्कार, महिमा आदि अधिक-से-अधिक होते रहें, धन, पुत्र, परिवार आदि अधिक-से-अधिक बढ़ते रहें—इस प्रकारकी लाग लगी रहती है, लोभ लगा रहता है।

'हिंसात्मकः'—वह हिंसाके स्वभाववाला होता है। अपने स्वार्थके लिये वह दूसरोंके नुकसानकी, दुःखकी परवाह नहीं करता। वह ज्यों-ज्यों अधिक भोग-सामग्री इकट्ठी करके भोग भोगता है, त्यों-ही-त्यों दूसरे अभावग्रस्त लोगोंके हृदयमें जलन पैदा होती है।

इस वास्ते दूसरोंके दुःखकी परवाह न करना तथा भोग भोगना हिंसा ही है।

'अशुचिः'—रागी पुरुष भोग-बुद्धिसे जिन वस्तुओं, पदार्थों आदिका संग्रह करता है, वे सब चीजें अपवित्र हो जाती हैं। वह जहाँ रहता है, वहाँका वायुमण्डल अपवित्र हो जाता है। वह जिन कपड़ोंको पहनता है, उन कपड़ोंमें भी अपवित्रता आ जाती है। यही कारण है कि आसक्ति-ममतावाले पुरुषके मरनेपर उसके कपड़े आदिको कोई रखना नहीं चाहता। जिस स्थानपर उसके शवको जलाया जाता है, वहाँ कोई भजन-ध्यान करना चाहे तो उसका मन नहीं लगेगा। वहाँ भूलसे कोई सो जायगा तो उसको प्रायः खराब-खराब स्वप्न आयेंगे। तात्पर्य यह है कि उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंकी तरफ आकृष्ट होते ही आसक्ति-ममतारूप मलिनता आने लगती है, जिससे मनुष्यका शरीर और शरीरकी हड्डियाँतक अधिक अपवित्र हो जाती हैं।

'हर्षशोकान्वितः'—उसके सामने दिनमें कितनी बार सफलता-विफलता, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति, घटना आदि आते रहते हैं, उनको लेकर वह हर्ष-शोक, राग-द्वेष, सुख-दुःख आदिमें ही उलझा रहता है।

'कर्ता राजसः परिकीर्तितः'—उपर्युक्त लक्षणोंवाला कर्ता 'राजस' कहा गया है।

व्याख्या—

'मुक्तसङ्गः'—सांख्ययोगीका जैसे कर्मोंके साथ राग नहीं होता, ऐसे सांख्ययोगी कर्ता भी रागरहित होता है।

कामना, वासना, आसक्ति, स्पृहा, ममता आदिसे अपना सम्बन्ध जोड़नेके कारण ही वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, परिस्थिति, घटना आदिमें आसक्ति, लिप्तता होती है। सात्त्विक कर्ता इस लिप्ततासे सर्वथा रहित होता है।

'अनहंवादी'—पदार्थ, वस्तु, परिस्थिति आदिको लेकर अपनेमें जो एक विशेषताका अनुभव करना है—यह अहंवदनशीलता है। यह अहंवदनशीलता आसुरी-सम्पत्ति होनेसे अत्यन्त निकृष्ट है। सात्त्विक कर्तामें यह अहंवदनशीलता, अभिमान तो रहता ही नहीं, प्रत्युत मैं इन चीजोंका त्यागी हूँ, मेरेमें यह अभिमान नहीं है, मैं निर्विकार हूँ, मैं सम हूँ, मैं सर्वथा निष्काम हूँ, मैं संसारके मात्र सम्बन्धसे रहित हूँ—इस तरहके अहंभावका भी उसमें अभाव रहता है।

'धृत्युत्साहसमन्वितः'—कर्तव्य-कर्म करते हुए विघ्न-बाधाएँ आ जायँ, उस कर्मका परिणाम ठीक न निकले, लोगोंमें निन्दा हो जाय तो भी विघ्न-बाधा आदि न आनेपर जैसा धैर्य रहता है, वैसा ही धैर्य नित्य-निरन्तर बना रहे—इसका नाम 'धृति' है और सफलता-ही-सफलता मिलती चली जाय, उन्नति ही होती चली जाय, लोगोंमें मान, आदर, महिमा आदि बढ़ते चले जायँ—ऐसी स्थितिमें मनुष्यके मनमें जैसी उम्मेदवारी, सफलताकी उत्कण्ठा रहती है,

वैसी ही उम्मेदवारी इससे विपरीत अर्थात् असफलता, अवनति, निन्दा आदि हो जानेपर भी बनी रहे—इसका नाम 'उत्साह' है। सात्त्विक कर्ता इस प्रकारकी धृति और उत्साहसे युक्त रहता है।

'सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः'—सिद्धि और असिद्धिमें अपनेमें कुछ विकार ही न आये, अपनेपर कुछ भी असर न पडे अर्थात् कार्य ठीक तरहसे साङ्गोपाङ्ग पूर्ण हो जाय अथवा पूरा उद्योग करते हुए अपनी शक्ति, समझ, समय, सामर्थ्य आदिको पूरा लगाते हुए भी कार्य पूरा न हो; फल प्राप्त हो अथवा न हो तो भी अपने अन्तः-करणमें प्रसन्नता और खिन्नता, हर्ष और शोकका न होना ही सिद्धि-असिद्धिमें निर्विकार रहना है।

'कर्ता सात्त्विक उच्यते'—ऐसा आसक्ति तथा अहंकारसे रहित, धैर्य तथा उत्साहसे युक्त और सिद्धि-असिद्धिमें निर्विकार कर्ता 'सात्त्विक' कहा जाता है।

इस श्लोकमें छः बातें बतायी गयी हैं—सङ्ग, अहंवदनशीलता, धृति, उत्साह, सिद्धि और असिद्धि। इनमेंसे पहली दो बातोंसे रहित, बीचकी दो बातोंसे युक्त और अन्तकी दो बातोंमें निर्विकार रहनेके लिये बताया गया है।

सम्बन्ध—

अब राजस कर्ताके लक्षण बताते हैं।

श्लोक—

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥ २७॥

व्याख्या—

'रागी'—रागका स्वरूप रजोगुण होनेके कारण भगवान्‌ने राजस कर्ताके लक्षणोंमें सबसे पहले 'रागी' पद दिया है। रागका अर्थ है—कर्मोंमें, कर्मोंके फलोंमें तथा वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ आदिमें मनका खिंचाव होना, मनकी प्रियता होना। इन चीजोंका जिसपर रंग चढ़ जाता है, वही 'रागी' होता है।

'कर्मफलप्रेप्सुः'—राजस पुरुष कोई भी काम करेगा तो वह किसी फलकी चाहनाको लेकर ही करेगा, जैसे—मैं ऐसा-ऐसा अनुष्ठान कर रहा हूँ, दान दे रहा हूँ, उससे यहाँ धन, मान, बड़ाई आदि मिलेंगे और परलोकमें स्वर्गादिके भोग, सुख आदि मिलेंगे; मैं ऐसी-ऐसी दवाइयोंका सेवन कर रहा हूँ तो उनसे मेरा शरीर नीरोग रहेगा, आदि।

'लुब्धः'—राजस पुरुषको जितना जो कुछ मिलता है, उसमें वह सन्तोष नहीं करता, प्रत्युत 'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई' की तरह 'और मिलता रहे, और मिलता रहे' अर्थात आदर, सत्कार, महिमा आदि अधिक-से-अधिक होते रहें; धन, पुत्र, परिवार आदि अधिक-से-अधिक बढ़ते रहें—इस प्रकारकी लाग लगी रहती है, लोभ लगा रहता है।

'हिंसात्मकः'—वह हिंसाके स्वभाववाला होता है। अपने स्वार्थके लिये वह दूसरोंके नुकसानकी, दुःखकी परवाह नहीं करता। वह ज्यों-ज्यों अधिक भोग-सामग्री इकट्ठी करके भोग भोगता है, त्यों-ही-त्यों दूसरे अभावग्रस्त लोगोंके हृदयमें जलन पैदा होती है।

इस वास्ते दूसरोंके दु:खकी परवाह न करना तथा भोग भोगना हिंसा ही है।

'अशुचिः'—रागी पुरुष भोग-बुद्धिसे जिन वस्तुओं, पदार्थों आदिका संग्रह करता है, वे सब चीजे अपवित्र हो जाती हैं। वह जहाँ रहता है, वहाँका वायुमण्डल अपवित्र हो जाता है। वह जिन कपड़ोंको पहनता है, उन कपड़ोंमें भी अपवित्रता आ जाती है। यही कारण है कि आसक्ति-ममतावाले पुरुषके मरनेपर उसके कपडे आदिको कोई रखना नहीं चाहता। जिस स्थानपर उसके शवको जलाया जाता है, वहाँ कोई भजन-ध्यान करना चाहे तो उसका मन नहीं लगेगा। वहाँ भूलसे कोई सो जायगा तो उसको प्राय: खराब-खराब स्वप्न आयेंगे। तात्पर्य यह है कि उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंकी तरफ आकृष्ट होते ही आसक्ति-ममतारूप मलिनता आने लगती है, जिससे मनुष्यका शरीर और शरीरकी हड्डियोंतक अधिक अपवित्र हो जाती हैं।

'हर्षशोकान्वितः'—उसके सामने दिनमें कितनी बार सफलता-विफलता, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति, घटना आदि आते रहते हैं, उनको लेकर वह हर्ष-शोक, राग-द्वेष, सुख-दु:ख आदिमें ही उलझा रहता है।

'कर्ता राजसः परिकीर्तितः'—उपर्युक्त लक्षणोंवाला कर्ता 'राजस' कहा गया है।

सम्बन्ध—

अब तामस कर्ताके लक्षण बताते हैं ।

श्लोक—

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठोऽनैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

व्याख्या—

'**अयुक्तः**'—तमोगुण मनुष्यको मूढ़ बना देता है* । इस कारण किस समयमें कौन-सा काम कैसा करना चाहिये ? किस तरह करनेसे हमे लाभ है और किस तरह करनेसे हमे हानि है ?—इस विषयमे तामस पुरुष सावधान नहीं रहता अर्थात् वह कर्तव्य और अकर्तव्यके विषयमे सोचता ही नहीं । इस वास्ते वह 'अयुक्त' अर्थात् असावधान कहलाता है ।

'**प्राकृतः**'—जिसने शास्त्र, सत्सङ्ग, अच्छी शिक्षा, उपदेश आदिसे न तो अपने जीवनको ठीक बनाया है और न अपने जीवनपर कुछ विचार ही किया है, माँ-बापसे जैसा पैदा हुआ है, वैसा-का-वैसा ही कोरा रहा है, ऐसा मनुष्य 'प्राकृत' अर्थात् अशिक्षित कहलाता है ।

'**स्तब्धः**'—तमोगुणकी प्रधानताके कारण उसके मन, वाणी और शरीरमे अकड़ रहती है । इस वास्ते वह अपने वर्ण-आश्रममें बड़े-बूढे, माता, पिता, गुरु, आचार्य आदिके सामने कभी झुकता नहीं । वह मन, वाणी और शरीरसे कभी सरलता और नम्रताका व्यवहार नहीं करता, प्रत्युत कठोर व्यवहार करता है । ऐसा पुरुष स्तब्ध' अर्थात् ऐंठ-अकड़वाला कहलाता है ।

---

* तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।

(गीता १४ । ८)

'शठः'—तामस पुरुष अपनी एक जिद होनेके कारण दूसरोंकी दी हुई अच्छी शिक्षाको, अच्छे विचारोंको नहीं मानता। उसको तो मूढ़ताके कारण अपने ही विचार अच्छे लगते हैं। इस वास्ते वह 'शठ' अर्थात् जिद्दी कहलाता है*।

'अनैष्कृतिकः'—जिनसे कुछ उपकार पाया है, उनका प्रत्युपकार करनेका जिसका स्वभाव होता है, वह 'नैष्कृतिक' कहलाता है। परंतु जो दूसरोंसे उपकार पा करके भी उनका उपकार नहीं करता, प्रत्युत उनका अपकार करता है, वह 'अनैष्कृतिक' कहलाता है।

'अलसः'—अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार आवश्यक कर्तव्य-कर्म प्राप्त हो जानेपर भी तामस पुरुषको मूढ़ताके कारण वह कर्म करना अच्छा नहीं लगता, प्रत्युत सांसारिक निरर्थक बातोंको पड़े-पड़े सोचते रहना अथवा नींदमें पड़े रहना अच्छा लगता है। इस वास्ते उसे 'अलसः' अर्थात् आलसी कहा गया है।

'विषादी'—यद्यपि तामस पुरुषमें यह विचार होता ही नहीं कि क्या कर्तव्य होता है और क्या अकर्तव्य होता है; तथा निद्रा, आलस्य, प्रमाद आदिमें मेरी शक्तिका, मेरे जीवनके अमूल्य समयका कितना दुरुपयोग हो रहा है, तथापि अच्छे मार्गसे और कर्तव्यसे च्युत होनेसे उसके भीतर स्वाभाविक ही विषाद (दुःख, अशान्ति) होता रहता है। इस वास्ते उसे 'विषादी' कहा गया है।

---

* मूर्खस्य पञ्च चिह्नानि गर्वी दुर्वचनी तथा।
हठी चाप्रियवादी च परोक्तं नैव मन्यते॥

गीतामें कर्म तीन तरहके बताये है—सात्त्विक, राजस और तामस (१८ । २३–२५) । कर्म करनेवालेका भाव सात्त्विक होगा तो वे कर्म 'सात्त्विक' हो जायँगे, भाव राजस होगा तो वे कर्म 'राजस' हो जायँगे और भाव तामस होगा तो वे कर्म 'तामस' हो जायँगे । इस वास्ते भगवान्‌ने केवल क्रियाको रजोगुणी नहीं माना है ।

सम्बन्ध—

सभी कर्म विचारपूर्वक किये जाते हैं । उन कर्मोंके विचारमें बुद्धि और धृति—इन कर्म-संग्राहक करणोंकी प्रधानता होनेसे अब आगे उनके भेद बताते हैं ।

श्लोक—

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥ २९ ॥

व्याख्या—

इसी अध्यायके अठारहवें श्लोकमें कर्म-संग्रहके तीन हेतु बताये गये हैं—करण, कर्म और कर्ता । इनमेंसे कर्म करनेके जो इन्द्रियाँ आदि करण हैं, उनके सात्त्विक, राजस और तामस—ये तीन भेद नहीं होते । उन इन्द्रियोंमें बुद्धिकी ही प्रधानता रहती है और सभी इन्द्रियाँ बुद्धिके अनुसार ही काम करती हैं । इस वास्ते यहाँ बुद्धिके भेदसे करणोंके भेद बता रहे हैं ।

बुद्धिके निश्चयको, विचारको दृढ़तासे ठीक तरहसे रखनेवाली और अपने लक्ष्यसे विचलित न होने देनेवाली धारण-शक्तिका नाम

धृति है। धारण-शक्ति अर्थात् धृतिके बिना बुद्धि अपने निश्चयपर दृढ नहीं रह सकती। इस वास्ते बुद्धिके साथ-ही-साथ धृतिके भी तीन भेद बताने आवश्यक हो गये।*

मनुष्य जो कुछ भी करता है, बुद्धिपूर्वक ही करता है अर्थात् ठीक सोच-समझकर ही किसी कार्यमें प्रवृत्त होता है। उस कार्यमें प्रवृत्त होनेपर भी उसको धैर्यकी बड़ी भारी आवश्यकता होती है। उसकी बुद्धिमें विचार-शक्ति तेज है और उसे धारण करनेवाली शक्ति—धृति श्रेष्ठ है, तो उसकी बुद्धि अपने निश्चित किये हुए लक्ष्यसे विचलित नहीं होती। जब बुद्धि अपने लक्ष्यपर दृढ रहती है तो मनुष्यका कार्य सिद्ध हो जाता है।

अभी साधकोंके लिये कर्म-प्रेरक और कर्म-संग्रहका जो प्रकरण चला है, उसमें ज्ञान, कर्म और कर्ताकी ही खास आवश्यकता है। ऐसे ही साधक अपनी साधनामें दृढ़तापूर्वक लगा रहे, इसके लिये बुद्धि और धृतिके भेदको जाननेकी विशेष आवश्यकता है; क्योंकि उनके भेदको ठीक जानकर ही वह संसारसे ऊँचा उठ सकता है। किस प्रकारकी बुद्धि और धृतिको धारण करके साधक संसारसे ऊँचा उठ सकता है और किस प्रकारकी बुद्धि और धृतिके रहनेसे

---

* सांख्ययोगमें तो बुद्धि और धृतिकी खास आवश्यकता है ही; परमात्मप्राप्तिके अन्य जितने भी साधन हैं, उन सबमें भी बुद्धि और धृतिकी बड़ी भारी आवश्यकता है। इस वास्ते गीतामें बुद्धि और धृति—दोनोंको साथ-साथ कहा है, जैसे—'शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया' (६।२५), और 'बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च' (१८।५१)।

'दीर्घसूत्री'—अमुक काम किस तरीकेसे बढ़िया और जल्दी हो सकता है—इस बातको वह सोचता ही नहीं। इस वास्ते वह किसी काममे अविवेकपूर्वक लग भी जाता है तो थोड़े समयमें होने-वाले काममें भी बहुत ज्यादा समय लगा देता है और उससे काम भी सुचारुरूपसे नहीं होता। ऐसा मनुष्य 'दीर्घसूत्री' कहलाता है।

'कर्ता तामस उच्यते'—उपर्युक्त आठ लक्षणोंवाला कर्ता 'तामस' कहलाता है।

विशेष बात—

छब्बीसवें, सत्ताईसवें और अट्ठाईसवे श्लोकमें जितनी बातें आयी हैं, वे सब कर्ताको लेकर ही कही गयी है। इस वास्ते कर्ताके जैसे लक्षण होते हैं, उन्हींके अनुसार कर्म होते है। कर्ता जिन गुणोंको स्वीकार करता है, उन गुणोंके अनुसार ही कर्मोंका रूप होता है। कर्ता जिस साधनको करता है, वह साधन कर्ताका रूप हो जाता है। कर्ताके आगे जो करण होते हैं, वे भी कर्ताके अनुरूप होते है। तात्पर्य यह है कि जैसा कर्ता होता है, वैसे ही कर्म, करण आदि होते हैं। कर्ता सात्त्विक, राजस अथवा तामस होगा तो कर्म आदि भी सात्त्विक, राजस अथवा तामस होंगे।

सात्त्विक कर्ता कर्म, बुद्धि आदिको सात्त्विक बनाकर सात्त्विक सुखका अनुभव करते हुए असङ्गतापूर्वक परमात्मतत्त्वसे अभिन्न हो जाता है—'दुःखान्तं च निगच्छति' (१८ । ३६) । कारण कि सात्त्विक कर्ताका ध्येय परमात्मा होता है। इस वास्ते वह कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे रहित होकर चिन्मय तत्त्वसे अभिन्न हो जाता है;

क्योंकि वह तात्त्विक स्वरूपसे अभिन्न ही था। परंतु राजस-तामस कर्ता राजस-तामस कर्म, बुद्धि आदिके साथ तन्मय होकर राजस-तामस सुखमें लिप्त होता है। इस वास्ते वह परमात्म तत्त्वसे अभिन्न नहीं हो सकता। कारण कि राजस-तामस कर्ताका उद्देश्य परमात्मा नहीं होता और उसमें जड़ताका बन्धन भी अधिक होता है।

अब यहाँ शङ्का हो सकती है कि कर्ताका सात्त्विक होना तो ठीक है, पर कर्म भी सात्त्विक कैसे होते हैं? समाधान यह है कि जिस कर्मके साथ कर्ताका राग नहीं है, कर्तृत्वाभिमान नहीं है, लेप (फलेच्छा) नहीं है, वह कर्म सात्त्विक हो जाता है। ऐसे सात्त्विक कर्मसे अपना और दुनियाका बड़ा भला होता है। उस सात्त्विक कर्मका जिन-जिन वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, वायुमण्डल आदिके साथ सम्बन्ध होता है, उन सबमें निर्मलता आ जाती है; क्योंकि निर्मलता सत्त्वगुणका स्वभाव है—**'तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्'** (गीता १४। ६)।

दूसरी बात, पतञ्जलि महाराजने रजोगुणको क्रियात्मक ही माना है—**'प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।'** (योगदर्शन २। १८)। परंतु गीता रजोगुणको क्रियात्मक मानते हुए भी मुख्यरूपसे रागात्मक ही मानती है—**'रजो रागात्मकं विद्धि'** (१४। ७)। वास्तवमें देखा जाय तो 'राग' ही बाँधनेवाला है, 'क्रिया' नहीं।

गीतामें कर्म तीन तरहके बताये हैं—सात्त्विक, राजस और तामस (१८ । २३–२५) । कर्म करनेवालेका भाव सात्त्विक होगा तो वे कर्म 'सात्त्विक' हो जायँगे, भाव राजस होगा तो वे कर्म 'राजस' हो जायँगे और भाव तामस होगा तो वे कर्म 'तामस' हो जायँगे । इस वास्ते भगवान्‌ने केवल क्रियाको रजोगुणी नहीं माना है ।

सम्बन्ध—

सभी कर्म विचारपूर्वक किये जाते हैं । उन कर्मोंके विचारमें बुद्धि और धृति—इन कर्म-संग्राहक करणोंकी प्रधानता होनेसे अब आगे उनके भेद बताते हैं ।

श्लोक—

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥ २९ ॥

व्याख्या—

इसी अध्यायके अठारहवें श्लोकमें कर्म-संग्रहके तीन हेतु बताये गये हैं—करण, कर्म और कर्ता । इनमेंसे कर्म करनेके जो इन्द्रियाँ आदि करण हैं, उनके सात्त्विक, राजस और तामस—ये तीन भेद नहीं होते । उन इन्द्रियोंमें बुद्धिकी ही प्रधानता रहती है और सभी इन्द्रियाँ बुद्धिके अनुसार ही काम करती हैं । इस वास्ते यहाँ बुद्धिके भेदसे करणोंके भेद बता रहे हैं ।

बुद्धिके निश्चयको, विचारको दृढ़तासे ठीक तरहसे रखनेवाली और अपने लक्ष्यसे विचलित न होने देनेवाली धारण-शक्तिका नाम

धृति है। धारण-शक्ति अर्थात् धृतिके बिना बुद्धि अपने निश्चयपर दृढ़ नहीं रह सकती। इस वास्ते बुद्धिके साथ-ही-साथ धृतिके भी तीन भेद बताने आवश्यक हो गये।*

मनुष्य जो कुछ भी करता है, बुद्धिपूर्वक ही करता है अर्थात् ठीक सोच-समझकर ही किसी कार्यमें प्रवृत्त होता है। उस कार्यमें प्रवृत्त होनेपर भी उसको धैर्यकी बड़ी भारी आवश्यकता होती है। उसकी बुद्धिमें विचार-शक्ति तेज है और उसे धारण करनेवाली शक्ति—धृति श्रेष्ठ है, तो उसकी बुद्धि अपने निश्चित किये हुए लक्ष्यसे विचलित नहीं होती। जब बुद्धि अपने लक्ष्यपर दृढ़ रहती है तो मनुष्यका कार्य सिद्ध हो जाता है।

अभी साधकोंके लिये कर्म-प्रेरक और कर्म-संग्रहका जो प्रकरण चला है, उसमें ज्ञान, कर्म और कर्ताकी ही खास आवश्यकता है। ऐसे ही साधक अपनी साधनामें दृढ़तापूर्वक लगा रहे, इसके लिये बुद्धि और धृतिके भेदको जाननेकी विशेष आवश्यकता है; क्योंकि उनके भेदको ठीक जानकर ही वह संसारसे ऊँचा उठ सकता है। किस प्रकारकी बुद्धि और धृतिको धारण करके साधक संसारसे ऊँचा उठ सकता है और किस प्रकारकी बुद्धि और धृतिके रहनेसे

* सांख्ययोगमें तो बुद्धि और धृतिकी खास आवश्यकता है ही; परमात्मप्राप्तिके अन्य जितने भी साधन हैं, उन सबमें भी बुद्धि और धृतिकी बड़ी भारी आवश्यकता है। इस वास्ते गीतामें बुद्धि और धृति—दोनोंको साथ-साथ कहा है, जैसे—'शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया' (६। २५), और 'बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च' (१८। ५१)।

उसे ऊँचा उठनेमें बाधा लग सकती है—यह जानना साधकके लिये बहुत जरूरी है। इस वास्ते भगवान्‌ने उन दोनोंके भेद बताये हैं। भेद बतानेमें भगवान्‌का भाव यह है कि सात्त्विकी बुद्धि और धृतिसे ही साधक ऊँचा उठ सकता है, राजसी-तामसी बुद्धि और धृतिसे नहीं।

'बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु'—भगवान् कहते हैं कि बुद्धि भी एक है और धृति भी एक है; परन्तु गुणोंकी प्रधानतासे उस बुद्धि और धृतिके भी सात्त्विक, राजस और तामस—ये तीन-तीन भेद हो जाते हैं। उनका मैं ठीक-ठीक विवेचन करूँगा और थोड़ेमें बहुत विशेष बात कहूँगा, उनको तुम मन लगाकर, ध्यान देकर ठीक तरहसे सुनो।

धृति श्रोत्रादि करणोंमें नहीं आयी है। इस वास्ते भगवान् 'चैव' पदका प्रयोग करके कह रहे हैं कि जैसे बुद्धिके तीन भेद बताऊँगा, ऐसे ही धृतिके भी तीन भेद बताऊँगा। साधारण दृष्टिसे देखनेपर तो धृति भी बुद्धिका ही एक गुण दीखती है। बुद्धिका एक गुण होते हुए भी धृति बुद्धिसे अलग और विलक्षण है; क्योंकि धृति स्वयमें अर्थात् कर्तामें रहती है। उस धृतिके कारण ही मनुष्य बुद्धिका ठीक-ठीक उपयोग कर सकता है। धृति जितनी श्रेष्ठ अर्थात् सात्त्विकी होगी, साधककी (साधनमें) बुद्धि उतनी ही स्थिर रहेगी। साधनमें बुद्धिकी स्थिरताकी जितनी आवश्यकता है, उतनी आवश्यकता मनकी-स्थिरताकी नहीं है। हाँ, एक अंशमें अणिमा आदि सिद्धियोंकी प्राप्तिमें मनकी स्थिरताकी आवश्यकता है; परन्तु पारमार्थिक उन्नतिमें

तो बुद्धिके अपने उद्देश्यपर स्थिर रहनेकी ही ज्यादा आवश्यकता है।* साधककी बुद्धि भी सात्त्विकी हो और धृति भी सात्त्विकी हो, तभी साधक अपने साधनमें दृढतासे लगा रहेगा। इस वास्ते इन दोनोंके भेद जाननेकी आवश्यकता है।

'प्रोच्यमानमशेषेण'—भगवान् कहते हैं कि बुद्धि और धृतिके विषयमें जाननेकी जो-जो आवश्यक बातें हैं, उन सबको पूरा-पूरा कहूँगा, जिसके बाद फिर जानना बाकी नहीं रहेगा।

'पृथक्त्वेन'—उनके भेद अलग-अलग ठीक तरहसे कहूँगा अर्थात् बुद्धि और धृतिके विषयोंमें भी क्या-क्या भेद होते हैं, उनको भी कहूँगा।

'धनञ्जय'—जब पाण्डवोंने यज्ञ किया था तो अर्जुन राजाओंको जीतकर बहुत धन लाये थे। इसीसे उनका नाम 'धनञ्जय' पड़ा था। अब भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि अपनी साधनामें सात्त्विकी बुद्धि और धृतिको ग्रहण करके गुणातीत तत्त्वकी प्राप्ति करना ही वास्तविक धन है; इस वास्ते तुम इस वास्तविक धनको धारण करो, इसीमें तुम्हारे 'धनञ्जय' नामकी सार्थकता है।

---

* बुद्धिके द्वारा तो अपना ध्येय (लक्ष्य) ठीक-ठीक समझमें आता है और धृतिके द्वारा कर्ता स्वयं उस लक्ष्यपर डटा रहता है। अपने लक्ष्यपर दृढ रहनेसे साधक पहले कैसे ही भावों और आचरणोंवाला अर्थात् पापी-से-पापी और दुराचारी-से-दुराचारी क्यों न रहा हो, वह भी 'मुझे तो अब परमात्मप्राप्ति ही करनी है'—इस उद्देश्यपर दृढ रहता है तो उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं (गीता ९। ३०)।

सम्बन्ध—

अब सात्त्विकी बुद्धिके लक्षण बताते हैं।

श्लोक—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३० ॥

व्याख्या—

'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च'—साधकमात्रकी प्रवृत्ति और निवृत्ति—ये दो अवस्थाएँ होती हैं। कभी वह संसारका काम-धन्धा करता है, तो यह प्रवृत्ति-अवस्था है और कभी संसारका काम-धन्धा छोड़कर एकान्तमें भजन-ध्यान करता है, तो यह निवृत्ति-अवस्था है। परंतु इन दोनोंमें सांसारिक कामना-सहित प्रवृत्ति और वासना-सहित निवृत्ति*—ये दोनों ही अवस्थाएँ 'प्रवृत्ति' हैं अर्थात् संसारमें लगानेवाली हैं, तथा सांसारिक कामना-रहित प्रवृत्ति और वासना-रहित निवृत्ति—ये दोनों ही अवस्थाएँ 'निवृत्ति' हैं अर्थात् परमात्माकी तरफ ले जानेवाली हैं। इस वास्ते साधक इनको ठीक-ठीक जानकर कामना-वासना-रहित प्रवृत्ति और निवृत्तिको ही ग्रहण करे।

वास्तवमें गहरी दृष्टिसे देखा जाय तो कामना-वासनारहित प्रवृत्ति और निवृत्ति भी यदि अपने सुख, आराम आदिके लिये की जायँ तो वे दोनों ही 'प्रवृत्ति' हैं, क्योंकि वे दोनों ही बाँधनेवाली

---

* प्रवृत्तिको छोड़कर कोई एकान्तमें भजन-ध्यान करता है तो वहाँ उसके सामने द्रव्य, पदार्थ तो नहीं है, पर 'लोग मेरेको ज्ञानी, ध्यानी, साधक समझेंगे, तो मेरा आदर-सत्कार होगा' इस प्रकार भीतर एक सूक्ष्म इच्छा रहती है, जिसे 'वासना' कहते हैं।

हैं अर्थात् उनसे अपना व्यक्तित्व नहीं कटता । परंतु यदि कामना-वासनारहित प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनों केवल दूसरोंके सुख, आराम और हितके लिये ही की जायँ, तो वे दोनों ही 'निवृत्ति' हैं; क्योंकि उन दोनोंसे ही अपना व्यक्तित्व नहीं रहता । वह व्यक्तित्व कब नहीं रहता ? जब प्रवृत्ति और निवृत्ति जिसके प्रकाशसे प्रकाशित होती हैं तथा जो प्रवृत्ति और निवृत्तिसे रहित है, उस प्रकाशक अर्थात् तत्त्वकी प्राप्तिके उद्देश्यसे ही प्रवृत्ति और निवृत्ति की जाय । प्रवृत्ति तो की जाय प्राणिमात्रकी सेवाके लिये और निवृत्ति की जाय परम विश्राम अर्थात् स्वरूपस्थितिके लिये ।

'कार्याकार्ये'—शास्त्र, वर्ण, आश्रमकी मर्यादाके अनुसार जो काम किया जाता है, वह **'कार्य'** है और शास्त्र आदिकी मर्यादासे विरुद्ध जो काम किया जाता है, वह **'अकार्य'** है ।

जिसको हम कर सकते हैं, जिसको जरूर करना चाहिये और जिसको करनेसे जीवका जरूर कल्याण होता है, वह 'कार्य' अर्थात् कर्तव्य कहलाता है, और जिसको हमें नहीं करना चाहिये तथा जिससे जीवका बन्धन होता है, वह 'अकार्य' अर्थात् अकर्तव्य कहलाता है । जिसको हम नहीं कर सकते, वह अकर्तव्य नहीं कहलाता; वह तो अपनी असामर्थ्य है ।

'भयाभये'—भय और अभयके कारणको देखना चाहिये । जिस कर्मसे अभी और परिणाममें अपना और दुनियाका अनिष्ट होनेकी सम्भावना है, वह कर्म **'भय'** अर्थात् भयदायक है, और जिस कर्मसे अभी और परिणाममें अपना और दुनियाका हित

होनेकी सम्भावना है, वह कर्म 'अभय' अर्थात् सबको अभय करनेवाला है।

मनुष्य जब करनेलायक कार्यमें च्युत होकर अकार्यमें प्रवृत्त होता है, तो उसके मनमें अपनी मान-बड़ाईकी हानि और निन्दा-अपमान होनेकी आशङ्कासे भय पैदा होता है। परंतु जो अपनी मर्यादासे कभी विचलित नहीं होता, अपने मनसे किसीका भी अनिष्ट नहीं चाहता और केवल परमात्मामें ही लगा रहता है, तो उसके मनमें सदा अभय बना रहता है। यह अभय ही मनुष्यको सर्वथा अभयपद—परमात्माको प्राप्त करा देता है।

'बन्धं मोक्षं च या वेत्ति'—जो बाहरसे तो यज्ञ, दान, तीर्थ, व्रत आदि उत्तम-से-उत्तम कार्य करता है; परंतु भीतरसे असत्, जड, नाशवान् पदार्थोंको और स्वर्ग आदि लोकोंको चाहता है, उसके लिये वे सभी कर्म 'बन्ध' अर्थात् बन्धनकारक ही हैं। केवल परमात्मासे ही सम्बन्ध रखना, परमात्माके सिवाय कभी किसी अवस्थामें असत, संसारके साथ लेशमात्र भी सम्बन्ध न रखना 'मोक्ष' अर्थात् मोक्षदायक है।

अपनेको जो वस्तुएँ नहीं मिली हैं, उनकी कामना होनेसे मनुष्य उनके अभावका अनुभव करता है। वह अपनेको उन वस्तुओंके परतन्त्र मानता है और वस्तुओंके मिलनेपर अपनेको स्वतन्त्र मानता है। वह समझता तो यह है कि मेरे पास वस्तुएँ होनेसे मैं स्वतन्त्र हो गया हूँ, पर हो जाता है उन वस्तुओंके परतन्त्र ! वस्तुओंके अभाव और वस्तुओंके भाव—इन दोनोंकी परतन्त्रतामें

इतना ही फर्क पड़ता है कि वस्तुओंके अभावमें परतन्त्रता दीखती है, खटकती है और वस्तुओंके होनेपर वस्तुओंकी परतन्त्रता परतन्त्रताके रूपमें दीखती ही नहीं; क्योंकि उस समय मनुष्य अन्धा हो जाता है। परंतु हैं दोनों ही परतन्त्रता, और परतन्त्रता ही बन्धन है। अभावकी परतन्त्रता प्रकट विष है और भावकी परतन्त्रता छिपा हुआ मीठा विष है; पर हैं दोनों ही विष। विष तो मारनेवाला ही होता है।

निष्कर्ष यह निकला कि सांसारिक वस्तुओंकी कामनासे ही बन्धन होता है और परमात्माके सिवाय किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, देश, काल आदिकी कामना न होनेसे मुक्ति होती है।* यदि मनमें कामना है तो वस्तु पासमें हो तो बन्धन और पासमें न हो तो बन्धन! यदि मनमें कामना नहीं है तो वस्तु पासमें हो तो मुक्ति और पासमें न हो तो मुक्ति!

'बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी'—इस प्रकार जो प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय और बन्ध-मोक्षके वास्तविक तत्त्वको जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है।

---

* एक 'कामना' होती है और एक आवश्यकता होती है। संसारकी कामना होती है और परमात्माकी आवश्यकता। कामनाकी कभी पूर्ति होती ही नहीं, उसकी तो निवृत्ति होती है, पर आवश्यकताकी पूर्ति ही होती है।

परमात्माकी आवश्यकता भी संसारकी कामना होनेसे ही पैदा होती है। कामनाका अत्यन्त अभाव होनेपर आवश्यकता रहती ही नहीं अर्थात् परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

इनके वास्तविक तत्त्वको जानना क्या है ? प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय और बन्ध-मोक्ष—इनको गहरी रीतिसे समझकर, जिसके साथ वास्तवमें हमारा सम्बन्ध नहीं है, उस संसारके साथ सम्बन्ध न मानना और जिसके साथ हमारा स्वतः सिद्ध सम्बन्ध है, ऐसे (प्रवृत्ति-निवृत्ति आदिके आश्रय तथा प्रकाशक) परमात्माको तत्त्वसे ठीक-ठीक जानना—यही सात्त्विक बुद्धिके द्वारा वास्तविक तत्त्वको ठीक-ठीक जानना है ।

सम्बन्ध—

अब राजसी बुद्धिके लक्षण बताते हैं ।

श्लोक—

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥

व्याख्या—

'यया धर्ममधर्मं च'—शास्त्रोंने जो कुछ भी विधान किया है, वह 'धर्म' है अर्थात् शास्त्रोंने जिसकी आज्ञा दी है और जिससे परलोकमें सद्गति होती है, वह धर्म है । शास्त्रोंने जिसका निषेध किया है, वह 'अधर्म' है अर्थात् शास्त्रोंने जिसकी आज्ञा नहीं दी है और जिससे परलोकमें दुर्गति होती है, वह अधर्म है । जैसे, अपने माता-पिता, बड़े-बूढ़ोंकी सेवा करनेमें, दूसरोंको सुख पहुँचानेमें दूसरोंका हित करनेकी चेष्टामें, अपने तन, मन, धन, योग्यता, पद, अधिकार, सामर्थ्य आदिको लगा देना 'धर्म' है । ऐसे ही कुआँ-बावड़ी खुदवाना, धर्मशाला-औषधालय बनवाना, प्याऊ-सदावर्त चलाना; देश, ग्राम, मोहल्लेके अनाथ तथा गरीब बालकोंकी और समाजकी

उन्नतिके लिये अपनी कहलानेवाली चीजोंको आवश्यकतानुसार उनकी ही समझकर निष्कामभावसे उदारतापूर्वक खर्च करना **'धर्म'** है। इसके विपरीत अपने स्वार्थ, सुख, आरामके लिये दूसरोंकी धन-सम्पत्ति, हक, पद, अधिकार छीनना, दूसरोंका अपकार, अहित, हत्या आदि करना; अपने तन, मन, धन, योग्यता, पद, अधिकार आदिके द्वारा दूसरोंको दुःख देना **'अधर्म'** है।

वास्तवमें धर्म वह है, जो जीवका कल्याण कर दे, और अधर्म वह है, जो जीवको बन्धनमें डाल दे।

'कार्यं चाकार्यमेव च'—वर्ण, आश्रम, देश, काल, लोक-मर्यादा, परिस्थिति आदिके अनुसार शास्त्रोंने हमारे लिये जिस कर्मको करनेकी आज्ञा दी है, वह कर्म हमारे लिये 'कर्तव्य' है। अवसरपर प्राप्त हुए कर्तव्यका पालन न करना तथा न करनेलायक कामको करना 'अकर्तव्य' है। जैसे, भिक्षा माँगना, यज्ञ, विवाह आदि कराना और उनमे दान-दक्षिणा लेना आदि कर्म ब्राह्मणके लिये तो कर्तव्य है, पर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके लिये अकर्तव्य है। इसी प्रकार शास्त्रोंने जिन-जिन वर्ण और आश्रमोंके लिये जो-जो कर्म बताये हैं, वे सब उन-उनके लिये कर्तव्य है, और जिनके लिये निषेध किया है, उनके लिये वे सब अकर्तव्य हैं।

जहाँ नौकरी करते हैं, वहाँ ईमानदारीसे अपना पूरा समय देना, कार्यको सुचारुरूपसे करना, जिस तरहसे मालिकका हित हो, ऐसा काम करना—ये सब कर्मचारियोंके लिये 'कर्तव्य' है। अपने स्वार्थ, सुख और आराममे फँसकर कार्यमें पूरा समय न लगाना,

कार्यको तत्परतासे न करना, थोड़ी-सी घूस (रिश्वत) मिलनेसे मालिकका बड़ा नुकसान कर देना, दस-पाँच रुपयोंके लिये मालिकका अहित कर देना—ये सब कर्मचारियोंके लिये 'अकर्तव्य' हैं।

राजकीय जितने अफसर हैं, उनको राज्यका प्रबन्ध करनेके लिये, सबका हित करनेके लिये ही ऊँचे पदपर रखा जाता है। इस वास्ते अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके जिस प्रकार सब लोगोंका हित हो सकता है, सबको सुख-आराम, शान्ति मिल सकती है—ऐसे कामोंको करना उनके लिये 'कर्तव्य' है। अपने तुच्छ स्वार्थमें आकर राज्यका नुकसान कर देना, लोगोंको दुःख देना आदि उनके लिये 'अकर्तव्य' है।

सात्त्विक बुद्धिमें कही हुई प्रवृत्ति-निवृत्ति, भय-अभय और बन्ध-मोक्षको भी यहाँ 'एव च' पदोंसे ले लेना चाहिये।

'अयथावत्प्रजानाति'—राग होनेसे राजसी बुद्धिमें स्वार्थ, पक्षपात, विषमता आदि दोष आ जाते हैं। इन दोषोंके रहते हुए बुद्धि धर्म-अधर्म, कार्य-अकार्य, भय-अभय, बन्ध-मोक्ष आदिके वास्तविक तत्त्वको ठीक-ठीक नहीं जान सकती। इस प्रकार किस वर्ण-आश्रमके लिये किस परिस्थितिमें कौन-सा धर्म कहा जाता है और कौन-सा अधर्म कहा जाता है? वह धर्म किस वर्ण-आश्रमके लिये कर्तव्य हो जाता है और किसके लिये अकर्तव्य हो जाता है? किससे भय होता है और किससे मनुष्य अभय हो जाता है? इन बातोंको जो बुद्धि ठीक-ठीक नहीं जान सकती, वह बुद्धि राजसी है—**'बुद्धिः सा पार्थ राजसी।'**

जब सांसारिक वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, क्रिया, पदार्थ आदिमें राग (आसक्ति) हो जाता है, तो वह राग दूसरोंके प्रति द्वेष पैदा करनेवाला हो जाता है । फिर मनुष्य जिसमें राग हो जाता है, उसके दोषोंको और जिसमें द्वेष हो जाता है, उसके गुणोंको नहीं देख सकता । राग और द्वेष—इन दोनोंसे संसारके साथ सम्बन्ध जुड़ता है । संसारके साथ सम्बन्ध जुड़नेपर मनुष्य संसारको नहीं जान सकता । ऐसे ही परमात्मासे अलग रहनेपर मनुष्य परमात्माको नहीं जान सकता । संसारसे अलग होकर ही संसारको जान सकता है और परमात्मासे अभिन्न होकर ही परमात्माको जान सकता है । वह अभिन्नता चाहे प्रेमसे हो, चाहे ज्ञानसे हो ।

परमात्मासे अभिन्न होनेमें सात्त्विक बुद्धि ही काम करती है; क्योंकि सात्त्विक बुद्धिमें विवेकशक्ति जाग्रत् रहती है । परंतु राजसी बुद्धिमें वह विवेकशक्ति रागके कारण धुँधली-सी रहती है । जैसे जलमें मिट्टी घुल जानेसे जलमें स्वच्छता, निर्मलता नहीं रहती, ऐसे ही बुद्धिमें रजोगुण आ जानेसे बुद्धिमें उतनी स्वच्छता, निर्मलता नहीं रहती । इस वास्ते धर्म-अधर्म आदिके समझनेमें कठिनता पड़ती है । राजसी बुद्धि होनेपर मनुष्य जिस-किसी विषयमें प्रवेश करता है, उसको उस विषयको समझनेमें कठिनता पड़ती है । उस विषयके गुण-दोषोंको ठीक-ठीक समझे बिना वह ग्रहण और त्यागको अपने आचरणमें नहीं ला सकता अर्थात् वह ग्राह्य वस्तुका ग्रहण नहीं कर सकता और त्याज्य वस्तुका त्याग नहीं कर सकता ।

सम्बन्ध—

अब तामसी बुद्धिके लक्षण बताते हैं।

श्लोक—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥

व्याख्या—

'अधर्मं धर्ममिति'—ईश्वरकी निन्दा करना, शास्त्र, वर्ण, आश्रम और लोकमर्यादाके विपरीत काम करना, माता-पिताके साथ अच्छा बर्ताव न करना, सन्त-महात्मा, गुरु-आचार्य आदिका अपमान करना, झूठ, कपट, बेईमानी, जालसाजी, अभक्ष्य-भोजन, परस्त्रीगमन आदि शास्त्रनिषिद्ध पाप-कर्मोंको धर्म मानना—यह सब अधर्मको 'धर्म' मानना है।

अपने शास्त्र, वर्ण, आश्रमकी मर्यादामें चलना, माता-पिताकी आज्ञाका पालन करना तथा उनकी तन-मन-धनसे सेवा करना; सन्त-महात्माओंके उपदेशोंके अनुसार अपना जीवन बनाना; धार्मिक ग्रन्थोंका पठन-पाठन करना; दूसरोंकी सेवा-उपकार करना; शुद्ध-पवित्र भोजन करना आदि शास्त्रविहित कर्मोंको उचित न मानना—यह धर्मको 'अधर्म' मानना है।

तामसी बुद्धिवाले पुरुषोंके विचार होते हैं कि 'शास्त्रकारोंने, ब्राह्मणोंने अपनेको बड़ा बता दिया और तरह-तरहके नियम बनाकर लोगोंको बाँध दिया, जिससे भारत परतन्त्र हो गया; जबतक ये शास्त्र रहेंगे, ये धार्मिक पुस्तकें रहेंगी, तबतक भारतका उत्थान

नहीं होगा, भारत परतन्त्रताकी बेड़ीमें ही जकड़ा हुआ रहेगा' आदि-आदि। इस वास्ते वे मर्यादाओंको तोड़नेमें ही धर्म मानते हैं।

'सर्वार्थान्विपरीतांश्च'—आत्माको स्वरूप न मानकर शरीरको ही स्वरूप मानना; ईश्वरको न मान करके दृश्य जगत्‌को ही सच्चा मानना; दूसरोंको तुच्छ समझकर अपनेको ही सबसे बड़ा मानना; दूसरोंको मूर्ख समझकर अपनेको ही पढ़ा-लिखा, विद्वान् समझना; जितने सन्त-महात्मा हो गये हैं, उनकी मान्यताओंसे अपनी मान्यताको श्रेष्ठ मानना; सच्चे सुखकी तरफ ध्यान न देकर वर्तमानमें मिलनेवाले संयोगजन्य सुखको ही सच्चा मानना; न करनेयोग्य कार्यको ही अपना कर्तव्य समझना, अपवित्र वस्तुओंको ही पवित्र मानना—यह सम्पूर्ण चीजोंको उलटा मानना है।

'बुद्धिः सा पार्थ तामसी'—तमोगुणसे आवृत जो बुद्धि अधर्मको धर्म, धर्मको अधर्म और अच्छेको बुरा, सुलटेको उलटा मानती है, वह बुद्धि तामसी है। यह तामसी बुद्धि ही मनुष्यको अधोगतिमें ले जानेवाली है—**'अधो गच्छन्ति तामसाः'** (गीता १४। १८)। इस वास्ते अपना उद्धार चाहनेवालेको इसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

सम्बन्ध—

अब सात्त्विकी धृतिके लक्षण बताते हैं।

श्लोक—

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ ३३॥

व्याख्या—

'योगेनाव्यभिचारिण्या यया धृत्या'—सांसारिक लाभ-हानि, जय-पराजय, सुख-दुःख, आदर-निरादर, सिद्धि-असिद्धिमें सम रहनेका नाम 'योग' (समता) है।

परमात्माको चाहनेके साथ-साथ इस लोकमें सिद्धि, प्रसिद्धि, वस्तु, पदार्थ, सत्कार, पूजा आदि और परलोकमें सुख-भोग चाहनेका नाम 'व्यभिचार' है, और इस लोक तथा परलोकके सुख, भोग, वस्तु, पदार्थ आदिकी किञ्चिन्मात्र भी इच्छा न रखकर केवल परमात्माको चाहना 'अव्यभिचार' है। यह अव्यभिचार जिसमें होता है, वह धृति 'अव्यभिचारिणी' कहलाती है।

अपनी मान्यता, सिद्धान्त, लक्ष्य, भाव, क्रिया, वृत्ति, विचार आदिको दृढ़, अटल रखनेकी शक्तिका नाम 'धृति' है।

'धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः'—योग अर्थात् समतासे युक्त जिस धृतिके द्वारा मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करता है।

मनमें राग-द्वेषको लेकर होनेवाले चिन्तनसे रहित होना, मनको जहाँ लगाना चाहे, वहाँ लग जाना और जहाँसे हटाना चाहे, वहाँसे हट जाना आदि धृतिके द्वारा मनकी क्रियाओंको धारण करना है।

प्राणायाम करते हुए रेचकमें पूरक न होना, पूरकमें रेचक न होना और बाह्य कुम्भकमें पूरक न होना तथा आभ्यन्तर कुम्भकमें

चक न होना अर्थात् प्राणायामके नियमसे विरुद्ध श्वास-प्रश्वासोंका न होना ही धृतिके द्वारा प्राणोंकी क्रियाओंको धारण करना है।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन विषयोंको लेकर इन्द्रियोंकी क्रियाओंका उच्छृङ्खल न होना, जिस विषयमें जैसे प्रवृत्त होना चाहे, उसमें प्रवृत्त होना और जिस विषयसे निवृत्त होना चाहें, उससे निवृत्त होना ही धृतिके द्वारा इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करना है।

'धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी'—जिस धृतिसे मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंपर आधिपत्य हो जाता है, हे पार्थ! वह धृति सात्त्विकी है।

सम्बन्ध—

अब राजसी धृतिके लक्षण बताते हैं।

श्लोक—

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी॥ ३४॥

व्याख्या—

'यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन'—राजस पुरुष जिस धारणा-शक्तिसे अपनी कामना-पूर्तिके लिये धर्मका अनुष्ठान करता है, काम अर्थात् भोग-पदार्थोंको भोगता है और अर्थ अर्थात् धनका संग्रह करता है।

धर्म, काम और अर्थको धारण करना क्या है?

अमावस्या, पूर्णिमा, व्यतिपात आदि अवसरोंपर दान देना; तीर्थोंमें अन्नदान करना; पर्वोंपर उत्सव मनाना; तीर्थ-यात्रा करना;

धार्मिक संस्थाओंमें चन्दा-चिट्ठाके रूपमें कुछ चढ़ा देना, कभी वक्तपर कथा-कीर्तन, भागवत-सप्ताह आदि करवा लेना—यह सब केवल कामना-पूर्तिके लिये करना ही धर्मको धारण करना है।*

सांसारिक भोग-पदार्थ तो प्राप्त होने ही चाहिये; क्योंकि भोग-पदार्थोंसे ही सुख मिलता है, संसारमें कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है, जो भोग-पदार्थोंकी कामना न करता हो, यदि मनुष्य भोगोंकी कामना न करे तो उसका जीवन ही व्यर्थ है—ऐसी धारणाके साथ भोग-पदार्थोंकी कामनापूर्तिमें ही लगे रहना कामको धारण करना है।

धनके बिना दुनियामें किसीका भी काम नहीं चलता, धनसे ही धर्म होता है, यदि पासमें धन न हो तो आदमी धर्म कर ही नहीं सकता, जितने आयोजन किये जाते हैं, वे सब धनसे ही तो होते हैं, आज जितने आदमी बड़े कहलाते हैं, वे सब धनके कारण ही तो बड़े बने हैं, धन होनेसे ही लोग आदर-सम्मान करते हैं, जिसके पास धन नहीं होता, उसको संसारमें कोई पूछता ही नहीं, इस वास्ते धनका खूब संग्रह करना चाहिये—इस प्रकार धनमें ही रचे-पचे रहना अर्थको धारण करना है।

---

* धर्मका अनुष्ठान धनके लिये किया जाय और धनका खर्चा धर्मके लिये किया जाय, तो धर्मसे धन और धनसे धर्म—दोनों परस्पर बढ़ते रहते हैं। परंतु धर्मका अनुष्ठान और धनका खर्चा केवल कामना-पूर्तिके लिये ही किया जाय तो धर्म (पुण्य) और धन—दोनों ही कामनापूर्ति करके नष्ट हो जाते हैं।

'प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी'—संसारमे राग होनेके कारण राजस पुरुष जो कुछ भी शुभ काम करता है, उसमे उसकी यही कामना रहती है कि इस कर्मका मुझे इस लोकमे सुख, आराम, मान, सत्कार आदि मिलें और परलोकमे सुख-भोग मिले। ऐसे फलकी कामनावाले तथा संसारमे अत्यन्त आसक्त पुरुषकी धारणाशक्ति राजसी होती है—**'धृतिः सा पार्थ राजसी'** ।

सम्बन्ध—

अब तामसी धृतिके लक्षण बताते है ।

श्लोक—

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥

व्याख्या—

भगवान्‌ने तैंतीसवें-चौंतीसवे श्लोकोमे **'धारयते'** पदसे सात्त्विक और राजस पुरुषके द्वारा क्रमशः सात्त्विकी और राजसी धृतिको धारण करनेकी बात कही है; परंतु यहाँ तामस पुरुषके द्वारा तामसी धृतिको धारण करनेकी बात नहीं कही। कारण यह है कि जिसकी बुद्धि बहुत ही दुष्ट है, जिसकी बुद्धिमे अज्ञता, मूढता भरी हुई है, ऐसा मलिन अन्तःकरणवाला तामस पुरुष निद्रा, भय, शोक आदि भावोंको छोड़ता ही नहीं ।

'यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च'—तामसी धारणा-शक्तिके द्वारा मनुष्य ज्यादा निद्रा, बाहर और भीतरका भय, चिन्ता, दुःख और घमण्ड—इनका त्याग नहीं करता, प्रत्युत इन सबमें

रचा-पचा रहता है । वह कभी ज्यादा नींदमें पड़ा रहता है, कभी मृत्यु, बीमारी, अपयश, अपमान, स्वास्थ्य, धन आदिके भयसे भयभीत होता रहता है, कभी शोक-चिन्तामें डूबा रहता है, कभी दुःखमें मग्न रहता है और कभी अनुकूल पदार्थोंके मिलनेसे घमण्डमे चूर रहता है ।

निद्रा, भय, शोक आदिके सिवाय प्रमाद, अभिमान, दम्भ, द्वेष, ईर्ष्या आदि दुर्गुणोंको तथा हिंसा, दूसरोका अपकार करना, कष्ट देना, दूसरोके धनका किसी तरहसे अपहरण करना आदि दुराचारोंको भी **'एव च'** पदोंसे मान लेना चाहिये ।

'न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी'—इस प्रकार निद्रा, भय आदिको और दुर्गुण-दुराचारोको पकड़े रहनेवाली अर्थात् न छोड़नेवाली धृति तामसी होती है ।

मानवशरीर विवेक-प्रधान है । मनुष्य जो कुछ करता है, उसे वह विचारपूर्वक ही करता है । वह ज्यों ही विचारपूर्वक काम करता है, त्यो ही विवेक ज्यादा स्पष्ट प्रकट होता है । सात्त्विक पुरुषकी धृति-(धारणाशक्ति-)मे यह विवेक साफ-साफ प्रकट होता है कि मुझे तो केवल परमात्माकी तरफ ही चलना है । राजस पुरुषकी धृतिमें संसारके पदार्थों और भोगोमे रागकी प्रधानता होनेके कारण विवेक वैसा स्पष्ट नहीं होता; फिर भी इस लोकमें सुख-आराम, मान-आदर मिले और परलोकमें अच्छी गति मिले, भोग मिलें—इस विषयमें विवेक काम करता है । परन्तु तामस पुरुषकी धृतिमें विवेक बिल्कुल ही दब जाता है । तामसी

भावोंमें उसकी इतनी दृढ़ता हो जाती है कि उसे उन भावोंको धारण करनेकी आवश्यकता ही नहीं रहती। वह तो निद्रा, भय आदि तामसी भावोंमें ही रचा-पचा रहता है।

पारमार्थिक मार्गमें क्रिया इतना काम नहीं करती, जितना अपना उद्देश्य काम करता है। क्रियाकी प्रधानता स्थूलशरीरमें, चिन्तनकी प्रधानना सूक्ष्मशरीरमे और स्थिरताकी प्रधानता कारणशरीरमें होती है, यह सब क्रिया ही है। क्रिया शरीरोंमें होती है, पर मेरेको तो केवल पारमार्थिक मार्गमें ही चलना है'—ऐसा उद्देश्य या लक्ष्य स्वयं-(चेतनस्वरूप-) में ही रहता है। स्वयंमें जैसा लक्ष्य होता है, उसके अनुसार स्वतः क्रियाएँ होती हैं। जो चीज स्वयंमे रहती है, वह कभी बदलती नहीं। उस लक्ष्यकी दृढ़ताके लिये सात्त्विक बुद्धिकी आवश्यकता है और बुद्धिके निश्चयको अटल रखनेके लिये सात्त्विक धृतिकी आवश्यकता है। इस वास्ते यहाँ तीसवेंसे पैंतीसवें श्लोकतकके छः श्लोकोंमें छः बार **'पार्थ'** सम्बोधनका प्रयोग करके भगवान् मनुष्यमात्रके प्रतिनिधि अर्जुनको मानो चेताते हैं कि 'पृथानन्दन! लौकिक वस्तुओं और व्यक्तियोंके लिये चिन्ता न करके तुम अपने लक्ष्यको दृढ़तासे धारण किये रहो। अपनेमें कभी भी राजसी-तामसी भाव न आने पाये—इसके लिये निरन्तर सजग रहो!'

भगवान्‌ने पहले भी इसी व्यवसायात्मिका बुद्धिकी बड़ी प्रशंसा की है। दूसरे अध्यायके इकतालीसवें श्लोकमे कर्मयोगीके लिये, छठे अध्यायके पच्चीसवें श्लोकमे ध्यानयोगीके लिये, नवें

अध्यायके तीसवें-इकतीसवें श्लोकोंमें भक्तियोगीके लिये, और इसी अध्यायके तीसवें तथा तैंतीसवें श्लोकमें (बुद्धि और धृतिके नामसे) सांख्ययोगीके लिये व्यवसायात्मिका बुद्धिकी बात कही गयी है। आगे इक्यावनवें श्लोकमें भी कहेंगे—**'बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च'** (गीता १८ । ५१)।

सम्बन्ध—

मनुष्योंकी कर्मोंमें प्रवृत्ति सुखके लोभसे ही होती है अर्थात् सुख कर्म-संग्रहमें हेतु है। इस वास्ते अगले चार श्लोकोंमें सुखके भेद बताते हैं।

श्लोक—

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ ३६ ॥

व्याख्या—

'सुखं तु इदानीम्'—ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि और धृतिके तीन-तीन भेद बताकर यहाँ 'तु' पदका प्रयोग करके भगवान् कहते हैं कि सुख भी तीन तरहका होता है। इसमें यह विशेष ख्याल करनेकी बात है कि आज पारमार्थिक मार्गपर चलनेवाले जितने भी साधक हैं, उन साधकोंकी ऊँची स्थिति न होनेमें अथवा उनको परमात्मतत्त्वका अनुभव न होनेमें अगर कोई विघ्न-बाधा है, तो वह है—सुखकी इच्छा।

सात्त्विक सुख भी आसक्तिके कारण बन्धनकारक हो जाता है। तात्पर्य यह कि अगर साधनजन्य—ध्यान और एकाग्रताका सुख भी लिया जाय, तो वह भी बन्धनकारक हो जाता है। इतना ही

नहीं, अगर समाधिका सुख भी लिया जाय, तो वह भी परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें बाधक हो जाता है—'**सुखसङ्गेन बध्नाति**' (गीता १४। ६)। इस विषयमें कोई कहे कि परमात्मतत्त्वका सुख आ जाय तो क्या उस सुखको भी हम न लें ? वास्तवमें परमात्मतत्त्वका सुख लिया नहीं जाता, प्रत्युत उस अक्षय सुखका स्वतः अनुभव होता है*। साधनजन्य सुखका भोग न करनेसे वह अक्षय सुख स्वतः-स्वाभाविक प्राप्त हो जाता है। उस अक्षय सुखकी तरफ विशेष ख्याल करानेके लिये भगवान् यहाँ 'तु' पदका प्रयोग करते हैं।

यहाँ '**इदानीम्**' कहनेका तात्पर्य यह है कि अर्जुन संन्यास और त्यागके तत्त्वको जानना चाहते हैं; अतः उनकी जिज्ञासाके उत्तरमें भगवान्ने त्याग, ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि और धृतिके तीन-तीन भेद बताये। परंतु इन सबमें ध्येय तो सुखका ही रहता है। अब उसी ध्येयकी सिद्धिके लिये सुखके भेद सुनो।

'**त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ**'—लोग रात-दिन राजसी और तामसी सुखमें लगे रहते हैं और उसीको वास्तविक सुख मानते हैं। इस कारण 'सांसारिक भोगोंसे ऊँचा उठकर भी कोई सुख मिल सकता है; प्राणोंके मोहसे ऊँचा उठकर भी कोई सुख मिल सकता है; शरीरके सम्बन्धके विना भी कोई सुख मिल सकता है; राजस-तामस सुखसे आगे भी कोई सात्त्विक सुख है'—ये बातें उन

* स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥ (गीता ५। २१)
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्। (गीता ६। २१)
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥ (गीता ६। २८)

लोगोंकी समझमें ही नहीं आतीं और वे इन बातोंको समझ ही नहीं सकते। इस वास्ते भगवान् मानो कहते हैं कि भैया! वह सुख तीन प्रकारका होता है, उसे तुम सुनो और उनमेंसे सात्त्विक सुखका ग्रहण करो और राजस-तामस सुखका त्याग करो। कारण कि सात्त्विक सुख परमात्माकी तरफ चलनेमें सहायता करनेवाला है और राजस-तामस सुख संसारमें फँसाकर पतन करनेवाले हैं।

'भरतर्षभ'—सम्बोधन देनेमें भगवान्‌का भाव यह है कि भरत-वंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! तुम राजस-तामस सुखमें लुब्ध, मोहित होनेवाले नहीं हो; क्योंकि तुम्हारे लिये राजस और तामस सुखोंपर विजय करना कोई बड़ी बात नहीं है। तुमने राजस सुखपर विजय भी कर ली है; क्योंकि स्वर्गकी उर्वशी-जैसी सुन्दरी अप्सराको भी तुमने ठुकरा दिया है। इसी प्रकार तुमने तामस सुखपर भी विजय कर ली है; क्योंकि प्राणिमात्रके लिये आवश्यक जो निद्राका तामस सुख है, उसको तुमने जीत लिया है। इसीसे तुम्हारा नाम 'गुडाकेश' हुआ है।

राजस सुखका त्याग तो हरेक मनुष्य कर सकता है, पर तामस सुख अर्थात् निद्राका त्याग करना सबके लिये बड़ा कठिन है। यद्यपि नींदका सुख तामस माना गया है*, तथापि उस सुखमें एक

---

* निद्राको तामस सुख कहनेका अभिप्राय यह है कि इसमें बुद्धि मोहित हो जाती है अर्थात् उसमें बेहोशी आ जाती है। उस बेहोशीसे संसारकी सर्वथा विस्मृति हो जाती है और जाग्रत्-अवस्था सर्वथा दब जाती है, इस वास्ते इसको तामस-सुख कहा गया है। अगर इन्द्रियोंसहित बुद्धि मोहित न हो तो यही अवस्था समाधि हो जाती है। समाधिसे भी विश्राम

विश्राम मिलता है। विश्रामसे बुद्धि आदिमें एक ताजगी आती है। स्थूलशरीरका स्वास्थ्य भी अच्छा होता है। उस ताजगीके कारण सभी काम ढंगसे होते हैं, और वह ताजगी सात्त्विक कार्यमें सहायक भी होती है। उस नींदके सुखपर भी अर्जुन विजय कर लेते हैं। इसी दृष्टिको लेकर भगवान् यहाँ अर्जुनके लिये **'भरतर्षभ'** सम्बोधन-का प्रयोग करते हैं।

'अभ्यासाद्रमते यत्र'— सात्त्विक सुखमे अभ्याससे रमण होता है। साधारण मनुष्योंको अभ्यासके बिना इस सुखका अनुभव नहीं होता। राजस-तामस सुखमे अभ्यास नहीं करना पड़ता। उसमें तो प्राणिमात्रका स्वतः-स्वाभाविक ही आकर्षण होता है।

राजस-तामस सुखमें इन्द्रियोंका विषयोंकी ओर, मन-बुद्धिका भोग-संग्रहकी ओर और थकावट होनेपर निद्रा आदिकी ओर स्वतः आकर्षण होता है। विषयजन्य, अभिमानजन्य, प्रशंसाजन्य और

मिलता है। इस विश्राममें निद्रासे मिलनेवाली जो ताजगी है, वह मिल जाती है; परंतु इस ताजगीका सुख लेनेसे गुणातीत नहीं होता। गुणातीत तो समाधिके सुखसे असङ्ग होनेसे ही होता है।

प्रकृति क्रियाशील, परिवर्तनशील है और परमात्मतत्त्व अपरिवर्तन-शील, निर्विकार, शान्त, निश्चल है। निद्रावस्थामें उस निश्चल तत्त्वमे स्थिति हो जाती है; परंतु अन्तःकरणमें भोगोंका महत्त्व रहनेसे निद्राके बाद मनुष्यकी फिर भोग और संग्रहमें ही रुचि हो जाती है और वह उसीमें लग जाता है। इस प्रकार रागके कारण प्राणी उस निश्चल तत्त्वसे लाभ नहीं ले सकता और निद्रासे केवल थकावट दूर कर लेता है। अगर वह भोग और ऐश्वर्यकी आसक्तिका सर्वथा त्याग कर दे तो निद्रामें और निद्राके बाद भी स्वरूपमें स्वतः स्वाभाविक अटल स्थिति रहेगी।

निद्राजन्य सुख सभी प्राणियोंको स्वतः ही अच्छे लगते हैं। कुत्ते आदि जो नीच प्राणी हैं, उनका भी आदर करते हैं तो वे राजी होते हैं और निरादर करते हैं तो नाराज हो जाते हैं, दुःखी हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि राजस-तामस सुखमें अभ्यासकी जरूरत नहीं है; क्योंकि इस सुखको सभी प्राणी अन्य योनियोंमें भी लेते आये हैं।

इस सात्त्विक सुखमें अभ्यास क्या है ? श्रवण-मनन भी अभ्यास है, शास्त्रोंको समझना भी अभ्यास है, और राजसी-तामसी वृत्तियोंको हटाना भी अभ्यास है। जिस राजस-तामस सुखमें प्राणि-मात्रकी स्वतः-स्वाभाविक प्रवृत्ति हो रही है, उससे भिन्न नई प्रवृत्ति करनेका नाम 'अभ्यास' है, सात्त्विक-सुखमें अभ्यास करना तो आवश्यक है, पर रमण करना बाधक है।

यहाँ **'अभ्यासाद्रमते'** पदका यह भाव नहीं है कि सात्त्विक सुखका भोग किया जाय, प्रत्युत सात्त्विक सुखमें अभ्याससे ही रुचि-प्रियता-प्रवृत्ति आदिके होनेको ही यहाँ रमण करना कहा गया है।

'दुःखान्तं च निगच्छति'—उस सात्त्विक सुखमें अभ्याससे ज्यों-ज्यों रुचि, प्रियता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों परिणाममें दुःखोंका नाश होता जाता है और प्रसन्नता, सुख तथा आनन्द बढ़ते जाते हैं।

'च' अव्यय देनेका तात्पर्य है कि जबतक सात्त्विक सुखमें रमण होगा अर्थात् साधक सात्त्विक सुख लेता रहेगा, तबतक दुःखोंका अत्यन्त अभाव नहीं होगा। कारण कि सात्त्विक सुख भी-

परमात्मविषयक बुद्धिकी प्रसन्नतासे पैदा हुआ है—'आत्मबुद्धि-प्रसादजम्' (गीता १८ । ३७) । तो जो उत्पन्न होनेवाला होता है, वह जरूर नष्ट होता है । ऐसे सुखसे दुःखोंका अन्त कैसे होगा ? इस वास्ते सात्त्विक सुखमें भी आसक्ति नहीं होनी चाहिये । सात्त्विक सुखसे भी ऊँचा उठनेसे मनुष्य दुःखके अन्तको प्राप्त हो जाता है, गुणातीत हो जाता है ।

श्लोक—

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥

व्याख्या—

'यत्तदग्रे विषमिव'—यहाँ 'यत्तदग्रे' कहनेका भाव यह है कि 'यत्'—जो सात्त्विक सुख है, 'तत्'—वह परोक्ष है अर्थात् उसका अभी अनुभव नहीं हुआ है । अभी तो उस सुखका केवल उद्देश्य बनाया है, जब कि राजस-तामस सुखका अभी अनुभव होता है । इस वास्ते अनुभवजन्य राजस-तामस सुखका त्याग करनेमें कठिनता आती है और लक्ष्यरूपमें जो सात्त्विक सुख है, उसकी प्राप्तिके लिये किया हुआ रसहीन परिश्रम (अभ्यास) आरम्भमें जहरकी तरह होता है—'अग्रे विषमिव' तात्पर्य यह है कि अनुभवजन्य राजस-तामस सुखको तो त्याग दिया और लक्ष्यवाला सात्त्विक सुख मिला नहीं—उसका रस अभी मिला नहीं; इस वास्ते वह सात्त्विक सुख आरम्भमे जहरकी तरह प्रतीत होता है ।

राजस-तामस सुखको अनेक योनियोंमें भोगते आये हैं और उसे इस जन्ममें भी भोगा है । उस भोगे हुए सुखकी स्मृति आनेसे

राजस-तामस सुखमें स्वाभाविक ही मन लग जाता है। परंतु सात्त्विक सुख उतना भोगा हुआ नहीं है; इस वास्ते इसमें जल्दी मन नहीं लगता। इस कारण सात्त्विक सुख आरम्भमें विषकी तरह लगता है।

वास्तवमें सात्त्विक सुख विषकी तरह नहीं है, प्रत्युत राजस-तामस सुखका त्याग विषकी तरह होता है। जैसे, बालकको खेल-कूद छोड़कर पढ़ाईमें लगाया जाय तो उसको पढ़ाईमें कैदीकी तरह होकर अभ्यास करना पड़ता है और उसमें मन नहीं लगता तथा इधर उच्छृङ्खलता, खेल-कूद छूट जाता है तो उसको पढ़ाई विषकी तरह मालूम देती है। परंतु वही बालक पढ़ता रहे और एक-दो परीक्षामें पास हो जाय तो उसका पढ़ाईमें मन लग जाता है अर्थात् उसको पढ़ाई अच्छी लगने लग जाती है। तब उसकी पढ़ाईके अभ्याससे रुचि, प्रियता होने लगती है।

वास्तवमें देखा जाय तो सात्त्विक सुख आरम्भमें विषकी तरह उन्हीं लोगोंके लिये होता है, जिनका राजस-तामस सुखमें राग है। परंतु जिनको सांसारिक भोगोंसे स्वाभाविक वैराग्य है, जिनकी पारमार्थिक शास्त्राध्ययन, सत्सङ्ग, कथा-कीर्तन, साधन-भजन आदिमें स्वाभाविक रुचि है और जिनके ज्ञान, कर्म, बुद्धि और धृति सात्त्विक हैं, उन साधकोंको यह सात्त्विक सुख आरम्भसे ही अमृतकी तरह आनन्द देनेवाला होता है। उनको इसमें कष्ट, परिश्रम, कठिनता आदि मालूम ही नहीं होते।

'परिणामेऽमृतोपमम्'—साधन करनेसे साधकमें सत्त्वगुण आता है। सत्त्वगुणके आनेपर इन्द्रियों और अन्तःकरणमें स्वच्छता,

निर्मलता, ज्ञानकी दीप्ति, शान्ति, निर्विकारता आदि सद्भाव-सद्गुण प्रकट हो जाते हैं*। इन सद्गुणोंका प्रकट होना ही परिणाममें अमृतकी तरह होना है। इसका उपभोग न करनेसे अर्थात् इसमें रस न लेनेसे वास्तविक अक्षय सुखकी प्राप्ति हो जाती है—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥
(गीता ५। २१)

अर्थात् बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला पुरुष जड़ताके त्यागसे होनेवाले परमात्मविषयक सुखको प्राप्त होता है, जो कि सात्त्विक सुख है। उसके बाद परमात्माके सम्बन्धसे युक्त वह पुरुष अक्षय सुखका अनुभव करता है, जो कि गुणातीत है।

परिणाममें सात्त्विक सुख राजस-तामस सुखसे ऊँचा उठाकर जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद करा देता है और इसमें आसक्ति न होनेसे अन्तमें परमात्माकी प्राप्ति करा देता है। इस वास्ते यह परिणाममें अमृतकी तरह है।

'आत्मबुद्धिप्रसादजम्'—जिस बुद्धिमें सांसारिक मान-आदर, बड़ाई, धन-संग्रह, विषयजन्य सुख आदिका महत्त्व नहीं रहता, केवल परमात्मविषयक विचार ही रहता है, उस बुद्धिकी प्रसन्नता अर्थात् स्वच्छतासे यह सुख पैदा होता है†।

---

* सात्त्विक, राजस और तामस—ये तीनों गुण अन्तःकरणमें अमूर्तरूपसे रहते हैं। इनका पता वृत्तियोंसे ही लगता है, जिनका वर्णन चौदहवें अध्यायमें ग्यारहवेंसे तेरहवें श्लोकोंमें हुआ है।

† यहाँ सात्त्विक सुखको परमात्मविषयक बुद्धिसे जन्य बताया गया है अर्थात् यह सुख उत्पन्न होता है और सदा एकरस नहीं रहता। परंतु

परमात्मविषयक बुद्धिकी प्रसन्नतासे पैदा होनेवाला अर्थात् सांसारिक संयोगजन्य सुखसे सर्वथा उपरत होकर परमात्मामें बुद्धिके

छठे अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें आया हुआ जो आत्यन्तिक सुख है, वह जन्य नहीं है—'सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्। वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥' उसको 'आत्यन्तिक' कहनेका तात्पर्य है कि वह स्वतःसिद्ध है, स्वाभाविक है। उसमें कभी किञ्चिन्मात्र भी परिवर्तन न हुआ, न होगा और न हो सकता है। वह सदा एकरस रहता है। उससे बढ़कर कोई तत्त्व है ही नहीं। इस वास्ते वह सुख सात्त्विक नहीं है, प्रत्युत सात्त्विकसे भी विलक्षण है।

उस सुखको 'अतीन्द्रिय' कहनेका तात्पर्य है कि इन्द्रियोंके सम्बन्धसे होनेवाले जितने सुख हैं और त्रिलोकी, अनन्त ब्रह्माण्डोंकी भोग-भूमियोंके सम्बन्धसे होनेवाले जितने सुख हैं, वे सब-के-सब आदि और अन्तवाले हैं तथा दुःखोंके कारण हैं; क्योंकि उन-उन लोकोंमें स्थिति और वहाँके पदार्थोंका संयोग मिटनेवाला है, कभी रहनेवाला नहीं है। परन्तु वह आत्यन्तिक सुख इन्द्रियोंसे रहित है अर्थात् विषयेन्द्रिय-जन्य सुखसे सर्वथा अतीत और विलक्षण है।

उस सुखको 'बुद्धिग्राह्य' कहनेका तात्पर्य है कि वह आत्यन्तिक सुख निद्रासे उत्पन्न होनेवाले तामस सुखसे विलक्षण है; क्योंकि निद्रामें तो बुद्धि लीन हो जाती है, पर आत्यन्तिक सुखमें बुद्धि जाग्रत् रहती है। वास्तवमें बुद्धि उस गुणातीत सुखको ग्रहण नहीं कर सकती। वह आत्यन्तिक सुख बुद्धिका विषय नहीं है अर्थात् उसे बुद्धिके द्वारा पकड़ा नहीं जा सकता। अतएव 'बुद्धिग्राह्य' कहनेमें केवल बुद्धिकी स्वच्छताका ही तात्पर्य है, जिसका लक्ष्य दूसरे अध्यायमें 'तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता' पदोंसे किया गया है। उस आत्यन्तिक सुखका विवेचन छठे अध्यायके बाईसवें श्लोकमें इस प्रकार किया गया है—'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः। यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥'

विलीन होनेपर जो सुख होता है, वह सुख सात्त्विक है; जैसे कि गीतामें कहा है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
(२ । ६४)

अर्थात् जिसका अन्तःकरण अपने वशमे है, ऐसा पुरुष राग-द्वेषरहित और अपने वशीभूत की हुई इन्द्रियोके द्वारा विषयोका सेवन भी करता है अर्थात् सबके साथ यथायोग्य व्यवहार, आचरण भी करता है, तो भोगबुद्धि निवृत्त होनेसे उसके चित्तमे प्रसन्नता पैदा होती है । इसी प्रसन्नताको यहाँ **'आत्मबुद्धिप्रसादजम्'** कहा है ।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥
(२ । ६५)

अर्थात् उस प्रसन्नतासे उसके सम्पूर्ण दुःख मिट जाते हैं, किसी तरहका दुःख बाकी नहीं रहता । ऐसे प्रसन्नचित्तवाले पुरुषकी बुद्धि बहुत जल्दी परमात्मामे अटल हो जाती है अर्थात् वह परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाता है । इसीको पिछले श्लोकमें **'दुःखान्तं च निगच्छति'** कहा है ।

'तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तम्'—सत्सङ्ग, स्वाध्याय, संकीर्तन, जप, ध्यान, चिन्तन आदिसे जो सुख होता है, वह मान, बडाई, आराम, रुपये, भोग आदि विषयेन्द्रिय-सम्बन्धका नहीं है और प्रमाद, आलस्य, निद्राका भी नहीं है । वह तो परमात्माके सम्बन्धका है । इस वास्ते वह सुख सात्त्विक कहा गया है ।

सम्बन्ध—

अब राजस सुखका वर्णन करते हैं।

श्लोक—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

व्याख्या—

'विषयेन्द्रियसंयोगात्'—विषयो और इन्द्रियोंके संयोगसे होनेवाला जो सुख है, उसमें अभ्यास नहीं करना पड़ता। कारण कि यह प्राणी किसी भी योनिमें जाता है तो उसको वहाँ विषयों और इन्द्रियोके संयोगसे होनेवाला सुख मिलता ही है। शब्द, स्पर्श आदि पाँचो विषयोंका सुख पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग आदि सभी प्राणियोको मिलता है। अतः उस सुखमे प्राणिमात्रका स्वाभाविक अभ्यास रहता है। मनुष्यजीवनमें भी बचपनसे देखा जाय तो अनुकूलतामें राजी होना और प्रतिकूलतामें नाराज होना स्वाभाविक ही होते आये हैं। इस वास्ते इस राजस सुखमें अभ्यासकी जरूरत नहीं है।

'यत्तदग्रे अमृतोपमम्'—राजस सुखको आरम्भमें अमृतकी तरह कहनेका भाव यह हैं कि सासारिक विषयोकी प्राप्तिकी सम्भावनाके समय मनमें जितना सुख होता है, उतना सुख, मस्ती और राजीपन विषयोके मिलनेपर नहीं रहता। मिलनेपर भी आरम्भमें (संयोग होते ही) जैसा सुख होता है, थोड़े समयके बाद वैसा सुख नहीं रहता; और उस विषयको भोगते-भोगते जब भोगनेकी

शक्ति क्षीण हो जाती है, तो उस समय सुख नहीं होता, प्रत्युत विषयभोगसे अरुचि हो जाती है। भोग भोगनेकी शक्ति क्षीण होनेके बाद भी अगर विषयोंको भोगा जाय तो दुःख, जलन पैदा हो जायगी, चित्तमें सुख नहीं रहेगा। इस वास्ते यह राजस सुख आरम्भमें अमृतकी तरह दीखता है।

अमृतकी तरह कहनेका दूसरा भाव यह है कि जब मन विषयोंमें खिंचता है, तो मनको वे विषय बड़े प्यारे लगते हैं। विषयो और भोगोंकी बातें सुननेमें जितना रस आता है, उतना भोगोमें नहीं आता। इस वास्ते गीतामें आया है—**'यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः'** (२ । ४२); राजस पुरुष स्वर्गके भोगोका सुख सुनते हैं तो उनको वह सुख बड़ा प्रिय लगता है और वे उसके लिये ललचा उठते हैं। तात्पर्य है कि वे स्वर्गके सुख दूरसे सुनकर ही बड़े प्रिय लगते हैं; परन्तु स्वर्गमें जाकर सुख भोगनेसे उनको उतना सुख नहीं मिलता और वह उतना प्रिय भी नहीं लगता।

'परिणामे विषमिव'—आरम्भमें विषय बडे सुन्दर लगते हैं, उनमें बड़ा सुख माळूम देता है; परन्तु उनको भोगते-भोगते जब परिणाममें वह सुख नीरसतामें परिणत हो जाता है, उस सुखमें बिल्कुल अरुचि हो जाती है, तो वही सुख जहरकी तरह माळूम देता है।

संसारमें जितने प्राणी कैदमें पड़े हैं, जितने चौरासी लाख योनियों और नरकोंमें पडे हैं, उन सबका कारण देखा जाय तो

उन्होंने विषयोका भोग किया है, उनसे सुख लिया है। उसीसे वे कैद, नरक आदिमें दुःख पा रहे हैं; क्योंकि राजस सुखका परिणाम दुःख होता ही है—**'रजसस्तु फलं दुःखम्'** (गीता १४।१६)।

आज भी जो लोग घवरा रहे हैं, दुःखी हो रहे हैं, वे सब पदार्थोंके रागके कारण ही दुःख पा रहे हैं। जो धनी होकर फिर निर्धन हो गया है, वह जितना दुःखी और संतप्त है उतना दुःख और सन्ताप स्वाभाविक निर्धनको नहीं है; क्योंकि उसके भीतर सुखके संस्कार अधिक नहीं पडे हैं। परंतु धनीने राजसी सुख अधिक भोगा है, उसके भीतर सुखके संस्कार अधिक पड़े हैं, इसलिये उसको धनके अभावका दुःख ज्यादा है। जैसे, जो मनुष्य तरह-तरहकी सामग्री भोजन करनेवाला है, उसके भोजनमे कभी थोडी-सी भी कमी हो जाय तो उसको वह कमी बड़ी खटकती है कि आज भोजनमे चटनी नहीं है, खटाई नहीं है, मिठाई नहीं है, अमुक-अमुक चीज नहीं है—इस प्रकार नहीं-नहींका ही तॉता लगा रहता है। परंतु साधारण आदमी वाजरेकी रूखी-सूखी रोटी खाकर भी मौजसे रहता है, उसको भोजनमें किसी चीजकी कमी खटकती ही नहीं। तात्पर्य यह हुआ कि पदार्थोंके संयोगसे जितना ज्यादा सुख लिया है, उतना ही उसके अभावका अनुभव होता है। अभावके अनुभवमें दुःख ही होता है।

जिस पदार्थकी कामना होती है, उसकी प्राप्तिके लिये मनुष्य उद्योग करते हैं। उद्योग करनेपर भी वस्तु मिलेगी या न मिलेगी, इसमें संदेह रहता है। वस्तु न मिले तो उसके अभावका

दुःख होता है, और वस्तु मिल जाय तो 'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई' की तरह उस वस्तुको और भी अधिक प्राप्त करनेकी इच्छा हो जाती है। इस प्रकार इच्छापूर्ति नयी इच्छाका कारण बन जाती है, और इच्छापूर्ति तथा फिर इच्छाकी उत्पत्ति—यह चक्कर चलता ही रहता है, इसका कभी अन्त नहीं आता। तात्पर्य यह है कि इच्छा कभी मिटती नहीं और इच्छाके रहते हुए अभाव खटकता रहता है। यह अभाव ही विषकी तरह है अर्थात् दुःखदायी है।

जब राजसी सुख परिणाममें विषकी तरह है तो राजसी सुख लेनेवाले जितने लोग हैं, वे सब मर जाने चाहिये? परंतु राजसी सुख विषकी तरह मारता नहीं, प्रत्युत विषकी तरह अरुचि-कारक हो जाता है। उसमें पहले जैसी रुचि होती है, वैसी रुचि अन्तमें नहीं रहती अर्थात् वह सुख विषकी तरह हो जाता है, साक्षात् विष नहीं होता।

राजस सुख विषकी तरह क्यों है? क्योंकि विष तो एक जन्ममें ही मारता है, पर राजस सुख कई जन्मोंतक मारता है। राजस सुख लेनेवाला रागी पुरुष शुभ-कर्म करके यदि स्वर्गमें भी चला जाता है तो वहाँ भी उसको सुख-शान्ति नहीं मिलती। स्वर्गमें भी अपनेसे ऊँची श्रेणीवालोंको देखकर ईर्ष्या होती है कि ये हमारेसे ऊँचे क्यों हो गये हैं! समान पदवालोंको देखकर दुःख होता है कि ये हमारे समान पदपर आकर क्यों बैठ गये हैं! और नीची श्रेणीवालोंको देखकर अभिमान आता है कि हम

इनसे ऊँचे हैं ! इस प्रकार उसके मनमें ईर्ष्या, दुःख और अभिमान होते ही रहते हैं, फिर उसके मनमे सुख कहाँ और शान्ति कहाँ ? इतना ही नहीं, पुण्योंके क्षीण हो जानेपर उसको पुनः मृत्युलोकमें आना पड़ता है—**'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'** (गीता ९। २१)। यहाँ आकर फिर शुभ-कर्म करता है और फिर स्वर्गमें जाता है। इस प्रकार जन्म-मरणके चक्करमें सदा ही रहता है—**'गतागतं कामकामा लभन्ते'** (९। २१)। यदि वह रागके कारण पाप-कर्मोंमें लग जाता है तो परिणाममे चौरासी लाख योनियो और नरकोंमें पडता हुआ न जाने कितने जन्मोतक जन्मता-मरता रहता है, जिसका कोई अन्त नहीं आता। इस वास्ते इस सुखको विषकी तरह कहा है।

'तत्सुखं राजसं स्मृतम्'—सात्त्विक सुखके लिये तो (सैंतीसवें श्लोकमें) **'प्रोक्तम्'** पद कहा है, पर राजस सुखके लिये यहाँ **'स्मृतम्'** पद कहनेका तात्पर्य है कि पहले भी मनुष्यने राजस सुखका फल दुःख पाया है, परंतु रागके कारण वह संयोगकी तरफ पुनः ललचा उठता है। कारण कि संयोगका प्रभाव उसपर पड़ा हुआ है और परिणामके प्रभावको वह स्वीकार नहीं करता। अगर वह परिणामके प्रभावको स्वीकार कर ले तो फिर राजस सुखमें फँसेगा नहीं। स्मृति, शास्त्र, पुराण आदिमें ऐसे बहुत-से इतिहास आते हैं, जिनमें मनुष्योंके द्वारा राजस सुखके कारण बहुत दुःख पानेकी बात आयी है। इसी बातको स्मरण करानेके लिये यहाँ **'स्मृतम्'** पद आया है।

जिसकी वृत्ति जितनी सात्त्विक होती है, वह उतना ही हरेक विषयके परिणामकी तरफ सोचता है। अर्थात् तात्कालिक सुखकी तरफ वह ध्यान नहीं देता। परंतु राजसी वृत्तिवाला परिणामकी तरफ सोचता ही नहीं, उसकी वृत्ति तात्कालिक सुखकी तरफ ही जाती है। इस वास्ते वह संसारमें फँसा रहता है। राजसीको संसारका सम्बन्ध वर्तमानमे तो अच्छा मालूम देता है; परंतु परिणाममें यह हानिकारक है—**'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते'** (गीता ५ । २२)। इस वास्ते साधकको संसारसे विरक्त हो जाना चाहिये; राजसी सुखमें नहीं फँसना चाहिये।

सम्बन्ध—

अब तामस सुखका वर्णन करते हैं।

श्लोक—

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

व्याख्या—

'निद्रालस्यप्रमादोत्थम्'—जब राग अत्यधिक बढ़ जाता है, तो वह तमोगुणका रूप धारण कर लेता है। इसीको मोह कहते हैं। इस मोह (मूढ़ता)के कारण मनुष्यको अधिक सोना अच्छा लगता है। अधिक सोनेवाले मनुष्यको गाढ़ नींद नहीं आती। गाढ नींद न आनेसे तन्द्रा ज्यादा आती है और स्वप्न भी ज्यादा आते हैं। तन्द्रा और स्वप्नमें तामस मनुष्यका बहुत समय बरबाद हो जाता है। परन्तु तामस मनुष्यको इसीसे ही सुख मिलता है, इस वास्ते इस सुखको निद्रासे उत्पन्न बताया है।

यद्यपि नींद तामसी है, तथापि नींदका जो बेहोशीपना है, वह त्याज्य है और जो विश्रामपना है, वह ग्राह्य है। परन्तु हरेक आदमी बेहोशीके बिना विश्रामपना ग्रहण नहीं कर सकता; अतः उनके लिये नींदका बेहोशीभाग भी ग्राह्य है। हाँ, जो साधना करके ऊँचे उठ गये हैं, उनको नींदके बेहोशीभागके बिना भी जाग्रत्-सुषुप्तिमें ही विश्राम मिल जाता है। कारण कि जाग्रत्-अवस्थामें संसारके चिन्तनका सर्वथा त्याग होकर परमात्मतत्त्वमें स्थिति हो जाती है तो महान् विश्राम, सुख मिलता है, इस स्थितिसे भी असङ्ग होनेपर वास्तविक तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है।

जो साधक हैं, उनको विश्रामके लिये नहीं सोना चाहिये। उनका तो यही भाव होना चाहिये कि पहले काम-धन्धा करते हुए भगवान्‌का भजन करते थे, अब लेटे-लेटे भजन करना है।

(२) **अतिनिद्रा**—इस निद्राके आदि और अन्तमें शरीरमें आलस्य भरा रहता है। शरीरमें भारीपन रहता है। अधिक नींद लेनेका स्वभाव होनेसे हरेक कार्यमें नींद आती रहती है। समयपर सोना और समयपर जागना युक्तनिद्रा है, और अधिक सोना अतिनिद्रा है।

चौदहवें अध्यायके आठवें श्लोकमें भगवान्‌ने पहले प्रमादको, दूसरे नंबरमें आलस्यको और तीसरे नंबरमें निद्राको रखा है—**'प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत'**। परंतु यहाँ पहले निद्राको, दूसरे नंबरमें आलस्यको और तीसरे नंबरमें प्रमादको रखा है—**'निद्रालस्यप्रमादोत्थम्'**। इस व्यतिक्रममें भगवान्‌का तात्पर्य है कि वहाँ इन तीनोंके द्वारा मनुष्यको बाँधनेका प्रसङ्ग है और

यहाँ मनुष्यका पतन करनेका प्रसङ्ग है। बाँधनेके विषयमें प्रमाद सबसे अधिक बन्धनकारक है, इस वास्ते इसको सबसे पहले रखा है। कारण कि सक्रिय-प्रमाद निषिद्ध आचरणोंमें प्रवृत्त करता है, जिससे अधोगति होती है। आलस्य केवल अच्छी प्रवृत्तिको रोकनेवाला होनेसे इसको दो नंबरमें रखा है। निद्रा आवश्यक होनेसे बन्धनकारक नहीं है, प्रत्युत अतिनिद्रा ही बन्धनकारक है, इस वास्ते इसे तीसरे नंबरमें रखा है। यहाँ उससे उलटा क्रम रखनेका अभिप्राय है कि सबके लिये आवश्यक होनेसे निद्रा इतना पतन करनेवाली नहीं है। निद्रासे अधिक आलस्य पतन करता है, और आलस्यसे भी अधिक प्रमाद पतन करता है। कारण कि मनुष्य ज्यादा नींद लेगा तो वृक्ष आदि मूढ़-योनियोंकी प्राप्ति होगी, परंतु आलस्य और प्रमाद करेगा तो कर्तव्यच्युत होकर दुराचार करनेसे नरकमें जाना पड़ेगा*।

'यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः'—निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न हुआ सुख आरम्भमें और परिणाममें मोहित करनेवाला है। इस सुखमें न आरम्भमें विवेक रहता है और न परिणाममें विवेक रहता है अर्थात् यह सुख विवेकको जाग्रत्

---

* तमोगुणकी वृत्ति जो सक्रिय-प्रमाद है, वह तो अच्छी प्रवृत्तिको रोककर खेल-कूद आदि सामान्य फालतू क्रियाओंमें लगाता है; परंतु जब सक्रिय-प्रमादके साथ राग मिल जाता है (जो कि रजोगुणका रूप है) तो उससे कामना पैदा हो जाती है। कामनासे फिर अनेक तरहके पाप, अनर्थ होते हैं, जिनका परिणाम बड़ा भयंकर होता है।

ज्ञानस्वरूप होनेके कारण उसे 'चित्' कहते हैं और आनन्दस्वरूप होनेके कारण उसे 'आनन्द' कहते हैं। उस सच्चिदानन्द परमात्माका ही अंश होनेसे यह प्राणी भी सच्चिदानन्दस्वरूप है। परंतु जब प्राणी असत् वस्तुकी इच्छा करता है कि अमुक वस्तु मुझे मिले, तो उस इच्छासे वह स्वतः-स्वाभाविक आनन्द—सुख ढक जाता है। जब असत् वस्तुकी इच्छा मिट जाती है, तो उस इच्छाके मिटते ही वह स्वतः-स्वाभाविक सुख प्रकट हो जाता है।

नित्य-निरन्तर रहनेवाला जो सुख-रूप 'तत्त्व' है, उसमे जब सात्त्विक बुद्धि तल्लीन हो जाती है तो बुद्धिमे स्वच्छता, निर्मलता आ जाती है। उस स्वच्छ और निर्मल बुद्धिसे अनुभवमें आनेवाला वह स्वाभाविक सुख ही सात्त्विक कहलाता है। बुद्धिसे भी जब सम्बन्ध छूट जाता है तो वास्तविक सुख रह जाता है। सात्त्विक बुद्धिके सम्बन्धसे ही उस सुखकी सात्त्विक सज्ञा होती है। बुद्धिसे सम्बन्ध छूटते ही उसकी सात्त्विक संज्ञा नहीं रहती।

मनमे जब किसी वस्तुको प्राप्त करनेकी इच्छा होती है तो वह वस्तु मनमे बस जाती है अर्थात् मन और बुद्धिका उसके साथ सम्बन्ध हो जाता है। जब वह मनोवाञ्छित वस्तु मिल जाती है तो वह वस्तु मनसे निकल जाती है अर्थात् वस्तुका मनमे जो खिचाव था, वह निकल जाता है। उसके निकलते ही अर्थात वस्तुसे सम्बन्ध-विच्छेद होते ही वस्तुके अभावका जो दुःख था, वह निवृत्त हो जाता है और नित्य रहनेवाले स्वतःसिद्ध सुखका तात्कालिक अनुभव हो जाता है। वास्तवमें यह सुख वस्तुके मिलनेसे नहीं हुआ

है, प्रत्युत रागके तात्कालिक मिटनेसे हुआ है, पर राजसी पुरुष भूलसे उस सुखको वस्तुके मिलनेसे होनेवाला मान लेता है। वास्तवमें देखा जाय तो वस्तुका संयोग बाहरसे होता है और प्रसन्नता भीतरसे होती है। भीतरसे जो प्रसन्नता पैदा होती है, वह बाहरके संयोगसे पैदा नहीं होती, प्रत्युत भीतर मनमें बसी हुई वस्तुके साथ जो सम्बन्ध था, उस वस्तुसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर पैदा होती है। तात्पर्य यह कि वस्तुके मिलनेसे अर्थात् वस्तुका संयोग होते ही भीतरसे उस वस्तुसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और सम्बन्ध-विच्छेद होते ही नित्य रहनेवाले स्वाभाविक सुखका आभास हो जाता है।

जब नींदमें बुद्धि तमोगुणमें लीन हो जाती है तो बुद्धिकी स्थिरताको लेकर वह सुख प्रकट हो जाता है। कारण कि तमोगुणके प्रभावसे नींदमें जाग्रत् और स्वप्नके पदार्थोंकी विस्मृति हो जाती है। पदार्थोंकी स्मृति दुःखोंका कारण है। पदार्थोंकी विस्मृति होनेसे निद्रावस्थामें पदार्थोंका वियोग हो जाता है तो उस वियोगके कारण स्वाभाविक सुखका आभास होता है, इसीको निद्राका सुख कहते हैं। परंतु बुद्धिकी मलिनतासे वह स्वाभाविक सुख जैसा है, वैसा अनुभवमें नहीं आता। तात्पर्य है कि बुद्धिके तमोगुणी होनेसे बुद्धिमें स्वच्छता नहीं रहती और स्वच्छता न रहनेसे वह सुख स्पष्ट अनुभवमें नहीं आता। इस वास्ते इस सुखको तामस कहा गया है।

इन सबका तात्पर्य यह है कि सात्त्विक पुरुषको संसारसे विमुख होकर तत्त्वमें बुद्धिके तल्लीन होनेसे सुख होता है; राजस

पुरुषको रागके कारण अन्तःकरणमें बसी हुई वस्तुके बाहर निकलनेसे सुख होता है; और तामस पुरुषको वस्तुओंके लिये किये जानेवाले कर्तव्य-कर्मोंकी विस्मृतिसे और निरर्थक क्रिया तथा प्रमादमें लगनेसे सुख होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो नित्य-निरन्तर रहनेवाला सुखस्वरूप तत्त्व है, वह असत्के सम्बन्धसे आच्छादित रहता है। विवेकपूर्वक असत्से सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेपर, रागवाली वस्तुओंके मनसे निकल जानेपर और बुद्धिके तमोगुणमें लीन हो जानेपर जो सुख होता है, वह उसी सुखका आभास है। तात्पर्य यह हुआ कि संसारसे विवेकपूर्वक विमुख होनेपर सात्त्विक सुख, भीतरसे वस्तुओंके निकलनेपर राजस सुख और मूढतासे निद्रा-आलस्यमें संसारको भूलनेपर तामस सुख होता है; परंतु वास्तविक सुख तो प्रकृतिजन्य पदार्थोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेदसे ही होता है। इन सुखोंमें जो प्रियता, आकर्षण और (सुखका) भोग है, वही पारमार्थिक उन्नतिमें बाधा देनेवाला और पतन करनेवाला है। इस वास्ते पारमार्थिक उन्नति चाहनेवाले साधकोंको इन तीनों सुखोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करना अत्यावश्यक है।

सम्बन्ध—

बीसवेंसे उन्तालीसवें श्लोकतक भगवान्‌ने गुणोंकी मुख्यताको लेकर ज्ञान, कर्म आदिके तीन-तीन भेद बताये। अब इनके सिवाय गुणोंको लेकर सृष्टिकी सम्पूर्ण वस्तुओंके भी तीन-तीन भेद होते हैं—इसका लक्ष्य कराते हुए भगवान् अगले श्लोकमें प्रकरणका उपसंहार करते हैं।

श्लोक—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ ४० ॥

व्याख्या—

अठारहवे अध्यायके आरम्भमे अर्जुनने संन्यास और त्यागका तत्त्व जानना चाहा तो भगवान्‌ने पहले त्याग—कर्मयोगका वर्णन किया । उस प्रकरणका उपसहार करते हुए भगवान्‌ने कहा कि जो त्यागी नहीं है, उनको अनिष्ट, इष्ट और मिश्र—यह तीन प्रकारका कर्मोंका फल मिलता है और जो संन्यासी है, उनको कभी नही मिलता । ऐसा कहकर तेरहवे श्लोकसे संन्यास—सांख्ययोगका प्रकरण आरम्भ करके पहले कर्मोंके होनेमें अधिष्ठानादि पॉच हेतु वताये । सोलहवे-सत्रहवें श्लोकोमे कर्तृत्व माननेवालोकी निन्दा और कर्तृत्वका त्याग करनेवालोकी प्रशंसा की । अठारहवे श्लोकमें कर्म—प्रेरक और कर्म-संग्रहका वर्णन किया । परतु जो वास्तविक तत्त्व है, वह न कर्म-प्रेरक है और न कर्म-संग्राहक है । कर्म-प्रेरक और कर्म-संग्रह तो प्रकृतिके गुणोके साथ सम्बन्ध रखनेसे ही होते है । फिर गुणोके अनुसार ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुखके तीन-तीन भेदोका वर्णन किया । सुखका वर्णन करते हुए यह वताया कि प्रकृतिके साथ यत्किञ्चित् सम्बन्ध रखते हुए ऊँचा-से-ऊँचा जो सुख होता है, वह सात्त्विक होता है । परंतु जो वास्तविक स्वरूपका सुख है, वह गुणातीत है, विलक्षण है, अलौकिक है (जिसका वर्णन छठे अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमे हुआ है)।

सात्त्विक सुखको **'आत्मबुद्धिप्रसादजम्'** कहकर भगवान्‌ने उसको जन्य (उत्पन्न होनेवाला) बताया। जन्य वस्तु नित्य नहीं होती। इस वास्ते उसको जन्य बतानेका तात्पर्य है कि उस जन्य सुखसे भी ऊपर उठना है। अर्थात् प्रकृति और प्रकृतिके तीनों गुणोंसे रहित होकर उस परमात्मतत्त्वको प्राप्त करना है, जो कि सबका अपना स्वाभाविक स्वरूप है। इस वास्ते कहते हैं—

'न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः'—यहाँ **'पृथिव्याम्'** पदसे मृत्युलोक और पृथ्वीके नीचेके अतल, वितल आदि सभी लोकोंका, **'दिवि'** पदसे स्वर्ग आदि लोकोंका, **'देवेषु'** पदको प्राणिमात्रके उपलक्षणके रूपमें लेकर उन-उन स्थानोंमें रहनेवाले मनुष्य, देवता, असुर, राक्षस, नाग, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष आदि सभी चर-अचर प्राणियोंका, और **'वा पुनः'** पदोंसे अनन्त ब्रह्माण्डोंका संकेत किया गया है। तात्पर्य यह हुआ कि त्रिलोकी और अनन्त ब्रह्माण्ड तथा उनमें रहनेवाली कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो* अर्थात् सब-के-सब त्रिगुणात्मक हैं—**'सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः'**।

---

* इस वास्ते साधकको अपने कल्याणके लिये सात्त्विकका ग्रहण और राजस-तामसका त्याग करना है। गीतामें सात्त्विक, राजस और तामस—तीनों गुणोंका वर्णन कहाँ-कहाँ हुआ है, इसे बताया जाता है—

सातवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें सात्त्विक, राजस और तामस भावोंका वर्णन हुआ है। चौदहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें प्रकृतिजन्य सत्त्व, रज और तम—तीनों गुणोंको बन्धनकारक बतलाकर छठेसे आठवें श्लोकतक क्रमशः तीनों गुणोंके बाँधनेका अलग-अलग प्रकार बताया है,

प्रकृति और प्रकृतिका कार्य—यह सब-का-सब ही त्रिगुणात्मक और परिवर्तनशील है । इनसे सम्बन्ध जोड़नेसे ही बन्धन होता है और इनसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेसे ही मुक्ति होती है; क्योंकि खुद (स्वयं) का स्वरूप असङ्ग है । स्वरूप 'स्व' है और प्रकृति 'पर' है । प्रकृतिसे सम्बन्ध जुडते ही अहंकार पैदा हो जाता है, जो कि पराधीनताको पैदा करनेवाला है । यह एक विचित्र बात है कि अहंकारमें स्वाधीनता मालूम देती है, पर है वास्तवमें पराधीनता ! कारण कि अहंकारसे प्रकृतिजन्य पदार्थोंमें आसक्ति, कामना आदि

फिर नवें श्लोकमें गुणोंकी विजयका दसवें श्लोकमें दो गुणोंको दबाकर एक गुणके बढनेका, ग्यारहवेंसे तेरहवें श्लोकतक बढ़े हुए गुणोंके लक्षणोंका, चौदहवें-पंद्रहवें श्लोकोंमें तात्कालिक गुणवृद्धिसे मरनेवालेकी गतिका, सोलहवें श्लोकमें त्रिगुणात्मक कर्मोंके फलका, सत्रहवें श्लोकमें तीनों गुणोंसे उत्पन्न होनेवाली वृत्तियोंका और अठारहवें श्लोकमें स्वाभाविक गुणोंकी स्थितिके अनुसार गतिका वर्णन हुआ है । सत्रहवें अध्यायके पहले श्लोकमें तीनों गुणोंसे होनेवाली निष्ठाके विषयमें अर्जुनका प्रश्न है, फिर दूसरे श्लोकमें त्रिविध श्रद्धाका, चौथे श्लोकमें त्रिविध यजनका, आठवेंसे दसवें श्लोकतक त्रिविध आहारीके लक्षण, ग्यारहवेंसे तेरहवें श्लोकतक त्रिविध यज्ञका, सत्रहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक त्रिविध तपका और बीसवेंसे बाईसवें श्लोकतक त्रिविध दानका वर्णन हुआ है । अठारहवें अध्यायके सातवेंसे नवें श्लोकतक त्रिविध त्यागका, बीसवेंसे बाईसवें श्लोकतक त्रिविध ज्ञानका, तेईसवेंसे पचीसवें श्लोकतक त्रिविध कर्मका, छब्बीसवेंसे अट्ठाईसवें श्लोकतक त्रिविध कर्ताका, तीसवेंसे बत्तीसवें श्लोकतक त्रिविध बुद्धिका, तैंतीसवेंसे पैंतीसवें श्लोकतक त्रिविध धृतिका और सैंतीसवेंसे उन्तालीसवें श्लोकतक त्रिविध सुखका वर्णन हुआ है । इस प्रकार तीनों गुणोंका वर्णन चौबीस बार हुआ है ।

पैदा हो जाती है, जिससे पराधीनतामें भी स्वाधीनता दीखने लग जाती है। इस वास्ते प्रकृतिजन्य गुणोंसे रहित होना आवश्यक है।

प्रकृतिजन्य गुणोंमें रजोगुण और तमोगुणका त्याग करके सत्त्वगुण बढ़ानेकी आवश्यकता है और सत्त्वगुणमें भी प्रसन्नता और विवेक तो आवश्यक हैं, परंतु सात्त्विक सुख और ज्ञानकी आसक्ति नहीं होनी चाहिये; क्योंकि सुख और ज्ञानकी आसक्ति बाँधनेवाली है। इस वास्ते इनकी आसक्तिका त्याग करके सत्त्वगुणसे ऊँचा उठे। इससे ऊँचा उठनेके लिये ही यहाँ गुणोंका प्रकरण आया है।

साधकको तो सात्त्विक ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुख——इनपर ध्यान देकर इनके अनुरूप अपना जीवन बनाना चाहिये और सावधानीसे राजस-तामसका त्याग करना चाहिये। इनका त्याग करनेमें सावधानी ही साधन है। सावधानीसे सब साधन स्वतः प्रकट होते हैं। प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेमें सात्त्विकता बहुत आवश्यक है। कारण कि इसमें प्रकाश अर्थात् विवेक जाग्रत रहता है, जिससे प्रकृतिसे मुक्त होनेमें बड़ी सहायता मिलती है। वास्तवमें तो इससे भी असङ्ग होना है।

सम्बन्ध——

त्यागके प्रकरणमें भगवान्‌ने यह बतलाया कि नियत कर्मोंका त्याग करना उचित नहीं है। उनका मूढतापूर्वक त्याग करनेसे वह त्याग तामस हो जाता है (१८। ७); शारीरिक क्लेशके भयसे नियत कर्मोंका त्याग करनेसे वह त्याग राजस हो जाता है (१८। ८) और उन नियत कर्मोंको फल और आसक्तिका

त्याग करके करनेसे वह त्याग सात्त्विक हो जाता है (१८ । ९)। सांख्ययोगकी दृष्टिसे सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिमें पाँच हेतु बताते हुए जहाँ सात्त्विक कर्मका वर्णन हुआ है, वहाँ नियत कर्मको कर्तृत्वाभिमानसे रहित, राग-द्वेषसे रहित और फलेच्छासे रहित पुरुषके द्वारा किये जानेका उल्लेख किया है (१८ । २३)। अब यहाँ भगवान् यह बताना चाहते हैं कि उन कर्मोंमें किस वर्णके लिये कौन-से कर्म 'नियत-कर्म' हैं और परमात्माका सम्बन्ध रखते हुए नियत कर्मोंको कैसे किया जाय। इसको बतानेके लिये भगवान् अगला प्रकरण आरम्भ करते हैं।

श्लोक—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

व्याख्या—

सम्पूर्ण कर्मों और पदार्थोंको प्रकृतिके कार्यरूप संसारकी सेवामें अर्पण करनेको 'कर्मप्रधान कर्मयोग' कहते हैं, जिसका वर्णन इसी अध्यायके चौथेसे बारहवें श्लोकतक हुआ है। उन्हीं कर्मों और पदार्थोंके द्वारा प्रकृति और उसके कार्यरूप संसारके मालिक परमात्माका पूजन करनेको 'भक्तिमिश्रित कर्मयोग' कहते हैं। इसी भक्तिमिश्रित कर्मयोगका वर्णन यहाँ इकतालीसवेंसे अड़तालीसवें श्लोकतक किया गया है।

'ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप'—यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीनोंके लिये एक पद और शूद्रोंके लिये

अलग एक पद देनेका तात्पर्य है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये द्विजाति हैं और शूद्र द्विजाति नहीं है। इस वास्ते इनके कर्मोंका विभाग अलग-अलग है और कर्मोंके अनुसार शास्त्रीय अधिकार भी अलग-अलग हैं।

'कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः'—स्वभावसे उत्पन्न होनेवाले गुणोंके अनुसार ही चारों वर्णोंके कर्म अलग-अलग विभक्त किये गये हैं। चौथे अध्यायके तेरहवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य जो कुछ भी कर्म करता है, उससे दो चीजें बनती हैं—(१) स्वभाव, जिसे 'गुण' कहा गया है और (२) अदृष्ट अर्थात् सञ्चित, जिसे 'कर्म' कहा गया है, जो कि आगे प्रारब्ध बनकर फल देता है। गुण अर्थात् स्वभाव और कर्ममें भी परस्पर सम्बन्ध है। मनुष्यका जैसा स्वभाव होता है, वह प्रायः वैसे ही कर्म करता है और जैसे कर्म करता है, उसका प्रायः वैसा ही स्वभाव बनता है। इन्हीं गुण (स्वभाव) और कर्मोंके अनुसार भगवान्‌ने महासर्गके आदिमें चारों वर्णोंकी रचना की है। प्रजापति ब्रह्माने भी सर्गके आदिमें (पूर्व कर्मोंका फल भुगतानेके लिये) गुण और कर्मोंके अनुसार सृष्टिकी रचना की है। उस सृष्टिमें कर्तव्योंके सहित मनुष्योंको पैदा किया है—**'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः'** (गीता ३। १०)। इससे यह सिद्ध होता है कि कर्तव्यका विधान केवल मनुष्योंके लिये ही है; क्योंकि मनुष्य कर्मयोनि है। मनुष्योंके सिवाय देवता, पशु, पक्षी,

वृक्ष, लता आदि जितने भी स्थावर-जङ्गम प्राणी हैं, उनके लिये कर्तव्यका विधान नहीं है; क्योंकि वे सभी भोगयोनियाँ हैं। उन भोगयोनियोंमें भी पुण्य-प्रधान फल भोगनेके लिये स्वर्ग आदि ऊँचे लोक हैं, पाप-प्रधान फल भोगनेके लिये नरक है और पाप-पुण्य-मिश्रित फलसे होनेवाला मनुष्यजन्म पाप-पुण्य दोनोंसे ऊँचा उठनेके लिये है। इस प्रकार अपने पूर्वकृत कर्मोंका फल भोगनेके लिये वे प्राणी बार-बार उत्पन्न होते रहते हैं और अपने कर्मफलभोगके अनुसार ही अनेक योनियोंमें उनका जन्म होता रहता है।

यह प्राणी पूर्वजन्मके अपने-अपने सात्त्विक, राजस और तामस—इन गुणों और कर्मोंकी प्रधानताको लेकर जिस-जिस वर्णमें पैदा होता है, उन्हीं गुणों और कर्मोंके अनुसार शास्त्रोंने उस-उस वर्णके लिये कर्मोंका अलग-अलग विधान कर दिया है—**'कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः'**। इसका तात्पर्य यह हुआ कि गुणों और कर्मोंके अनुसार ही महासर्गके आदिमें भगवान् और सर्गके आदिमें ब्रह्मा चारों वर्णोंकी रचना करते हैं तथा उनके कर्मोंका विधान करते हैं।

यदि मनुष्य अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके शास्त्रद्वारा नियत कर्मोंसे भगवान्‌का पूजन करता है तो वे ही कर्म उसका कल्याण कर देते हैं। कल्याणका अर्थ है कि पुराने सञ्चित-कर्म भस्म हो जाते हैं, प्रारब्ध-कर्म फल देकर नष्ट हो जाते हैं और निष्कामभावसे किये हुए क्रियमाण-कर्म फलजनक नहीं बनते, जिससे संसारका बन्धन छूट जाता है।

सम्बन्ध—

अब ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म बताते हैं।

श्लोक—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ ४२॥

व्याख्या—

'शमः'—मनको जहाँ लगाना चाहे, वहाँ लग जाय और जहाँसे हटाना चाहे, वहाँसे हट जाय—इस प्रकार मनके निग्रहको 'शम' कहते हैं।

'दमः'—जिस इन्द्रियसे जब जो काम करना चाहें, तब वह काम कर लें और जिस इन्द्रियको जब जहाँसे हटाना चाहे, तब वहाँसे हटा लें—इस प्रकार इन्द्रियोंको वशमें करना 'दम' है।

'तपः'—गीतामें शरीर, वाणी और मनके तपका वर्णन आता है (१७। १४-१६), उस तपको लेते हुए भी यहाँ वास्तवमें 'तप'का अर्थ है—अपने धर्मका पालन करते हुए जो कष्ट हो अथवा कष्ट आ जाय, उसको प्रसन्नतापूर्वक सहना अर्थात् कष्टके आनेपर चित्तमें प्रसन्नताका होना।

'शौचम्'—अपने मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदिको पवित्र रखना तथा अपने खान-पान, व्यवहार आदिकी पवित्रता रखना—इस प्रकार 'शौचाचार-सदाचारका ठीक पालन करनेका नाम 'शौच' है।

'क्षान्तिः'—कोई कितना ही अपमान करे, निन्दा करे, दुःख दे और अपनेमें उसको दण्ड देनेकी योग्यता, बल, अधिकार भी हो, फिर भी उसको दण्ड न देकर उसके क्षमा माँगे बिना ही प्रसन्नतापूर्वक माफ कर देनेका नाम 'क्षान्ति' है।

'आर्जवम्'—शरीर, वाणी आदिके व्यवहारमें सरलता हो और मनमे छल, कपट, छिपाव आदि दुर्भाव न हो अर्थात् सीधा-सादापन हो, उसका नाम 'आर्जव' है।

'ज्ञानम्'—वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास आदिका अच्छी तरह अध्ययन होना और उनके भावोंका ठीक तरहसे बोध होना तथा कर्तव्य-अकर्तव्यका बोध होना 'ज्ञान' है।

'विज्ञानम्'—यज्ञमें स्रुक्, स्रुवा आदि वस्तुओंका किस अवसरपर किस विधिसे प्रयोग करना चाहिये—इसका अर्थात् यज्ञविधिका अनुभव कर लेने (अच्छी तरह करके देख लेने) का नाम 'विज्ञान' है।

'आस्तिक्यम्'—परमात्मा, वेदादि शास्त्र, परलोक आदिका हृदयमे आदर हो, श्रद्धा हो और उनकी सत्यतामे कभी सन्देह न हो तथा उनके अनुसार अपना आचरण हो, इसका नाम 'आस्तिक्य' है।

'ब्रह्मकर्म स्वभावजम्'—ये शम, दम आदि ब्राह्मणके स्वाभाविक गुण हैं अर्थात् इन गुणोंको धारण करनेमें ब्राह्मणको परिश्रम नहीं पड़ता।

जिन ब्राह्मणोंमें सत्त्वगुणकी प्रधानता है, जिनको वंश-परम्परा परम शुद्ध है और जिनके पूर्वजन्मकृत कर्म भी शुद्ध हैं, ऐसे ब्राह्मणोके लिये ही शम, दम आदि गुण स्वाभाविक होते है और उनमें किसी गुणके न होनेपर अथवा किसी गुणमें कमी होनेपर भी उसकी पूर्ति करना उन ब्राह्मणोके लिये सहज है।

चारों वर्णोंकी रचना गुणोंकी तारतम्यतासे की गयी है; इस वास्ते गुणोंके अनुसार उस-उस वर्णमे वे-वे कर्म स्वाभाविक प्रकट हो जाते हैं और दूसरे कर्म गौण हो जाते हैं। जैसे, ब्राह्मणमें सत्त्वगुणकी प्रधानता होनेसे उसमें शम, दम आदि कर्म स्वाभाविक आते हैं और जीविकाके कर्म गौण हो जाते हैं और दूसरे वर्णोंमे रजोगुण तथा तमोगुणकी प्रधानता होनेसे उन वर्णोंके जिविकाके कर्म भी स्वाभाविक कर्मोंमें सम्मिलित हो जाते हैं। इसी दृष्टिसे गीतामें ब्राह्मणके स्वभावज कर्मोंमें जीविकाके कर्म न कह करके शम, दम आदि कर्म ही कहे गये हैं।

सम्बन्ध—

अब क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म बताते हैं—

श्लोक—

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ ४३॥

व्याख्या—

'शौर्यम्'—मनमें अपने धर्मका पालन करनेकी तत्परता हो, धर्ममय युद्ध* प्राप्त होनेपर युद्धमें चोट लगने, अङ्ग कट जाने, मर

* अपना युद्ध करनेका विचार भी नहीं है, कोई स्वार्थ भी नहीं है, पर परिस्थितिवशात् केवल कर्तव्यरूपसे प्राप्त हुआ है, वह 'धर्ममय युद्ध' है।

जाने आदिका किञ्चिन्मात्र भी भय न हो, घाव होनेपर भी मनमें प्रसन्नता और उत्साह रहे और सिर कटनेपर भी पहले-जैसे ही अस्त्र-शस्त्र चलाता रहे, उसका नाम 'शौर्य' है।

'तेजः'—जिस प्रभाव या शक्तिके सामने पापी-दुराचारी मनुष्य भी पाप-दुराचार करनेमें हिचकते हैं, जिसके सामने लोगोंकी मर्यादा-विरुद्ध चलनेकी हिम्मत नहीं होती अर्थात् लोग स्वाभाविक ही मर्यादामें चलते हैं, उसका नाम 'तेज' है।

'धृतिः'—विपरीत-से-विपरीत अवस्थामें भी अपने धर्मसे विचलित न होने और शत्रुओंके द्वारा धर्म तथा नीतिसे विरुद्ध अनुचित व्यवहारसे सताये जानेपर भी धर्म तथा नीति-विरुद्ध कार्य न करके धैर्यपूर्वक उसी मर्यादामें चलनेका नाम 'धृति' है।

'दाक्ष्यम्'—प्रजापर शासन करनेकी, प्रजाको यथायोग्य व्यवस्थित रखनेकी और उसका संचालन करनेकी विशेष योग्यता, चतुराईका नाम 'दाक्ष्य' है।

'युद्धे चाप्यपलायनम्'—युद्धमें कभी पीठ न दिखाना, मनमें कभी हार स्वीकार न करना, युद्ध छोड़कर कभी न भागना—यह युद्धमें 'अपलायन' है।

'दानम्'—क्षत्रियलोग दान देते हैं तो देनेमें कमी नहीं रखते, बड़ी उदारतापूर्वक देते हैं। वर्तमानमें दान-पुण्य करनेका स्वभाव वैश्योंमें देखनेमें आता है; परंतु वैश्यलोग दान देनेमें कसाकसी करते हैं अर्थात् इतनेसे ही काम चल जाय तो अधिक क्यों दिया

जाय——ऐसा द्रव्यका लोभ उनमें रहता है। द्रव्यका लोभ रहनेसे धर्मका पालन करनेमे बाधा आ जाती है, कमी आ जाती है, जिससे सात्त्विक दान (गीता १७। २०) देनेमें कठिनता पड़ती है। परंतु क्षत्रियोमे दानवीरता होती है। इस वास्ते यहाँ 'दान' शब्द क्षत्रियोंके स्वभावमें आया है।

'ईश्वरभावश्च'—क्षत्रियोंमे स्वाभाविक ही शासन करनेकी प्रवृत्ति होती है। लोगोके नीति, धर्म और मर्यादा-विरुद्ध आचरण देखनेपर उनके मनमें स्वाभाविक ही ऐसी बात आती है कि ये लोग ऐसा क्यो कर रहे हैं; और उनको नीति, धर्मके अनुसार चलानेकी इच्छा होती है। अपने शासन द्वारा सबको अपनी-अपनी मर्यादाके अनुसार चलानेका भाव रहता है। इस ईश्वरभावमे अभिमान नहीं होता; क्योकि क्षत्रियजातिमें नम्रता, सरलता आदि गुण देखनेमें आते हैं।

'क्षात्रं कर्म स्वभावजम्'—जो मात्र प्रजाकी दुःखोंसे रक्षा करे, उसका नाम 'क्षत्रिय' है—'क्षतात् त्रायत इति क्षत्रियः'। उस क्षत्रियके जो स्वाभाविक कर्म हैं, वे क्षात्रकर्म कहलाते हैं।

सम्बन्ध—

अब वैश्य और शूद्रके स्वाभाविक कर्म बताते है।

श्लोक—

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥४४॥

व्याख्या—

'कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्'—खेती करना, गायोंकी रक्षा करना, उनकी वंश वृद्धि करना और शुद्ध व्यापार करना—ये गुण वैश्यमे स्वाभाविक होते है ।

शुद्ध व्यापार करनेका तात्पर्य है—जिस देशमें, जिस समय, जिस वस्तुकी आवश्यकता हो, लोगोंके हितकी भावनासे उस वस्तुको (जहॉ वह मिलती हो, वहॉसे ला करके) उसी देशमें पहुँचाना; प्रजाकी आवश्यक वस्तुओंके अभावकी पूर्ति कैसे हो, वस्तुओंके अभावमे कोई कष्ट न पावे—इस भावसे सच्चाईके साथ वस्तुओंका यातायात करते हुए वितीर्ण करना ।

भगवान् श्रीकृष्ण (नन्दबाबाको लेकर) अपनेको वैश्य ही मानते है* । इस वास्ते उन्होने स्वयं गायो और बछडोंको चराया और यहाँ मनु महाराजने वैश्य-वृत्तिमें **'पशूनां रक्षणम्'** (मनुस्मृति १ । ९०) (पशुओंकी रक्षा करना) कहा है, पर यहॉ भगवान् (उपर्युक्त पदोंसे) अपने जाति-भाइयोसे मानो यह कहते हैं कि तुमलोग सब पशुओंका पालन, उनकी रक्षा न कर सको तो कम-से-कम गायोंका पालन और उनकी रक्षा जरूर करना । गायोंकी वृद्धि न कर सको तो कोई बात नहीं; परंतु उनकी रक्षा जरूर करना, जिससे हमारा गोधन घट न जाय । इस वास्ते वैश्य-समाजको चाहिये कि वह

---

* कृषिवाणिज्यगोरक्षा कुसीदं तुर्यमुच्यते ।
वार्ता चतुर्विधा तत्र वय गोवृत्तयोऽनिशम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । २४ । २१)

गायोंकी रक्षामें अपना तन-मन-धन लगा दे, उनकी रक्षामें अपनी शक्ति बचाकर न रखे ।

'परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्'—चारों वर्णोंकी सेवा करना, सेवाकी सामग्री तैयार करना और चारों वर्णोंके कार्योंमें कोई बाधा, अड़चन न हो, सबको सुख-आराम हो—इस भावसे अपनी बुद्धि, योग्यता, बलके द्वारा सबकी सेवा करना शूद्रका स्वाभाविक कर्म है ।

यहाँ एक शङ्का पैदा होती है कि भगवान्‌ने चारों वर्णोंकी उत्पत्तिमें सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंको कारण बताया । उसमें तमोगुणकी प्रधानतासे शूद्रकी उत्पत्ति बतायी और गीतामें जहाँ तमोगुणका वर्णन हुआ है, वहाँपर अज्ञान, प्रमाद, आलस्य, निद्रा, अप्रकाश, अप्रवृत्ति और मोह—ये सात अवगुण बताये हैं* । तो ऐसे तमोगुणकी प्रधानतावाले शूद्रसे 'सेवा' कैसे होगी ? क्योंकि वह आलस्य, प्रमाद आदिमें पड़ा रहेगा तो सेवा कैसे कर सकेगा ? सेवा बहुत ऊँचे दर्जेकी चीज है । ऐसे ऊँचे कर्मका भगवान्‌ने जटायुके लिये कैसे विधान किया ?

---

* तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥
(गीता १४ । ८)

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
(गीता १४ । १३)

प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥
(गीता १४ । १७)

इसका समाधान इस प्रकार है—यदि इस शङ्कापर गुणोंकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो गीतामें आया है कि सत्त्वगुणवाले ऊँचे लोकोंमें जाते हैं, रजोगुणवाले मरकर पीछे मध्यलोक अर्थात् मृत्युलोकमे आते हैं और तमोगुणवाले अधोगतिमें जाते हैं* । इसमें भी वास्तवमें देखा जाय तो रजोगुणके बढ़नेपर जो मरता है, वह कर्मप्रधान मनुष्ययोनिमें जन्म लेता है—**रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते**' (गीता १४ । १५) इन सबका तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्यमात्र रजःप्रधान (रजोगुणकी प्रधानतावाला) है । रजःप्रधानवालोंमें जो सात्त्विक, राजस और तामस—तीन गुण होते हैं, उन तीनो गुणोंसे ही चारो वर्णोंकी रचना की गयी है । इस वास्ते कर्म करना सबमें मुख्य होता है और इसीको लेकर मनुष्योंको कर्मयोनि कहा गया है तथा गीतामे भी चारो वर्णोंके कर्मोंके लिये 'स्वभावज कर्म', 'स्वभावनियत कर्म' आदि पद आये हैं । इस वास्ते शूद्रका परिचर्या अर्थात् सेवा करना 'स्वभावज कर्म' है, जिसमें उसे परिश्रम नहीं होता ।

मनुष्यमात्र कर्मयोनि होनेपर भी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यमें विवेक-विचारकी विशेष तारतम्यता रहती है और शुद्धि भी रहती है, परंतु शूद्रमें मोहकी प्रधानता रहनेसे उसमें विवेक बहुत दब जाता है । इस दृष्टिसे शूद्रके सेवा-कर्ममें विवेककी प्रधानता न होकर आज्ञाकी प्रधानता रहती है—'अग्या सम न सुसाहिब सेवा' (मानस

* ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥
(गीता १४ । १८)

२ । ३० । २) इस वास्ते चारों वर्णोंकी आज्ञाके अनुसार सेवा करना, सुख-सुविधा जुटा देना शूद्रके लिये स्वाभाविक होता है ।

शूद्रोंके कर्म परिचर्यात्मक अर्थात् सेवास्वरूप होते हैं । उनके शारीरिक, सामाजिक, नागरिक, ग्रामणिक आदि सब-के-सब कर्म ठीक तरहसे सम्पन्न होते हैं, जिनसे चारों ही वर्णोंके जीवन-निर्वाहके लिये सुख-सुविधा, अनुकूलता और आवश्यकताकी पूर्ति होती है ।

स्वाभाविक कर्मोंका तात्पर्य—

वास्तवमें चेतन-तत्त्व स्वतः-स्वाभाविक निर्विकार, सम और शान्तस्वरूपसे स्थित है । उसी चेतन-तत्त्व परमात्माकी शक्ति प्रकृति स्वतः-स्वाभाविक क्रियाशील है । उसमें नित्य-निरन्तर क्रिया होती रहती है—**'प्रकर्षेण करणं प्रकृतिः'** । यद्यपि प्रकृतिको सक्रिय और अक्रिय—दो अवस्थावाली (सर्ग-अवस्थामें सक्रिय और प्रलय-अवस्थामें अक्रिय) कहते हैं, तथापि सूक्ष्म विचार करें तो प्रलय-अवस्थामें भी क्रियाशीलता मिटती नहीं है । कारण कि जब प्रलयका आरम्भ होता है, तब प्रकृति लय-अवस्थाकी तरफ चलती है और जब प्रलयका मध्यभाग आता है, तब प्रकृति सर्गकी तरफ चलती है । इस प्रकार प्रकृतिमें सूक्ष्म क्रिया चलती ही रहती है । प्रकृतिकी सूक्ष्म क्रियाको ही अक्रिय-अवस्था कहते हैं; क्योंकि इस अवस्थामें सृष्टिकी रचना नहीं होती । परंतु महासर्गमें जब सृष्टिकी रचना होती है, तब सर्गके आदिसे सर्गके मध्यतक प्रकृति सर्गकी तरफ चलती है और सर्गका मध्यभाग आनेपर प्रकृति प्रलयकी तरफ चलती है । इस प्रकार प्रकृतिकी स्थूल क्रियाको सक्रिय-अवस्था कहते हैं ।

सूर्यका उदय होता है, फिर वह मध्यमे आ जाता है, और फिर वह अस्त हो जाता है, तो इससे मालूम होता है कि प्रातः सूर्योदय होनेपर प्रकाश मध्याह्नतक बढ़ता जाता है और मध्याह्नसे सूर्यास्ततक प्रकाश घटता जाता है। सूर्यास्त होनेके बाद आधी राततक अन्धकार बढ़ता जाता है और आधी रातसे सूर्योदयतक अन्धकार घटता जाता है। वास्तवमें सूक्ष्म प्रकाश और अन्धकारकी सन्धि मध्याह्न और मध्य रात ही है, पर वह दीखती है सूर्योदय और सूर्यास्तके समय। इस दृष्टिसे प्रकाश और अन्धकारकी क्रिया मिटती नहीं, प्रत्युत निरन्तर होती ही रहती है। ऐसे ही सर्ग और प्रलय, महासर्ग और महाप्रलयमे भी प्रकृतिमें क्रिया होती ही रहती है।

इस क्रियाशील प्रकृतिके कार्य शरीरके साथ जब यह प्राणी सम्बन्ध जोड़ लेता है, तब शरीरद्वारा होनेवाली स्वाभाविक क्रियाएँ (तादात्म्यके कारण) अपनेमे प्रतीत होने लगती हैं। प्रकृतिके साथ सम्बन्ध स्वयं चेतनने ही जोड़ा है, प्रकृतिने नहीं; क्योंकि सम्बन्ध जोड़नेकी शक्ति चेतनमें ही है, जड़ प्रकृतिमे नहीं। इस वास्ते सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी जिम्मेवारी भी इसपर ही है, क्योंकि पुरुषने ही सम्बन्ध माना है। वास्तवमें संसारके साथ माना हुआ सम्बन्ध भी प्रतिक्षण छूटता जा रहा है। जैसे, मनुष्य मानता था कि मै बच्चा हूँ, पर उस बचपन अवस्थासे उसको सम्बन्ध-विच्छेद करना नहीं पड़ा, प्रत्युत अपने-आप सम्बन्धविच्छेद हो गया। इसी प्रकार युवा और वृद्ध अवस्थासे भी सम्बन्ध-विच्छेद हो रहा है। ऐसे ही देश, काल, वस्तु, परिस्थिति, व्यक्ति आदि

सभी अभावमे जा रहे हैं, पर मै (स्वयं—अपना स्वरूप) ज्यो-का-त्यो ही रह रहा हूँ अर्थात् मै जब बच्चा था तो वह शरीर और परिस्थिति, वस्तु, व्यक्ति आदि सभी बदल गये, पर मै ज्यों-का-त्यों हूँ। तात्पर्य यह है कि यदि हम इन आने-जानेवाली परिस्थिति, अवस्था, वस्तु, देश, काल, घटना आदिको देखते रहें और इनके साथ न मिलें तथा इनको अपने साथ न मिलावें तो हम स्वतःसिद्ध मुक्तिका अनुभव करेंगे।

चेतन परमात्मा और जड़ प्रकृति—दोनोका स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं। चेतन स्वाभाविक ही निर्विकार अर्थात् परिवर्तनरहित है और प्रकृति स्वाभाविक ही विकारी अर्थात् परिवर्तनशील है। अतः इन दोनोका स्वभाव भिन्न-भिन्न होनेसे इनका सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं है; किंतु चेतनने प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध मानकर उस सम्बन्धकी सद्भावना कर ली है अर्थात् 'सम्बन्ध है' ऐसा मान लिया है। इसीको गुणोका सङ्ग कहते हैं, जो जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१) इस सङ्गके कारण, गुणोकी तारतम्यतासे जीवका ब्राह्मणादि वर्णमें जन्म होता है; जैसे—सत्त्वगुण प्रधान, रजोगुण गौण और तमोगुण अत्यन्त न्यून होनेपर 'ब्राह्मण' होता है; रजोगुण प्रधान, सत्त्वगुण गौण और तमोगुण अत्यन्त कम होनेपर 'क्षत्रिय' होता है; रजोगुण प्रधान, तमोगुण गौण और सत्त्वगुण बहुत थोडा होनेपर 'वैश्य' होता है; और तमोगुण प्रधान, रजोगुण गौण और सत्त्वगुण बहुत थोड़ा होनेपर 'शूद्र' होता है। इस प्रकार

गोकी तारतम्यतासे जिस वर्णमें जन्म होता है, उन गुणोंके अनुसार । उस वर्णके कर्म स्वाभाविक, सहज होते हैं; जैसे—ब्राह्मणके ल्ये शम, दम आदि, क्षत्रियके लिये शौर्य, तेज आदि, वैश्यके ल्ये खेती, गौरक्षा आदि और शूद्रके लिये सेवा—ये कर्म स्वतः-वाभाविक होते हैं। तात्पर्य है कि चारो वर्णोंको इन कर्मोंको करनेमे परिश्रम नहीं होता; क्योंकि गुणोंके अनुसार स्वभाव और स्वभावके अनुसार उनके लिये कर्मोंका विधान है। इस वास्ते इन कर्मोंमें उनकी स्वाभाविक ही रुचि होती है। मनुष्य इन स्वाभाविक कर्मोंको जब अपने लिये अर्थात् अपने स्वार्थ, भोग और आरामके लिये करता है तो वह उन कर्मोंसे बँध जाता है। जब उन्हीं कर्मोंको स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके निष्कामभावपूर्वक संसारके हितके लिये करता है तो 'कर्मयोग' हो जाता है, और उन्हीं कर्मोंसे सब संसारमें व्यापक परमात्माका पूजन करता है तो 'भक्तिमिश्रित कर्मयोग' हो जाता है। जब भगवत्परायण होकर केवल भगवत्सम्बन्धी कर्म (जप, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदि) करता है तो वह भक्तियोग हो जाता है। फिर प्रकृतिके गुणोंका सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेपर केवल एक परमात्मतत्त्व ही रह जाता है, जिसमें सिद्ध महापुरुषके स्वरूपकी स्वतः-सिद्ध स्वतन्त्रता, अखण्डता, निर्विकारताकी अनुभूति रह जाती है। फिर भी उसके शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा अपने-अपने वर्ण, आश्रमकी मर्यादाके अनुसार निर्लिप्ततापूर्वक शास्त्रविहित कर्म स्वाभाविक होते हैं, जो कि संसारमात्रके लिये आदर्श होते हैं। प्रभुकी तरफ आकृष्ट होनेसे प्रतिक्षण प्रेम बढ़ता रहता है, जो अनन्त आनन्दस्वरूप है।

जाति जन्मसे मानी जाय या कर्मसे ?

ऊँच-नीच योनियोंमें जितने भी शरीर मिलते हैं, वे सब गुण और कर्मके अनुसार ही मिलते हैं* । गुण और कर्मके अनुसार ही मनुष्यका जन्म होता है; इस वास्ते मनुष्यकी जाति जन्मसे ही मानी जाती है । अतः स्थूलशरीरकी दृष्टिसे विवाह, भोजन आदि जन्मकी प्रधानतासे ही करना चाहिये अर्थात् अपनी जाति या वर्णके अनुसार ही भोजन, विवाह आदि कर्म होने चाहिये ।

दूसरी बात, जिस प्राणीका सांसारिक भोग, धन, मान, आराम, सुख आदिका उद्देश्य रहता है, उसके लिये वर्णके अनुसार कर्तव्य-कर्म करना और वर्णकी मर्यादामें चलना अनिवार्य हो जाता है । यदि वह वर्णकी मर्यादामें नहीं चलता तो उसका पतन हो जाता है† । परंतु जिसका उद्देश्य केवल परमात्मा ही है, संसारके भोग

---

* कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥
(गीता १३ । २१)

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥
(गीता १४ । १६)

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥
(गीता १४ । १८)

† आचारहीनं न पुनन्ति वेदा यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः ।
छन्दांस्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः ॥
(वसिष्ठस्मृति)

आदि प्राप्त करना नहीं है, उसके लिये सत्सङ्ग, स्वाध्याय, जप, ध्यान, कथा, कीर्तन, परस्पर विचार-विनिमय आदि भगवत्सम्बन्धी काम मुख्य होंगे। तात्पर्य है कि परमात्माकी प्राप्तिमें प्राणीके पारमार्थिक भाव, आचरण आदिकी मुख्यता है जाति या वर्णकी नहीं।

तीसरी बात, जिसका उद्देश्य परमात्माकी प्राप्तिका है, वह भगवत्सम्बन्धी कार्योंको मुख्यतासे करते हुए भी वर्ण-आश्रमके अनुसार अपने कर्तव्य-कर्मोंको पूजन-बुद्धिसे केवल भगवत्प्रीत्यर्थ ही करता है। इस वास्ते आगे भगवान्‌ने कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८।४६)

इस श्लोकमे बड़ी श्रेष्ठ बात बतायी है कि जिससे सम्पूर्ण संसार पैदा हुआ है और जिससे सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, उस परमात्माका ही लक्ष्य रखकर, उसके प्रीत्यर्थ ही पूजन-रूपसे अपने-अपने वर्णके अनुसार कर्म किये जायँ। इसमें मनुष्यमात्रका अधिकार है। देवता, असुर, पशु, पक्षी आदिका स्वतः अधिकार नहीं है; परंतु उनके लिये परमात्माकी तरफसे निषेध नहीं है। कारण कि सभी परमात्माका

'शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, व्याकरण और ज्योतिष—इन छहों अङ्गोंसहित अध्ययन किये हुए वेद आचारहीन पुरुषको पवित्र नहीं करते। पर पैदा होनेपर पक्षी जैसे अपने घोसलेको छोड़ देता है, ऐसे ही मृत्यु-समयमें आचारहीन पुरुषको वेद छोड़ देते हैं।'

अंश होनेसे परमात्माकी प्राप्तिके सभी अधिकारी हैं। प्राणिमात्रका भगवान्‌पर पूरा अधिकार है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि आपसके व्यवहारमें अर्थात् रोटी-बेटी और शरीर आदिके साथ बर्ताव करनेमें तो जन्मकी मुख्यता है, और परमात्माकी प्राप्तिमें भाव, विवेक और कर्मकी प्रधानता है। इसी आशयको लेकर भागवतकारने कहा है कि जिस पुरुषके वर्णको बतानेवाला जो लक्षण कहा गया है, वह यदि दूसरे वर्णवालेमें भी मिले तो उसे भी उसी वर्णका समझ लेना चाहिये*। अभिप्राय यह है कि ब्राह्मणके शम-दम आदि जितने लक्षण हैं, वे लक्षण या गुण स्वाभाविक ही किसीमें हों तो जन्ममात्रसे नीचा होनेपर भी उसको नीचा नहीं मानना चाहिये। ऐसे ही महाभारतमें युधिष्ठिर और नहुषके संवादमें आया है कि जो शूद्र आचरणोंमें श्रेष्ठ है, उस शूद्रको शूद्र नहीं मानना चाहिये और ब्राह्मण ब्राह्मणोचित कर्मोंसे रहित है, उस ब्राह्मणको ब्राह्मण नहीं मानना चाहिये† अर्थात् वहाँ कर्मोंकी ही प्रधानता ली गयी है, जन्मकी नहीं।

---

* यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्।
यदन्यत्रापि दृश्येत तत् तेनैव विनिर्दिशेत्॥
(श्रीमद्भा० ७। ११। ३५)

† शूद्रे तु यद् भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः॥
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः।
यत्रैतन्न भवेत् सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत्॥
(महाभारत, वनपर्व १८०। २५-२६)

शास्त्रोंमें जो ऐसे वचन आते हैं, उन सबका तात्पर्य है कि कोई भी नीचे वर्णवाला साधारण-से-साधारण मनुष्य अपनी पारमार्थिक उन्नति कर सकता है, इसमें सन्देहकी कोई बात नहीं है। इतना ही नहीं, वह उसी वर्णमें रहता हुआ शम, दम आदि जो सामान्य धर्म हैं, उनका साङ्गोपाङ्ग पालन करता हुआ अपनी श्रेष्ठताको प्रकट कर सकता है। जन्म तो पूर्वकर्मोंके अनुसार हुआ है*, इसमें वह बेचारा क्या कर सकता है, परंतु वहीं (नीचे वर्णमें) रहकर भी वह अपनी नयी उन्नति कर सकता है। उस नयी उन्नतिमें प्रोत्साहित करनेके लिये ही शास्त्र-वचनोंका आशय मालूम देता है कि नीचे वर्णवाला भी नयी उन्नति करनेमें हिम्मत न हारे। जो ऊँचे वर्णवाला होकर भी वर्णोचित काम नहीं करता, उसको अपने वर्णोचित काम करनेके लिये शास्त्रोंमें प्रोत्साहित किया है; जैसे—

'ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।'

(श्रीमद्भा० ११ । १७ । ४२)

जिन ब्राह्मणोंका खान-पान, आचरण, सर्वथा भ्रष्ट है, उन ब्राह्मणोंका वचनमात्रसे भी आदर नहीं करना चाहिये—ऐसा स्मृतिमें आया है। परंतु जिनके आचरण श्रेष्ठ हैं, जो भगवान्के भक्त हैं, उन ब्राह्मणोंकी भागवत आदि पुराणोंमें और महाभारत, रामायण आदि इतिहास-ग्रन्थोंमें बहुत महिमा गायी गयी है।

---

* सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।

(योगदर्शन २ । १३)

भगवान्‌का भक्त चाहे कितनी ही नीची जातिका क्यों न हो, वह भक्तिहीन विद्वान् ब्राह्मणसे भी श्रेष्ठ है * ।

---

* अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम् ।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥
(श्रीमद्भा० ३ । ३३ । ७)

'अहो ! वह चाण्डाल भी सर्वश्रेष्ठ है, जिसकी जीभके अग्रभागपर आपका नाम विराजता है । जो श्रेष्ठ पुरुष आपका नाम उच्चारण करते हैं, उन्होंने तप, हवन, तीर्थस्नान, सदाचारका पालन और वेदाध्ययन —सब कुछ कर लिया ।

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम् ।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थप्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः ॥
(श्रीमद्भा० ७ । ९ । १०)

'मेरी समझसे बारह गुणोंसे युक्त ब्राह्मण भी यदि भगवान् कमल-नाभके चरण-कमलोंसे विमुख हो तो उससे वह चाण्डाल श्रेष्ठ है जिसने अपने मन, वचन, कर्म, धन और प्राणोंको भगवान्‌के अर्पण कर दिया है, क्योंकि वह चाण्डाल तो अपने कुलतकको पवित्र कर देता है; परंतु बड़प्पनका अभिमान रखनेवाला भगवद्विमुख ब्राह्मण अपनेको भी पवित्र नहीं कर सकता ।'

चाण्डालोऽपि मुनेः श्रेष्ठो विष्णुभक्तिपरायणः ।
विष्णुभक्तिविहीनस्तु द्विजोऽपि श्वपचोऽधमः ॥
(पद्मपुराण)

'हरिभक्तिमें लीन रहनेवाला चाण्डाल भी मुनिसे श्रेष्ठ है, और हरिभक्तिसे रहित ब्राह्मण चाण्डालसे भी अधम है ।'

अवैष्णवाद् द्विजाद् विप्र चाण्डालो वैष्णवो वरः ।
सगणः श्वपचो मुक्तो ब्राह्मणो नरकं व्रजेत् ॥
(ब्रह्मवैवर्त० ब्रह्म० ११ । ३९)

ब्राह्मणको विराट्‌रूप भगवान्‌का मुख, क्षत्रियको हाथ, वैश्यको ऊरु (मध्यभाग) और शूद्रको पैर बताया गया है। ब्राह्मणको मुख बतानेका तात्पर्य है कि उनके पास ज्ञानका संग्रह है, इस वास्ते चारों वर्णोंको पढ़ाना, अच्छी शिक्षा देना और उपदेश सुनाना—यह मुखका ही काम है। इस दृष्टिसे ब्राह्मण ऊँचे हो गये।

क्षत्रियको हाथ बतानेका तात्पर्य है कि वे चारों वर्णोंकी शत्रुओंसे रक्षा करते हैं। रक्षा करना मुख्यरूपसे हाथोंका ही काम है; जैसे शरीरमें फोड़ा-फुंसी आदि हो जाय तो हाथोंसे ही रक्षा की जाती है; शरीरपर चोट आती हो तो रक्षाके लिये हाथ ही आड़ देते हैं, और अपनी रक्षाके लिये दूसरोंपर हाथोंसे ही चोट पहुँचायी जाती है; आदमी कहीं गिरता है तो पहले हाथ ही टिकते हैं। इस वास्ते क्षत्रिय हाथ हो गये। अराजकता फैल जानेपर तो अपने जन, धन आदिकी रक्षा करना चारों वर्णोंका धर्म हो जाता है।

वैश्यको मध्यभाग कहनेका तात्पर्य है कि जैसे पेटमें अन्न, जल, औषध आदि डाले जाते हैं तो उनसे शरीरके सम्पूर्ण

'अवैष्णव ब्राह्मणसे वैष्णव चाण्डाल श्रेष्ठ है; क्योंकि वह वैष्णव चाण्डाल अपने बन्धुगणोंसहित भव-बन्धनसे मुक्त हो जाता है और वह अवैष्णव ब्राह्मण नरकमें पड़ता है।'

न शूद्रा भगवद्भक्ता विप्रा भागवताः स्मृताः।
सर्ववर्णेषु ते शूद्रा ये ह्यभक्ता जनार्दने ॥

(महाभारत)

'यदि भगवद्भक्त शूद्र है तो वह शूद्र नहीं, परमश्रेष्ठ ब्राह्मण है। वास्तवमें सभी वर्णोंमें शूद्र वह है, जो भगवान्‌की भक्तिसे रहित है।'

अवयवोंको खुराक मिलती है और सभी अवयव पुष्ट होते हैं, ऐसे ही वस्तुओंका संग्रह करना, उनका यातायात करना, जहाँ जिस चीजकी कमी हो वहाँ पहुँचाना, प्रजाको किसी चीजका अभाव न होने देना वैश्यका काम है। पेटमें अन्न-जलका संग्रह सब शरीरके लिये होता है और साथमें पेटको भी पुष्टि मिल जाती है; क्योंकि मनुष्य केवल पेटके लिये पेट नहीं भरता। ऐसे ही वैश्य केवल संसारके लिये ही संग्रह करे, केवल अपने लिये नहीं। वह ब्राह्मण आदिको दान देता है, क्षत्रियोंको टैक्स देता है, अपना पालन करता है और शूद्रोंको मेहनताना देता है। इस प्रकार वह सबका पालन करता है। यदि वह संग्रह नहीं करेगा, कृषि, गोरक्ष्य और वाणिज्य नहीं करेगा तो क्या देगा?

शूद्रको चरण बतानेका तात्पर्य है कि जैसे चरण सारे शरीरको उठाये फिरते हैं और पूरे शरीरकी सेवा चरणोंसे ही होती है, ऐसे ही सेवाके आधारपर ही चारों वर्ण चलते हैं। शूद्र अपने सेवा-कर्मके द्वारा सबके आवश्यक कार्योंकी पूर्ति करता है।

उपर्युक्त विवेचनमें ध्यान देनेकी एक बात है कि गीतामें चारों वर्णोंके उन स्वाभाविक कर्मोंका वर्णन है, जो कर्म स्वतः होते हैं, अर्थात् उनको करनेमें अधिक परिश्रम नहीं पड़ता। चारों वर्णोंके लिये और भी दूसरे कर्मोंका विधान है, उनको स्मृति-ग्रन्थोंमें देखना चाहिये और उनके अनुसार अपने आचरण बनाने चाहिये। यही बात गीताजीने कही है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
(१६। २४)

'इसलिये तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा जानकर तू शास्त्रविधिसे नियत कर्म ही करने योग्य है।'

वर्तमानमें चारों वर्णोंमें गड़बड़ी आ जानेपर भी यदि चारो वर्णोंके समुदायोंको इकट्ठा करके अलग-अलग समुदायमें देखा जाय तो ब्राह्मण-समुदायमें शम, दम आदि गुण जितने अधिक मिलेंगे, उतने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-समुदायमे नहीं मिलेंगे। क्षत्रिय-समुदायमे शौर्य, तेज आदि गुण जितने अधिक मिलेंगे, उतने ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र-समुदायमे नही मिलेंगे। वैश्य-समुदायमें व्यापार करना, धनका उपार्जन करना, धनको पचाना (धनका भभका ऊपरसे न दीखने देना) आदि गुण जितने अधिक मिलेंगे, उतने ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र-समुदायमे नहीं मिलेंगे। शूद्र-समुदायमें सेवा करनेकी प्रवृत्ति जितनी अधिक मिलेगी, उतनी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य-समुदायमे नहीं मिलेगी। तात्पर्य यह है कि आज सभी वर्ण मर्यादारहित और उच्छृङ्खल होनेपर भी उनके स्वभावज कर्म उनके समुदायोंमें विशेषतासे देखनेमे आते है, अर्थात् यह चीज व्यक्तिगत न दीखकर समुदायगत देखनेमे आती है।

जो लोग शास्त्रके गहरे रहस्यको नहीं जानते, वे कह देते हैं कि ब्राह्मणोंके हाथमें कलम रही, इस वास्ते उन्होंने 'ब्राह्मण सबसे श्रेष्ठ है' ऐसा लिखकर ब्राह्मणोंको सर्वोच्च कह दिया। जिनके पास राज्य था, उन्होंने ब्राह्मणोंसे कहा—क्यों महाराज! हमलोग कुछ नहीं है क्या? तो ब्राह्मणोंने कह दिया—नहीं-नहीं, ऐसी बात नहीं।

आपलोग भी हैं, आपलोग दो नम्बरमे हैं। वैश्योंने ब्राह्मणोंसे कहा—क्यो महाराज ! हमारे बिना कैसे जीविका चलेगी आपकी ? ब्राह्मणोंने कहा—हाँ, हाँ, आपलोग तीसरे नम्बरमें हो। जिनके पास न राज्य था, न धन था, वे ऊँचे उठने लगे तो ब्राह्मणोंने कह दिया—आपके भाग्यमे राज्य और धन लिखा नहीं है। आपलोग तो इन ब्राह्मणो, क्षत्रियो और वैश्योंकी सेवा करो। इस वास्ते चौथे नम्बरमें आपलोग हैं। इस तरह सबको भुलावेमें डालकर विद्या, राज्य और धनके प्रभावसे अपनी एकता करके चौथे वर्णको पददलित कर दिया—यह लिखनेवालोंका अपना स्वार्थ और अभिमान ही है।'

इसका समाधान यह है कि ब्राह्मणोंने कहीं भी अपने ब्राह्मण-धर्मके लिये ऐसा नहीं लिखा है कि ब्राह्मण सर्वोपरि है, इस वास्ते उनको बड़े आरामसे रहना चाहिये, धन-सम्पत्तिसे युक्त होकर मौज करनी चाहिये इत्यादि। प्रत्युत ब्राह्मणोंके लिये ऐसा लिखा है कि उनको त्याग करना चाहिये, कष्ट सहना चाहिये, तपश्चर्या करनी चाहिये। गृहस्थमें रहते हुए भी धन-संग्रह नहीं करना चाहिये, अन्नका संग्रह भी थोड़ा ही होना चाहिये—कुम्भीधान्य अर्थात् एक घड़ा भरा हुआ अनाज हो, लौकिक भोगोंमें आसक्ति नहीं होनी चाहिये, और जीवन-निर्वाहके लिये किसीसे दान भी लिया जाय तो उसका काम करके अर्थात् यज्ञ, होम, जप, पाठ आदि करके ही लेना चाहिये। गोदान आदि लिया जाय तो उसका प्रायश्चित्त करना चहिये।

यदि ब्राह्मणको श्राद्धका निमन्त्रण देना चाहे तो वह श्राद्धके पहले दिन दें, जिससे ब्राह्मण उसके पितरोंका अपनेमें आवाहन

करके रात्रिमें ब्रह्मचर्य और संयमपूर्वक रह सके। दूसरे दिन वह यजमानके पितरोंका पिण्डदान, तर्पण ठीक विधि-विधानसे करवाये। उसके बाद वहाँ भोजन करे। निमन्त्रण भी एक ही यजमानका स्वीकार करे और भोजन भी एक ही घरका करे। श्राद्धका अन्न खानेके बाद गायत्री-जप आदि करके शुद्ध होना चाहिये। दान लेना, श्राद्धका भोजन करना ब्राह्मणके लिये ऊँचा दर्जा नहीं है। ब्राह्मणका ऊँचा दर्जा त्यागमें है। वे केवल यजमानके पितरोंका कल्याण करनेकी भावनासे ही श्राद्धका भोजन और दक्षिणा स्वीकार करते हैं, स्वार्थकी भावनासे नहीं, तो यह भी उनका त्याग ही है।

ब्राह्मणोंने अपनी जीविकाके लिये ऋत, अमृत, मृत, सत्यानृत और प्रमृत—ये पाँच वृत्तियाँ बतायी हैं*—

(१) ऋत-वृत्ति सर्वोच्च वृत्ति मानी गयी है। इसको शिलोञ्छ या कपोत-वृत्ति भी कहते हैं। खेती करनेवाले खेतमेंसे धान काटकर ले जायँ, उसके बाद वहाँ जो अन्न (ऊमी, सेङ्गा आदि) पृथ्वीपर गिरा पड़ा हो, वह भूदेवों (ब्राह्मणों) का होता है, अतः उनको चुनकर अपना निर्वाह करना 'शिलोञ्छवृत्ति' है अथवा धान्यमण्डीमें

---

* ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन॥
(मनुस्मृति ४।४)

'ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत और सत्यानृत—इनमेंसे किसी भी वृत्तिसे जीवन-निर्वाह करे, परंतु श्वानवृत्ति अर्थात् सेवावृत्तिसे कभी भी जीवन-निर्वाह न करे।'

जहाँ धान्य तौला जाता है, वहाँ पृथ्वीपर गिरे हुए दाने भूदेवोंके होते हैं; अतः उनको चुनकर जीवन-निर्वाह करना 'कपोतवृत्ति' है।

(२) बिना याचना किये और बिना इशारा किये कोई यजमान आकर देता है तो निर्वाहमात्रकी वस्तु लेना अमृत-वृत्ति है। इसको अयाचितवृत्ति भी कहते हैं।

(३) सुबह भिक्षाके लिये गाँवमें जाना और लोगोंको वार, तिथि, मुहूर्त आदि बताकर (इस रूपमें काम करके) भिक्षामें जो कुछ मिल जाय, उसीसे अपना जीवन-निर्वाह करना मृत-वृत्ति है।

(४) व्यापार करके जीवन-निर्वाह करना सत्यानृत-वृत्ति है।

(५) उपर्युक्त चारों वृत्तियोंसे जीवन-निर्वाह न हो तो खेती करे, पर वह भी कठोर विधि-विधानसे करे; जैसे—एक बैलसे हल न चलाये, धूपके समय हल न चलाये आदि। यह प्रमृत-वृत्ति है।

उपर्युक्त वृत्तियोंमेंसे किसी भी वृत्तिसे निर्वाह किया जाय, उसमें पञ्चमहायज्ञ, अतिथि-सेवा करके यज्ञशेष भोजन करना चाहिये।*

---

* ब्राह्मण और क्षत्रियके लिये यह निषेध आया है कि वह श्ववृत्ति (कुत्तेकी वृत्ति) अर्थात् सेवावृत्ति कभी न करे—'न श्ववृत्त्या कदाचन' (मनु० ४। ४)। 'सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत्' (मनु० ४। ६)। वास्तवमें सेवावृत्तिका ही निषेध किया गया है, सेवाका नहीं। माता-पिताकी तरह वे नीचे-से-नीचे वर्णकी नीची-से-नीची सेवा कर सकते हैं। नीचे वर्णोंकी सेवा करनेमें उनकी महत्ता ही है। इस वास्ते निन्दा वृत्तिकी ही की गयी है अर्थात् मान-बड़ाई, उपार्जन आदि स्वार्थके लिये सेवा करनेकी निन्दा है। स्वार्थका त्याग करके सेवा करनेकी निन्दा नहीं है।

श्रीमद्भगवद्गीतापर विचार करते हैं तो ब्राह्मणके लिये पालनीय जो नौ स्वाभाविक धर्म बताये गये हैं, उनमें जीविका पैदा करनेवाला एक भी धर्म नहीं है। क्षत्रियके लिये सात स्वाभाविक धर्म बताये हैं, उनमें युद्ध करना और शासन करना—ये दो धर्म कुछ जीविका पैदा करनेवाले हैं। वैश्यके लिये तीन धर्म बताये हैं—खेती, गोरक्षा और व्यापार; ये तीनो ही जीविका पैदा करनेवाले हैं। शूद्रके लिये एक सेवा ही धर्म बताया है जिसमें पैदा-ही-पैदा होती है; दूसरी बात, शूद्रके लिये खान-पान, जीवन-निर्वाह आदिमें बहुत छूट दी गयी है।

भगवान्‌ने **'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः'** (गीता १८ । ४५) पदोसे कितनी विचित्र बात बतायी है कि शम, दम आदि नौ धर्मोंके पालनसे ब्राह्मणका जो कल्याण होता है, वही कल्याण शौर्य, तेज आदि सात धर्मोंके पालनसे क्षत्रियका होता है, वही कल्याण खेती, गोरक्षा और व्यापारके पालनसे वैश्यका होता है और वही कल्याण केवल सेवा करनेसे शूद्रका हो जाता है।

आगे भगवान्‌ने एक विलक्षण बात बतायी है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने-अपने वर्णोचित कर्मोंके द्वारा उस परमात्माका पूजन करके परम सिद्धिको प्राप्त हो जाते हैं— **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'** (१८ । ४६) वास्तवमें कल्याण वर्णोचित कर्मोंसे नहीं होता, प्रत्युत निष्कामभावपूर्वक पूजनसे ही होता है। शूद्रका तो स्वाभाविक कर्म ही परिचर्यात्मक अर्थात् पूजनरूप है; अतः उसका पूजनके द्वारा पूजन होता है

अर्थात् उसके द्वारा दुगुनी पूजा होती है । इस वास्ते उसका कल्याण बहुत जल्दी होगा ! उसका कल्याण जितनी जल्दी होगा, उतनी जल्दी ब्राह्मण आदिका नहीं होगा ।

शास्त्रकारोंने उद्धार करनेमें छोटेको ज्यादा प्यार दिया है; क्योंकि छोटा प्यारका पात्र होता है और बड़ा अधिकारका पात्र होता है । बड़ेपर चिन्ता-फिकर ज्यादा रहती है, पर छोटेपर कुछ भी भार नहीं रहता । शूद्रको भाररहित करके उसकी जीविका बतायी गयी है और प्यार भी दिया गया है ।

वास्तवमें देखा जाय तो जो वर्ण-आश्रममें जितना ऊँचा होता है, उसके लिये शास्त्रोंके अनुसार उतने ही कठिन नियम होते हैं, उन नियमोंका साङ्गोपाङ्ग पालन करनेसे कठिनता अधिक बढ़ती है । परंतु जो वर्ण-आश्रममें नीचा होता है, उसको परमात्माकी प्राप्ति सुगमतासे हो जाती है । इस विषयमें विष्णुपुराणमें एक कथा आती है— एक बार बहुत-से ऋषि-मुनि मिलकर श्रेष्ठताका निर्णय करनेके लिये भगवान् वेदव्यासजीके पास गये । व्यासजीने सबको आदरपूर्वक बिठाया और स्वयं गङ्गामें स्नान करने चले गये । गङ्गामें स्नान करते हुए उन्होंने कहा—'कलियुग, तुम धन्य हो ! कलियुग, तुम धन्य हो !! कलियुग, तुम धन्य हो !!! स्त्रियो, तुम धन्य हो ! स्त्रियो, तुम धन्य हो !! स्त्रियो, तुम धन्य हो !!! शूद्रो, तुम धन्य हो ! शूद्रो, तुम धन्य हो !! शूद्रो, तुम धन्य हो !!!' जब व्यासजी स्नान करके ऋषियोंके पास आये तो ऋषियोंने कहा—'महाराज ! आपने कलियुग, स्त्रियों और शूद्रोंको धन्यवाद कैसे दिया ?' तो उन्होंने कहा कि

कलियुगमें अपने धर्मका पालन करनेसे स्त्रियों और शूद्रोंका कल्याण जल्दी और सुगमतापूर्वक हो जाता है।

यहाँ एक और बात सोचनेकी है कि जो अपने स्वार्थका काम करता है, वह समाजमें और संसारमें आदरका पात्र नहीं होता। समाजमें ही नहीं, घरमें भी जो व्यक्ति पेटू और चटू होता है, उसकी दूसरे निन्दा करते हैं। ब्राह्मणोंने स्वार्थ-दृष्टिसे अपने ही मुँहसे अपनी (ब्राह्मणोंकी) प्रशंसा, श्रेष्ठताकी बात नहीं कही है। उन्होंने ब्राह्मणोंके लिये त्याग ही बताया है। सात्त्विक पुरुष अपनी प्रशंसा नहीं करते, प्रत्युत दूसरोंकी प्रशंसा, दूसरोंका आदर करते हैं। तात्पर्य है कि ब्राह्मणोंने कभी अपने स्वार्थ और अभिमानकी बात नहीं कही है। यदि वे स्वार्थ और अभिमानकी बात कहते तो वे इतने आदरणीय नहीं होते, संसारमें और शास्त्रोंमें आदर न पाते। वे जो आदर पाते हैं, वह त्यागसे ही पाते हैं।

इस प्रकार मनुष्यको शास्त्रोंका गहरा अध्ययन करके उपर्युक्त सभी बातोंको समझना चाहिये, और ऋषि-मुनियोंपर, शास्त्रकारोंपर झूठा आक्षेप न करके महान् पापसे बचना चाहिये। मनुष्य-शरीर अपने उद्धारके लिये मिला है, उसको प्राप्त करके मनुष्यको अपना पतन नहीं करना चाहिये।

ऊँच-नीच वर्णोंमें प्राणियोंका जन्म मुख्यरूपसे गुणों और कर्मोंके अनुसार होता है—**'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः'** (गीता ४ । १३); परंतु ऋणानुबन्ध, शाप, वरदान, सङ्ग आदि किसी कारणविशेषसे भी ऊँच-नीच वर्णोंमें जन्म हो जाता है। उन

वर्णोंमें जन्म होनेपर भी वे अपने पूर्वस्वभावके अनुसार ही आचरण करते हैं। यही कारण है कि ऊँचे वर्णमें उत्पन्न होनेपर भी उनके नीचे आचरण देखे जाते हैं, जैसे धुन्धुकारी आदि; और नीचे वर्णमें उत्पन्न होनेपर भी वे महापुरुष होते हैं, जैसे विदुर, कबीर, रैदास आदि।

आज जिस समुदायमें जातिगत, कुलपरम्परागत, समाजगत और व्यक्तिगत जो भी शास्त्र-विपरीत दोष आये हैं, उनको अपने विवेक-विचार, सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदिके द्वारा दूर करके अपनेमें स्वच्छता निर्मलता, पवित्रता लानी चाहिये, जिससे अपने मनुष्य-जन्मका ध्येय सिद्ध कर सकें।

सम्बन्ध—

स्वभावज कर्मोंका वर्णन करनेका प्रयोजन क्या है—इसको अब अगले दो श्लोकोंमें बताते हैं।

श्लोक—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥

व्याख्या—

'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः'—गीताके अध्ययनसे ऐसा मालूम होता है कि मनुष्यकी जैसी स्वतःसिद्ध स्वाभाविक प्रकृति (स्वभाव) है, उसमें अगर यह प्राणी कोई नयी उलझन पैदा न करे, राग-द्वेष न करे तो वह प्रकृति उसका स्वाभाविक ही कल्याण कर दे। तात्पर्य है कि प्रकृतिके द्वारा

प्रवाहरूपसे अपने-आप होनेवाले जो स्वाभाविक कर्म हैं, उनका स्वार्थ-त्यागपूर्वक प्रीति और तत्परतासे आचरण करे, परंतु कर्मोंके प्रवाहके साथ न राग हो, न द्वेष हो और न फलेच्छा हो। राग-द्वेष और फलेच्छासे रहित होकर क्रिया करनेसे 'करनेका वेग' शान्त हो जायगा, और कर्ममें आसक्ति न होनेसे नया वेग पैदा नहीं होगा। इससे प्रकृतिके पदार्थों और क्रियाओंके साथ निर्लिप्तता (असंगता) आ जायगी। निर्लिप्तता होनेसे प्रकृतिकी क्रियाओंका प्रवाह स्वाभाविक ही चलता रहेगा और उनके साथ अपना कोई सम्बन्ध न रहनेसे साधककी अपने स्वरूपमें स्थिति हो जायगी, जो कि प्राणिमात्रकी स्वतः स्वाभाविक है। अपने स्वरूपमें स्थिति होनेपर इसमें जो स्वाभाविक भूख (रुचि) है, उसका परमात्माकी तरफ स्वाभाविक आकर्षण हो जायगा, पर यह सब होता है कर्ममें 'अभिरति' होनेसे, आसक्ति होनेसे नहीं।

कर्मोंमें एक तो 'अभिरति' होती है और एक 'आसक्ति' होती है। अपने स्वाभाविक कर्मोंको केवल दूसरोंके हितके लिये तत्परता और उत्साहपूर्वक करनेसे अर्थात् केवल देनेके लिये कर्म करनेसे मनमें जो प्रसन्नता होती है, उसका नाम 'अभिरति' है। फलकी इच्छासे कुछ करना अर्थात् अपने पानेके लिये कर्म करना 'आसक्ति' है। कर्मोंमें अभिरतिसे कल्याण होता है और कर्मोंकी आसक्तिसे बन्धन होता है।

इस प्रकरणके **'स्वे स्वे कर्मणि', 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य', 'स्वभावनियतं कर्म', 'सहजं कर्म'** आदि पदोंमें 'कर्म' शब्द

एक वचनमें आया है । इसका तात्पर्य है कि मनुष्य प्रीति और तत्परतापूर्वक एक कर्म करे, चाहे अनेक कर्म करे, उसका उद्देश्य केवल परमात्मप्राप्ति होनेसे उसकी कर्तव्यनिष्ठा एक ही होती है । परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यको लेकर मनुष्य जितने भी कर्म करता है, वे सब कर्म अन्तमें उसी उद्देश्यमें ही लीन हो जाते हैं अर्थात् उसी उद्देश्यकी पूर्ति करनेवाले हो जाते हैं । जैसे गङ्गाजी हिमालयसे निकलकर गङ्गासागरतक जाती है तो नद, नदियाँ, झरने, सरोवर, वर्षाका जल—ये सभी उसकी धारामें मिलकर गङ्गामें एक हो जाते हैं, ऐसे ही उद्देश्यवालेके सभी कर्म उसके उद्देश्यमें मिल जाते हैं । परंतु जिसकी कर्मोंमें आसक्ति है, वह एक कर्म करके अनेक फल चाहता है अथवा अनेक कर्म करके एक फल चाहता है; अतः उसका उद्देश्य एक परमात्माकी प्राप्तिका न होनेसे उसकी कर्तव्यनिष्ठा एक नहीं होती । इस वास्ते ऐसे मनुष्यके लिये भगवान्‌ने कहा है—

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥

(गीता २ । ४१)

'अस्थिर विचारवाले सकाम मनुष्योंकी बुद्धियाँ बहुत भेदोंवाली और अनन्त होती है ।'

'स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु'—अपने कर्मोंमें प्रीतिपूर्वक तत्परतासे लगा हुआ मनुष्य परमात्माको जैसे प्राप्त होता है, वह सुनो अर्थात् कर्ममात्र परमात्मप्राप्तिका साधन है, इस बातको सुनो और सुन करके ठीक तरहसे समझो ।

विशेष बात

मालिककी सुख-सुविधाकी सामग्री जुटा देना, मालिकके दैनिक कार्योंमें अनुकूलता उपस्थित कर देना आदि कार्य तो वेतन लेनेवाला नौकर भी कर सकता है और करता भी है। परंतु उसमें 'क्रिया' (कि इतना काम करना है) की और 'समय' (कि इतने घंटे काम करना है) की प्रधानता रहती है। इस वास्ते वह- काम-धंधा 'सेवा' नहीं बन पाता। यदि मालिकका वह काम-धंधा आदरपूर्वक सेव्यबुद्धिसे, महत्त्वबुद्धिसे किया जाय तो वह 'सेवा' हो जायगा।

सेव्यबुद्धि, महत्त्वबुद्धि चाहे जन्मके सम्बन्धसे हो, चाहे विद्याके सम्बन्धसे; चाहे वर्ण-आश्रमके सम्बन्धसे हो, चाहे योग्यता, अधिकार, सद्गुण-सदाचारके सम्बन्धसे। जहाँ महत्त्वबुद्धि हो जाती है, वहाँ सेव्यको सुख-आराम कैसे मिले ? सेव्यकी प्रसन्नता किस बातमें है ? सेव्यका क्या रुख है ? क्या रुचि है ?—ऐसे भाव होनेसे जो भी काम किया जाय, वह 'सेवा' हो जाता है।

सेव्यका वही काम पूजाबुद्धि, भगवद्बुद्धि, गुरुबुद्धि आदिसे किया जाय और पूज्यभावसे चन्दन लगाया जाय, पुष्प चढ़ाये जायँ, माला पहनायी जाय, आरती की जाय तो वह काम 'पूजन' हो जाता है। इससे सेव्यके चरण-स्पर्श अथवा दर्शनमात्रसे चित्तकी प्रसन्नता, हृदयकी गद्गदता, शरीरका रोमाञ्चित एवं पुलकित होना आदि होते हैं और सेव्यके प्रति विशेष भाव प्रकट

होते हैं। उससे सेव्यकी सेवामे कुछ शिथिलता आ सकती है; परंतु भावोके बढ़नेपर अन्तःकरण-शुद्धि, भगवत्प्रेम, भगवद्दर्शन आदि हो जाते हैं।

मालिकका समय-समयपर काम-धधा करनेसे नौकरको पैसे मिल जाते हैं और सेव्यकी सेवा करनेसे सेवकको अन्तःकरण-शुद्धि-पूर्वक भगवत्प्राप्ति हो जाती है, परंतु पूजाभावके बढ़नेसे तो पूजक-को तत्काल भगवत्प्राप्ति हो जाती है। तात्पर्य है कि चरणचापी तो नौकर भी करता है, पर उसको सेवाका आनन्द नहीं मिलता; क्योंकि उसकी दृष्टि पैसोपर रहती है। परंतु जो सेवाबुद्धिसे चरणचापी करता है, उसको सेवामें विशेष आनन्द मिलता है; क्योकि उसकी दृष्टि सेव्यके सुखपर रहती है। पूजामें तो चरण छूनेमात्रसे शरीर रोमाञ्चित हो जाता है और अन्तःकरणमें एक पारमार्थिक आनन्द होता है। उसकी दृष्टि पूज्यकी महत्तापर और अपनी लघुतापर रहती है। ऐसे देखा जाय तो नौकरके काम-धंधेसे मालिकको आराम मिलता है; सेवामें सेव्यको विशेष आराम तथा सुख मिलता है और पूजामें पूजकके भावसे पूज्यको प्रसन्नता होती है, वहाँ शरीरके सुख-आरामकी प्रधानता नहीं है।

अपने स्वभावज कर्मोंके द्वारा पूजा करनेसे पूजकका भाव बढ़ जाता है तो उसके स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरकी चेष्टा, चिन्तन, समाधि आदि सभी छोटी-बड़ी क्रियाएँ सब प्राणियोंमें व्यापक परमात्माकी पूजन-सामग्री बन जाती हैं। उसकी दैनिक-चर्या अर्थात् खाना-पीना आदि सब क्रियाएँ भी पूजन-सामग्री बन जाती हैं।

जैसे ज्ञानयोगीका 'मै कुछ भी नहीं करता हूँ' यह भाव हरदम बना रहता है, ऐसे ही अनेक प्रकारकी क्रियाएँ करनेपर भी भक्ति-मिश्रित कर्मयोगीके भीतर एक भगवद्भाव हरदम बना रहता है। उस भावकी गाढ़तामें उसका अहंभाव भी छूट जाता है।

श्लोक—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥

व्याख्या—

'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्'—जिस परमात्मासे संसार पैदा हुआ है, जिससे सम्पूर्ण संसारका संचालन होता है, जो सबका उत्पादक, आधार और प्रकाशक है और जो सबमे परिपूर्ण है अर्थात् जो परमात्मा अनन्त ब्रह्माण्डोकी उत्पत्तिके पहले भी था, जो अनन्त ब्रह्माण्डोके लीन होनेपर भी रहेगा और अनन्त ब्रह्माण्डोके रहते हुए भी जो रहता है तथा जो अनन्त ब्रह्माण्डोमें व्याप्त है, उसी परमात्माका अपने-अपने स्वभावज (वर्णोचित स्वाभाविक) कर्मोंके द्वारा पूजन करें।

'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'—मनुस्मृतिमें ब्राह्मणोके लिये छः कर्म बताये गये हैं—स्वयं पढना और दूसरोको पढ़ाना, स्वयं यज्ञ करना और दूसरोसे यज्ञ कराना तथा स्वयं दान लेना और दूसरोंको दान देना* (इनमें पढाना, यज्ञ कराना और दान लेना—ये तीन कर्म

* अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥
(मनु० १ । ८८)

जीविकाके हैं और पढ़ना, यज्ञ करना और दान देना—ये तीन ब्राह्मणके लिये कर्तव्यकर्म हैं)। उपर्युक्त शास्त्रनियत छः कर्म और शम-दम आदि नौ स्वभावज कर्म तथा इनके अतिरिक्त खाना-पीना, उठना-बैठना आदि जितने भी कर्म हैं, उन कर्मोंके द्वारा ब्राह्मण चारों वर्णोंमें व्याप्त परमात्माका पूजन करे। तात्पर्य है कि परमात्माकी आज्ञासे, उनकी प्रसन्नताके लिये ही भगवद्बुद्धिसे निष्कामभावपूर्वक सबकी सेवा करे।

ऐसे ही क्षत्रियोंके लिये पाँच कर्म बताये गये हैं—प्रजाकी रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना और विषयोंमें आसक्त न होना*। इन पाँच कर्मों तथा शौर्य, तेज आदि सात स्वभावज कर्मोंके द्वारा तथा खाना-पीना आदि सभी कर्मोंके द्वारा क्षत्रिय सर्वत्र व्यापक परमात्माका पूजन करे।

वैश्य यज्ञ करना, अध्ययन करना, दान देना और ब्याज लेना तथा कृषि, गौरक्ष्य और वाणिज्य†—इन शास्त्रनियत और स्वभावज कर्मोंके द्वारा और शूद्र शास्त्रविहित तथा स्वभावज कर्म

---

* प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥
(मनु० १। ८९)

† पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥
(मनु० १। ९०)

सेवा* के द्वारा सर्वत्र व्यापक परमात्माका पूजन करे अर्थात् अपने शास्त्रविहित, स्वभावज और खाना-पीना, सोना-जागना आदि सभी कर्मोंके द्वारा भगवान्‌की आज्ञासे, भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये, भगवद्बुद्धिसे निष्कामभावपूर्वक सबकी सेवा करें।

शास्त्रोंमे मनुष्यके लिये अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार जो-जो कर्तव्य-कर्म बताये गये हैं, वे सब संसाररूप परमात्माकी पूजाके लिये ही हैं। यदि साधक अपने कर्मोंके द्वारा भावसे उस परमात्माका पूजन करता है तो उसकी मात्र क्रियाएँ परमात्माकी पूजाके लिये ही होती हैं। जैसे पितामह भीष्मने (अर्जुनके साथ युद्ध करते हुए) अर्जुनके सारथी बने हुए भगवान्‌की अपने युद्धरूप कर्मके द्वारा बाणोंसे पूजा की। भीष्मके बाणोंसे भगवान्‌का कवच टूट गया, जिससे भगवान्‌के शरीरमें घाव हो गये और हाथकी अंगुलियोंमें छोटे-छोटे बाण लगनेसे अंगुलियोंसे लगाम पकड़ना कठिन हो गया। ऐसी पूजा करके अन्त समयमें शरशय्यापर पड़े हुए पितामह भीष्म अपने बाणोंद्वारा पूजित भगवान्‌का ध्यान करते हैं—'युद्धमें मेरे तीखे बाणोंसे जिनका कवच टूट गया है, जिनकी त्वचा विच्छिन्न हो गयी है, परिश्रमके कारण जिनके मुखपर स्वेदकण सुशोभित हो रहे हैं, घोड़ोंकी टापोंसे उड़ी हुई

---

* एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥
(मनु० १। ९१)

रज जिनकी सुन्दर अलकावलीमें लगी हुई है इस प्रकार बाणोंसे अलंकृत भगवान् कृष्णमे मेरे मन-बुद्धि लग जायँ*।'

लौकिक और पारमार्थिक कर्मोंके द्वारा उस परमात्माका पूजन तो करें, पर उन कर्मोंमें और उनको करनेके करणों-उपकरणोंमें ममता न रखें। कारण कि जिस वस्तु, क्रिया आदिमें ममता हो जाती है, वे सभी चीजें अपवित्र हो जानेसे† पूजा-सामग्री नहीं रहतीं (अपवित्र फल, फूल आदि भगवान्‌पर नहीं चढ़ते)। इस वास्ते 'मेरे पास जो कुछ है, वह सब उस सर्वव्यापक परमात्माका ही है, मुझे तो केवल निमित्त बनकर उनकी दी हुई शक्तिसे उनका पूजन करना है'—इस भावसे जो कुछ किया जाय, वह सब-का-सब परमात्माका पूजन हो जाता है। इसके विपरीत उन कर्म, वस्तु आदिको प्राणी जितना अपना मान लेता है, उतनी ही उसकी अपनी मानी हुई क्रियाएँ, वस्तुएँ (अपवित्र होनेसे) परमात्माके पूजनसे वञ्चित रह जाती हैं।

'सिद्धिं विन्दति मानवः'—सिद्धिको प्राप्त होनेका तात्पर्य है कि अपने कर्मोंसे परमात्माका पूजन करनेवाला मनुष्य प्रकृतिके सम्बन्धसे रहित होकर स्वतः स्वरूपमें स्थित हो जाता है। स्वरूपमें स्थित होनेपर पहले जो परमात्माके समर्पण किया था, उस संस्कारके कारण उसका प्रभुमें अनन्यप्रेम जाग्रत् हो जाता है। फिर उसके लिये कुछ भी प्राप्त करना बाकी नहीं रहता।

---

* युधि तुरगरजोविधूम्रविष्वक् कचलुलितश्रमवार्यलङ्कृतास्ये।
मम निशितशरैर्विभिद्यमानत्वचि विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा॥
(श्रीमद्भा० १।९।३४)

† 'ममता मल जरि जाइ' (मानस ७।११७ क)

यहाँ **'मानवः'** पदका तात्पर्य केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास--इन वर्णों और आश्रमों आदिसे ही नहीं है, प्रत्युत हिंदू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, पारसी, यहूदी आदि सभी जातियों और सम्प्रदायोंसे है। किसी भी जाति, सम्प्रदाय आदिका कोई भी व्यक्ति क्यों न हो, सब-के-सब ही परमात्माके पूजनके अधिकारी हैं; क्योंकि सभी परमात्माके अपने हैं। जैसे घरमें स्वभावके भेदसे अनेक तरहके बालक होते हैं, पर उन सबकी माँ एक ही होती है, और उन बालकोंकी तरह-तरहकी जितनी भी क्रियाएँ होती हैं, उन सब क्रियाओंसे माँ प्रसन्न होती रहती है; क्योंकि उन बालकोंमें माँका अपनापन होता है, ऐसे ही भगवान्‌के सम्मुख हुए प्राणीकी सभी क्रियाओंको भगवान् अपना पूजन मान लेते हैं और प्रसन्न हो जाते हैं।

इसी अध्यायके सत्तरवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है कि कोई भी मनुष्य तुम्हारे और हमारे संवादका अध्ययन करेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित हो जाऊँगा। इससे यह सिद्ध होता है कि कोई गीताका पाठ करे, अध्ययन करे तो उसको भगवान् अपना पूजन मान लेते हैं। ऐसे जो उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंसे विमुख होकर भगवान्‌के सम्मुख हो जाता है, उसकी क्रियाओंको भगवान् अपना पूजन मान लेते हैं।

सम्बन्ध—

स्वभावज (सहज) कर्मोंको निष्कामभावपूर्वक और पूजाबुद्धिसे करते हुए उसमें कोई कमी रह भी जाय तो भी उससे साधकको

हताश नहीं होना चाहिये—इसको बतानेके लिये अगले दो श्लोक कहते हैं।

श्लोक—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ ४७॥

व्याख्या—

'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्'—यहाँ 'स्वधर्म' शब्दसे वर्ण-धर्म ही मुख्यतासे लिया गया है।

'स्व' नाम किसका है? मनुष्य अपनेको जो मानता है, वह 'स्व' है, और उसका धर्म 'स्वधर्म' है। जैसे कोई अपनेको मनुष्य मानता है तो मनुष्यताका पालन करना उसके लिये स्वधर्म है। ऐसे ही अपनेको कोई विद्यार्थी या अध्यापक मानता है तो पढ़ना या पढ़ाना उसका स्वधर्म हो जायगा। कोई अपनेको साधक मानता है तो साधन करना उसका स्वधर्म हो जायगा। कोई अपनेको भक्त, जिज्ञासु और सेवक मानता है तो भक्ति, जिज्ञासा और सेवा उसका स्वधर्म हो जायगा। इस प्रकार जिसकी जिस कार्यमें नियुक्ति हुई है और जिसने जिस कार्यको स्वीकार किया है, उसके लिये उस कार्यको साङ्गोपाङ्ग करना स्वधर्म है।

ऐसे ही मनुष्य अपनेको जिस वर्ण और आश्रमका मानता है, उसके लिये उसी वर्ण और आश्रमका धर्म स्वधर्म हो जायगा। ब्राह्मणवर्णमें उत्पन्न हुआ अपनेको ब्राह्मण मानता है तो यज्ञ कराना, दान लेना, पढ़ाना आदि जीविका-सम्बन्धी कर्म उसके लिये स्वधर्म

है। क्षत्रियके लिये युद्ध करना, ईश्वरभाव आदि, वैश्यके लिये कृषि, गौरक्षा, व्यापार आदि और शूद्रके लिये सेवा—ये जीविका-सम्बन्धी कर्म स्वधर्म हैं। ऐसा अपना स्वधर्म दूसरोंके धर्मोंकी अपेक्षा गुण-रहित है अर्थात् अपने स्वधर्ममें गुणोंकी कमी है, उसका अनुष्ठान करनेमें कमी रहती है तथा उसको कठिनतासे किया जाता है, परंतु दूसरेका धर्म गुणोंसे परिपूर्ण है, दूसरेके धर्मका अनुष्ठान साङ्गोपाङ्ग है और करनेमें बहुत सुगम है तो भी अपने स्वधर्मका पालन करना ही सर्वश्रेष्ठ है।

स्वधर्म और परधर्म क्या हैं? शास्त्रने जिस वर्णके लिये जिन कर्मोंका विधान किया है, उस वर्णके लिये वे कर्म 'स्वधर्म' हैं और उन्हीं कर्मोंका जिस वर्णके लिये निषेध किया है, उस वर्णके लिये वे कर्म 'परधर्म' हैं। जैसे यज्ञ कराना, दान लेना आदि कर्म ब्राह्मणके लिये शास्त्रकी आज्ञा होनेसे स्वधर्म हैं; परंतु वे ही कर्म **क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके लिये शास्त्रका निषेध होनेसे परधर्म हैं।** परंतु आपत्कालको लेकर शास्त्रोंने जीविका-सम्बन्धी जिन कर्मोंका निषेध नहीं किया है, वे कर्म सभी वर्णोंके लिये स्वधर्म हो जाते हैं। जैसे आपत्कालमें अर्थात् आपत्तिके समय वैश्यके खेती, व्यापार आदि जीविका-सम्बन्धी कर्म ब्राह्मणके लिये भी स्वधर्म हो जाते हैं*।

---

* आपत्तिके समय ब्राह्मण क्षात्रवृत्तिसे निर्वाह कर सकता है और ज्यादा आपत्ति (आफत) आ जाय तो वैश्यवृत्ति भी कर सकता है, परंतु वैश्यवृत्तिमें फरक यह रहेगा कि ब्राह्मण खेती करे तो सुबह और शाम ठण्डे समय हल चलाये और दो बैलोंका ही हल चलाये, एक बैलका नहीं।

(पाप) नहीं लगता। ऐसे ही जो केवल शरीर-निर्वाहके लिये कर्म करता है, उसको भी पाप नहीं लगता—'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्' (गीता ४। २१)।

इसमें एक बड़ी भारी शङ्का पैदा होती है कि एक आदमी कसाईके घर पैदा होता है तो उसके लिये कसाईका कर्म सहज (साथ ही पैदा हुआ) है, स्वाभाविक है। स्वभावनियत कर्म करता हुआ मनुष्य पापको नहीं प्राप्त होता, तो क्या कसाईके कर्मका त्याग नहीं करना चाहिये? अगर उसको कसाईके कर्मका त्याग नहीं करना चाहिये तो बड़ी मुश्किल हो जायगी!

इसका समाधान यह है कि स्वभावनियत कर्म वह होता है, जो विहित हो, किसी रीतिसे निषिद्ध नहीं हो, अर्थात् उससे किसीका भी अहित न होता हो। जो कर्म किसीके लिये भी अहितकारक होते हैं, वे सहज कर्ममें नहीं लिये जायँगे। वे कर्म आसक्ति, कामनाके कारण पैदा होते हैं। निषिद्ध कर्म चाहे इस जन्ममें बना हो चाहे पूर्वजन्ममें बना हो, है वह दोषवाला ही। दोष-भाग त्याज्य होता है, क्योंकि दोष आसुरी-सम्पत्ति है और गुण दैवी-सम्पत्ति है। पहले जन्मके संस्कारोंसे भी दुर्गुण-दुराचारोंमें रुचि हो सकती है, पर वह रुचि दुर्गुण-दुराचार करनेमें बाध्य नहीं करती। विवेक, सद्विचार, सत्सङ्ग, शास्त्र आदिके द्वारा उस रुचिको मिटाया जा सकता है।

युक्तिसे भी देखा जाय तो कोई भी प्राणी अपना अहित नहीं चाहता, अपनी हत्या नहीं चाहता। अतः किसीका अहित

करनेका, हत्या करनेका अधिकार नहीं है। मनुष्य अपने लिये अच्छा काम चाहता है तो उसे दूसरोंके लिये भी अच्छा काम करना चाहिये। शास्त्रोंसे भी देखा जाय तो यही बात है कि जिसमें दोष होते हैं, पाप होते हैं, अन्याय होते है, वे कर्म 'वैकृत' हैं, 'प्राकृत' नहीं हैं अर्थात् वे विकारसे पैदा हुए हैं, स्वभावसे नहीं। तीसरे अध्यायमें अर्जुनने पूछा कि मनुष्य न चाहता हुआ भी किससे प्रेरित होकर पाप-कर्म करता है? तो भगवान्‌ने कहा कि कामनाके वशमें होकर ही मनुष्य पाप करता है (३ । ३६-३७)। कामनाको लेकर, क्रोधको लेकर, स्वार्थ और अभिमानको लेकर जो कर्म किये जाते हैं, वे कर्म शुद्ध नहीं होते, अशुद्ध होते हैं।

परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यसे जो कर्म किये जाते हैं, उन कर्मोंमें भिन्नता तो रहती है, पर वे दोषी नहीं होते। ब्राह्मणके घर जन्म होगा तो ब्राह्मणोचित कर्म होंगे, शूद्रके घर जन्म होगा तो शूद्रोचित कर्म होंगे, पर दोषी-भाग किसीमें भी नहीं होगा। दोषी-भाग सहज नहीं है, स्वभावनियत नहीं है। दोषयुक्त कर्म स्वाभाविक हो सकते हैं, पर स्वभावनियत नहीं हो सकते। एक ब्राह्मणको परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जाय तो प्राप्ति होनेके बाद भी वह वैसी ही पवित्रतासे भोजन बनायेगा; जैसी पवित्रतासे ब्राह्मणको रहना चाहिये, वैसी ही पवित्रतासे रहेगा। ऐसे ही एक अन्त्यजको परमात्माकी प्राप्ति हो जाय तो वह जूठन भी खा लेगा; जैसे पहले रहता था, वैसे ही रहेगा। परंतु ब्राह्मण ऐसा नहीं करेगा, क्योंकि पवित्रतासे

विशेष बात

साधकके लिये वास्तविक स्वधर्म क्या है ?

अपने स्वरूपको 'स्व' कहते हैं, जो साक्षात् परमात्माका अंश है। प्रकृति और उसका अंश शरीर 'पर' कहलाता है। जब 'स्व' प्रकृतिके अंश शरीरको अपना मानता है तो उसमें प्राकृतिक चीजोंकी मुख्यता होती है और जब यह अपनेको सच्चिदानन्दघन परमात्माका साक्षात् अंश मानता है तो 'स्व' सच्चिदानन्दघन-स्वरूप होता है*।

'स्व' जब परमात्माको स्वीकार करता है तो साधकके लिये यह 'स्वधर्म' हो जाता है, और जब यह प्रकृतिके कार्य शरीरको स्वीकार करता है अर्थात् शरीरके धर्मको अपनेमे आरोपित कर लेता है तो साधकके लिये यह 'परधर्म' हो जाता है; क्योंकि प्रकृति 'पर' है, 'स्व' नहीं।

इसी तरहसे यह 'स्व' परमात्माके साथ सम्बन्ध जोड़कर परमात्मप्राप्तिके लिये कर्मयोग, ज्ञानयोग या भक्तियोगका साधन करे

---

* इसी सत्ताको स्वीकार करनेके लिये भगवान्ने कहा है—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥

(गीता २ । १२)

अर्थात् तू, मैं और ये राजालोग पहले नहीं थे, यह बात भी नहीं और इसके बाद हम सब नहीं रहेंगे, यह बात भी नहीं। तो इससे हरेककी अपने स्वरूपकी सत्ता सिद्ध होती है। इसी तरह कहा है—

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते । (गीता ८ । १९)

इसमे 'भूतग्रामः स एवायं' (वही यह भूतसमुदाय) पदोंसे स्वयंकी सत्ता सिद्ध होती है और 'भूत्वा भूत्वा प्रलीयते' (उत्पन्न हो-होकर लीन होता है) पदोंसे शरीरकी अनित्यता सिद्ध होती है।

तो यह 'स्वधर्म' होगा। यही स्वधर्म कल्याण करनेवाला है। जब यह संसारकी वस्तुओका संग्रह करता है और भोग भोगता है तो यह 'परधर्म' हो जाता है। स्वधर्ममे अर्थात् परमात्माके सम्मुख रहते हुए मर जाय तो भी यह कल्याण करनेवाला है, और परधर्म अर्थात् भोग तथा संग्रह भय देनेवाला है—**'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'** (गीता ३ । ३५) ।

यहाँ इस प्रकरणमें वर्णधर्मरूप स्वधर्मका पालन करनेका उद्देश्य भी परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति करना ही है। इस वास्ते इस विशेष बातमें परमात्मप्राप्ति करनेके साधनको स्वधर्म माना गया है।

श्लोक—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥ ४८ ॥

व्याख्या—

पिछले श्लोकमें यह कहा गया है कि स्वभावके अनुसार शास्त्रोने जो कर्म नियत किये हैं, उन कर्मोंको करता हुआ मनुष्य पापको प्राप्त नहीं होता। तो इससे यह सिद्ध होता है कि स्वभावनियत कर्मोंमें भी पाप-क्रिया होती है। अगर पाप-क्रिया न होती तो 'पापको प्राप्त नहीं होता' यह कहना नहीं बनता। इस वास्ते भगवान् कहते हैं कि 'कौन्तेय ! जो सहज कर्म हैं, उनमें कोई दोष भी आ जाय तो भी उनका त्याग नहीं करना चाहिये, क्योंकि सब-के-सब कर्मोंका आरम्भ धुएँसे अग्निकी तरह दोषसे आवृत है।'

'सहजं कर्म कौन्तेय' स्वभाव-नियतकर्म सहज-कर्म कहलाते हैं, जैसे—ब्राह्मणके शम, दम आदि; क्षत्रियके शौर्य, तेज आदि; वैश्यके कृषि, गौरक्ष्य आदि और शूद्रके सेवा-कर्म—ये सभी सहज-कर्म हैं। जन्मके बाद शास्त्रोंने पूर्वके गुण और कर्मोंके अनुसार जिस वर्णके लिये जिन कर्मोंकी आज्ञा दी है, वे शास्त्रनियत कर्म भी सहज-कर्म कहलाते हैं; जैसे—ब्राह्मणके लिये यज्ञ करना और कराना, पढ़ना और पढ़ाना आदि; क्षत्रियके लिये यज्ञ करना, दान देना आदि; वैश्यके लिये यज्ञ करना आदि; और शूद्रके लिये सेवा।

इस सहज-कर्ममें कौन-से दोष हैं?—

(१) परमात्मा और परमात्माका अंश—ये दोनो ही 'स्व' हैं तथा प्रकृति और प्रकृतिका कार्य शरीर आदि—ये दोनो ही 'पर' हैं। परंतु परमात्माका अंश स्वयं प्रकृतिके वश होकर परतन्त्र हो जाता है अर्थात् क्रियामात्र प्रकृतिमें होती है, उस क्रियाको यह अपनेमें मान लेता है तो परतन्त्र हो जाता है। यह प्रकृतिके परतन्त्र होना ही महान् दोष है।

(२) प्रत्येक कर्ममें कुछ-न-कुछ आनुषङ्गिक-अनिवार्य हिंसा आदि दोष होते ही हैं।

(३) कोई भी कर्म किया जाय, वह कर्म किसीके अनुकूल और किसीके प्रतिकूल होता ही है। जो किसीके प्रतिकूल होना भी दोष है।

(४) प्रमाद आदि दोषोंके कारण कर्मके करनेमें कमी रह जाना अथवा करनेकी विधिमें भूल हो जाना भी दोष है।

'सदोषमपि न त्यजेत्'—अपने सहज-कर्ममें दोष भी हो तो भी उसको नहीं छोड़ना चाहिये। इसका तात्पर्य है कि जैसे ब्राह्मणके कर्म जितने सौम्य हैं, उतने ब्राह्मणेतर वर्णोंके कर्म सौम्य नहीं हैं। परंतु सौम्य न होनेपर भी वे कर्म दोषी नहीं माने गये हैं अर्थात् ब्राह्मणके सहज कर्मोंकी अपेक्षा क्षत्रिय, वैश्य आदिके सहज कर्मोंमें गुणोंकी कमी होनेपर भी उस कमीका दोष नहीं लगेगा और अनिवार्य हिंसा आदि भी नहीं लगेंगे, प्रत्युत उनका पालन करनेसे लाभ होगा। कारण कि वे कर्म उनके स्वभावके अनुकूल होनेसे करनेमें सुगम हैं और शास्त्रविहित हैं।

ब्राह्मणके लिये भिक्षा बतायी गयी है। दीखनेमें भिक्षा निर्दोष दीखती है, पर उसमें भी दोष आ जाते हैं। जैसे; किसी गृहस्थके घरपर कोई भिक्षुक खड़ा है और उसी समय दूसरा भिक्षुक वहाँ आ जाता है तो गृहस्थके भार होता है। भिक्षुकोंमें परस्पर ईर्ष्या होनेकी सम्भावना रहती है। भिक्षा देनेवालेके घरमें पूरी तैयारी नहीं है तो उसको भी दुःख होता है। यदि कोई गृहस्थ भिक्षा देना नहीं चाहता और उसके घरपर भिक्षुक चला जाय तो उसको बड़ा कष्ट होता है। अगर वह भिक्षा देता है तो खर्चा होता है, और नहीं देता है तो भिक्षुक निराश होकर चला जाता है। इससे उस गृहस्थको पाप लगता है और बेचारा उसमें फँस जाता है। इस प्रकार यद्यपि भिक्षामें भी दोष होते हैं, तथापि ब्राह्मणको इसे छोड़ना नहीं चाहिये।

क्षत्रियके लिये न्याययुक्त युद्ध प्राप्त हो जाय तो उसको करनेसे क्षत्रियको पाप नहीं लगेगा। यद्यपि युद्धरूप कर्ममें दोष है; क्योंकि

उसमें मनुष्योंका गला काट डालना है—तथापि क्षत्रियके सहज और शास्त्रविहित होनेसे दोष नहीं लगता। ऐसे ही वैश्यके लिये खेती करना बताया गया है। खेती करनेमे बहुत-से जन्तुओंकी हिंसा होती है। परंतु वैश्यके लिये सहज और शास्त्रविहित होनेसे हिंसाका इतना दोष नहीं लगता। इस वास्ते सहज कर्मोंको छोड़ना नहीं चाहिये।

सहज कर्मोंको करनेमे दोष (पाप) नहीं लगता—यह बात ठीक है, परंतु इन साधारण सहज कर्मोंसे मुक्ति कैसे हो जायगी? वास्तवमें मुक्ति होनेमें सहज कर्म बाधक नहीं हैं। कामना, आसक्ति, स्वार्थ, अभिमान आदिसे ही बन्धन होता है और पाप भी इनके कारणसे ही होते हैं। इस वास्ते मनुष्यको निष्कामभावपूर्वक भगवत्प्रीत्यर्थ सहज कर्मोंको करना चाहिये, तभी बन्धन छूटेगा (गीता १८। १७)।

'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः'—जितने भी आरम्भ हैं, वे सब-के-सब सदोष ही हैं; जैसे—आग सुलगायी जाय तो आरम्भमे धुआँ होता ही है। कर्म करनेमे देश, काल, घटना, परिस्थिति आदिकी परतन्त्रता और अनेकोंकी प्रतिकूलता भी दोष है; परंतु स्वभावके अनुसार शास्त्रोंने आज्ञा दी है। उस आज्ञाके अनुसार निष्कामभावपूर्वक कर्म करता हुआ प्राणी पापका भागी नहीं होता। इसीसे भगवान् अर्जुनसे मानो यह कह रहे हैं कि 'भैया! तू जिस युद्धरूप क्रियाको घोर कर्म मान रहा है, वह तेरा धर्म है; क्योंकि न्यायसे प्राप्त हुए युद्धको करना क्षत्रियोंका धर्म है, इसके सिवाय क्षत्रियके लिये दूसरा कोई श्रेयका साधन नहीं है—**धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते**' (गीता २। ३१)।

विशेष बात

कर्मप्रधान कर्मयोगमें कर्मोंके द्वारा जडतासे असङ्गता होती है और भक्तिमिश्रित कर्मयोगमें संसारसे असङ्गतापूर्वक परमात्माके प्रति पूज्यभाव होनेसे परमात्माकी सम्मुखता रहती है।

कर्मप्रधान कर्मयोगी तो अपने पास शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि जो कुछ संसारका जड़ अंश है, उसको स्वार्थ, अभिमान, कामनाका त्याग करके संसारकी सेवामें लगा देता है। इससे अपनी मानी हुई चीजोंसे अपनापन छूटकर सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, और जो स्वतः-स्वाभाविक असङ्गता है, वह प्रकट हो जाती है।

जब कर्मयोगमें भक्तिका मिश्रण हो जाता है तो वह भक्तिमिश्रित कर्मयोग कहलाता है। भक्तिमिश्रित कर्मयोगी अपने वर्णोचित स्वाभाविक कर्मों और समय-समयपर किये गये पारमार्थिक कर्मों (जप, ध्यान आदि) के द्वारा सम्पूर्ण संसारमें व्याप्त परमात्माका पूजन करता है।

इन दोनोंमें भावकी भिन्नता होनेसे इतना ही अन्तर हुआ कि कर्मप्रधान कर्मयोगीकी सम्पूर्ण क्रियाओंका प्रवाह सबको सुख पहुँचानेमें लग जाता है, तो क्रियाओंको करनेका वेग मिटकर स्वयंमें असङ्गता आ जाती है; और भक्तिमिश्रित कर्मयोगीकी सम्पूर्ण क्रियाएँ परमात्माकी पूजन-सामग्री बन जानेसे जड़तासे विमुखता होकर भगवान्‌की सम्मुखता आ जाती है और प्रेम बढ़ जाता है।

भक्तियोगी तो पहलेसे ही भगवान्‌के सम्मुख होकर अपने-आपको भगवान्‌के अर्पित कर देता है। स्वयंके अनन्यतापूर्वक

भगवान्‌के समर्पित हो जानेसे खाना-पाना, काम-धंधा आदि लौकिक और जप, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदि पारमार्थिक क्रियाएँ भी भगवान्‌के अर्पित हो जाती हैं। उसकी लौकिक-पारमार्थिक क्रियाओंमें केवल बाहरसे भेद देखनेमें आता है; परंतु वास्तवमें कोई भेद नहीं रहता।

कर्मप्रधान कर्मयोगी और ज्ञानयोगी—ये दोनो अन्तमें एक हो जाते हैं। जैसे, कर्मप्रधान कर्मयोगी कर्मोंके द्वारा जड़ताका त्याग करता है अर्थात् सेवाके द्वारा उसकी सभी क्रियाएँ संसारके अर्पित हो जाती हैं और स्वयं असङ्ग हो जाता है; और ज्ञानयोगी विचारके द्वारा जड़ताका त्याग करता है अर्थात् विचारके द्वारा उसकी सभी क्रियाएँ प्रकृतिके अर्पित हो जाती हैं और स्वयं असङ्ग हो जाता है। तात्पर्य है कि दोनोंके अर्पण करनेके प्रकारमें अन्तर है, पर असङ्गतामें दोनो एक हो जाते हैं*। इस असङ्गतामें कर्मप्रधान कर्मयोगी और ज्ञानयोगी—दोनो स्वतन्त्र हो जाते हैं। उनके लिये किञ्चिन्मात्र भी कर्मोंका बन्धन नहीं रहता। केवल कर्तव्य-पालनके लिये ही कर्तव्य-कर्म करनेसे कर्मप्रधान कर्मयोगीके सम्पूर्ण कर्म लीन हो जाते हैं—**'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते'** (गीता ४। २३), और ज्ञानरूप अग्निसे ज्ञानयोगीके सम्पूर्ण कर्म

---

* ऐसे तो संसारसे असङ्ग होना कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इन तीनो योगोंके साधकोंके लिये आवश्यक है। गीतामें 'सङ्गं त्यक्त्वा' (५। ११) पदोंसे कर्मयोगीको, 'मुक्तसङ्गः' (१८। २६) पदसे ज्ञानयोगीको और 'सङ्गवर्जितः' (११। ५५) पदसे भक्तियोगीको सङ्गरहित होनेके लिये बताया गया है।

भस्म हो जाते हैं—'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा' (गीता ४ । ३७) । परंतु इस स्वतन्त्रतामें भी जिसको सन्तोष नहीं होता अर्थात् स्वतन्त्रतासे जिसको उपरति हो जाती है, उसमें भगवत्कृपासे प्रेम प्रकट हो सकता है ।

इसी प्रकार भक्तिमिश्रित कर्मयोगी और भक्तियोगी—ये दोनो अन्तमे एक हो जाते हैं । परमात्माके सम्मुख होनेमें और प्रेम होनेमें तो दोनो एक हो जाते हैं, पर उनके अर्पणमें अन्तर होता है । भक्तिमिश्रित कर्मयोगी अपनी क्रियाओंको निराकार परमात्माके अर्पित करता है तो परमात्मा उसे दर्शन देनेमें बाध्य नहीं हैं । भक्तिप्रधान भक्तियोगी स्वयं प्रभुके अर्पित हो जाता है तो भगवान् स्वयं दर्शन दे सकते हैं ।

सम्बन्ध—

अब भगवान् ध्यानप्रधान सांख्ययोगका प्रकरण आरम्भ करते हुए पहले सांख्ययोगके अधिकारीका वर्णन करते हैं ।

श्लोक—

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

व्याख्या—

संन्यास-(सांख्य-) योगका अधिकारी होनेसे ही सिद्धि होती है । अतः उसका अधिकारी कैसा होना चाहिये—यह बतानेके लिये श्लोकके पूर्वार्द्धमें तीन बातें बतायी हैं—

(१) 'असक्तबुद्धिः सर्वत्र'-जिसकी बुद्धि सब जगह आसक्ति-रहित है अर्थात् देश, काल, घटना, परिस्थिति, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, पदार्थ आदि किसीमे भी जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती ।

(२) 'जितात्मा'—जिसने शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदिपर अधिकार कर लिया है अर्थात् इनके वशीभूत नहीं होता, प्रत्युत इनको अपने वशीभूत रखता है । तात्पर्य है कि किसी कार्यको अपने सिद्धान्तपूर्वक करना चाहता है तो उस कार्यमे शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण—ये सभी तत्परतासे लग जाते हैं और जिस क्रिया, घटना आदिसे हटाना चाहता है तो वे हट जाते हैं । इस प्रकार जिसने, इनपर विजय कर ली है, वह 'जितात्मा' कहलाता है ।

(३) 'विगतस्पृहः'—सूक्ष्म इच्छाका नाम स्पृहा है । एक प्रकारकी आवश्यकता होती है, जिसके बिना हम जीवन धारण नहीं कर सकते; जैसे—साग-पत्ती कुछ मिल जाय, रूखी-सूखी रोटी ही मिल जाय, कुछ-न-कुछ खाये बिना हम कैसे जी सकते हैं ? जल पीये बिना हम कैसे रह सकते हैं ? ठण्डीके दिनोमे कपड़े बिल्कुल न हो तो हम कैसे जी सकते हैं ? इस प्रकार जीवन-धारणमात्रके लिये जिनकी विशेष जरूरत होती है, उन चीजोंकी सूक्ष्म इच्छाका नाम 'स्पृहा' है । सांख्ययोगका साधक इन जीवन-निर्वाहसम्बन्धी आवश्यकताओंकी परवा नहीं करता ।

तात्पर्य यह हुआ कि सांख्ययोगमें चलनेवालेको जड़ताका त्याग करना पड़ता है । उस जड़ताका त्याग करनेमे उपर्युक्त तीन बाते आयी हैं । असक्तबुद्धि होनेसे वह जितात्मा हो जाता है, और

जितात्मा होनेसे वह विगतस्पृह हो जाता है, तब वह सांख्ययोगका अधिकारी हो जाता है।

'नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति'—ऐसा असक्त-बुद्धि, जितात्मा और विगतस्पृह पुरुष ध्यानप्रधान सांख्ययोगके द्वारा परम नैष्कर्म्यसिद्धिको अर्थात् नैष्कर्म्यरूप तत्त्वको प्राप्त हो जाता है। कारण कि क्रियामात्र प्रकृतिमें होती है और जब स्वयंका उस क्रियाके साथ लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता तो कोई भी क्रिया और उसका फल उसपर किंचिन्मात्र भी लागू नहीं होता। इस वास्ते उसमें जो स्वाभाविक, स्वतःसिद्ध निष्कर्मता—निर्लिप्तता है, वह प्रकट हो जाती है।

सम्बन्ध—

अब उस परम् सिद्धिको प्राप्त करनेकी विधि बतानेकी प्रतिज्ञा करते है।

श्लोक—

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥

व्याख्या—

'सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे'—यहाँ सिद्धि नाम अन्तःकरणकी शुद्धिका है। जिसका अन्तःकरण इतना शुद्ध हो गया है कि उसमें किंचिन्मात्र भी किसी प्रकारकी कामना, ममता और आसक्ति नहीं रही, उसके लिये कभी किंचिन्मात्र भी किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिकी जरूरत नहीं पड़ती अर्थात् उसके लिये कुछ भी प्राप्त करना बाकी नहीं रहता। इस वास्ते इसको सिद्धि कहा है।

लोकमें जो ऐसा कहा जाता है कि मनचाही चीज मिल गयी तो सिद्धि हो गयी, अणिमादि सिद्धियाँ मिल गयीं तो सिद्धि हो गयी। पर वास्तवमें यह सिद्धि नहीं है; क्योंकि इसमें पराधीनता होती है, और किसी वस्तु, परिस्थिति आदिकी जरूरत पड़ती है, किसी बातकी कमी पड़ती है। अतः जिस सिद्धिमें किञ्चिन्मात्र भी कामना पैदा न हो, वही वास्तवमें सिद्धि है और जिस सिद्धिके मिलनेपर कामना बढ़ती रहे, वह सिद्धि सिद्धि नहीं है, अपितु एक बन्धन ही है।

अन्तःकरणकी शुद्धिरूप सिद्धिको प्राप्त हुआ पुरुष ही ब्रह्मको प्राप्त होता है। वह जिस क्रमसे ब्रह्मको प्राप्त होता है, उसको मुझसे समझ—**'निबोध मे।'** कारण कि सांख्ययोगकी जो सार-सार बातें हैं, वे सांख्ययोगीके लिये अत्यन्त आवश्यक हैं और उन बातोंको समझनेकी बहुत जरूरत है।

'निबोध' पदका तात्पर्य है कि सांख्ययोगमें क्रिया और सामग्रीकी प्रधानता नहीं है; किंतु उस तत्त्वको समझनेकी प्रधानता है। इसी अध्यायके तेरहवें श्लोकमें भी सांख्ययोगके विषयमें **'निबोध'** पद आया है।

'समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा'—सांख्ययोगीकी जो आखिरी स्थिति है, जिससे बढ़कर साधककी कोई स्थिति नहीं हो सकती, वही ज्ञानकी परा निष्ठा कही जाती है। उस परा निष्ठाको अर्थात् ब्रह्मको सांख्ययोगका साधक जिस प्रकारसे प्राप्त

होता है, उसको मैं संक्षेपसे कहूँगा अर्थात् उसकी सार-सार बातें कहूँगा ।

सम्बन्ध—

ज्ञानकी परा निष्ठा प्राप्त करनेके लिये किस साधन-सामग्रीकी आवश्यकता है, उसको अगले तीन श्लोकोंमें बताते हैं ।

श्लोक—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥

व्याख्या—

'बुद्ध्या विशुद्धया युक्तः'—जो परमात्मतत्त्वको प्राप्त करना चाहता है, उसकी बुद्धि विशुद्ध अर्थात् सात्त्विक (गीता १८ । ३०) हो । उसकी बुद्धिका विवेक साफ-साफ हो, उसमें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह न हो ।

बुद्धिका विशुद्ध होना क्या है ? मुझे तो केवल परमात्म-तत्त्वकी प्राप्ति ही करना है; लोक-परलोक आदिसे कोई मतलब नहीं, कोई लेन-देन नहीं—ऐसा निश्चय ही बुद्धिका विशुद्ध होना है ।

इस सांख्ययोगके प्रकरणमें सबसे पहले बुद्धिका नाम आया है । इसका तात्पर्य है कि सांख्ययोगीके लिये जिस विवेककी

आवश्यकता है, वह विवेक बुद्धिमें ही प्रकट होता है। उस विवेकसे वह जड़ताका त्याग करना है।

'धृत्यात्मानं नियम्य च'—सांसारिक कितने ही प्रलोभन सामने आनेपर भी बुद्धिको परमात्मतत्त्वसे विचलित न होने देना—ऐसी दृढ़ सात्त्विक धृति (गीता १८। ३३) के द्वारा इन्द्रियो-सहित शरीरका नियमन हो अर्थात् साधनके अनुपयुक्त कोई भी चेष्टा न हो और आठो पहर यह जागृति रहे कि शरीर, इन्द्रियाँ आदिकी क्रियाएँ केवल आत्मकल्याणके लिये हो।

'शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा'—ध्यानके समय बाहरके जितने सम्बन्ध हैं, जो कि विषयरूपसे आते हैं और जिनसे संयोगजन्य सुख होता है, उन शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—पाँचो विषयोका स्वरूपसे ही त्याग कर दे। कारण कि विषयोका विषय-रूपसे सेवन करनेवाला ध्यानयोगका साधन नहीं कर सकता। अगर विषयोका रागपूर्वक सेवन करेगा तो ध्यानमे वृत्तियाँ नहीं लगेंगी और विषयोका चिन्तन होगा।

'रागद्वेषौ व्युदस्य च'—असत् संसारके किसी अंशमें राग हो जाय तो दूसरे अंशमे द्वेष हो जाता है। जैसे, शरीरमें राग हो जाय तो शरीरके अनुकूल वस्तुमात्रमें राग हो जाता है और प्रतिकूल वस्तुमात्रमे द्वेष हो जाता है।

ससारके साथ रागसे भी सम्बन्ध जुड़ता है और द्वेषसे भी सम्बन्ध जुड़ता है। रागवाली बात भी याद आती है

और द्वेषवाली बात भी याद आती है। इस वास्ते न राग करे, न द्वेष करे।

रागके रहते हुए संसारका द्वेषपूर्वक त्याग करनेसे संसारका त्याग नहीं होता। इस वास्ते भगवान्‌ने (गीता १८। १० में) कहा है कि कुशल कर्मका अनुष्ठान करे, पर रागपूर्वक न करे और अकुशल कर्मका त्याग करे, पर द्वेषपूर्वक न करे।

तीसरे अध्यायके चौंतीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने साधकके लिये राग-द्वेषसे रहित होनेका बहुत बढ़िया उपाय बताया है—

'इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ। तयोर्न वशमागच्छेत् ......' समयपर साधकके राग-द्वेष हो भी जाय तो साधक इनके वशमें न होवे, इनका कहना न करे, इनकी वृत्तियोंके अनुसार आचरण न करे। कारण कि इनका कहना करनेसे, इनके अनुसार आचरण करनेसे राग-द्वेषको पुष्टि मिलती है। जब साधक अपने उद्देश्यको सामने रखकर इनका कहना नहीं करता तो राग-द्वेष स्वतः क्षीण हो जाते हैं।

'विविक्तसेवी'—ज्ञानयोगके साधकका स्वतः-स्वाभाविक एकान्त-सेवनका स्वभाव होता है, रुचि होती है। एकान्त-सेवनकी रुचि होना तो बढ़िया है, पर आग्रह नहीं होना चाहिये अर्थात् एकान्त न मिले तो मनमें विक्षेप, हलचल नहीं होनी चाहिये। कारण कि रुचि होनेपर भी एकान्त न मिले, प्रत्युत समुदाय मिले, खूब हल्ला-गुल्ला हो तो भी (आग्रह न रहनेसे) वह उकतायेगा नहीं अर्थात् सिद्धि-असिद्धिमें सम रहेगा। परंतु आग्रह होगा तो वह उकता

जायगा, उससे समुदाय सहा नहीं जायगा। अतः साधकका स्वभाव एकान्त रहनेका ही हो; परंतु एकान्त न मिले तो अन्तःकरणमें हलचल न हो; क्योंकि हलचल होनेपर संसारकी महत्ता आती है और संसारकी महत्ता आनेपर हलचल होती है, जो कि सांख्ययोगीके विरुद्ध है।

वास्तविक एकान्त चिन्मय तत्त्व ही है, जहाँ हलचल पैदा करनेवाला कोई प्राकृत पदार्थ, व्यक्ति आदि पैदा हुआ ही नहीं! उस तत्त्वमे तल्लीन रहना ही वास्तवमें एकान्त-सेवन है।

'लघ्वाशी'—साधकका स्वल्प भोजन करनेका स्वभाव हो। भोजनके विषयमें हित, मित और मेध्य—ये तीन बातें बतायी गयी है अर्थात हित—भोजन शरीरके अनुकूल हो, मित—जितने भोजनसे निर्वाह हो जाय, उतना भोजन करे। भोजनसे शरीर पुष्ट हो जायगा—ऐसे भावसे भोजन न करे, प्रत्युत केवल औषधकी तरह क्षुधा-निवृत्तिके लिये ही भोजन करे, जिससे साधनमे विघ्नबाधा न आ जाय, और मेध्य—पवित्र भोजन करे। इस प्रकार भोजन करनेवालेको 'लघ्वाशी' कहते है।

'यतवाक्कायमानसः'—जिसकी वाणी, शरीर और मन संयत* (वशमे) है, उसको इनके परवश नहीं होना पड़ता। तात्पर्य है कि कोई कठोर वाणी सुना भी देता है तो साधक अपनी वाणीको

* इसी काया, वाणी और मनके संयमको सत्रहवें अध्यायके चौदहवें, पंद्रहवें और सोलहवे श्लोकमे क्रमशः शारीरिक, वाचिक और मानसिक तपके नामसे कहा गया है।

संयत रखता है, अपनी वाणीसे कठोर नहीं बोलता। शरीरको आराम मिले—इसकी परवशता वह नहीं रखता। मनमें कोई भी बात याद आ जाय तो समझता है कि यह तो पुरानी बातकी स्मृति है, अभी वह बात है ही नहीं।

मनमें जो संकल्प-विकल्प होते हैं, वे भूत या भविष्यके ही होते हैं, वर्तमानके नहीं। भूत और भविष्य—दोनों ही अभी नहीं हैं। वर्तमानका कार्य होता है, संकल्प-विकल्प नहीं। साधकसे गलती यह होती है कि जो अभी नहीं है, उसको लेकर उलझ जाता है, और जो परमात्मा भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों समय है, उसे देखता ही नहीं। 'है' को तो छोड दिया और 'नहीं' को लेकर दुःखी हो गया—यही गलती है।

'ध्यानयोगपरो नित्यम्'—साधक नित्य ही ध्यानयोगके परायण रहे। तात्पर्य है कि ध्यानके समय तो ध्यान होता ही रहे, प्रत्युत व्यवहारके समय अर्थात् चलते-फिरते, उठते-बैठते, काम-धंधा करते समय भी यह ध्यान (भाव) सदा बना रहे कि वास्तवमें सत्ता एक परमात्मतत्त्वकी ही है, संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है (गीता १८ । २०)।

'वैराग्यं समुपाश्रितः'—जैसे संसारी लोग रागपूर्वक पदार्थ, वस्तु, व्यक्ति आदिके आश्रित रहते हैं, इनको अपना आश्रय, सहारा मानते हैं, ऐसे ही सांख्ययोगका साधक वैराग्यके आश्रित रहता है। भोग-संग्रह, जन-समुदाय, स्थान आदिसे स्वाभाविक ही निर्लिप्तताका बना रहना ही वैराग्यके आश्रित होना है।

'अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् विमुच्य'—गुणोंको लेकर अपनेमे जो एक विशेषता दीखती है, उसे 'अहंकार' कहते है। जबर्दस्ती करके, विशेषतासे मनमानी करनेका जो आग्रह होता है, उसे 'बल' कहते है। जमीन-जायदाद आदि बाह्य चीजोंकी विशेषताको लेकर जो घमण्ड होता है, उसे 'दर्प' कहते हैं। भोग, पदार्थ तथा अनुकूल परिस्थिति मिल जाय, इस इच्छाका नाम 'काम' है। अपने स्वार्थ और अभिमानमे ठेस लगनेपर दूसरोंका अनिष्ट करनेके लिये जो जलनात्मक वृत्ति पैदा होती है, उसको 'क्रोध' कहते है। भोग-बुद्धिसे, सुख—आरामबुद्धिसे चीजोंका जो संग्रह किया जाता है, उसे 'परिग्रह'* कहते हैं।

उपर्युक्त अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह —इन सबका त्याग कर देना चाहिये।

'निर्ममः'—अपने पास निर्वाहमात्रकी जो वस्तुएँ हैं और कर्म करनेके शरीर, इन्द्रियाँ आदि जो साधन है, उनमें ममता अर्थात् अपनापन न हो†। अपना शरीर, वस्तु आदि जो हमें प्रिय लगते हैं, उनके बने रहनेकी इच्छा न होना 'निर्मम' होना है।

---

* ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और सन्यासी—इन सबके लिये तो स्वरूपसे ही परिग्रह (सग्रह) का त्याग है। अगर गृहस्थमें भी कोई सुख-भोग-बुद्धिसे सग्रह न करे, केवल दूसरोंकी सेवा, हितके लिये ही सग्रह करे तो वह भी परिग्रह नहीं है।

† केवल सासारिक व्यवहारके लिये वस्तुओंमें मेरापन करना दोषी नहीं है, प्रत्युत उनको सदाके लिये अपना मान लेना दोषी है।

जिन व्यक्तियो और वस्तुओंको हम अपनी मानते हैं, वे आजसे सौ वर्ष पहले भी अपनी नहीं थी और सौ वर्षके बाद भी अपनी नहीं रहेगी। तो जो अपनी नहीं रहेंगी, उनका उपयोग या सेवा तो कर सकते हैं, पर उनको अपनी मानकर अपने पास नहीं रख सकते। अगर उनको अपने पास नहीं रख सकते तो 'वे अपनी नहीं है' ऐसा माननेमे क्या बाधा है? उनको अपनी न माननेसे साधक निर्मम हो जाता है।

'शान्तः'—असत् संसारके साथ सम्बन्ध रखनेसे ही अन्तःकरणमें अशान्ति, हलचल आदि पैदा होते हैं। जड़तासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर अशान्ति कभी पासमें आती ही नहीं। फिर राग-द्वेष न रहनेसे साधक हरदम शान्त रहता है।

'ब्रह्मभूयाय कल्पते'—ममतारहित और शान्त पुरुष (सांख्ययोगका साधक) परमात्मप्राप्तिका अधिकारी बन जाता है अर्थात् असत्का सर्वथा सम्बन्ध छूटते ही उसमें ब्रह्मप्राप्तिकी योग्यता आ जाती है।

सम्बन्ध—

उपर्युक्त साधन-सामग्रीसे निष्ठा प्राप्त हो जानेपर क्या होता है—इसको अगले श्लोकमें बताते हैं।

श्लोक—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ ५४॥

व्याख्या—

'ब्रह्मभूतः'—जब अन्तःकरणमे विनाशशील वस्तुओंका महत्त्व मिट जाता है तो अन्तःकरणकी अहंकार, ममता आदि वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं अर्थात् उनका त्याग हो जाता है। फिर अपने पास जो वस्तुएँ हैं, उनमे भी ममता नहीं रहती। ममता न रहनेसे वस्तुओंका सुख और भोग-बुद्धिसे संग्रह नहीं होता। जब सुख और भोग-बुद्धि मिट जाती है तो अन्तःकरणमे स्वतः-स्वाभाविक ही शान्ति आ जाती है।

इस प्रकार साधक जब असतसे ऊपर उठ जाता है, तब वह ब्रह्मप्राप्तिका पात्र बन जाता है। पात्र बननेपर उसकी ब्रह्मभूत-अवस्था अपने-आप हो जाती है। इसके लिये उसको कुछ करना नहीं पड़ता। इस अवस्थामें 'मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ और ब्रह्म मेरा स्वरूप है' ऐसा उसको अपनी दृष्टिसे अनुभव हो जाता है। इसी अवस्थाको यहाँ (और गीता ५। २४ मे भी) 'ब्रह्मभूतः' पदसे कहा गया है।

'प्रसन्नात्मा'—जब अन्तःकरणमे असत वस्तुओंका महत्त्व हो जाता है तो उन वस्तुओंको प्राप्त करनेकी कामना पैदा हो जाती है। कामना पैदा होते ही अन्तःकरणकी शान्ति भंग हो जाती है और अशान्ति—हलचल पैदा हो जाती है। परंतु जब असत् वस्तुओंका महत्त्व मिट जाता है तो साधकके चित्तमे स्वाभाविक ही प्रसन्नता रहती है। अप्रसन्नताका कारण मिट जानेसे फिर कभी अप्रसन्नता होती ही नहीं। कारण कि सांख्ययोगी साधकके अन्तः-

करणमें अपने-सहित संसारका अभाव और परमात्मतत्त्वका भाव अटल रहता है।

'न शोचति न काङ्क्षति'—उस प्रसन्नताकी पहचान यह है कि वह शोक-चिन्ता नहीं करता। सांसारिक कितनी ही बड़ी हानि हो जाय तो भी वह शोक नहीं करता और अमुक परिस्थिति प्राप्त हो जाय—ऐसी इच्छा भी नहीं करता। तात्पर्य है कि उत्पन्न और नष्ट होनेवाली तथा आने-जानेवाली परिवर्तनशील परिस्थिति, वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ आदिके बनने-बिगड़नेसे उसपर कोई असर ही नहीं पडता। जो परमात्मामें अटलरूपसे स्थित है, उसपर आने-जानेवाली परिस्थितियोंका असर हो ही कैसे सकता है!

'समः सर्वेषु भूतेषु'—जबतक साधकमें किंचिन्मात्र भी हर्ष-शोक, राग-द्वेष आदि द्वन्द्व रहते हैं, तबतक वह सर्वत्र व्याप्त परमात्माके साथ अभिन्नताका अनुभव नहीं कर सकता। अभिन्नताका अनुभव न होनेसे वह अपनेको सम्पूर्ण भूतोंमें सम नहीं देख सकता। परंतु जब साधक हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंसे सर्वथा रहित हो जाता है तो परमात्माके साथ स्वतः-स्वाभाविक अभिन्नता (जो कि सदासे ही थी) का अनुभव हो जाता है। परमात्माके साथ अभिन्नता होनेसे, अपना कोई व्यक्तित्व* न रहनेसे अर्थात् 'मैं हूँ' इस रूपसे अपनी कोई अलग सत्ता न रहनेसे वह सम्पूर्ण प्राणियोंमें सम हो जाता है। जैसे परमात्मा सम्पूर्ण भूतोंमें सम है—

---

* व्यक्तित्व उसे कहते हैं, जिसमें मनुष्य अपनी सत्ता अलग मानता है और जिससे बन्धन होता है।

'समोऽहं सर्वभूतेषु' (गीता ९ । २९), वैसे ही वह भी सम्पूर्ण भूतोमे सम हो जाता है ।

वह सम्पूर्ण भूतोंमे सम किस प्रकार होता है ? जैसे— मनोराज्य और स्वप्नमें जो नाना सृष्टि होती है, उसमे मन ही अनेक रूप धारण करता है अर्थात् वह सृष्टि मनोमयी होती है । मनोमयी होनेसे जैसे सब सृष्टिमें मन है और मनमें सब सृष्टि है, ऐसे ही सब प्राणियोमे (आत्मरूपसे) वह है और उसमे सम्पूर्ण प्राणी हैं* । इसीको यहाँ **'समः सर्वेषु भूतेषु'**—कहा है ।

'मद्भक्तिं लभते पराम्'—जब समरूप परमात्माके साथ अभिन्नता होनेसे पुरुषका सर्वत्र सम भाव हो जाता है तो उसका परमात्मामें प्रतिक्षण वर्द्धमान एक विलक्षण आकर्षण, खिचाव, अनुराग हो जाता है । उसीको यहाँ पराभक्ति कहा गया है ।

पाँचवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें जैसे ब्रह्मभूत-अवस्थाके बाद ब्रह्मनिर्वाणकी प्राप्ति बतायी है—**'स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति'** ऐसे ही यहाँ ब्रह्मभूत-अवस्थाके बाद पराभक्तिकी प्राप्ति बतायी है ।

सम्बन्ध—

अब अगले श्लोकमें पराभक्तिका फल बताते हैं ।

---

* सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
(गीता ६ । २९)

श्लोक—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

व्याख्या—

'भक्त्या मामभिजानाति'—जब परमात्मतत्त्वमें आकर्षण, अनुराग हो जाता है, तब साधक स्वयं उस परमात्माके सर्वथा समर्पित हो जाता है, उस तत्त्वसे अभिन्न हो जाता है। फिर उसका अलग कोई (स्वतन्त्र) अस्तित्व नहीं रहता अर्थात् उसके अहंभावका अति-सूक्ष्म अंश भी नहीं रहता। इस वास्ते उसको प्रेमस्वरूपा प्रेमाभक्ति प्राप्त हो जाती है। उस भक्तिसे परमात्मतत्त्वका वास्तविक बोध हो जाता है।

ब्रह्मभूत-अवस्था हो जानेपर संसारके सम्बन्धका तो सर्वथा त्याग हो जाता है, पर 'मै ब्रह्म हूँ, मै शान्त हूँ, मै निर्विकार हूँ'—ऐसा सूक्ष्म अहंभाव रह जाता है। यह अहंभाव जबतक रहता है, तबतक परिच्छिन्नता और पराधीनता रहती है। कारण कि यह अहंभाव प्रकृतिका कार्य है और प्रकृति 'पर' है; इस वास्ते पराधीनता रहती है। परमात्माकी तरफ आकृष्ट होनेसे, पराभक्ति होनेसे ही यह अहंभाव मिटता है*। इस अहंभावके सर्वथा मिटनेसे ही तत्त्वका वास्तविक बोध होता है।

'यावान्'—सातवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने अर्जुनको 'समग्र'-रूप सुननेकी आज्ञा दी कि मेरेमें जिसका मन आसक्त हो

* प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥
(मानस ७। ४८। ३)

गया है, जिसको मेरा ही आश्रय है, वह अनन्यभावसे मेरे साथ दृढ़तापूर्वक सम्बन्ध रखते हुए मेरे जिस समग्ररूपको जान लेता है, उसको तुम सुनो*। यही बात भगवान्ने सातवें अध्यायके अन्तमें कही कि जरा-मरणसे मुक्ति पानेके लिये जो मेरा आश्रय लेकर यत्न करते हैं, वे ब्रह्म सम्पूर्ण अध्यात्म और सम्पूर्ण कर्मको अर्थात् सम्पूर्ण निर्गुण-विषयको जान लेते हैं और अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके सहित मुझको अर्थात् सम्पूर्ण सगुण-विषयको जान लेते हैं।†

---

* मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥
(गीता ७। १)

† जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥
(गीता ७। २९-३०)

इसी समग्ररूपको लेकर आठवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने 'वह ब्रह्म क्या है?' आदि सात प्रश्न किये। भगवान्ने आठवें अध्यायके तीसरेसे सातवें श्लोकतक उन प्रश्नोंका संक्षेपसे वर्णन किया और आगे आठवेंसे दसवें श्लोकतक सगुण-निराकारका, ग्यारहवेंसे तेरहवें श्लोकतक निर्गुण निराकारका और चौदहवेंसे सोलहवें श्लोकतक सगुण-साकारका वर्णन किया। फिर सत्रहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक कालकी अवधिवालोंका वर्णन करके बीसवेंसे बाईसवें श्लोकतक अपने समग्ररूपका उपसंहार किया। तेईसवेंसे छब्बीसवें श्लोकतक पुनरावर्ती और अपुनरावर्ती मार्गका वर्णन करके सत्ताईसवें श्लोकमें दोनों मार्गोंको जाननेकी महिमा कही। छठे

इस प्रकार निर्गुण और सगुणके सिवाय राम, कृष्ण, शिव, गणेश, शक्ति, सूर्य आदि अनेक रूपोंमें प्रकट होकर परमात्मा लीला करते हैं, उनको भी जान लेना—यही पराभक्तिसे **'यावान्'** अर्थात् समग्ररूपको जानना है।

'यश्चास्मि तत्त्वतः'—वे ही परमात्मा अनेक रूपोंमे, अनेक आकृतियोंमें, अनेक शक्तियोंको साथ लेकर, अनेक कार्य करनेके लिये बार-बार प्रकट होते हैं और वे ही परमात्मा अनेक सम्प्रदायोंमें अपनी-अपनी भावनाके अनुसार अनेक इष्टदेवोंके रूपमें कहे जाते हैं। वास्तवमें परमात्मा एक ही हैं। इस प्रकार मै जो हूँ—इसे तत्त्वसे जान लेता है।

'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्'—ऐसा मुझे तत्त्वसे जानकर तत्काल* मेरेमें प्रविष्ट हो जाता है अर्थात् मेरे साथ भिन्नताका जो भाव था, वह सर्वथा मिट जाता है।

तत्त्वसे जाननेपर उसमें जो अनजानपना था, वह सर्वथा मिट जाता है और वह उस तत्त्वमें प्रविष्ट हो जाता है। यही पूर्णता है और इसीमें मनुष्यजन्मकी सार्थकता है।

विशेष बात

जीवकी परमात्मामें रति, प्रीति, प्रेम, आकर्षण स्वतः है। परंतु जब यह जीव प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है तो

अध्यायके सैंतीसवें श्लोकसे योगभ्रष्टकी गतिपर जो प्रकरण चल पड़ा था, उसका उपसंहार आठवे अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें योगीकी महिमा कहकर किया।

* जानने और प्राप्त करनेमें काल-भेद नहीं होता।

नित्य-तत्त्वकी प्राप्ति होती है। इस वास्ते तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी—तीनोंसे 'योगी' श्रेष्ठ है। इस प्रकारके कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, हठयोगी, लययोगी आदि सब योगियोंमे भगवान्‌ने 'भक्तियोगी' को सर्वश्रेष्ठ बताया है*। यही भक्तियोगी भगवान्‌के समग्ररूपको जान लेता है, और उसी समग्ररूपको ध्यानपरायण साङ्ख्ययोगी पराभक्तिके द्वारा जान लेता है। उसी समग्ररूपका वर्णन यहाँ 'यावान्' पदसे हुआ है†।

इस प्रकरणके आरम्भमें 'सिद्धिको प्राप्त हुआ जिस प्रकार ब्रह्मको प्राप्त होता है, यह कहनेकी प्रतिज्ञा की और बताया कि ध्यानयोगके परायण होनेसे वह वैराग्यको प्राप्त होता है। वैराग्यसे अहंकार आदिका त्याग करके ममतारहित होकर शान्त होता है।

---

* योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥
(गीता ६।४७)

† गीतामें 'यावान्' को ही 'वासुदेवः सर्वम्' (७।१९) कहा है। उसी तत्त्वको सत्-असत् (२।१६), परा-अपरा (७।४-५), पुरुष-प्रकृति (१३।१९), क्षेत्रज्ञ-क्षेत्र (१३।२६) आदि दो रूपोंमें बताया है, और उसी तत्त्वको सत्-असत्‌से पर भी बताया है—'त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्' (११।३७)। उस तत्त्वको गीतामें तीन रूपोंसे भी बताया है—अपरा, परा और अहम् (७।५-६), क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ और माम् (१३।१-२) एवं क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम (१५।१६-१७)। इन तीनोंके (आठवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनके पूछनेपर) भगवान्‌ने छः भेद बताये हैं—'अपरा'—क्रिया और पदार्थ, 'परा'—सामान्य जीव और कारक पुरुष, एवं 'अहम्'—निर्गुण और सगुण।

तब वह ब्रह्मप्राप्तिका पात्र होता है। पात्र होते ही उसको ब्रह्मभूत-अवस्था हो जाती है। ब्रह्मभूत-अवस्था होनेपर संसारके सम्बन्धसे जो राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्व होते थे, वे सर्वथा मिट जाते हैं तो वह सम्पूर्ण प्राणियोमें सम हो जाता है। सम होनेपर पराभक्ति प्राप्त हो जाती है। वह पराभक्ति ही वास्तविक प्रीति है। उस प्रीतिसे परमात्माके समग्ररूपका बोध हो जाता है। बोध होते ही उस तत्त्वमे प्रवेश हो जाता है—'विशते तदनन्तरम्'।

अनन्यभक्तिसे तो मनुष्य भगवान्‌को तत्त्वसे जान सकता है, उनमें प्रविष्ट हो सकता है और उनके दर्शन भी कर सकता है*; परंतु ध्यानप्रधान सांख्ययोगी भगवान्‌को तत्त्वसे जानकर उनमें प्रविष्ट तो होता है, पर भगवान् उसको दर्शन देनेमें बाध्य नहीं होते। कारण कि उसकी साधना पहलेसे ही विवेकपूर्वक रहा है, इस वास्ते उसको दर्शनकी इच्छा नहीं होती। दर्शन न होनेपर भी उनमें कोई कमी नहीं रहती, अतः कमी माननी नहीं चाहिये।

यहाँ उस तत्त्वमें प्रविष्ट हो जाना ही अनिर्वचनीय प्रेमकी प्राप्ति है। इसी प्रेमको नारदभक्तिसूत्रमें प्रतिक्षण वर्धमान कहा है†।

---

* इन छः भेदोंको दृष्टान्तके रूपमें यों समझें—जल-तत्त्व एक होनेपर भी उसके छः भेद हैं; उसमें परमाणुरूपसे जल निर्गुण ब्रह्म है, भापरूपसे जल सगुण परमात्मा है, बादलरूपसे जल कारक पुरुष (ब्रह्मा), बूँदोंके रूपसे जल सामान्य जीव है, वर्षारूपसे जल सृष्टि-रचनारूप क्रिया है, और बर्फरूपसे जल (पृथ्वी, जल, तेज, वायु आदि) पदार्थ है।

† गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्। (नारदभक्तिसूत्र ५४)

परमात्मासे विमुख हो जाता है और संसारमें आकर्षण हो जाता है। वह आकर्षण ही वासना, स्पृहा, कामना, आशा, तृष्णा आदि नामोसे कहा जाता है।

इन वासना आदिका जो विषय (प्रकृतिजन्य पदार्थ) है, वह क्षणभङ्गुर और परिवर्तनशील है, तथा यह जीवात्मा स्वयं नित्य और अपरिवर्तनशील है। ऐसा होता हुआ भी प्रकृतिके साथ तादात्म्य होनेसे यह परिवर्तनशीलमे आकृष्ट हो जाता है। इससे इसको मिलता कुछ नहीं; परंतु कुछ मिलेगा—इस भ्रम, वासनाके कारण यह जन्म-मरणके चक्करमे पड़ा हुआ महान् दुःख पाता रहता है। इससे छूटनेके लिये भगवान्ने योग बताया है। वह योग जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद करके परमात्माके साथ नित्ययोगका अनुभव करा देता है।

गीतामें मुख्यरूपसे तीन योग कहे हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। इन तीनोपर विचार किया जाय तो भगवान्का प्रेम तीनो ही योगोमें है। कर्मयोगमे उसको 'कर्तव्यरति' कहते हैं अर्थात् वह रति कर्तव्यमें होती है—**'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः'** (१८ । ४५) [कर्मयोगकी यह रति अन्तमे आत्मरतिमें परिणत हो जाती है (गीता २ । ५५; ३ । १०) और जिस कर्मयोगीके भक्तिके संस्कार हैं, उसकी यह रति भगवद्रतिमें परिणत हो जाती है]। ज्ञानयोगमें उसी प्रेमको 'आत्मरति' कहते हैं अर्थात् वह रति स्वरूपमें होती है—**'योऽन्तः सुखोऽन्तरारामः'** (५ । २४)। और भक्तियोगमें उसी प्रेमको 'भगवद्रति' कहते हैं अर्थात् वह

रति भगवान्‌में होती *—'तुष्यन्ति च रमन्ति च' (१०।९)। इस प्रकार इन तीनो योगोमे रति होनेपर भी गीतामें 'भगवद्रति' की विशेष रूपसे महिमा गायी गयी है।

तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी—इन तीनोसे भी योगी (समतावाला) श्रेष्ठ है†। तात्पर्य यह है कि जडतासे सम्बन्ध रखते हुए बड़ा भारी तप करनेपर, बहुत-से शास्त्रोका अनेक प्रकारका ज्ञान सम्पादन करनेपर और यज्ञ, दान, तीर्थ आदिके बडे-बड़े अनुष्ठान करनेपर जो कुछ प्राप्त होता है; वह सब अनित्य ही होता है, पर योगीको

* भगवान्‌में रति या प्रियता प्रकट होती है—अपनेपनसे। परमात्माके साथ जीवका अनादिकालसे स्वतःसिद्ध सम्बन्ध है। अपनी चीज स्वतः प्रिय लगती है। अतः अपनापन प्रकट होते ही भगवान् स्वतः प्यारे लगते है। प्रियतामें कभी समाप्त न होनेवाला अलौकिक, विलक्षण आनन्द है। वह आनन्द प्राप्त होनेपर प्राणीमें स्वतः निर्विकारता आ जाती है अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर आदि कोई भी विकार पैदा हो ही नही सकता। पारमार्थिक आनन्द न मिलनेसे ही कामादि विकार पैदा होते हैं अर्थात् आनन्द न मिलनेसे नाशवान् वस्तुओंसे सुख लेनेकी इच्छा होती है, जिससे सब विकार पैदा होते है।

उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंके साथ अपनापन करनेसे ही यह जीव भगवान्‌से विमुख हो जाता है। विमुखता होनेपर भी भगवान्‌की प्रियता कभी मिट नहीं सकती। नास्तिक-से-नास्तिक भी आफत पड़नेपर पुकार उठता है कि कोई ईश्वर है तो रक्षा करे!

† तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
(गीता ६।४६)

नित्य-तत्त्वकी प्राप्ति होती है। इस वास्ते तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी—तीनोंसे 'योगी' श्रेष्ठ है। इस प्रकारके कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, हठयोगी, लययोगी आदि सब योगियोंमें भगवान्‌ने 'भक्तियोगी' को सर्वश्रेष्ठ बताया है*। यही भक्तियोगी भगवान्‌के समग्ररूपको जान लेता है, और उसी समग्ररूपको ध्यानपरायण सांख्ययोगी पराभक्तिके द्वारा जान लेता है। उसी समग्ररूपका वर्णन यहाँ 'यावान्' पदसे हुआ है†।

इस प्रकरणके आरम्भमें 'सिद्धिको प्राप्त हुआ जिस प्रकार ब्रह्मको प्राप्त होता है, यह कहनेकी प्रतिज्ञा की और बताया कि ध्यानयोगके परायण होनेसे वह वैराग्यको प्राप्त होता है। वैराग्यसे अहंकार आदिका त्याग करके ममतारहित होकर शान्त होता है।

---

* योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥
(गीता ६। ४७)

† गीतामें 'यावान्' को ही 'वासुदेवः सर्वम्' (७। १९) कहा है। उसी तत्त्वको सत्-असत् (२। १६), परा-अपरा (७। ४-५), पुरुष-प्रकृति (१३। १९), क्षेत्रज्ञ-क्षेत्र (१३। २६) आदि दो रूपोंमें बताया है, और उसी तत्त्वको सत्-असत्‌से पर भी बताया है—'त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्' (११। ३७)। उस तत्त्वको गीतामें तीन रूपोंसे भी बताया है—अपरा, परा और अहम् (७। ५-६), क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ और माम् (१३। १-२) एवं क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम् (१५। १६-१७)। इन तीनोंके (आठवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनके पूछनेपर) भगवान्‌ने छः भेद बताये हैं—'अपरा'—क्रिया और पदार्थ, 'परा'—सामान्य जीव और कारक पुरुष, एवं 'अहम्'—निर्गुण और सगुण।

तब वह ब्रह्मप्राप्तिका पात्र होता है। पात्र होते ही उसको ब्रह्मभूत-अवस्था हो जाती है। ब्रह्मभूत-अवस्था होनेपर संसारके सम्बन्धसे जो, राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्व होते थे, वे सर्वथा मिट जाते हैं तो वह सम्पूर्ण प्राणियोंमें सम हो जाता है। सम होनेपर पराभक्ति प्राप्त हो जाती है। वह पराभक्ति ही वास्तविक प्रीति है। उस प्रीतिसे परमात्माके समग्ररूपका बोध हो जाता है। बोध होते ही उस तत्त्वमें प्रवेश हो जाता है—**'विशते तदनन्तरम्'**।

अनन्यभक्तिसे तो मनुष्य भगवान्‌को तत्त्वसे जान सकता है, उनमें प्रविष्ट हो सकता है और उनके दर्शन भी कर सकता है*; परंतु ध्यानप्रधान सांख्ययोगी भगवान्‌को तत्त्वसे जानकर उनमें प्रविष्ट तो होता है, पर भगवान् उसको दर्शन देनेमें बाध्य नहीं होते। कारण कि उसकी साधना पहलेसे ही विवेकपूर्वक रहा है, इस वास्ते उसको दर्शनकी इच्छा नहीं होती। दर्शन न होनेपर भी उनमें कोई कमी नहीं रहती, अतः कमी माननी नहीं चाहिये।

यहाँ उस तत्त्वमें प्रविष्ट हो जाना ही अनिर्वचनीय प्रेमकी प्राप्ति है। इसी प्रेमको नारदभक्तिसूत्रमें प्रतिक्षण वर्धमान कहा है†।

---

* इन छः भेदोंको दृष्टान्तके रूपमे यों समझें—जल-तत्त्व एक होनेपर भी उसके छः भेद हैं; उसमें परमाणुरूपसे जल निर्गुण ब्रह्म है, भापरूपसे जल सगुण परमात्मा है, बादलरूपसे जल कारक पुरुष (ब्रह्मा), बूँदोंके रूपसे जल सामान्य जीव है, वर्षारूपसे जल सृष्टि-रचनारूप क्रिया है, और बर्फरूपसे जल (पृथ्वी, जल, तेज, वायु आदि) पदार्थ है।

† गुणरहित कामनारहित प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्। (नारदभक्तिसूत्र ५४)

इस प्रेममें सर्वथा पूर्णता हो जाती है अर्थात् उसके लिये करना, जानना और पाना कुछ भी बाकी नहीं रहता। इस वास्ते न करनेका राग रहता है, न जाननेकी जिज्ञासा रहती है, न जीनेकी आशा रहती है, न मरनेका भय रहता है और न पानेका लालच ही रहता है।

जबतक भगवान्‌में पराभक्ति अर्थात् परम प्रेम नहीं होता, तबतक ब्रह्मभूत-अवस्थामें भी 'मैं ब्रह्म हूँ' यह सूक्ष्म अहंकार रहता है। जबतक लेशमात्र भी अहंकार रहता है, तबतक परिच्छिन्नताका अत्यन्त अभाव नहीं होता। परंतु 'मैं ब्रह्म हूँ' यह सूक्ष्म अहंभाव तबतक जन्म-मरणका कारण नहीं बनता, जबतक उसमें प्रकृतिजन्य गुणोंका सङ्ग नहीं होता; क्योंकि गुणोंका सङ्ग होनेसे ही बन्धन होता है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३ । २१)। उदाहरणार्थ—गाढ़ नींदसे जगनेपर साधारण मनुष्यमात्रको सबसे पहले यह अनुभव होता है कि 'मैं हूँ'। ऐसा अनुभव होते ही जब नाम, रूप, देश, काल, जाति आदिके साथ स्वयंका सम्बन्ध जुड़ जाता है, तब 'मैं हूँ' यह अहंभाव शुभ-अशुभ कर्मोंका कारण बन जाता है, जिससे जन्म-मरणका चक्कर चल पड़ता है। परंतु जो ऊँचे दर्जेका साधक होता है अर्थात् जिसकी निरन्तर ब्रह्मभूत-अवस्था रहती है, उसके सात्त्विक ज्ञान (१८ । २०) में सब जगह ही अपने स्वरूपका बोध रहता है। परंतु जबतक साधकका सत्त्वगुणके साथ सम्बन्ध रहता है, तबतक नींदसे जगने-पर तत्काल 'मैं ब्रह्म हूँ' अथवा 'सब कुछ एक परमात्मा ही है'—

ऐसी वृत्ति पकड़ी जाती है और मालूम होता है कि नींदमें यह वृत्ति छूट गयी थी, मानो उसकी भूल हो गयी थी और अब पीछे उस तत्त्वकी जागृति हो गयी है, स्मृति आ गयी है। गुणातीत हो जानेपर अर्थात् गुणोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर विस्मृति और स्मृति—ऐसी दो अवस्थाएँ नहीं होतीं अर्थात् नींदमें भूल हो गयी और अब स्मृति आ गयी—ऐसा अनुभव नहीं होता, प्रत्युत नींद तो केवल अन्तःकरणमें आयी थी, अपनेमें नहीं, अपना स्वरूप तो ज्यों-का-त्यों रहा—ऐसा अनुभव रहता है। तात्पर्य यह है कि निद्राका आना और उससे जगना—ये दोनों प्रकृतिमें ही हैं, ऐसा उसका स्पष्ट अनुभव रहता है। इसी अवस्थाको चौदहवें अध्यायके बाईसवें श्लोकमें कहा है कि प्रकाश अर्थात् नींदसे जगना और मोह अर्थात् नींदका आना—इन दोनोंमें गुणातीत पुरुषके किञ्चिन्मात्र भी राग-द्वेष नहीं होते* ।

सम्बन्ध—

पहले श्लोकमें अर्जुनने संन्यास और त्यागके तत्त्वके विषयमें पूछा तो उसके उत्तरमें भगवान्‌ने चौथेसे बारहवें श्लोकतक कर्मप्रधान कर्मयोगका और इकतालीसवेंसे अड़तालीसवें श्लोकतक भक्तिमिश्रित कर्मयोगका वर्णन किया, तथा तेरहवेंसे चालीसवें श्लोकतक विचारप्रधान सांख्ययोगका और उन्चासवेंसे पचपनवें

---

* प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥
(गीता १४। २२)

श्लोकतक ध्यान-प्रधान सांख्ययोगका वर्णन किया। इस प्रकार दो निष्ठाओं— साख्यनिष्ठा और योगनिष्ठाका वर्णन करके अब भगवान् उन दोनों निष्ठाओंसे अलग भक्तिकी प्रधानतावाली 'भगवन्निष्ठा'* (भक्तियोग अथवा शरणागति) का वर्णन आरम्भ करते हैं।

श्लोक—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥ ५६॥

व्याख्या—

'सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणः'—यहाँ **'कर्माणि'** पदके साथ **'सर्व'** और **'कुर्वाणः'** पदके साथ **'सदा'** पद देनेका तात्पर्य है

---

* भगवान्‌ने भगवद्गीतामे सांख्य और योग—इन दो निष्ठाओंका वर्णन किया है। साधकोंकी साधनमे ये दोनो ही निष्ठाएँ होती हैं; इस वास्ते गीता ३। ३में 'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा' और गीता १५। १६मे 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके' पद आये हैं, अर्थात् एककी (कर्मयोगीकी) क्षरके त्यागमे निष्ठा है और दूसरेकी (सांख्ययोगीकी) अक्षरमें निष्ठा है; परतु जो भगवान्‌की तरफ चलते है वे भगवन्निष्ठ होते है। उनकी अपनी स्वतन्त्र साधन-निष्ठा नहीं होती। उनकी वह निष्ठा अलौकिक है। जहाँ अलौकिक भगवान्‌मे निष्ठा है, वहाँ बन्धन काटनेकी जिम्मेवारी भगवान्‌पर ही आ जाती है। इस निष्ठाका वर्णन गीतामें जगह-जगह आता है। जैसे, तीसरे अध्यायमे दो निष्ठाओंका वर्णन करके तीसवें श्लोकमे 'मयि सर्वाणि'····· कहकर और पाँचवें अध्यायमें भी दो निष्ठाओंका वर्णन करके अन्तमे उन्तीसवें श्लोकमें 'भोक्तारं यज्ञतपसाम्'·····' कहकर भक्तिकी बात बतायी। ऐसे ही गीता ६। ४७मे 'योगिनामपि सर्वेषाम्'' कहकर गीता १५। १७ में 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' कहकर और यहाँ 'सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः' कहकर भक्तिकी बात बतायी।

कि जिस ध्यानप्रधान सांख्ययोगीने शरीर, वाणी और मनका संयमन कर लिया है अर्थात् जिसने शरीर आदिकी क्रियाओंको संकुचित कर लिया है और एकान्तमें रहकर सदा ध्यानयोगमे लगा रहता है, उसको जिस पदकी प्राप्ति होती है, उसी पदको लौकिक, पारलौकिक, सामाजिक, शारीरिक आदि सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंको हमेशा करते हुए भी मेरा आश्रय लेनेवाला मेरी कृपासे प्राप्त कर लेता है।

'मद्व्यपाश्रयः'—कर्मोंका, कर्मोंके फलका, कर्मोंके पूरा होने अथवा न होनेका, किसी घटना, परिस्थिति, वस्तु, व्यक्ति आदिका आश्रय न हो। केवल मेरा ही आश्रय (सहारा) हो। इस तरह जो सर्वथा मेरे ही परायण हो जाता है, अपना स्वतन्त्र कुछ नहीं समझता, किसी भी वस्तुको अपनी नहीं मानता, सर्वथा मेरे आश्रित रहता है, ऐसे भक्तको अपने उद्धारके लिये कुछ करना नहीं पडता। उसका उद्धार मैं कर देता हूँ *; उसको अपने जीवन-निर्वाह या साधन-सम्बन्धी किसी बातकी कमी नहीं रहती; सबकी मै पूर्ति कर देता हूँ †—यह मेरा सदाका एक विधान है, नियम है, जो कि सर्वथा शरण हो जानेवाले हरेक प्राणीको प्राप्त हो सकता है ‡।

---

* तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ (गीता १२। ७)

† अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्ताना योगक्षेम वहाम्यहम्॥ (गीता ९। २२)

‡ अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

हरेक व्यक्तिको यह बात तो समझमें आ जाती है कि जो एकान्तमें रहता है और साधन-भजन करता है, उसका कल्याण हो जाता है; परंतु यह बात समझमें नहीं आती कि जो सदा मशीनकी तरह संसारका सब काम करता है, उसका कल्याण कैसे होगा? उसका कल्याण हो जाय, ऐसी कोई युक्ति नहीं दीखती; क्योंकि ऐसे तो सब लोग कर्म करते ही रहते हैं। इतना ही नहीं, जीव-मात्र कर्म करता ही रहता है, पर उन सबका कल्याण होता हुआ दीखता नहीं और शास्त्र भी ऐसा कहता नहीं! इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं—**'मत्प्रसादात्'**। तात्पर्य यह कि जिसने केवल मेरा ही आश्रय ले लिया है, उसका कल्याण मेरी कृपासे हो जायगा, कौन है मना करनेवाला!

यद्यपि प्राणिमात्रपर भगवान्‌का अपनापन और कृपा सदा-सर्वदा स्वतःसिद्ध है, तथापि यह प्राणी जबतक असत् संसारका आश्रय लेकर भगवान्‌से विमुख रहता है, तबतक भगवत्कृपा उसके लिये फलीभूत नहीं होती अर्थात् उसके काममें नहीं आती। परंतु यह प्राणी भगवान्‌का आश्रय लेकर ज्यों-ज्यों दूसरा आश्रय छोड़ता जाता है, त्यों-ही-त्यों भगवान्‌का आश्रय दृढ होता चला जाता है

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
(गीता ९। ३०-३२)

और ज्यों-ज्यो भगवान्‌का आश्रय दृढ होता जाता है, त्यो-ही-त्यों भगवत्कृपाका अनुभव होता जाता है। जब सर्वथा भगवान्‌का आश्रय ले लेता है, तब उसे भगवान्‌की पूर्ण कृपाका अनुभव हो जाता है।

'**अवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्**'—स्वतःसिद्ध परमपदकी प्राप्ति अपने कर्मोंसे, अपने पुरुषार्थसे अथवा अपने साधनसे नहीं होती। यह तो केवल भगवत्कृपासे ही होती है। शाश्वत अव्यय-पद सर्वोत्कृष्ट है। उसी परमपदको भक्तिमार्गमे परमधाम, सत्यलोक, वैकुण्ठलोक, गोलोक, साकेतलोक आदि कहते है और ज्ञानमार्गमे विदेह-कैवल्य, मुक्ति, स्वरूपस्थिति आदि कहते हैं। वह परमपद तत्त्वसे एक होते हुए भी मार्गों और उपासनाओका भेद होनेसे उपासकोकी दृष्टिसे भिन्न-भिन्न कहा जाता है *।

भगवान्‌का चिन्मय लोक एक देश-विशेषमे होते हुए भी सब जगह व्यापकरूपसे परिपूर्ण है। जहॉ भगवान् है, वहीं उनका लोक भी है; क्योकि भगवान् और उनका लोक तत्त्वसे एक ही है। भगवान् सर्वत्र विराजमान हैं; अतः उनका लोक भी सर्वत्र विराजमान (सर्वव्यापी) है। जब भक्तकी अनन्य निष्ठा सिद्ध हो जाती है, तब परिच्छिन्नताका अत्यन्त अभाव हो जाता है और वही लोक उसके सामने प्रकट हो जाता है अर्थात् उसे यहॉ जीते-जी ही

* अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमा गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ (गीता ८। २१)
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ (गीता १४। २७)

उस लोककी दिव्य लीलाओंका अनुभव होने लगता है। परंतु जिस भक्तकी ऐसी धारणा रहती है कि वह दिव्य लोक एक देश-विशेषमें ही है, तो उसे उस लोककी प्राप्ति शरीर छोड़नेपर ही होती है। उसे लेनेके लिये भगवान्‌के पार्षद आते हैं और कहीं-कहीं स्वयं भगवान् भी आते हैं।

विशेष बात—

प्रकृति और पुरुष—ये दो तत्त्व हैं। इनमें प्रकृतिसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करके अपने स्वरूपका अनुभव करना 'ज्ञानयोग' है, और प्रकृतिके कार्य संसारके पदार्थोंको केवल संसारका ही समझकर संसारके हितमें लगा देना 'कर्मयोग' है। इन दोनों (ज्ञानयोग और कर्मयोग)से साधककी एक निष्ठा (स्थिति) बनती है। इस वास्ते यह साधककी अपनी निष्ठा है।

भगवान्‌के परायण होकर अपने-आपको भगवान्‌के समर्पित कर देना, अपनेको भगवान्‌के साथ अभेद अथवा भेद-भावसे अभिन्न कर देना, अपना स्वतन्त्र अस्तित्व न मानना—यह 'भक्तियोग' है। यह निष्ठा साधककी नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌की (भगवन्निष्ठा) है।

ज्ञानयोग और कर्मयोग—इन दोनों साधनोंसे 'असङ्गता' प्राप्त होती है। उस असङ्गतामें स्थित होकर साधक अखण्ड-शान्तिका अनुभव करता है। परंतु भक्तियोगमें भगवन्निष्ठ साधक

भगवान्के साथ 'अभिन्नता' प्राप्त करके प्रतिक्षण वर्द्धमान भगवत्प्रेमका आस्वादन करता है *।

सम्बन्ध—

पूर्वश्लोकमें अपना सामान्य विधान (नियम) बताकर अब भगवान् अगले श्लोकमें अर्जुनके लिये विशेषरूपसे आज्ञा देते हैं।

श्लोक—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥ ५७॥

व्याख्या—

इस श्लोकमें भगवान्ने चार बातें बतायीं हैं—

(१) '**चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य**'—सम्पूर्ण कर्मोंको चित्तसे मेरे अर्पित कर दे।

(२) '**मत्परः**'—स्वयंको मेरे अर्पित कर दे।

(३) '**बुद्धियोगमुपाश्रित्य**'—समताका आश्रय लेकर संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद कर ले।

(४) '**मच्चित्तः सततं भव**'—निरन्तर मेरेमें चित्तवाला हो जा अर्थात् मेरे साथ अटल सम्बन्ध कर ले।

---

* गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्॥ (नारद-भक्ति-सूत्र ५४)

'यह प्रेम गुणरहित है, कामनारहित है, प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, विच्छेदरहित है, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर है और अनुभवरूप है।

'चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य'—चित्तसे कर्मोंको अर्पित करनेका तात्पर्य है कि मनुष्य चित्तसे यह धारण कर ले कि मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदि और संसारके व्यक्ति, पदार्थ, घटना, परिस्थिति आदि सब भगवान्‌की ही है। भगवान् ही इन सबके मालिक हैं। इनमेंसे कोई भी चीज किसीकी व्यक्तिगत नहीं है। केवल इन वस्तुओंका सदुपयोग करनेके लिये ही भगवान्‌ने व्यक्तिगत अधिकार दिया है। इस दिये हुए अधिकारको भी भगवान्‌के अर्पित कर देना है।

शरीर, इन्द्रियों, मन आदिसे जो कुछ शास्त्रविहित सांसारिक या पारमार्थिक क्रियाएँ होती हैं, वे सब भगवान्‌की मर्जीसे ही होती हैं। मनुष्य तो केवल अहंकारके कारण उनको अपनी मान लेता है। उन क्रियाओंमें जो अपनापन है, उसे भी भगवान्‌के अर्पित कर देना है; क्योंकि वह अपनापन केवल मूर्खतासे माना हुआ है, वास्तवमें है नहीं। इसलिये उनमें अपनेपनका भाव बिल्कुल उठा देना चाहिये और उन सबपर भगवान्‌की मुहर लगा देनी चाहिये।

'मत्परः'—भगवान् ही मेरे परम आश्रय हैं, उनके सिवाय मेरा कुछ नहीं है, मेरेको करना भी कुछ नहीं है, पाना भी कुछ नहीं है, किसीसे लेना भी कुछ नहीं है अर्थात् देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिसे मेरा किञ्चिन्मात्र कोई प्रयोजन नहीं है—ऐसा अनन्यभाव हो जाना ही भगवान्‌के परायण होना है।

पाठको! एक बात खास ध्यान देनेकी है। आप इसपर विशेष ध्यान दें। रुपये-पैसे, कुटुम्ब, शरीर आदिको आप अपना

समझते हैं और मनमें यह समझते हैं कि हम इनके मालिक बन गये, हमारा इनपर आधिपत्य है; परन्तु वास्तवमें यह बात बिल्कुल झूठी है, कोरा वहम है और बड़ा भारी धोखा है। जो किसी चीजको अपनी मान लेता है, वह उस चीजका गुलाम बन जाता है और वह चीज उसकी मालिक बन जाती है। फिर उस चीजके बिना वह रह नहीं सकता। इस वास्ते जिन चीजोंको आप अपनी मान लोगे, वे सब आपपर चढ़ जायँगी और आप तुच्छ हो जायँगे। वह चीज चाहे रुपया हो, चाहे कुटुम्बी हो, चाहे शरीर हो, चाहे विद्या-बुद्धि आदि हो। ये सब चीजें प्राकृत हैं और आपसे भिन्न हैं, पर हैं। इनके अधीन होना ही पराधीन होना है।

भगवान् स्व हैं, अपने हैं। उनको आप अपना मानोगे, तो वे आपके वशमें हो जायँगे। भगवान्‌के हृदयमें भक्तका जितना आदर है, उतना आदर संसारमें करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। भगवान् भक्तके दास हो जाते हैं और उसे अपना मुकुटमणि बनाते हैं—'मैं तो हूँ भगतनका दास भगत मेरे मुकुटमणि'। परन्तु संसार आपका दास बनकर आपको मुकुटमणि नहीं बनायेगा। वह तो आपको अपना दास बनाकर पद-दलित ही करेगा। इस वास्ते केवल भगवान्‌के शरण होकर सर्वथा उन्हींके परायण हो जायँ।

'बुद्धियोगमुपाश्रित्य'—गीताभरमें देखा जाय तो समताकी बड़ी भारी महिमा है। आपमें एक समता आ गयी तो आप ज्ञानी, ध्यानी, योगी, भक्त आदि सब कुछ बन गये। परन्तु यदि आपमें समता नहीं आयी तो अच्छे-अच्छे लक्षण आनेपर भी भगवान् उसको

पूर्णता नहीं मानते। वह समता आपमे स्वाभाविक रहती है। केवल आने-जानेवाली परिस्थितियोंके साथ मिलकर आप सुखी-दुःखी हो जाते हैं। इस वास्ते उनमें आप सावधान रहे कि आने-जानेवाली परिस्थितिके साथ हम नहीं हैं। सुख आया, अनुकूल परिस्थिति आयी तो भी आप है और सुख चला गया, अनुकूल परिस्थिति चली गयी तो भी आप हैं। ऐसे ही दुःख आया, प्रतिकूल परिस्थिति आयी तो भी आप हैं और दुःख चला गया, प्रतिकूल परिस्थिति चली गयी तो भी आप हैं। तो सुख-दुःखमें, अनुकूलता-प्रतिकूलतामें, हानि-लाभमें आप सदैव ज्यों-के-त्यों रहते हैं। परिस्थितियोंके बदलनेपर भी आप नहीं बदलते, सदा वही रहते हैं। तो आप अपने-आपमें स्थित रहें। अपने-आपमें स्थित रहनेसे सुख-दुःख आदिमें समता हो जायगी। यह समता ही भगवान्‌की आराधना है—**'समत्वमाराधनमच्युतस्य'** (विष्णुपुराण १।१७।९०)। इसी वास्ते यहाँ भगवान् बुद्धियोग अर्थात् समताका आश्रय लेनेके लिये कहते हैं।

'मच्चितः सततं भव'—जो अपनेको सर्वथा भगवान्‌के समर्पित कर देता है, उसका चित्त भी सर्वथा भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित हो जाता है। फिर उसपर भगवान्‌का जो स्वतः-स्वाभाविक अधिकार है, वह प्रकट हो जाता है और उसके चित्तमें स्वयं भगवान् आकर विराजमान हो जाते हैं*। यही **'मच्चित्तः'** होना है।

---

* या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।

'मच्चित्तः' पदके साथ 'सततम्' पद देनेका अर्थ है कि निरन्तर मेरेमे (भगवान्‌में) चित्तवाला हो जा । भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन तभी होगा, जब 'मै भगवान्‌का हूँ' इस प्रकार अहंता भगवान्‌मे लग जायगी । अहंता भगवान्‌में लग जानेपर चित्त स्वतः-स्वाभाविक भगवान्‌में लग जाता है । जैसे, शिष्य बननेपर 'मै गुरुका हूँ' इस प्रकार अहंता गुरुमें लग जानेपर गुरुकी याद निरन्तर बनी रहती है । गुरुका सम्बन्ध स्वयंकी अहंतामें बैठ जानेके कारण इस सम्बन्धकी याद आये तो भी याद है और याद न आये तो भी याद है; क्योंकि स्वयं निरन्तर रहता है । इसमें भी देखा जाय तो गुरुके साथ उसने खुद सम्बन्ध जोड़ा है; परन्तु भगवान्‌के साथ इस जीवका स्वतःसिद्ध नित्य सम्बन्ध है । केवल संसारके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही नित्य सम्बन्धकी विस्मृति हुई है । उस विस्मृतिको मिटानेके लिये भगवान् कहते हैं कि निरन्तर मेरेमें चित्तवाला हो जा ।

गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ४४ । १५)

'हे सखी ! वे व्रजकी गोपियाँ धन्य है, जिनकी बुद्धि भगवान्‌में ही अनुरक्त हो गयी है, जिनका चित्त भगवान्‌की सवारी बन गया है, भगवान्‌के स्मरणके कारण उनका कण्ठ आँसुओंसे रुक गया है । वे गोपियाँ गायोंका दूध दुहते समय, चावल आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, घर लीपते समय, बच्चोंको पालनेमें झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको चुप कराते समय, तुलसी आदिको जलसे सींचते समय, घर, आँगन आदिमें झाड़ू देने आदि सब कामोंको करते-समय निरन्तर श्रीकृष्णका ही ध्यान करती रहती हैं ।'

साधक कोई भी सांसारिक काम-धन्धा करे तो उसमें यह एक सावधानी रखे कि अपने चित्तको उस काम-धन्धेमें द्रवित न होने दे, चित्तको संसारके साथ घुलने-मिलने न दे अर्थात् तदाकार न होने दे, प्रत्युत उसमें अपने चित्तको कठोर रखे। परन्तु भगवन्नामका जप, कीर्तन, भगवत्कथा, भगवच्चिन्तन आदि भगवत्सम्बन्धी कार्योंमें चित्तको द्रवित करता रहे, तल्लीन करता रहे, उस रसमें चित्तको तदान्तर करता रहे *। इस प्रकार करते रहनेसे साधक बहुत जल्दी भगवान्‌में चित्तवाला हो जायगा।

प्रेम-सम्बन्धी विशेष बात—

चित्तसे सब कर्म भगवान्‌के अर्पित करनेसे संसारसे नित्य-वियोग हो जाता है† और भगवान्‌के परायण होनेसे भगवान्‌से नित्य-

---

* काठिन्यं विषये कुर्याद् द्रवत्वं भगवत्पदे।
उपायैः शास्त्रनिर्दिष्टैरनुक्षणमतो बुधः॥
(भक्तिरसायन १। ३२)

† वास्तवमें संसारके साथ कभी संयोग हो नहीं सकता। उसका तो नित्य ही वियोग रहता है। जैसे, मनमें किसी वस्तुका चिन्तन होता है, तो वह उस वस्तुका माना हुआ संयोग है, जिससे उस वस्तुके न मिलनेका दुःख होता है। जब वस्तु (बाहरसे) मिल जाती है, तब उस वस्तुका भीतरसे वियोग हो जाता है, जिससे सुख होता है। ऐसे ही किसी कारणसे बाहरसे वस्तु चली जाय, नष्ट हो जाय, तो मनसे उस वस्तुका संयोग होनेपर दुःख होता है, और विवेक-विचारके द्वारा 'यह वस्तु हमारी थी ही नहीं, हमारी हो सकती ही नहीं' इस प्रकार वस्तुको मनसे निकाल देनेपर सुख होता है। तात्पर्य यह है कि भीतरसे संयोग माना तो बाहरसे वियोग है और बाहरसे संयोग माना तो भीतरमें वियोग है। अतः वास्तवमें संसारके साथ नित्य वियोग ही रहता है। मनुष्य केवल भूलसे संसारके साथ संयोग मान लेता है।

योग हो जाता है। इस नित्ययोग (प्रेम) में योग, नित्ययोगमें वियोग, वियोगमे नित्ययोग और वियोगमे वियोग—ये चार अवस्थाएँ चित्तकी वृत्तियोको लेकर होती हैं। इन चारो अवस्थाओको इस प्रकार समझना चाहिये—

जैसे, श्रीराधा और श्रीकृष्णका परस्पर मिलन होना है, तो यह 'नित्ययोगमें योग' है। मिलन होनेपर भी श्रीजीमे ऐसा भाव आ जाता है कि प्रियतम कहीं चले गये हैं और वे एकदम कह उठती हैं कि 'प्यारे! तुम कहाँ चले गये!' तो यह 'नित्ययोगमे वियोग' है। श्यामसुन्दर सामने नहीं हैं, पर मनसे उन्हींका गाढ़ चिन्तन हो रहा है और वे मनसे प्रत्यक्ष मिलते हुए दीख रहे हैं, तो यह 'वियोगमें नित्ययोग' है। श्यामसुन्दर थोडे समयके लिये सामने नहीं आये, पर मनमें ऐसा भाव है कि बहुत समय बीत गया, श्यामसुन्दर मिले नहीं, क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? श्यामसुन्दर कैसे मिलें? तो यह 'वियोगमें वियोग' है।

वास्तवमें इन चारों अवस्थाओंमें भगवान्के साथ नित्ययोग ज्यो-का-त्यो बना रहता है, वियोग कभी होता ही नहीं, हो सकता ही नहीं और होनेकी सम्भावना भी नहीं। इसी नित्ययोगको 'प्रेम' कहते हैं; क्योकि प्रेममे प्रेमी और प्रेमास्पद दोनो अभिन्न रहते हैं। वहाँ भिन्नता कभी हो ही नहीं सकती। प्रेमका आदान-प्रदान करनेके लिये ही भक्त और भगवान्मे संयोग-वियोगकी लीला हुआ करती है।

यह प्रेम प्रतिक्षण वर्द्धमान किस प्रकार है? जब प्रेमी और प्रेमास्पद परस्पर मिलते हैं, तब 'प्रियतम पहले चले गये थे, उनसे

रहती है, इस वास्ते इस रतिमें भक्त भगवान्‌के साथ अपनी अभिन्नता (घनिष्ठ अपनापन) मानता है। अभिन्नता माननेसे 'उनके लिये सुखदायी सामग्री जुटानी है, उन्हे सुख-आराम पहुँचाना है, उनको किसी तरहकी कोई तकलीफ न हो'—ऐसा भाव बना रहता है।

प्रेम-रस अलौकिक है, चिन्मय है। इसका आस्वादन करनेवाले केवल भगवान् ही होते हैं। प्रेममें प्रेमी और प्रेमास्पद—दोनो ही चिन्मय-तत्त्व होते हैं। कभी प्रेमी प्रेमास्पद बन जाता है और कभी प्रेमास्पद प्रेमी हो जाता है। इस वास्ते एक चिन्मय-तत्त्व ही प्रेमका आस्वादन करनेके लिये दो रूपोंमें हो जाता है।

प्रेमके तत्त्वको न समझनेके कारण कुछ लोग सांसारिक कामको ही प्रेम कह देते हैं। उनका यह कहना बिल्कुल गलत है; क्योंकि काम तो चौरासी लाख योनियोंके सम्पूर्ण जीवोंमे रहता है और उन जीवोंमें भी जो भूत, प्रेत, पिशाच होते हैं, उनमें काम (सुखभोगकी इच्छा) अत्यधिक होता है। परन्तु प्रेमके अधिकारी जीवन्मुक्त महापुरुष ही होते हैं।

अभेद और अभिन्नतामें भेद है। जिसमें केवल एक तत्त्व ही रह जाय, द्वैतभाव सर्वथा समाप्त हो जाय, उसका नाम 'अभेद' है और दो होते हुए भी एक रहनेका नाम 'अभिन्नता' है: जैसे—दो मित्रोंमें भीतरसे घनिष्ठता होनेसे अभिन्नता रहती है। अभिन्नता जितनी गाढ होती है, उतना ही माधुर्यरस प्रकट होता है। इसीको प्रेम-रस कहते हैं। भगवान् भी इस प्रेम-रसके लोभी हैं। इस प्रेम-रसका आस्वादन करनेके लिये ही भगवान् एकसे अनेक रूपोंमें हो जाते हैं—'एकाकी न रमते' (बृहदारण्यक० १।४।३), 'सदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति' (छान्दोग्य० ६।२।३)।

काममें लेने-ही-लेनेकी भावना होती है। और प्रेममें देने-ही-देनेकी भावना होती है। काममें अपनी इन्द्रियोंको तृप्त करने—उनसे सुख भोगनेका भाव रहता है और प्रेममें अपने प्रेमास्पदको सुख पहुँचाने तथा सेवा-परायण रहनेका भाव रहता है। काम केवल शरीरको लेकर ही होता है और प्रेम स्थूलदृष्टिसे शरीरमें दीखते हुए भी वास्तवमें चिन्मय-तत्त्वसे ही होता है। काममें मोह (मूढ़भाव) रहता है और प्रेममें मोहकी गन्ध भी नहीं रहती। काममें संसार तथा संसारका दुःख भरा रहता है और प्रेममें मुक्ति तथा मुक्तिसे भी विलक्षण आनन्द रहता है। काममें जड़ता (शरीर, इन्द्रियाँ आदि) की मुख्यता रहती है और प्रेममें चिन्मयता (चेतन स्वरूप) की मुख्यता रहती है। काममें राग होता है और प्रेममें त्याग होता है। काममें परतन्त्रता होती है और प्रेममें परतन्त्रताका लेश भी नहीं होता अर्थात् स्वतन्त्रता होती है। काममें 'वह मेरे काममें आ जाय' ऐसा भाव रहता है और प्रेममें 'मैं उसके काममें आ जाऊँ' ऐसा भाव रहता है। काममें कामी भोग्य वस्तुका गुलाम बन जाता है और प्रेममें स्वयं भगवान् प्रेमीके गुलाम बन जाते हैं। कामका रस नीरसतामें बदलता है और प्रेमका रस आनन्दरूपसे प्रतिक्षण बढ़ता ही रहता है। काम खिन्नतासे पैदा होता है और प्रेम प्रेमास्पदकी प्रसन्नतासे प्रकट होता है। काममें अपनी प्रसन्नताका ही उद्देश्य रहता है और प्रेममें प्रेमास्पदकी प्रसन्नताका ही उद्देश्य रहता है। काम-मार्ग नरकोंकी तरफ ले जाता है और प्रेम-मार्ग भगवान्‌की तरफ ले जाता है। काममें दो होकर दो ही रहते हैं अर्थात् द्वैधीभाव (भिन्नता या

वियोग हो गया था; अब कहीं ये फिर न चले जायँ !'* इस भावके कारण प्रेमास्पदके मिलनेमें तृप्ति नहीं होती, सन्तोष नहीं होता। वे चले जायँगे—इस बातको लेकर मन ज्यादा खिंचता है। इस वास्ते इस प्रेमको प्रतिक्षण वर्द्धमान बताया है।

'प्रेम' (भक्ति) में चार प्रकारका रस अथवा रति होती है— दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। इन रसोंमें दास्यसे सख्य, सख्यसे वात्सल्य और वात्सल्यसे माधुर्य-रस श्रेष्ठ हैं; क्योंकि इनमें क्रमशः भगवान्‌के ऐश्वर्यकी विस्मृति ज्यादा होती चली जाती है। परन्तु जब इन चारोंमेंसे कोई एक भी रस पूर्णतामें पहुँच जाता है, तब उसमें दूसरे रसोंकी कमी नहीं रहती अर्थात् उसमें सभी रस आ जाते हैं। जैसे, दास्यरस पूर्णतामें पहुँच जाता है तो उसमें सख्य, वात्सल्य और माधुर्य—तीनों रस आ जाते हैं। यही बात अन्य रसोंके विषयमें भी समझनी चाहिये। कारण यह है कि भगवान् पूर्ण हैं, उनका प्रेम भी पूर्ण है और परमात्माका अंश होनेसे जीव स्वयं भी पूर्ण है। अपूर्णता तो केवल संसारसे सम्बन्ध होनेसे ही आती है। इस वास्ते भगवान्‌के साथ किसी भी रीतिसे रति हो जायगी तो वह पूर्ण हो जायगी, उसमें कोई कमी नहीं रहेगी।

'दास्य' रतिमें भक्तका भगवान्‌के प्रति यह भाव रहता है कि भगवान् मेरे स्वामी हैं और मैं उनका सेवक हूँ। मेरेपर उनका पूरा

---

* योग और वियोगमें प्रेम-रसकी वृद्धि होती है। यदि सदा योग ही रहे, वियोग न हो, तो प्रेम-रस बढ़ेगा नहीं, प्रत्युत अखण्ड और एकरस रहेगा। इस वास्ते प्रेम-रसको बढ़ानेके लिये भगवान् अन्तर्धान भी हो जाते हैं।

अधिकार है। वे चाहे जो करे, चाहे जैसी परिस्थितिमें रखें और मेरेसे चाहे जैसा काम ले। मेरेपर अत्यधिक अपनापन होनेसे ही वे बिना मेरी सम्मति लिये ही मेरे लिये सब विधान करते है।

'सख्य' रतिमे भक्तका भगवान्के प्रति यह भाव रहता है कि भगवान् मेरे सखा हैं और मै उनका सखा हूँ। वे मेरे प्यारे हैं और मैं उनका प्यारा हूँ। उनका मेरेपर पूरा अधिकार है और मेरा उनपर पूरा अधिकार है। इस वास्ते मै उनकी बात मानता हूँ, तो मेरी भी बात उनको माननी पड़ेगी।

'वात्सल्य, रतिमें भक्तका अपनेमें स्वामिभाव रहता है कि मैं भगवान्की माता हूँ या मैं उनका पिता हूँ अथवा मैं उनका गुरु हूँ और वह तो हमारा बच्चा है अथवा शिष्य है; इस वास्ते उनका पालन-पोषण करना है। उनकी निगरानी भी रखनी है कि कहीं वह अपना नुकसान न कर ले; जैसे—नन्दबाबा और यशोदा मैया कन्हैया-का ख्याल रखते हैं और कन्हैया वनमें जाता है तो उसकी निगरानी रखनेके लिये दाऊजीको साथमें भेजते हैं।

'माधुर्य'* रतिमें भक्तको भगवान्के ऐश्वर्यकी विशेष स्मृति

---

* लोग प्रायः माधुर्यभावमें स्त्री-पुरुषका भाव ही समझते हैं, परन्तु यह भाव स्त्री-पुरुषके सम्बन्धमें ही होता है—यह नियम नहीं है। माधुर्य नाम मधुरता अर्थात् मिठासका है और वह मिठास आती है भगवान्के साथ अभिन्नता होनेसे। वह अभिन्नता जितनी अधिक होगी, मधुरता भी उतनी ही अधिक होगी। इस वास्ते दास्य, सख्य और वात्सल्यभावमेंसे किसी भी भावमें पूर्णता होनेपर उसमें मधुरता कम नहीं रहेगी। अत. भक्तिके सभी भावोंमें माधुर्यभाव रहता है।

रहती है, इस वास्ते इस रतिमें भक्त भगवान्‌के साथ अपनी अभिन्नता (घनिष्ठ अपनापन) मानता है। अभिन्नता माननेसे 'उनके लिये सुखदायी सामग्री जुटानी है, उन्हें सुख-आराम पहुँचाना है, उनको किसी तरहकी कोई तकलीफ न हो'—ऐसा भाव बना रहता है।

प्रेम-रस अलौकिक है, चिन्मय है। इसका आस्वादन करनेवाले केवल भगवान् ही होते हैं। प्रेममें प्रेमी और प्रेमास्पद—दोनों ही चिन्मय-तत्त्व होते हैं। कभी प्रेमी प्रेमास्पद बन जाता है और कभी प्रेमास्पद प्रेमी हो जाता है। इस वास्ते एक चिन्मय-तत्त्व ही प्रेमका आस्वादन करनेके लिये दो रूपोंमें हो जाता है।

प्रेमके तत्त्वको न समझनेके कारण कुछ लोग सांसारिक कामको ही प्रेम कह देते हैं। उनका यह कहना बिल्कुल गलत है; क्योंकि काम तो चौरासी लाख योनियोंके सम्पूर्ण जीवोंमें रहता है और उन जीवोंमें भी जो भूत, प्रेत, पिशाच होते हैं, उनमें काम (सुखभोगकी इच्छा) अत्यधिक होता है। परन्तु प्रेमके अधिकारी जीवन्मुक्त महापुरुष ही होते हैं।

अभेद और अभिन्नतामें भेद है। जिसमें केवल एक तत्त्व ही रह जाय, द्वैतभाव सर्वथा समाप्त हो जाय, उसका नाम 'अभेद' है और दो होते हुए भी एक रहनेका नाम 'अभिन्नता' है' जैसे—दो मित्रोंमें भीतरसे घनिष्ठता होनेसे अभिन्नता रहती है। अभिन्नता जितनी गाढ होती है, उतना ही माधुर्यरस प्रकट होता है। इसीको प्रेम-रस कहते हैं। भगवान् भी इस प्रेम-रसके लोभी हैं। इस प्रेम-रसका आस्वादन करनेके लिये ही भगवान् एकसे अनेक रूपोंमें हो जाते हैं—'एकाकी न रमते' (बृहदारण्यक० १।४।३), 'सदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति' (छान्दोग्य० ६।२।३)।

काममें लेने-ही-लेनेकी भावना होती है। और प्रेममें देने-ही-देनेकी भावना होती है। काममें अपनी इन्द्रियोंको तृप्त करने—उनसे सुख भोगनेका भाव रहता है और प्रेममें अपने प्रेमास्पदको सुख पहुँचाने तथा सेवा-परायण रहनेका भाव रहता है। काम केवल शरीरको लेकर ही होता है और प्रेम स्थूलदृष्टिसे शरीरमें दीखते हुए भी वास्तवमें चिन्मय-तत्त्वसे ही होता है। काममें मोह (मूढ़भाव) रहता है और प्रेममें मोहकी गन्ध भी नहीं रहती। काममें संसार तथा संसारका दुःख भरा रहता है और प्रेममें मुक्ति तथा मुक्तिसे भी विलक्षण आनन्द रहता है। काममें जड़ता (शरीर, इन्द्रियाँ आदि) की मुख्यता रहती है और प्रेममें चिन्मयता (चेतन स्वरूप) की मुख्यता रहती है। काममें राग होता है और प्रेममें त्याग होता है। काममें परतन्त्रता होती है और प्रेममें परतन्त्रताका लेश भी नहीं होता अर्थात् स्वतन्त्रता होती है। काममें 'वह मेरे काममें आ जाय' ऐसा भाव रहता है और प्रेममें 'मै उसके काममें आ जाऊँ' ऐसा भाव रहता है। काममें कामी भोग्य वस्तुका गुलाम बन जाता है और प्रेममें स्वयं भगवान् प्रेमीके गुलाम बन जाते हैं। कामका रस नीरसतामें बदलता है और प्रेमका रस आनन्दरूपसे प्रतिक्षण बढ़ता ही रहता है। काम खिन्नतासे पैदा होता है और प्रेम प्रेमास्पदकी प्रसन्नतासे प्रकट होता है। काममें अपनी प्रसन्नताका ही उद्देश्य रहता है और प्रेममें प्रेमास्पदकी प्रसन्नताका ही उद्देश्य रहता है। काम-मार्ग नरकोंकी तरफ ले जाता है और प्रेम-मार्ग भगवान्‌की तरफ ले जाता है। काममें दो होकर दो ही रहते हैं अर्थात् द्वैधीभाव (भिन्नता या

भेद) कभी मिटता नहीं और प्रेममें एक होकर दो होते हैं अर्थात् अभिन्नता कभी मिटती नहीं* ।

सम्बन्ध—

पिछले (सत्तावनवें) श्लोकमें दी हुई आज्ञाको अब भगवान् अगले दो श्लोकोंमें क्रमशः अन्वय और व्यतिरेक रीतिसे दृढ़ करते हैं ।

श्लोक—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ ५८ ॥

व्याख्या—

'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि'—भगवान् कहते हैं कि मेरेमें चित्तवाला होनेसे तू मेरी कृपासे सम्पूर्ण विघ्न, बाधा, शोक, दुःख आदिको तर जायगा अर्थात् उनको दूर करनेके लिये तुझे कुछ भी प्रयास नहीं करना पड़ेगा ।

भगवद्भक्तने अपनी तरफसे सब कर्म भगवान्के अर्पित कर दिये, स्वयं भगवान्के अर्पित हो गया, समताके आश्रयसे संसारकी

---

* द्वैतं मोहाय बोधात्प्राग्जाते बोधे मनीषया ।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम् ॥
पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे ।
तादृशी यदि भक्तिः स्यात्सा तु मुक्तिशताधिका ॥

'बोधसे पहलेका द्वैत मोहके लिये होता है । परंतु बोध हो जानेपर भक्तिके लिये बुद्धिसे कल्पित द्वैत अद्वैतसे भी अधिक सुन्दर है ।'

'वास्तविक तत्त्व तो अद्वैत ही है, पर भजनके लिये द्वैत है । ऐसी यदि भक्ति है तो वह भक्ति मुक्तिसे भी सौगुनी श्रेष्ठ है ।'

संयोगजन्य लोलुपतासे सर्वथा विमुख हो गया और भगवान्‌के साथ अटल सम्बन्ध कर लिया। यह सब कुछ हो जानेपर भी वास्तविक तत्त्वकी प्राप्तिमें यदि कुछ कमी रह जाय या सांसारिक लोगोंकी अपेक्षा अपनेमें कुछ विशेषता देखकर अभिमान आ जाय अथवा इस प्रकारके कोई सूक्ष्म दोष रह जायँ, तो उन दोषोंको दूर करनेकी साधकपर कोई जिम्मेवारी नहीं रहती, प्रत्युत उन दोषोंको, विघ्न-बाधाओंको दूर करनेकी पूरी जिम्मेवारी भगवान्‌की हो जाती है। इस वास्ते भगवान् कहते हैं—**'मत्प्रसादात्तरिष्यसि'** अर्थात् मेरी कृपासे सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओंको तर जायगा। इसका तात्पर्य यह निकला कि भक्त अपनी तरफसे, उसको जितना समझमें आ जाय, उतना पूरी सावधानीके साथ कर ले, उसके बाद जो कुछ कमी रह जायगी, वह भगवान्‌की कृपासे पूरी हो जायगी।

प्राणीका अगर कुछ अपराध हुआ है तो वह यही हुआ है कि उसने संसारके साथ अपना सम्बन्ध मान लिया और भगवान्‌से विमुख हो गया। अब उस अपराधको दूर करनेके लिये यदि वह अपनी ओरसे संसारका सम्बन्ध तोड़कर भगवान्‌के सम्मुख हो जाय। सम्मुख हो जानेपर जो कुछ कमी रह जायगी, वह भगवान्‌की कृपासे पूरी हो जायगी। अब अगाड़ी (आगे) का सब काम भगवान् कर लेंगे। तात्पर्य यह हुआ कि भगवत्कृपा प्राप्त करनेमें संसारके साथ किञ्चित् भी सम्बन्ध मानना और भगवान्‌से विमुख हो जाना—यही बाधा थी। वह बाधा उसने मिटा दी तो अब पूर्णताकी प्राप्ति भगवत्कृपा अपने-आप करा देगी, क्योंकि अपने बनाये हुए दोषोंको दूर करनेकी जिम्मेवारी साधककी ही है।

जिसका प्रकृति और प्रकृतिके कार्य शरीरादिके साथ सम्बन्ध है, उसपर ही शास्त्रोंका विधि-निषेध, अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार कर्तव्यका पालन आदि नियम लागू होते है, और उसको उन-उन नियमोंका पालन जरूर करना चाहिये; क्योंकि प्रकृति और प्रकृतिके कार्य शरीरादिके सम्बन्धको लेकर ही पाप-पुण्य होते हैं और उनका फल सुख-दुःख भी भोगना पड़ता है। इस वास्ते उसपर शास्त्रीय मर्यादा और नियम विशेषतासे लागू होते है। परंतु जो प्रकृति और प्रकृतिके कार्यसे सर्वथा ही विमुख होकर भगवान्‌के सम्मुख हो जाता है, वह शास्त्रीय विधि-निषेध और वर्ण-आश्रमोंकी मर्यादाका दास नहीं रहता। वह विधि-निषेधसे ऊँचा उठ जाता है अर्थात् उसपर विधि-निषेध लागू नहीं होते; क्योंकि विधि-निषेधकी मुख्यता प्रकृतिके राज्यमे ही रहती है। प्रभुके राज्यमे तो शरणागतिकी ही मुख्यता रहती है।

जीव साक्षात् परमात्माका अंश है—**'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'** (गीता १५ । ७)। यदि वह केवल अपने अंशी परमात्माकी ही तरफ चलता है तो उसपर देव, ऋषि, प्राणी, माँ-बाप आदि आप्तजन और दादा-परदादा आदि पितरोंका भी कोई ऋण नहीं रहता*; क्योंकि शुद्ध चेतन अंशने इनसे कभी कुछ लिया ही नहीं। लेना तभी बनता है, जब वह जड़ शरीरके साथ

---

* देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥
(श्रीमद्भा० ११ । ५ । ४१)

अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है और सम्बन्ध जोड़नेसे ही कमी आती है, नहीं तो उसमें कभी कमी आती ही नहीं—**'नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २ । १६) । जब उसमें कभी कमी आती ही नहीं, तो फिर वह उनका ऋणी कैसे बन सकता है ? यही सम्पूर्ण विघ्नोंको तरना है ।

साधन-कालमें जीवन-निर्वाहकी समस्या, शरीरमें रोग आदि अनेक विघ्न-बाधाएँ आती हैं, परंतु उनके आनेपर भी भगवान्‌की कृपाका सहारा रहनेसे साधक विचलित नहीं होता । उसे तो उन विघ्न-बाधाओंमें भगवान्‌की विशेष कृपा ही दीखती है । इस वास्ते उसे विघ्न-बाधाएँ कहीं भी बाधारूपसे दीखती ही नहीं, प्रत्युत कृपारूपसे ही दीखती हैं ।

संसारके हरेक कार्यमें विघ्न आनेकी और आड़ लगनेकी सम्भावना रहती है । ऐसे ही पारमार्थिक साधनमें भी विघ्न-बाधाओंके आनेकी तथा भगवत्प्राप्तिमें आड़ लगनेकी सम्भावना रहती है । उसके लिये भगवान् कहते हैं कि मेरा आश्रय लेनेवालेके दोनो काम मैं कर दूँगा अर्थात् अपनी कृपासे साधनको सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओंको भी दूर कर दूँगा और उस साधनके द्वारा अपनी प्राप्ति भी करा दूँगा ।

अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि—भगवान् अत्यधिक कृपालुताके कारण आत्मीयतापूर्वक अर्जुनसे कह रहे हैं कि 'अथ' अर्थात् पक्षान्तरमे मैने जो कुछ कहा है, उसे न मान-कर अगर अहकारके कारण अर्थात् मै भी कुछ जानता हूँ, करता

हूँ तथा मै कुछ समझ सकता हूँ, कुछ कर सकता हूँ आदि भावोंके कारण तू मेरी वात नहीं सुनेगा, मेरे इशारेके अनुसार नहीं चलेगा, मेरा कहना नहीं मानेगा तो तेरा पतन हो जायगा—**'विनङ्क्ष्यसि'**।

यद्यपि अर्जुनके लिये यह किञ्चिन्मात्र भी सम्भव नहीं है कि वह भगवान्‌की वात न सुने अथवा न माने, तथापि भगवान् कहते हैं कि **'चेत्'**—अगर तू मेरी वात नहीं सुनेगा तो तेरा पतन हो जायगा। तात्पर्य यह है कि अगर तू अज्ञता अर्थात् अनजानपनेसे मेरी वात न सुने अथवा किसी भूलके कारण न सुने तो यह सव क्षम्य है; परंतु यदि तू अहंकारसे मेरी वात नहीं सुनेगा तो तेरा पतन हो जायगा, क्योंकि अहंकारसे मेरी वात न सुननेसे तेरा अभिमान वढ़ जायगा, जो सम्पूर्ण आसुरी-सम्पत्तिका मूल है।

पहले चौथे अध्यायमें भगवान् स्वयं अपने श्रीमुखसे कहकर आये हैं कि तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है—**'भक्तोऽसि मे सखा चेति'** (४ । ३) और फिर नवें अध्यायमें उन्होंने कहा है कि हे अर्जुन ! तू प्रतिज्ञा कर कि मेरे भक्तका पतन नहीं होता—**'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति'** (९ । ३१)। इससे सिद्ध हुआ कि अर्जुन भगवान्‌के भक्त है; अतः वे कभी भगवान्‌से विमुख नहीं हो सकते और उनका पतन भी कभी नहीं हो सकता। परंतु अर्जुन भी यदि भगवान्‌की वात नहीं सुनेंगे तो भगवान्‌से विमुख हो जायँगे। भगवान्‌से विमुख होनेके कारण उनका पतन हो जायगा। तात्पर्य यह कि भगवान्‌से विमुख होनेके

कारण ही प्राणीका पतन होता है अर्थात् वह जन्म-मरणके चक्करमें पड़ता है* ।

विशेष बात—

इसी अध्यायके छप्पनवें श्लोकमें भगवान्‌ने प्रथम पुरुष 'अवाप्नोति'का प्रयोग करके सामान्य रीतिसे सबके लिये कहा कि मेरी कृपासे परमपदकी प्राप्ति हो जाती है, और यहाँ मध्यम पुरुष 'तरिष्यसि'का प्रयोग करके अर्जुनके लिये कहते हैं कि मेरी कृपासे तू सब विघ्न-बाधाओंको तर जायगा। इन दोनों बातोंका तात्पर्य यह है कि भगवान्‌की कृपामें जो शक्ति है, वह शक्ति किसी साधनमें नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं कि साधन न करें, प्रत्युत परमात्मप्राप्तिके लिये साधन करना मनुष्यका स्वाभाविक धर्म होना चाहिये; क्योंकि मनुष्यजन्म केवल परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है। मनुष्यजन्मको प्राप्त करके भी जो परमात्माको प्राप्त नहीं कर लेता, वह यदि ऊँचे-से-ऊँचे लोकोंमें भी चला जाय, तो भी उसे लौटकर संसार (जन्म-मरण) में आना ही पड़ेगा †।

---

* अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ (गीता ९ । ३)
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ (गीता १६ । २०)

† आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ (गीता ८ । १६)

'हे अर्जुन ! ब्रह्मलोकपर्यन्त सब लोक पुनरावर्ती हैं; परन्तु हे कुन्तीपुत्र ! मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता।'

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥
(श्रीमद्भा० १० । २ । ३२)

इस वास्ते जब यह मनुष्यशरीर प्राप्त हुआ है तो मनुष्यको जीते-जी ही भगवत्प्राप्ति कर लेनी चाहिये और जन्म-मरणसे रहित हो जाना चाहिये (गीता ५ । २३)। कर्मयोगीके लिये भी भगवान्‌ने कहा है कि समतायुक्त पुरुष इस जीवित-अवस्थामें ही पुण्य और पाप—दोनोसे रहित हो जाता है (गीता २ । ५०)। तात्पर्य यह हुआ कि कर्म-बन्धनसे सर्वथा रहित होना अर्थात् जन्म-मरणसे रहित होना मनुष्यमात्रका परम ध्येय है ।

दसवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें कहा कि मै अपनी कृपासे भक्तोंके अन्तःकरणमें ज्ञान प्रकाशित कर देता हूँ और ग्यारहवें अध्यायके सैंतालीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि मैने अपनी कृपासे ही विराट्‌रूप दिखाया है । उसी कृपाको लेकर भगवान् यहाँ कहते हैं कि मेरी कृपासे परमपदकी प्राप्ति हो जायगी (१८ । ५६) और मेरी कृपासे ही सम्पूर्ण विघ्नोंको तर जायगा (१८ । ५८)। परमपदको प्राप्त होनेपर किसी प्रकारकी विघ्न-बाधा सामने आनेकी सम्भावना ही नहीं रहती । फिर भी सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओंको तरनेकी बात कहनेका तात्पर्य यह है कि अर्जुनके मनमें यह भय बैठा था कि युद्ध करनेसे मुझे पाप लगेगा; युद्धके

'हे कमलनयन ! जो लोग आपके चरणोंके शरण नहीं हैं और आपकी भक्तिसे रहित होनेके कारण जिनकी बुद्धि भी शुद्ध नहीं है, वे अपनेको मुक्त तो मानते हैं, पर वास्तवमे वे बद्ध ही हे । वे यदि कष्टपूर्वक साधन करके ऊँचे-ऊँचे पदपर भी पहुँच जायँ, तो भी वहाँसे नीचे गिर जाते हैं ।'

कारण कुलपरम्पराके नष्ट होनेसे पितरोंका पतन हो जायगा और इस प्रकार अनर्थ-परम्परा बढ़ती ही जायगी; हमलोग राज्यके लोभमें आकर इस महान् पापको करनेके लिये तैयार हो गये हैं; इस वास्ते मै शस्त्र छोड़कर बैठ जाऊँ और धृतराष्ट्रके पक्षके लोग मेरेको मार भी दें, तो भी मेरा बड़ा भारी कल्याण होगा (गीता १। ३६–४६)। इन सभी बातोंको लेकर और अनेक जन्मोंके दोषोंको भी लेकर भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि मेरी कृपासे तू सब विघ्नोंको, पापोंको तर जायगा—**'सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि'**। भगवान्ने बहुवचनमें **दुर्गाणि'** पद देकर भी उसके साथ **'सर्व'** शब्द और जोड़ दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि मेरी कृपासे तेरा किञ्चिन्मात्र भी पाप नहीं रहेगा, कोई भी बन्धन नहीं रहेगा और मेरी कृपासे सर्वथा शुद्ध होकर तू परमपदको प्राप्त हो जायगा।

श्लोक—

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥

व्याख्या—

'यदहंकारमाश्रित्य'—अहंकारका आश्रय लेकर तू जो ऐसा मान रहा है कि मै युद्ध नहीं करूँगा, ऐसा तेरा निश्चय मिथ्या है, झूठा है; क्योंकि क्षात्र-प्रकृति तुझे युद्ध करनेके लिये नियुक्त कर देगी अर्थात् बाध्य कर देगी। इसमें कारण यह है कि प्रकृति परमात्माकी ही एक दिव्य शक्ति है। उस प्रकृतिसे ही महत्तत्त्व और महत्तत्त्वसे अहंकार पैदा हुआ है। उस अहंकारका ही एक

विकृत अंश है—'मैं शरीर हूँ'। इस विकृत अहंकारका आश्रय लेनेवाला पुरुष कभी भी क्रियारहित नहीं हो सकता। कारण कि प्रकृति हरदम क्रियाशील है, बदलनेवाली है, इस वास्ते उसके आश्रित रहनेवाला कोई भी मनुष्य कर्म किये बिना नहीं रह सकता* ।

जब यह प्राणी-अहंकारपूर्वक क्रियाशील प्रकृतिके वशमें हो जाता है तो फिर वह यह कैसे कह सकता है कि मै अमुक कर्म करूँगा और अमुक कर्म नहीं करूँगा अर्थात् प्रकृतिके परवश हुआ प्राणी करना और न करना—इन दोनोंसे छूटेगा नहीं। कारण कि प्रकृतिके परवश हुए प्राणीका तो 'करना' भी कर्म है और 'न करना' भी कर्म है। परन्तु जब यह प्राणी प्रकृतिके परवश नहीं रहता, उससे निर्लिप्त हो जाता है (जो कि इसका वास्तविक स्वरूप है) तो फिर उसके लिये करना और न करना—ऐसा कहना ही नहीं बनता। तात्पर्य यह है कि जो प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रखे और कर्म न करना चाहे, ऐसा उसके लिये सम्भव नहीं है। परंतु जिन्होंने प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है अथवा जो सर्वथा भगवान्‌के शरण हो गये हैं, उनको कर्म करनेके लिये बाध्य नहीं होना पड़ता।

'न योत्स्य इति मन्यसे'—दूसरे अध्यायमें अर्जुनने भगवान्‌के शरण होकर शिक्षाकी प्रार्थना की—**'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'** (२।७) और उसके बाद अर्जुनने साफ-साफ कह

---

* न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ (गीता ३।५)

दिया कि मैं युद्ध नहीं करूँगा—**'न योत्स्ये'** (२ । ९) । यह बात भगवान्‌को अच्छी नहीं लगी । भगवान् मनमे सोचते हैं कि यह पहले तो मेरे शरण हो गया और फिर इसने मेरे बिना कुछ कहे ही अपनी तरफसे साफ-साफ कह दिया कि मै युद्ध नहीं करूँगा, तो फिर यह मेरी शरणागति कहाँ रही ? यह तो अहंकारकी शरणागति हो गयी ! कारण कि वास्तविक शरणागत होनेपर 'मैं यह करूँगा, यह नहीं करूँगा' ऐसा कहना ही नहीं बनता । भगवान्‌के शरणागत होनेपर तो भगवान् जैसा करायेंगे, वैसा ही करना होगा । इसी बातको लेकर भगवान्‌को हँसी आ गयी (२ । १०), परंतु अर्जुनपर अत्यधिक कृपा और स्नेह होनेके कारण भगवान्‌ने उपदेश देना आरम्भ कर दिया, नहीं तो भगवान् वहींपर यह कह देते कि जैसा चाहता है, वैसा कर—**'यथेच्छसि तथा कुरु'**; परंतु अर्जुनकी यह बात कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, भगवान्‌के भीतर खटक गयी । इस वास्ते भगवान्‌ने यहाँ अर्जुनके उन्हीं शब्दो—**'न योत्स्ये'** का प्रयोग करके यह कहा है कि तू अहंकारके ही शरण है, मेरे शरण नहीं । अगर तू मेरे शरण हो गया होता तो 'युद्ध नहीं करूँगा' ऐसा कहना बन ही नहीं सकता था । मेरे शरण होता तो 'मैं क्या करूँगा और क्या नहीं करूँगा' इसकी जिम्मेवारी मेरेपर होती । इसके अलावा मेरे शरणागत होनेपर यह प्रकृति भी तुझे बाध्य नहीं कर पाती* । यह त्रिगुणमयी माया अर्थात् प्रकृति

---

* दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ (गीता ७ । १४)

उसीको वाध्य करती है, जो भगवान्‌के शरण नहीं हुआ है*; क्योंकि यह नियम है कि प्रकृतिके प्रवाहमें पड़ा हुआ प्राणी प्रकृतिके गुणोंके द्वारा सदा ही परवश होता है।

यह एक बड़ी मार्मिक बात है कि प्राणी जिन प्राकृत पदार्थों-को अपना मान लेते हैं, उन पदार्थोंके सदा ही परवश (पराधीन) हो जाते हैं। वे वहम तो यह रखते हैं कि हम इन पदार्थोंके मालिक हैं, पर हो जाते हैं उनके गुलाम, पर जिन पदार्थोंको अपना नहीं मानते, उन पदार्थोंके परवश नहीं होते। इस वास्ते मनुष्यको किसी भी प्राकृत पदार्थको अपना नहीं मानना चाहिये; क्योंकि वे वास्तवमें अपने हैं ही नहीं। अपने तो वास्तवमें केवल भगवान् ही हैं। उन भगवान्‌को अपना माननेसे मनुष्यकी परवशता सदाके लिये समाप्त हो जाती है। तात्पर्य यह हुआ कि प्राणी, पदार्थों और क्रियाओंको अपनी मानता है तो सर्वथा परतन्त्र हो जाता है, और भगवान्‌को अपना मानता है और उनके अनन्य शरण होता है तो सर्वथा स्वतन्त्र हो जाता है। प्रभुके शरणागत होनेपर परतन्त्रता लेशमात्र भी नहीं रहती—यह शरणागतिकी महिमा है। परंतु जो प्रभुकी शरण न लेकर अहंकारकी शरण लेते हैं, वे मौतके मार्ग (संसार) में बह जाते हैं—**'निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि'** (९ । ३)। इसी बातकी चेतावनी देते हुए भगवान् अर्जुनसे कह रहे हैं कि तू जो यह कहता है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा,

---

* त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ (गीता ७। १३)

तेरा यह कहना, तेरी यह हेकडी चलेगी नहीं । तुझे क्षात्र-प्रकृतिके परवश होकर युद्ध करना ही पडेगा—**'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति'** ।

'मिथ्यैष व्यवसायस्ते'—व्यवसाय अर्थात् निश्चय दो तरहका होता है—वास्तविक और अवास्तविक । परमात्माके साथ अपना जो नित्य सम्बन्ध है, उसका निश्चय करना तो वास्तविक है और प्रकृतिके साथ मिलकर प्राकृत पदार्थोंका निश्चय करना अवास्तविक है । जो निश्चय परमात्माको लेकर होता है, उसमें स्वयंकी प्रधानता रहती है, और जो निश्चय प्रकृतिको लेकर होता है, उसमें अन्तः-करणकी प्रधानता रहती है । इस वास्ते भगवान् यहाँ अर्जुनसे कहते हैं कि अहंकारका अर्थात् प्रकृतिका आश्रय लेकर तू जो यह कह रहा है कि मै युद्ध नहीं करूँगा, ऐसा तेरा (क्षात्र-प्रकृतिके विरुद्ध) निश्चय अवास्तविक अर्थात् मिथ्या है, झूठा है । आश्रय परमात्माका ही होना चाहिये, प्रकृति और प्रकृतिके कार्य संसारका नहीं ।

यदि प्राणी यह निश्चय कर लेता है कि मै परमात्माका ही हूँ और मुझे केवल परमात्माकी तरफ ही चलना है, तो उसका यह निश्चय वास्तविक अर्थात् सत्य है, नित्य है । इस निश्चयकी महिमा भगवान्ने नवें अध्यायके तीसवें श्लोकमें की है कि अगर दुराचारी-से-दुराचारी पुरुष भी अनन्यभावसे मेरा भजन करता है तो उसको दुराचारी नहीं मानना चाहिये, प्रत्युत साधु ही मानना

चाहिये; क्योंकि वह वास्तविक निश्चय कर चुका है कि मैं भगवान्‌का ही हूँ और भगवान्‌का ही भजन करूँगा* ।

जो प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रखता है, उसको प्रकृतिके परवश होकर कर्म करने ही पड़ते हैं। वह उनसे छूट नहीं सकता†। परन्तु जिसने प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है अर्थात् प्रकृतिसे सर्वथा विमुख हो गया है, वह सब कर्म करते हुए भी प्रकृतिके परवश नहीं होता अर्थात् बँधता नहीं (गीता १८ । १७) । जैसे, किसी जीवन्मुक्त क्षत्रियके सामने युद्धका अवसर उपस्थित हो जाय, तो उसके भीतर युद्ध करनेका उछाल आ सकता है और वह युद्ध भी कर सकता है, पर वह प्रकृतिके परवश नहीं होगा; क्योंकि प्रकृति तो उसके वशमें होती है। तात्पर्य यह निकला कि संसारके साथ सम्बन्ध रखनेसे स्वभावज कर्म मनुष्यको परवश करते हैं, बाध्य करते हैं। परन्तु संसारसे सम्बन्ध-रहित होनेपर स्वभावज कर्म परवश नहीं करते, बाध्य नहीं करते, प्रत्युत प्रवाहरूपसे स्वाभाविक होते रहते हैं।

सम्बन्ध—

पिछले श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा कि प्रकृति तुझे कर्ममें लगा देगी, अब अगले श्लोकमें उसीका विवेचन करते हैं।

---

* अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ (गीता ९ । ३०)

† न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः । (गीता १८ । ११)

श्लोक—

स्वभावजेन कौन्तेय निवद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६० ॥

व्याख्या—

'स्वभावजेन कौन्तेय निवद्धः स्वेन कर्मणा'—पूर्वजन्ममें जैसे कर्म और गुणोंकी वृत्तियाँ रही हैं, इस जन्ममें जैसे माता-पितासे पैदा हुए हैं अर्थात् माता-पिताके जैसे संस्कार रहे हैं, जन्मके वाद जैसा देखा-सुना है, जैसी शिक्षा प्राप्त हुई है और जैसे कर्म किये हैं—उन सवके मिलनेसे अपनी जो कर्म करनेकी एक आदत वनी है, उसका नाम स्वभाव है। इसको भगवान्‌ने स्वभावजन्य स्वकीय कर्म कहा है। इसी स्वभावको स्वधर्म भी कहते हैं—**'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि'** (गीता २ । ३१)।

'कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्'—स्वभावजन्य क्षात्र-प्रकृतिसे वँधा हुआ तू मोहके कारण जो नहीं करना चाहता, उसको तू परवश होकर करेगा। स्वभावके अनुसार ही शास्त्रोंने कर्तव्य-पालनकी आज्ञा दी है। उस आज्ञामें यदि दूसरोंके कर्मोंकी अपेक्षा अपने कर्मोंमें कमियाँ अथवा दोष दीखते हों, तो भी वे दोष वाधक (पाप-जनक) नहीं होते—**'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।'** (गीता ३ । ३५)। उस स्वभावज कर्म (क्षात्र-धर्म) के अनुसार तू युद्ध करनेके लिये परवश है। युद्धरूप कर्तव्यको न करनेका तेरा विचार मूढ़तापूर्वक किया गया है।

जो जीवन्मुक्त महापुरुष होते हैं, उनका स्वभाव सर्वथा शुद्ध होता है । इस वास्ते उनपर स्वभावका आधिपत्य नहीं रहता अर्थात् वे स्वभावके परवश नहीं होते, फिर भी वे किसी काममें प्रवृत्त होते हैं, तो अपनी प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार ही काम करते हैं । परन्तु साधारण प्राणी प्रकृतिके परवश होते हैं, इस वास्ते उनका स्वभाव उनको जबर्दस्ती कर्ममे लगा देता है ।* भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि तेरा भी क्षात्र-स्वभाव तुझे जबर्दस्ती युद्धमे लगा देगा; परन्तु उसका फल तेरे लिये बढ़िया नहीं होगा । यदि तू शास्त्र या सन्त महापुरुषोंकी आज्ञासे अथवा मेरी आज्ञासे युद्धरूप कर्म करेगा तो वही कर्म तेरे लिये कल्याणकारी हो जायगा । कारण कि शास्त्र अथवा मेरी आज्ञासे कर्मोंको करनेसे, उन कर्मोंमें जो राग-द्वेष हैं, वे स्वाभाविक ही मिटते चले जायँगे; क्योंकि तेरी दृष्टि आज्ञाकी तरफ रहेगी, राग-द्वेषकी तरफ नहीं । इस वास्ते वे कर्म बन्धनकारक न होकर कल्याणकारक ही होंगे ।

विशेष बात—

गीतामें प्रकृतिकी परवशताकी बात सामान्यरूपसे कई जगह आयी है (जैसे—३ । ५, ८ । १९, ९ । ८ आदि); परन्तु दो जगह प्रकृतिकी परवशताकी बात विशेषरूपसे आयी है— **'प्रकृतिं यान्ति भूतानि'** (३ । ३३) और यहाँ **'प्रकृतिस्त्वां**

---

* सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥
(गीता ३ । ३३)

नियोक्ष्यति' (१८ । ६०) *। इससे तो स्वभावकी प्रबलता ही सिद्ध होती है; क्योंकि कोई भी प्राणी जिस किसी योनिमें भी जन्म लेता है, उसकी प्रकृति यानी स्वभाव उसके साथमें रहता है। अगर उसका स्वभाव परम शुद्ध हो अर्थात् स्वभावमें सर्वथा असङ्गता हो तो उसका जन्म ही क्यों होगा ? यदि उसका जन्म होगा तो उसमें स्वभावकी ही मुख्यता रहेगी—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३ । २१) । जब स्वभावकी ही मुख्यता अथवा परवशता रहेगी और प्रत्येक क्रिया स्वभावके अनुसार ही होगी, तो फिर शास्त्रोंका विधि-निषेध किसपर लागू होगा ? गुरुजनोंकी शिक्षा किसके काम आयेगी ? और मनुष्य दुर्गुण-दुराचारोंका त्याग करके सद्गुण-सदाचारोंमें कैसे प्रवृत्त होगा ?

उपर्युक्त प्रश्नोंका उत्तर यह है कि जैसे मनुष्य गङ्गाजीके प्रवाहको रोक तो नहीं सकता, पर उसके प्रवाहको मोड़ सकता है, घुमा सकता है। ऐसे ही मनुष्य अपने वर्णोचित स्वभावको छोड़ तो नहीं सकता, पर भगवत्प्राप्तिका उद्देश्य रखकर उसको राग-द्वेषसे रहित परम शुद्ध, निर्मल बना सकता है। तात्पर्य यह हुआ कि स्वभावको शुद्ध करनेमें मनुष्यमात्र सर्वथा सबल और स्वतन्त्र है, निर्बल और परतन्त्र नहीं है। निर्बलता और परतन्त्रता तो केवल राग-द्वेष होनेसे प्रतीत होती है।

---

* ज्ञानयोगमें ज्ञानी प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है, इस वास्ते उसके लिये प्रकृतिकी परवशताकी बात नहीं आयी है।

अब इस स्वभावको सुधारनेके लिये भगवान्‌ने गीतामें कर्मयोग और भक्तियोगकी दृष्टिसे दो उपाय बताये हैं—

(१) कर्मयोगकी दृष्टिसे—तीसरे अध्यायके चौंतीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने बताया कि प्राणीके महान् शत्रु राग-द्वेष ही हैं। इस वास्ते राग-द्वेषके वशमें नहीं होना चाहिये अर्थात् राग-द्वेषको लेकर कोई भी कर्म नहीं करना चाहिये, प्रत्युत शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार ही प्रत्येक कर्म करना चाहिये। शास्त्रके आज्ञानुसार अर्थात् शिष्य गुरुकी, पुत्र माँ-बापकी, पत्नी पतिकी और नौकर मालिककी आज्ञाके अनुसार प्रसन्नतापूर्वक सब कर्म करता है तो उसमें राग-द्वेष नहीं रहते। कारण कि अपने मनके अनुसार कर्म करनेसे ही राग-द्वेषकी पुष्टि होती है। शास्त्र आदिकी आज्ञाके अनुसार कार्य करनेसे, कभी दूसरा नया कार्य करनेकी मनमें आ जानेपर भी उनकी आज्ञा न होनेसे हम वह कार्य नहीं करते तो उससे हमारा 'राग' मिट जायगा और कभी कार्यको न करनेकी मनमें आ जानेपर भी उनकी आज्ञा होनेसे हम वह कार्य प्रसन्नतापूर्वक करते हैं तो उससे हमारा 'द्वेष' मिट जायगा।

(२) भक्तियोगकी दृष्टिसे—जब मनुष्य अपनी ममतावाली वस्तुओंके सहित स्वयं भगवान्‌के शरण हो जाता है तो उसके पास अपना करके कुछ नहीं रहता। वह भगवान्‌के हाथकी कठपुतली बन जाता है। फिर भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार, उनकी इच्छाके अनुसार ही उसके द्वारा सब कार्य होते हैं, जिससे उसके स्वभावमें रहनेवाले राग-द्वेष मिट जाते हैं।

तात्पर्य यह हुआ कि कर्मयोगमें राग-द्वेषके वशीभूत न होकर कार्य करनेसे स्वभाव शुद्ध हो जाता है (गीता ३ । ३४) और भक्तियोगमे भगवान्के सर्वथा अर्पित होनेसे स्वभाव शुद्ध हो जाता है (गीता १८ । ६२) । स्वभाव शुद्ध होनेसे बन्धनका कोई प्रश्न ही नहीं रहता ।

मनुष्य जो कुछ कर्म करता है, वह कभी राग-द्वेषके वशीभूत होकर करता है और कभी सिद्धान्तके अनुसार करता है । राग-द्वेष-पूर्वक कर्म करनेसे राग-द्वेष दृढ हो जाते हैं और फिर मनुष्यका वैसा ही स्वभाव बन जाता है । सिद्धान्तके अनुसार कर्म करनेसे उसका सिद्धान्तके अनुसार ही करनेका स्वभाव बन जाता है । जो मनुष्य परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य रखकर शास्त्र और महापुरुषोंके सिद्धान्तके अनुसार कर्म करते हैं और जो परमात्माको प्राप्त हो गये हैं—इन दोनो (साधको और सिद्ध महापुरुषो) के कर्म दुनियाके लिये आदर्श होते है, अनुकरणीय होते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ ६१ ॥
(गीता ३ । २१)

सम्बन्ध—

जीव स्वयं परमात्माका अंश है और स्वभाव प्रकृतिका अंश है; स्वयं स्वतःसिद्ध है और स्वभाव खुदका बनाया हुआ है; स्वयं चेतन है और स्वभाव जड़ है—ऐसा होनेपर भी जीव स्वभावके परवश कैसे हो जाता है ? इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान् अगला श्लोक कहते हैं ।

ईश्वर संचालित करता है। उन अलग-अलग शरीरोंमें भी जिस शरीरमें जैसा स्वभाव है, उस स्वभावके अनुसार वे ईश्वरसे प्रेरणा पाते हैं और कार्य करते है। तात्पर्य यह कि उन शरीरोंसे मैं-मेरेपनका सम्बन्ध माननेवालेका जैसा (अच्छा या मन्दा) स्वभाव होता है, उससे वैसी ही क्रियाएँ होती हैं। अच्छे स्वभाववाले सज्जन पुरुषके द्वारा श्रेष्ठ क्रियाएँ होती है और मन्दे स्वभाववाले दुष्ट आदमीके द्वारा खराब क्रियाएँ होती हैं। इस वास्ते अच्छी या मन्दी क्रियाओंको करानेमें ईश्वरका हाथ नहीं है, प्रत्युत खुदके बनाये हुए अच्छे या मन्दे स्वभावका ही हाथ है।

जैसे बिजली यन्त्रके स्वभावके अनुसार ही उसका संचालन करती है, वैसे ही ईश्वर प्राणीके (शरीरमें स्थित) स्वभावके अनुसार उसका संचालन करते है। जैसा स्वभाव होगा, वैसे ही कर्म होंगे। इसमें एक बात विशेष ध्यान देनेकी है कि स्वभावको सुधारनेमें और बिगाड़नेमें सभी मनुष्य स्वतन्त्र हैं, कोई भी परतन्त्र नहीं है। परंतु पशु, पक्षी, देवता आदि जितने भी मनुष्येतर प्राणी हैं, उनमें अपने स्वभावको सुधारनेका न अधिकार है और न स्वतन्त्रता ही है। मनुष्य-शरीर अपना उद्धार करनेके लिये ही मिला है, इस वास्ते इसमें अपने स्वभावको सुधारनेका पूरा अधिकार है, पूरी स्वतन्त्रता है। उस स्वतन्त्रताका सदुपयोग करके स्वभाव सुधारनेमें और स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करके स्वभाव बिगाड़नेमें प्राणी स्वयं ही हेतु है।

ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियोके हृदयदेशमे रहते हैं, यह कहनेका तात्पर्य है कि जैसे पृथ्वीमे सब जगह जल रहनेपर भी जहाँ कुआँ होता है, वहींसे जल प्राप्त होता है; ऐसे ही परमात्मा सब जगह समान रीतिसे परिपूर्ण होते हुए भी हृदयमें प्राप्त होते हैं अर्थात् हृदय सर्वव्यापी परमात्माकी प्राप्तिका विशेष स्थान है* । ऐसे ही तीसरे अध्यायमें सर्वव्यापी परमात्माको यज्ञ (निष्काम कर्म) में स्थित बताया गया है—**'तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्'** (गीता ३ । १५) ।

विशेष बात—

साधककी प्रायः यह भूल होती है कि वे भजन, कीर्तन, ध्यान आदि करते हुए भी 'भगवान् दूर हैं, वे अभी नहीं मिलेंगे; यहाँ नहीं मिलेंगे; अभी हम योग्य नहीं हैं; भगवान्‌की कृपा नहीं है' आदि भावनाएँ बनाकर भगवान्‌की दूरीकी मान्यता ही दृढ करते रहते हैं । इस जगह साधकको यह सावधानी रखनी चाहिये कि जब परमात्मा सभी प्राणियोंमें मौजूद हैं तो मेरेमें भी हैं । वे सर्वत्र व्यापक हैं तो मै जो जप करता हूँ उस जपमें भी भगवान् हैं; मै श्वास लेता हूँ तो उस श्वासमें भी भगवान् हैं; मेरे मनमें भी भगवान् हैं, बुद्धिमें भी भगवान् हैं; मै जो 'मै-मै' कहता हूँ, उस 'मै' में भी भगवान् हैं । उस 'मैं' का जो आधार है, वह अपना

* यही बात गीतामें अन्य जगह भी आयी है; जैसे—'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्' (१३ । १७); 'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः' (१५ । १५); 'मा चैवान्तःशरीरस्थम्' (१७ । ६); आदि ।

श्लोक—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥

व्याख्या

हे अर्जुन ! ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें रहता है और अपनी मायासे शरीररूपी यन्त्रपर आरूढ़ हुए प्राणियोंको भ्रमण कराता रहता है । तात्पर्य यह कि जो ईश्वर सबका शासक, नियामक, सबका भरण-पोषण करनेवाला और निरपेक्षरूपसे सबका संचालक है, वह अपनी शक्तिसे उन प्राणियोंको घुमाता है, जिन्होंने शरीरको 'मै' और 'मेरा' मान रखा है ।

जैसे, विद्युत्-शक्तिसे संचालित यन्त्र—रेलपर कोई आरूढ़ हो जाता है, चढ़ जाता है तो उसको परवशतासे रेलके अनुसार ही जाना पड़ता है । परंतु जब वह रेलपर आरूढ नहीं रहता, नीचे उतर जाता है, तब उसको रेलके अनुसार नहीं जाना पड़ता । ऐसे ही जबतक यह प्राणी शरीररूपी यन्त्रके साथ 'मै' और 'मेरे'-पनका सम्बन्ध रखता है, तबतक ईश्वर अपनी मायासे उसको उसके स्वभाव * के अनुसार संचालित करते रहते हैं और वह प्राणी जन्म-मरणरूप संसारके चक्रमें घूमता रहता है ।

शरीरके साथ मै-मेरेपनका सम्बन्ध होनेसे ही राग-द्वेष पैदा होते हैं, जिससे स्वभाव अशुद्ध हो जाता है । स्वभावके अशुद्ध

* स्वभाव कारणशरीरमें रहता है । वही स्वभाव सूक्ष्म और स्थूल-शरीरमें प्रकट होता है ।

होनेपर प्राणी प्रकृति अर्थात् स्वभावके परवश हो जाता है। परंतु शरीरसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर जब स्वभाव राग-द्वेषसे रहित अर्थात् शुद्ध हो जाता है, तब प्रकृतिकी परवशता नहीं रहती। प्रकृति (स्वभाव) की परवशता न रहनेसे ईश्वरकी माया उसको संचालित नहीं करती।

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि जब ईश्वर ही हमारेको भ्रमण करवाता है, क्रिया करवाता है, तब यह काम करना चाहिये और यह काम नहीं करना चाहिये—ऐसी स्वतन्त्रता कहाँ रही ? क्योंकि यन्त्रारूढ़ होनेके कारण हम यन्त्रके और यन्त्रके संचालक ईश्वरके अधीन हो गये, परतन्त्र हो गये तो फिर यन्त्रका संचालक (प्रेरक) जैसा करायेगा, वैसा ही होगा। इसका समाधान इस प्रकार है—

जैसे, बिजलीसे संचालित होनेवाले अनेक तरहके यन्त्र होते हैं। एक ही बिजलीसे संचालित होनेपर भी किसी यन्त्रमें बर्फ जम जाती है और किसी यन्त्रमें आग जल जाती है अर्थात् उनमें एक-एकसे बिल्कुल विरुद्ध काम होता है। परंतु बिजलीका यह आग्रह नहीं रहता कि मै तो केवल बर्फ ही जमाऊँगी अथवा केवल आग ही जलाऊँगी। यन्त्रोंका भी ऐसा आग्रह नहीं रहता कि हम तो केवल बर्फ ही जमायेंगे अथवा केवल आग ही जलायेंगे, प्रत्युत यन्त्र बनानेवाले कारीगरने यन्त्रोंको जैसा बना दिया है, उसके अनुसार उनमें स्वाभाविक ही बर्फ जमती है और आग जलती है। ऐसे ही मनुष्य, पशु, पक्षी, देवता, यक्ष, राक्षस आदि जितने भी प्राणी हैं, सब शरीररूपी यन्त्रोंपर चढ़े हुए हैं और उन सभी यन्त्रोंको

ईश्वर संचालित करता है। उन अलग-अलग शरीरोंमें भी जिस शरीरमें जैसा स्वभाव है, उस स्वभावके अनुसार वे ईश्वरसे प्रेरणा पाते हैं और कार्य करते है। तात्पर्य यह कि उन शरीरोसे मैं-मेरेपनका सम्बन्ध माननेवालेका जैसा (अच्छा या मन्दा) स्वभाव होता है, उससे वैसी ही क्रियाएँ होती है। अच्छे स्वभाववाले सज्जन पुरुषके द्वारा श्रेष्ठ क्रियाएँ होती हैं और मन्दे स्वभाववाले दुष्ट आदमीके द्वारा खराब क्रियाएँ होती हैं। इस वास्ते अच्छी या मन्दी क्रियाओंको करानेमें ईश्वरका हाथ नहीं है, प्रत्युत खुदके बनाये हुए अच्छे या मन्दे स्वभावका ही हाथ है।

जैसे बिजली यन्त्रके स्वभावके अनुसार ही उसका सचालन करती है, वैसे ही ईश्वर प्राणीके (शरीरमें स्थित) स्वभावके अनुसार उसका संचालन करते हैं। जैसा स्वभाव होगा, वैसे ही कर्म होगे। इसमें एक बात विशेष ध्यान देनेकी हं कि स्वभावको सुधारनेमें और बिगाड़नेमें सभी मनुष्य स्वतन्त्र हैं, कोई भी परतन्त्र नहीं है। परंतु पशु, पक्षी, देवता आदि जितने भी मनुष्येतर प्राणी हैं, उनमें अपने स्वभावको सुधारनेका न अधिकार है और न स्वतन्त्रता ही है। मनुष्य-शरीर अपना उद्धार करनेके लिये ही मिला है, इस वास्ते इसमें अपने स्वभावको सुधारनेका पूरा अधिकार है, पूरी स्वतन्त्रता है। उस स्वतन्त्रताका सदुपयोग करके स्वभाव सुधारनेमें और स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करके स्वभाव बिगाड़नेमें प्राणी स्वयं ही हेतु है।

ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयदेशमें रहते हैं, यह कहनेका तात्पर्य है कि जैसे पृथ्वीमें सब जगह जल रहनेपर भी जहाँ कुआँ होता है, वहींसे जल प्राप्त होता है; ऐसे ही परमात्मा सब जगह समान रीतिसे परिपूर्ण होते हुए भी हृदयमें प्राप्त होते हैं अर्थात् हृदय सर्वव्यापी परमात्माकी प्राप्तिका विशेष स्थान है*। ऐसे ही तीसरे अध्यायमें सर्वव्यापी परमात्माको यज्ञ (निष्काम कर्म) में स्थित बताया गया है—**'तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्'** (गीता ३ । १५)।

विशेष बात—

साधककी प्रायः यह भूल होती है कि वे भजन, कीर्तन, ध्यान आदि करते हुए भी 'भगवान् दूर हैं, वे अभी नहीं मिलेंगे; यहाँ नहीं मिलेंगे; अभी हम योग्य नहीं हैं; भगवान्‌की कृपा नहीं है' आदि भावनाएँ बनाकर भगवान्‌की दूरीकी मान्यता ही दृढ करते रहते हैं। इस जगह साधकको यह सावधानी रखनी चाहिये कि जब परमात्मा सभी प्राणियोंमें मौजूद हैं तो मेरेमें भी हैं। वे सर्वत्र व्यापक हैं तो मै जो जप करता हूँ उस जपमें भी भगवान् हैं; मै श्वास लेता हूँ तो उस श्वासमें भी भगवान् हैं; मेरे मनमें भी भगवान् हैं, बुद्धिमें भी भगवान् हैं; मै जो 'मैं-मैं' कहता हूँ, उस 'मै' में भी भगवान् हैं। उस 'मैं' का जो आधार है, वह अपना

---

* यही बात गीतामें अन्य जगह भी आयी है; जैसे—'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्' (१३ । १७); 'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः' (१५ । १५); 'मा चैवान्तःशरीरस्थम्' (१७ । ६); आदि।

स्वरूप भगवान्‌से अभिन्न है अर्थात् 'मैं'-पन तो दूर है, पर भगवान् 'मैं'-पनसे भी नजदीक हैं। इस प्रकार अपने भीतर भगवान्‌को मानते हुए ही भजन, जप, ध्यान आदि करने चाहिये।

अब शङ्का यह होती है कि अपनेमें परमात्माको माननेसे मैं और परमात्मा दो (अलग-अलग) हैं—यह द्वैतापत्ति होगी। इसका समाधान यह है कि परमात्माको अपनेमें माननेसे द्वैतापत्ति नहीं होती, प्रत्युत अहंकार ('मैं'-पन) को स्वीकार करनेसे जो अपनी अलग सत्ता प्रतीत होती है, उसीसे द्वैतापत्ति होती है। परमात्माको अपना और अपनेमें माननेसे तो परमात्मासे अभिन्नता होती है, जिससे प्रेम प्रकट होता है।

जैसे, गङ्गाजीमें बाढ़ आ जानेसे उसका जल बहुत बढ़ जाता है और फिर पीछे वर्षा न होनेसे उसका जल पुनः कम हो जाता है; परंतु उसका जो जल गड्ढेमें रह जाता है अर्थात् गङ्गाजीसे अलग हो जाता है, उसको 'गङ्गोज्झ' कहते हैं। उस गङ्गोज्झको मदिराके समान महान् अपवित्र माना गया है। गङ्गाजीसे अलग होनेके कारण वह गन्दा हो जाता है और उसमें अनेक कीटाणु पैदा हो जाते हैं, जो कि रोगोंके कारण हैं। परंतु फिर कभी जोरकी बाढ़ आ जाती है, तो वह गङ्गोज्झ वापस गङ्गाजीमें मिल जाता है। गङ्गाजीमें मिलते ही उसकी एकदेशीयता, अपवित्रता, अशुद्धि आदि सभी दोष चले जाते हैं और वह पुनः महान् पवित्र गङ्गाजल बन जाता है।

ऐसे ही यह प्राणी जब अहंकारको स्वीकार करके परमात्मासे विमुख हो जाता है तो इसमें परिच्छिन्नता, पराधीनता, जड़ता, विषमता, अभाव, अशान्ति, अपवित्रता आदि सभी दोष (विकार) आ जाते हैं। परंतु जब यह अपने अंशी परमात्माके सम्मुख हो जाता है, उन्हींकी शरणमें चला जाता है अर्थात् अपना अलग कोई व्यक्तित्व नहीं रखता तो उसमें आये हुए भिन्नता, पराधीनता आदि सभी दोष मिट जाते हैं। कारण कि स्वयं (चेतन-स्वरूप)में दोष नहीं है। दोष तो अहंता (मैं-पन)को स्वीकार करनेसे ही आते हैं।

सम्बन्ध—

अब भगवान् यन्त्रारूढ़ हुए प्राणियोंकी परवशताको मिटानेका उपाय बताते हैं।

श्लोक—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥६२॥

व्याख्या—

मनुष्योंमें प्रायः यह एक कमजोरी रहती है कि जब उसके सामने संत-महापुरुष विद्यमान रहते हैं, तब उसकी उनपर श्रद्धा-विश्वास एवं महत्त्वबुद्धि नहीं होती*, पर जब वे चले जाते हैं, तो पीछे वह रोता रहता है, पश्चात्ताप करता रहता है। ऐसे ही भगवान् अर्जुनके रथके घोड़े हाँकते हैं और उसकी आज्ञाका पालन-

* 'अतिपरिचयादवज्ञा' अर्थात् जहाँ किसीसे अति परिचय होता है, वहाँ उसकी अवज्ञा होती है।

करते हैं। वे ही भगवान् जब अर्जुनसे कहते हैं कि शरणागत भक्त मेरी कृपासे शाश्वत पदको प्राप्त हो जाता है; और तू भी मेरेमें चित्तवाला होकर मेरी कृपासे सम्पूर्ण विघ्नोंको तर जायगा, तब अर्जुन कुछ बोला ही नहीं। इससे यह सम्भावना भी हो सकती है कि भगवान्के वचनोंपर अर्जुनको पूरा विश्वास न हुआ हो। इसी दृष्टिसे भगवान्को यहाँ अर्जुनके लिये अन्तर्यामी ईश्वरकी शरणमें जानेकी बात कहनी पड़ी।

'तमेव शरणं गच्छ'—भगवान् कहते हैं कि जो सर्वव्यापक ईश्वर सबके हृदयमें विराजमान है और सबका संचालक है, तू उसीकी शरणमें चला जा। तात्पर्य यह कि सांसारिक उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थ, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि किसीका भी किंचिन्मात्र भी आश्रय न लेकर केवल एक अविनाशी परमात्माका ही आश्रय ले ले।

'सर्वभावेन'—सर्वभावसे शरण जानेका तात्पर्य यह हुआ कि मनसे उसी परमात्माका चिन्तन हो, शारीरिक क्रियाओंसे उसीका पूजन हो, उसीका प्रेमपूर्वक भजन हो और उसके प्रत्येक विधानमें परम प्रसन्नता हो। वह विधान चाहे शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदिके अनुकूल हो, चाहे प्रतिकूल हो, उसे भगवान्का ही किया हुआ मानकर खूब प्रसन्न हो जाना चाहिये कि अहो! भगवान्की मेरेपर कितनी कृपा है कि मेरेसे बिना पूछे ही, मेरे मन, बुद्धि आदिके विपरीत जानते हुए भी केवल मेरे हितकी भावनासे, मेरा परम कल्याण करनेके लिये ही उस परमसुहृद् प्रभुने ऐसा विधान किया है!

'तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्'— भगवान्‌ने पहले यह कह दिया था कि मेरी कृपासे शाश्वत पदकी प्राप्ति हो जाती है (१८ । ५६) और मेरी कृपासे तू सम्पूर्ण विघ्नोंसे तर जायगा (१८ । ५८)। वही बात यहाँ कहते हैं कि उस अन्तर्यामी परमात्माकी कृपासे तू परमशान्ति और शाश्वत स्थान-(पद-) को प्राप्त कर लेगा ।

एक शान्ति होती है और एक 'परा शान्ति' होती है । संसारका सम्बन्ध त्यागनेसे शान्ति प्राप्त होती है और परमात्माकी शरण लेनेसे 'परा शान्ति' प्राप्त होती है । यह 'परा शान्ति' ही अविनाशी पद है । इसीको परमपद, परमशान्ति, परम पुरुष, अव्यक्त, अक्षर, परम गति आदि नामोंसे कहा गया है ।

भगवान्‌ने **'तमेव शरणं गच्छ'** पदोंसे अर्जुनको सर्वव्यापी ईश्वरकी शरणमें जानेके लिये कहा है । इससे यह शङ्का हो सकती है कि क्या भगवान् श्रीकृष्ण ईश्वर नहीं हैं ? क्योंकि अगर भगवान् श्रीकृष्ण ईश्वर होते तो अर्जुनको 'उसीकी शरणमें जा'—ऐसा (परोक्ष रीतिसे) नहीं कहते ।

इसका समाधान यह है कि भगवान्‌ने सर्वव्यापक ईश्वरकी शरणागतिको तो **'गुह्याद्गुह्यतरम्'**(१८ । ६३) अर्थात् गुह्यसे गुह्यतर कहा है, पर अपनी शरणागतिको **'सर्वगुह्यतमम्'** (१८ । ६४) अर्थात् सबसे गुह्यतम कहा है । इससे सर्वव्यापक ईश्वरकी अपेक्षा भगवान् श्रीकृष्ण बड़े ही सिद्ध हुए ।

भगवान्‌ने पहले कहा है कि मै अजन्मा, अविनाशी और सम्पूर्ण प्राणियोका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिका आश्रय लेकर अपनी लीलाशक्तिके साथ प्रकट होता हूँ (४ । ६), मैं सम्पूर्ण यज्ञो और तपोका भोक्ता हूँ, सम्पूर्ण लोकोका महान् ईश्वर हूँ और सम्पूर्ण प्राणियोका सुहृद् हूँ—ऐसा मुझे माननेसे शान्तिकी प्राप्ति होती है (५ । २९); परतु जो मुझे सम्पूर्ण यज्ञोका भोक्ता और सबका मालिक नहीं मानते, उनका पतन होता है (९ । २४)। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेकसे भी भगवान् श्रीकृष्णका ईश्वरत्व सिद्ध हो जाता है।

इस अध्यायमें **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'** (१८ । ६१) पदोसे अन्तर्यामी ईश्वरको सब प्राणियोके हृदयमें स्थित बताया है और पंद्रहवें अध्यायमें **'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः'** (१५ । १५) पदोसे अपनेको सबके हृदयमें स्थित बताया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अन्तर्यामी परमात्मा और भगवान् श्रीकृष्ण दो नहीं हैं, एक ही हैं।

जब अन्तर्यामी परमात्मा और भगवान् श्रीकृष्ण एक ही हैं, तो फिर भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको **'तमेव शरणं गच्छ'** क्यो कहा ? इसका कारण यह है कि पहले छप्पनवें श्लोकमें भगवान्‌ने अपनी कृपासे शाश्वत अविनाशी पदकी प्राप्ति होनेकी बात कही और सत्तावनवें-अट्ठावनवे श्लोकोमें अर्जुनको अपने परायण होनेकी आज्ञा देकर 'मेरी कृपासे सम्पूर्ण विघ्नोको तर जायगा'—यह बात कही। परंतु अर्जुन कुछ बोले नहीं अर्थात् उन्होने कुछ भी स्वीकार

नहीं किया। इसपर भगवान्‌ने अर्जुनको धमकाया कि यदि अहंकारके कारण तू मेरी बात नहीं सुनेगा तो तेरा पतन हो जायगा। उनसठवें श्लोकमे कहा कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' इस प्रकार अहंकारका आश्रय लेकर किया हुआ तेरा निश्चय भी नहीं टिकेगा और तुझे स्वभावज कर्मोंके परवश होकर युद्ध करना ही पड़ेगा। भगवान्‌के इतना कहनेपर भी अर्जुन कुछ बोले ही नहीं। तो अन्तमें भगवान्‌को यह कहना पड़ा कि यदि तू मेरी शरणमें नहीं आना चाहता तो सबके हृदयमें स्थित जो अन्तर्यामी परमात्मा हैं, उसीकी शरणमें तू चला जा।

वास्तवमें अन्तर्यामी ईश्वर और भगवान् श्रीकृष्ण सर्वथा अभिन्न हैं अर्थात् सबके हृदयमे अन्तर्यामीरूपसे विराजमान ईश्वर ही भगवान् श्रीकृष्ण हैं और भगवान् श्रीकृष्ण ही सबके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान ईश्वर हैं।

सम्बन्ध—

पिछले श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा कि तू उस अन्तर्यामी ईश्वरकी शरणमें चला जा। ऐसा कहनेपर भी अर्जुन कुछ नहीं बोले। इस वास्ते भगवान् अगले श्लोकमें अर्जुनको चेतानेके लिये उन्हें स्वतन्त्रता प्रदान करते है।

श्लोक—

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥ ६३॥

व्याख्या--

'इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया'—पिछले (बासठवें) श्लोकमें सर्वव्यापक अन्तर्यामी परमात्माकी जो शरणागति बतायी गयी है, उसीका लक्ष्य यहाँ 'इति' पदसे कराया गया है। भगवान् कहते हैं कि यह गुह्यसे भी गुह्यतर शरणागतिरूप ज्ञान मैंने तेरे लिये कह दिया है। भक्तिमिश्रित कर्मयोग 'गुह्य' है और अन्तर्यामी निराकार परमात्माकी शरणागति 'गुह्यतर है* ।

---

* योगयुक्त बुद्धिवाले कर्मफलका त्याग करके अनामय पदको प्राप्त हो जाते हैं (२ । ५१), जो प्राप्ति ज्ञानयोगसे होती है, वह प्राप्ति कर्मयोगसे हो जाती है (४ । ३८); योगयुक्त मुनि बहुत जल्दी परमात्माको प्राप्त हो जाता है (५ । ६); कर्मफलका त्याग करनेपर सदा रहनेवाली शान्ति प्राप्त होती है (५ । १२) आदि श्लोकोंसे कर्मयोग परमात्मप्राप्तिका स्वतन्त्र साधन सिद्ध होता है। ऐसे कर्मयोगमें भी जब भक्तिका मिश्रण हो जाता है (१८ । ४६), तब उसे 'गुह्य' कहते हैं।

जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद करके निराकार परमात्माके शरण हो जाना--यह भक्तिमिश्रित कर्मयोगसे भी अधिक महत्त्वका है, इस वास्ते इसे 'गुह्यतर' कहते हैं।

सूर्यको मैंने ही उपदेश दिया था, वही मैं तेरेको कह रहा हूँ (४ । ३); सम्पूर्ण जगत् मेरेसे ही व्याप्त है (९ । ४); क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम 'पुरुषोत्तम' मैं ही हूँ (१५ । १८) आदि बातोंमें भगवान्ने अपनी भगवत्ता प्रकट की है, इस वास्ते ये बातें 'गुह्यतम' हैं।

तू केवल मेरी ही शरणमें आ जा, फिर तेरेको किंचिन्मात्र भी करना नहीं है, मैं तेरेको सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक-चिन्ता मत कर (१८ । ६६)—इस प्रकार अपनी शरणागतिकी बात कहना 'सर्वगुह्यतम' है।

जिसमें कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि सब साधनोंका वर्णन होता है, उस योगशास्त्रको 'परमगुह्य' कहा गया है (१८ । ६८, ७५)

भक्तिमिश्रित कर्मयोगका तात्पर्य है—अपने पास जो कुछ भी पदार्थ है, उसे अपना न मानकर केवल भगवान्‌का मानना और अपने कर्मोंके द्वारा उनका पूजन करना अर्थात् निष्कामभावपूर्वक सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही करना (१८।४६)। परंतु अन्तर्यामी निराकार परमात्माकी शरणागति इस गुह्य (भक्तिमिश्रित कर्मयोग)से भी गुह्यतर है, जिसमें भक्त अपने-आपको परमात्माके समर्पित कर देता है।

'विमृश्यैतदशेषेण'—गुह्यसे गुह्यतर शरणागतिरूप ज्ञान बताकर भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि मैंने पहले जो भक्तिकी बातें कही हैं, उनपर तुम अच्छी तरहसे विचार कर लेना। भगवान्‌ने इसी अध्यायके सत्तावनवें-अट्ठावनवें श्लोकोंमें अपनी भक्ति (शरणागति) की जो बातें कही हैं, उन्हें 'एतत्' पदसे लेना चाहिये। गीतामें जहाँ-जहाँ भक्तिकी बातें आयी हैं, उन्हें **'अशेषेण'** पदसे लेना चाहिये*।

---

* गीतामें भक्तिकी बातें इन श्लोकोंमें आयी हैं—सम्पूर्ण योगियोंमें भक्तियोगी श्रेष्ठ है (६।४७); मेरी शरण लेनेवाले मायाको तर जाते हैं (७।१४); सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार मेरी (भगवान्‌की) शरण लेनेवाले महात्मा अत्यन्त दुर्लभ हैं (७।१९); अनन्य भक्तिसे मैं सुलभ हूँ (८।१४); अनन्यभक्तिसे परम पुरुषकी प्राप्ति होती है (८।२२); दैवी-सम्पत्तिके आश्रित महात्मालोग अनन्यमनसे मेरा भजन करते हैं (९।१३); दृढ़ निश्चयवाले भक्त निरन्तर कीर्तन करते हुए तथा मुझे नमस्कार करते हुए भक्तिपूर्वक मेरी उपासना करते हैं (९।१४); अनन्यभक्तका योगक्षेम मैं वहन करता हूँ (९।२२); भक्तद्वारा प्रेमपूर्वक अर्पित पत्र, पुष्प, फल आदिको मैं खाता हूँ

भगवान्‌के सम्पूर्ण उपदेशका सार निकाल लेना अर्जुनके वशकी बात नहीं थी; क्योंकि अपने उपदेशका सार निकालना जितना वक्ता जानता है, उतना श्रोता नहीं जानता। दूसरी बात, 'जैसी मर्जी आये, वैसा कर'—इस प्रकार भगवान्‌के मुखसे अपने त्यागकी बात सुनकर अर्जुन बहुत डर गये, इस वास्ते अगले दो श्लोकोंमें भगवान् अपने प्रिय सखा अर्जुनको आश्वासन देते हैं।

श्लोक—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥ ६४॥

व्याख्या—

'सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः'—पहले तिरसठवें श्लोकमें भगवान्‌ने गुह्य (भक्तिमिश्रित कर्मयोग) और गुह्यतर (अन्तर्यामी निराकारकी शरणागति) बात कही और **'इदं तु ते गुह्यतमं'** (९। १) तथा **'इति गुह्यतमं शास्त्रम्'** (१५। २०) —इन पदोंसे गुह्यतम (अपना प्रभाव) बात कह दी, पर सर्वगुह्यतम बात गीतामें पहले कहीं नहीं कही। अब यहाँ अर्जुनकी घबराहटको देखकर भगवान् कहते हैं कि मैं सर्वगुह्यतम अर्थात् सबसे अत्यन्त गोपनीय बात फिर कहूँगा, तू मेरे परम, सर्वश्रेष्ठ वचनोंको सुन।

इस श्लोकमें **'सर्वगुह्यतम'** पदसे भगवान्‌ने बताया कि यह हरेकके सामने प्रकट करनेकी बात नहीं है और सड़सठवें श्लोकमें **'इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन'** पदसे भगवान्‌ने बताया

कि इस बातको असहिष्णु और अभक्तसे कभी मत कहना। इस प्रकार दोनो तरफसे निषेध करके बीचमें (छियासठवे श्लोकमें) 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'—इस सर्वगुह्यतम बातको रखा है। दोनों तरफसे निषेध करनेका तात्पर्य है कि यह गीताभरमें अत्यन्त रहस्यमय खास उपदेश है* ।

---

* दसवें अध्यायके आरम्भमे भगवान्ने 'भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः' कहा और यहाँ 'सर्वगुह्यतम भूयः शृणु मे परमं वचः' कहा। इन दोनोंमें केवल 'एव महाबाहो' की जगह 'सर्वगुह्यतमम्' पद आया है अर्थात् केवल छः अक्षर ही बदले हैं, बाकी दस अक्षर वे-के वे ही हैं। वहाँ 'भूय एव महाबाहो' कहकर 'मच्चित्ताः' (१० । ९) कहते हैं। और यहाँ 'मच्चित्तः' (१८ । ५७-५८) कहकर 'सर्वगुह्यतमं भूयः' कहते हैं। परंतु 'मच्चित्ताः' और 'मच्चित्तः'में थोड़ा फर्क है। वहाँ 'मच्चित्ताः'में प्रथम पुरुषका प्रयोग करके सामान्य रीतिसे सबके लिये बात कही है, और यहाँ 'मच्चित्तः'में मध्यम पुरुषका प्रयोग करके अर्जुनके लिये विशेष आज्ञा दी है। वहाँ भी 'मेरी कृपासे अज्ञान दूर हो जायगा' ऐसा कहा है और यहाँ भी 'मेरी कृपासे तू सब विघ्नोंको तर जायगा' ऐसा कहा है।

वहाँ 'यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया' (१० । १) कहा है और यहाँ 'ततो वक्ष्यामि ते हितम्' कहा है। वहाँ 'मन्मना भव···' (९ । ३४) कहकर अव्यवहित-रूपसे (लगातार पासमें ही ।) 'भूय एव महाबाहो······' कहा है, और यहाँ 'सर्वगुह्यतमं भूयः······' कहकर अव्यवहित-रूपसे 'मन्मना भव ····' (१८ । ६५) कहा है।

जैसे 'सर्वगुह्यतमम्' पद गीतामें एक ही बार आया है, ऐसे ही 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'—ऐसा वाक्य भी एक ही बार आया है।

'विमृश्यैतदशेषेण' कहनेमें भगवान्‌की अत्यधिक कृपालुताकी एक गूढ़ाभिसन्धि है कि कहीं अर्जुन मेरेसे विमुख न हो जाय, इस वास्ते यदि यह मेरी कही हुई बातकी तरफ विशेषतासे ख्याल करेगा तो असली बात अवश्य ही इसकी समझमें आ जायगी और फिर यह मेरेसे विमुख नहीं होगा।

'यथेच्छसि तथा कुरु'—पहले कही सब बातोंपर पूरा-पूरा विचार करके फिर तेरी जैसी मर्जी आये, वैसा कर। तू जैसा करना चाहता है, वैसा कर—ऐसा कहनेमें भी भगवान्‌की आत्मीयता, कृपालुता और हितैषिता ही प्रत्यक्ष दीख रही है।

पहले **'वक्ष्याम्यशेषतः'** (७ । २), **'इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे'** (९ । १), **'वक्ष्यामि हितकाम्यया'** (१०।१)

(९ । २६); तू जो करता है, हवन करता है, दान देता है और तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर (९ । २७); सब कर्म मेरे अर्पण कर दे तो तू शुभाशुभ फलरूप बन्धनसे मुक्त हो जायगा (९ । २८); मेरेमें मनवाला हो, मेरा भक्त हो, मेरा पूजन करनेवाला हो और मेरेको नमस्कार कर (९ । ३४); सब प्रकारसे मेरेमें लगे हुए भक्तोंका अज्ञान मैं दूर कर देता हूँ, जिससे वे मेरेको ही प्राप्त होते हैं (१० । ९-११); अनन्यभक्तिसे ही मैं देखा और जाना जा सकता हूँ तथा मेरेमें प्रवेश किया जा सकता है (११ । ५४); अनन्यभक्तिवाला पुरुष मेरेको ही प्राप्त होता है (११ । ५५), मेरा भजन करनेवाला भक्त अति उत्तम योगी है (१२ । २); जो सब कर्मोंको मेरे समर्पित करके मेरे परायण हो गये हैं, उनका मैं बहुत जल्दी उद्धार करता हूँ (१२ । ६-७); तू मेरेमें ही मन और बुद्धिको अर्पित कर दे तो मेरी प्राप्ति हो जायगी (१२ । ८); अव्यभिचारी भक्तियोगसे मनुष्य गुणातीत हो जाता है (१४ । २६), सर्वभावसे मुझे भजनेवाला भक्त सर्ववित् है (१५ । १९)।

आदि श्लोकोंमें भगवान् अर्जुनके हितकी बात कहते आये हैं, पर इन वाक्योंमें भगवान्‌की अर्जुनपर 'सामान्य कृपा' है ।

'न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि' (१८ । ५८)—इस श्लोकमें अर्जुनको धमकानेमें भगवान्‌की 'विशेष कृपा' और अपनेपनका भाव टपकता है ।

यहाँ **'यथेच्छसि तथा कुरु'** कहकर भगवान् जो अपनेपनका त्याग कर रहे हैं, इसमें तो भगवान्‌की 'अत्यधिक कृपा' और आत्मीयता भरी हुई है । कारण कि भक्त भगवान्‌का धमकाया जाना तो सह सकता है, पर भगवान्‌का त्याग नहीं सह सकता । इसलिये **'न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि'** आदि कहनेपर भी अर्जुनपर इतना असर नहीं पड़ा, जितना 'यथेच्छसि तथा कुरु' कहनेपर पड़ा । इसे सुनकर अर्जुन घबरा गये कि भगवान् तो मेरा त्याग कर रहे हैं ! क्योंकि मैंने यह बड़ी भारी गलती की कि भगवान्‌के द्वारा प्यारसे समझाने, अपनेपनसे धमकाने और अन्तर्यामीकी शरणागतिकी कहनेपर भी मैं कुछ बोला नहीं, जिससे भगवान्‌को 'जैसी मर्जी आये, वैसा कर' यह कहना पडा । अब तो मैं कुछ भी कहनेके लायक नहीं हूँ ! —ऐसा सोचकर अर्जुन बड़े दुःखी हो जाते हैं तो भगवान् अर्जुनके बिना पूछे ही सर्वगुह्यतम वचनोंको कहते हैं, जिनका वर्णन अगले श्लोकमें है ।

सम्बन्ध—

पिछले श्लोकमें भगवान्‌ने **'विमृश्यैतदशेषेण'** *पदसे अर्जुनको कहा कि मेरे इस पूरे उपदेशका सार निकाल लेना ।* परंतु

भगवान्‌के सम्पूर्ण उपदेशका सार निकाल लेना अर्जुनके वशकी बात नहीं थी; क्योंकि अपने उपदेशका सार निकालना जितना वक्ता जानता है, उतना श्रोता नहीं जानता। दूसरी बात, 'जैसी मर्जी आये, वैसा कर'—इस प्रकार भगवान्‌के मुखसे अपने त्यागकी बात सुनकर अर्जुन बहुत डर गये, इस वास्ते अगले दो श्लोकोंमें भगवान् अपने प्रिय सखा अर्जुनको आश्वासन देते हैं।

श्लोक—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥ ६४॥

व्याख्या—

'सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः'—पहले तिरसठवें श्लोकमें भगवान्‌ने गुह्य (भक्तिमिश्रित कर्मयोग) और गुह्यतर (अन्तर्यामी निराकारकी शरणागति) बात कही और **'इदं तु ते गुह्यतमं'** (९। १) तथा **'इति गुह्यतमं शास्त्रम्'** (१५। २०) —इन पदोंसे गुह्यतम (अपना प्रभाव) बात कह दी, पर सर्वगुह्यतम बात गीतामें पहले कहीं नहीं कही। अब यहाँ अर्जुनकी घबराहटको देखकर भगवान् कहते हैं कि मैं सर्वगुह्यतम अर्थात् सबसे अत्यन्त गोपनीय बात फिर कहूँगा, तू मेरे परम, सर्वश्रेष्ठ वचनोंको सुन।

इस श्लोकमें **'सर्वगुह्यतम'** पदसे भगवान्‌ने बताया कि यह हरेकके सामने प्रकट करनेकी बात नहीं है और सड़सठवें श्लोकमें **'इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन'** पदसे भगवान्‌ने बताया

कि इस बातको असहिष्णु और अभक्तसे कभी मत कहना। इस
प्रकार दोनो तरफसे निषेध करके बीचमें (छियासठवें श्लोकमें)
'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'—इस सर्वगुह्यतम बातको
रखा है। दोनो तरफसे निषेध करनेका तात्पर्य है कि यह गीताभरमें
अत्यन्त रहस्यमय खास उपदेश है*।

---

* दसवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने 'भूय एव महाबाहो शृणु
मे परमं वचः' कहा और यहाँ 'सर्वगुह्यतम भूयः शृणु मे परमं वचः'
कहा। इन दोनोंमें केवल 'एव महाबाहो' की जगह 'सर्वगुह्यतमम्' पद
आया है अर्थात् केवल छः अक्षर ही बदले हैं, बाकी दस अक्षर वे-के वे
ही हैं। वहाँ 'भूय एव महाबाहो' कहकर 'मच्चित्ताः' (१०। ९) कहते
हैं। और यहाँ 'मच्चित्तः' (१८। ५७-५८) कहकर 'सर्वगुह्यतमं भूयः'
कहते हैं। परंतु 'मच्चित्ताः' और 'मच्चित्तः'में थोड़ा फर्क है। वहाँ
'मच्चित्ताः'में प्रथम पुरुषका प्रयोग करके सामान्य रीतिसे सबके लिये बात
कही है, और यहाँ 'मच्चित्तः'में मध्यम पुरुषका प्रयोग करके अर्जुनके लिये
विशेष आज्ञा दी है। वहाँ भी 'मेरी कृपासे अज्ञान दूर हो जायगा' ऐसा
कहा है और यहाँ भी 'मेरी कृपासे तू सब विघ्नोंको तर जायगा' ऐसा
कहा है।

वहाँ 'यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया' (१०। १) कहा
है और यहाँ 'ततो वक्ष्यामि ते हितम्' कहा है। वहाँ 'मन्मना भव···'
(९। ३४) कहकर अव्यवहित-रूपसे (लगातार पासमें ही।) 'भूय
एव महाबाहो·····' कहा है, और यहाँ 'सर्वगुह्यतमं भूयः·····' कहकर
अव्यवहित-रूपसे 'मन्मना भव ·····' (१८। ६५) कहा है।

जैसे 'सर्वगुह्यतमम्' पद गीतामें एक ही बार आया है, ऐसे ही
'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'—ऐसा वाक्य भी एक ही बार
आया है।

दूसरे अध्यायके सातवें श्लोकमें **'धर्मसम्मूढचेताः'** कहकर अर्जुन अपनेको धर्मका निर्णय करनेमें अयोग्य समझते हुए भगवान्से पूछते हैं, उनके शिष्य बनते हैं और शिक्षा देनेके लिये कहते हैं। अतः भगवान् यहाँ (१८ । ६६में) कहते हैं कि तू धर्मके निर्णयका भार अपने ऊपर मत ले, वह भार मेरेपर छोड़ दे—मेरे ही समर्पित कर दे और अनन्यभावसे केवल मेरी शरणमें आ जा। फिर तेरेको जो पाप आदिका डर है, उन सब पापोंसे मैं तुझे मुक्त कर दूँगा। तू सब चिन्ताओंको छोड़ दे। यही भगवान्का **'सर्वगुह्यतम परम वचन'** है।

'भूयः शृणु'—मैंने यही बात दूसरे शब्दोंमें पहले भी कही थी, पर तुमने ध्यान नहीं दिया। इस वास्ते मै फिर वही बात कहता हूँ। अबकी बार इस बातपर विशेषरूपसे ध्यान दो।

यह सर्वगुह्यतमवाली बात भगवान्ने पहले **'मत्परः…मच्चित्तः सततं भव'** (१८ । ५७) और **'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि'** (१८ । ५८) पदोंसे कह दी थी; परंतु **'सर्वगुह्यतमम्'** पद पहले नहीं कहा, और अर्जुनका भी उस बात-पर लक्ष्य नहीं गया। इस वास्ते अब फिर उस बातपर अर्जुनका ख्याल करानेके लिये और उस बातका महत्त्व बतानेके लिये भगवान् यहाँ **'सर्वगुह्यतमम्'** पद देते हैं।

'इष्टोऽसि मे दृढमिति'—इससे पहले भगवान्ने कहा था कि जैसी मर्जी आये वैसा कर। जो अनुयायी है, आज्ञा-पालक है, शरणागत है, उसके लिये ऐसी बात कहनेके समान दूसरा क्या

दण्ड दिया जा सकता है ! अतः इस बातको सुनकर अर्जुनके मनमें भय पैदा हो गया कि भगवान् मेरा त्याग कर रहे हैं। उस भयको दूर करनेके लिये भगवान् यहाँ कहते हैं कि तुम मेरे अत्यन्त प्यारे मित्र हो*। यदि अर्जुनके मनमें भय या सन्देह न होता, तो भगवान्‌को 'तुम मेरे अत्यन्त प्यारे मित्र हो'—यह कहकर सफाई देनेकी क्या जरूरत थी ? सफाई देना तभी बनता है, जब दूसरेके मनमें भय हो; सन्देह हो, हलचल हो।

'इष्ट' कहनेका दूसरा भाव यह है कि भगवान् अपने शरणागत भक्तको अपना इष्टदेव मान लेते हैं। भक्त सब कुछ छोड़कर केवल भगवान्‌को अपना इष्ट मानता है तो भगवान् भी उसको अपना इष्ट मानते हैं; क्योंकि भक्तिके विषयमें भगवान्‌का यह कानून है— **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४। ११) अर्थात् जो भक्त जैसे मेरे शरण होते है, मै भी उनका वैसे ही भजन करता हूँ—उन्हें सर्वश्रेष्ठ मानता हूँ। भगवान्‌की दृष्टिमें भक्तके समान और कोई श्रेष्ठ नहीं है। भागवतमें भगवान् उद्धवजीसे कहते हैं—'तुम्हारे-जैसे प्रेमी भक्त मुझे जितने प्यारे हैं, उतने प्यारे न ब्रह्माजी हैं, न शंकरजी हैं, न बलरामजी हैं, और तो क्या, मेरे शरीरमें निवास करनेवाली लक्ष्मीजी और मेरी आत्मा भी उतनी प्यारी नहीं है†'।

---

* सासति करि पुनि करहिं पसाऊ। नाथ प्रभुन्ह कर सहज सुभाऊ ॥
(मानस १। ८८। २)

† न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः।
न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान् ॥
(श्रीमद्भा० ११। १४। १५)

'दृढम्' कहनेका तात्पर्य है कि जब तुमने एक बार कह दिया कि 'मैं आपके शरण हूँ' (२ । ७) तो अब तुम्हें बिल्कुल भी भय नहीं करना चाहिये । कारण कि जो मेरी शरणमें आकर एक बार भी सच्चे हृदयसे कह देता है कि 'मैं आपका ही हूँ', उसको मैं सम्पूर्ण प्राणियोंसे अभय (सुरक्षित) कर देता हूँ— यह मेरा व्रत है* ।

'ततो वक्ष्यामि ते हितम्'—तू मेरा अत्यन्त प्यारा मित्र है, इस वास्ते अपने हृदयकी अत्यन्त गोपनीय और अपने दरबारकी श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ बात तुझे कहूँगा । दूसरी बात, मैं जो आगे शरणागतिकी बात कहूँगा, उसका यह तात्पर्य नहीं है कि मेरी शरणमें आनेसे मुझे कोई लाभ हो जायगा, प्रत्युत इसमें केवल तेरा ही हित होगा । इससे सिद्ध होता है कि प्राणिमात्रका हित केवल इसी बातमें है कि वह किसी औरका सहारा न लेकर केवल मेरी ही शरण ले लें अर्थात् भगवान्‌के शरण होनेके सिवाय जीवका कहीं भी, किंचिन्मात्र भी हित नहीं है । कारण यह है कि जीव साक्षात् परमात्माका अंश है । इस वास्ते वह परमात्माको छोडकर किसीका भी सहारा लेगा तो वह सहारा टिकेगा नहीं । जब संसारकी कोई भी वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, अवस्था आदि स्थिर नहीं है, तो फिर इनका सहारा कैसे स्थिर रह सकता है ? इनका सहारा तो रहेगा नहीं, केवल चिन्ता,

---

* सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥
(वाल्मीकि० ६ । १८ । ३३)

शोक, दुःख आदि रह जायँगे। जैसे, अग्निसे अङ्गार दूर हो जाता है तो वह काला कोयला बन जाता है—'कोयला होय नहीं उजला ? सौ मन साबुन लगाय।' पर वही कोयला जब पुनः अग्निसे मिल जाता है तो वह अङ्गार (अग्निरूप) बन जाता है और चमक उठता है। ऐसे ही यह जीव भगवान्‌से विमुख हो जाता है तो वह बार-बार जन्मता-मरता और दुःख पाता रहता है, पर जब वह भगवान्‌के सम्मुख हो जाता है अर्थात् अनन्यभावसे भगवान्‌की शरणमें हो जाता है तो वह भगवत्स्वरूप बन जाता है और चमक उठता है तथा दुनियामात्रका कल्याण करनेवाला हो जाता है।

श्लोक—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ ६५॥

व्याख्या—

'**मद्भक्तः**'—साधकको सबसे पहले 'मै भगवान्‌का हूँ' इस प्रकार अपनी अहंता (मैं-पन) को बदल देना चाहिये। कारण कि बिना अहंताके बदले साधन सुगमतासे नहीं होता और अहंताके बदलनेपर साधन सुगमतासे, स्वाभाविक ही होने लगता है। इस वास्ते साधकको सबसे पहले '**मद्भक्तः**' होना चाहिये।

किसीका शिष्य बननेपर व्यक्ति अपनी अहंताको बदल देता है कि 'मै तो गुरु महाराजका ही हूँ।' विवाह हो जानेपर कन्या अपनी अहंताको बदल देती है कि 'मै तो ससुरालकी ही हूँ,' और पिताके कुलका सम्बन्ध बिल्कुल छूट जाता है। ऐसे ही साधकको

अपनी अहंता बदल देनी चाहिये कि 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् ही मेरे हैं; मैं संसारका नहीं हूँ और संसार मेरा नहीं है' [अहंताके बदलनेपर ममता भी अपने-आप बदल जाती है ।]

'मन्मना भव'—उपर्युक्त प्रकारसे अपनेको भगवान्‌का मान लेनेपर भगवान्‌में स्वाभाविक ही मन लगने लगता है । कारण कि जो अपना होता है, वह स्वाभाविक ही प्रिय लगता है और जहाँ प्रियता होती है, वहाँ स्वाभाविक ही मन लगता है । अतः भगवान्‌को अपना माननेसे भगवान् स्वाभाविक ही प्रिय लगते हैं । फिर मनसे स्वाभाविक ही भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव, लीला आदिका चिन्तन होता है । भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपका ध्यान बड़ी तत्परता और लगनपूर्वक होता है ।

'मद्याजी'—अहंता बदल जानेपर अर्थात् अपने-आपको भगवान्‌का मान लेनेपर संसारका सब काम भगवान्‌की सेवाके रूपमें बदल जाता है अर्थात् साधक पहले जो संसारका काम करता था, वही काम अब भगवान्‌का काम हो जाता है । भगवान्‌का सम्बन्ध ज्यों-ज्यों दृढ़ होता जाता है, त्यों-ही-त्यों उसका सेवा-भाव पूजा-भावमें परिणत होता जाता है । फिर वह चाहे संसारका काम करे, चाहे घरका काम करे, चाहे शरीरका काम करे, चाहे ऊँचा-नीचा कोई भी काम करे, उसमें भगवान्‌की पूजाका ही भाव बना रहता है । उसकी यह दृढ़ धारणा हो जाती है कि भगवान्‌की पूजाके सिवाय मेरा कुछ भी काम नहीं है ।

'मां नमस्कुरु'—भगवान्‌के चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम करके सर्वथा भगवान्‌के समर्पित हो जाय। मै प्रभुके चरणोंमें ही पड़ा हुआ हूँ—ऐसा मनमें भाव रखते हुए जो कुछ अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति सामने आ जाय, उसमें भगवान्‌का मंगलमय विधान मानकर परम प्रसन्न रहे।

भगवान्‌के द्वारा मेरे लिये जो कुछ भी विधान होगा, वह मङ्गलमय ही होगा। पूरी परिस्थिति मेरी समझमें आये या न आये—यह बात दूसरी है, पर भगवान्‌का विधान तो मेरे लिये कल्याणकारी ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इस वास्ते जो कुछ होता है, वह मेरे कर्मोंका फल नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌के द्वारा कृपा करके केवल मेरे हितके लिये भेजा हुआ विधान है। कारण कि भगवान् प्राणिमात्रके परम सुहृद् होनेसे जो कुछ विधान करते हैं, वह जीवोंके कल्याणके लिये ही करते हैं। इस वास्ते भगवान् अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति भेजकर प्राणियोंके पुण्य-पापोंका नाश करके, उन्हे परम शुद्ध बनाकर अपने चरणोंमे खींच रहे हैं—इस प्रकार दृढ़तासे भाव होना ही भगवान्‌के चरणोंमें नमस्कार करना हैं।

'मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे'—भगवान् कहते हैं कि इस प्रकार मेरा भक्त होनेसे, मेरेमें मनवाला होनेसे तथा मेरा पूजन करनेवाला होनेसे और मुझे नमस्कार करनेसे तू मेरेको ही

प्राप्त होगा अर्थात् मेरेमें ही निवास करेगा*—ऐसी मैं सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा प्यारा है ।

'प्रियोऽसि मे' कहनेका तात्पर्य है कि भगवान्‌का जीवमात्रपर अत्यधिक स्नेह है । अपना ही अंश होनेसे कोई भी जीव भगवान्‌को अप्रिय नहीं है । भगवान् जीवोंको चाहे चौरासी लाख योनियोंमें भेजें, चाहे नरकोंमें भेजें, उनका उद्देश्य जीवोंको पवित्र करनेका ही होता है । जीवोंके प्रति भगवान्‌का जो यह कृपापूर्ण विधान है, वह भगवान्‌के प्यारका ही द्योतक है । इसी बातको प्रकट करनेके लिये भगवान् अर्जुनको प्राणिमात्रका प्रतिनिधि बनाकर 'प्रियोऽसि मे' वचन कहते हैं ।

जीवमात्र भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय है । केवल जीव ही भगवान्‌से विमुख होकर प्रतिक्षण वियुक्त होनेवाले संसार (धन-सम्पत्ति, कुटुम्बी, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण आदि) को अपना मानने लगता है, जबकि संसारने कभी जीवको अपना नहीं माना है । जीव ही अपनी तरफसे संसारसे सम्बन्ध जोड़ता है । संसार प्रतिक्षण परिवर्तनशील है और जीव नित्य अपरिवर्तनशील है । जीवसे यही गलती होती है कि वह प्रतिक्षण बदलनेवाले संसारके सम्बन्धको नित्य मान लेता है । यही कारण है कि सम्बन्धीके न रहनेपर भी उससे माना हुआ सम्बन्ध रहता है । यह माना हुआ सम्बन्ध ही

---

* भगवान्‌का भक्त होना, उनमें मन लगाना, उनका पूजन करना और उन्हें नमस्कार करना—इन चारोंमें एक भी साधन ठीक तरहसे होनेपर शेष तीनों साधन उसमें स्वतः आ जाते हैं ।

अनर्थका हेतु है। इस सम्बन्धको मानने अथवा न माननेमें सभी स्वतन्त्र हैं। इस वास्ते इस माने हुए सम्बन्धका त्याग करके, जिनसे हमारा वास्तविक और नित्य-सम्बन्ध है, उन भगवान्‌की शरणमें चले जाना चाहिये।

सम्बन्ध—

पिछले दो श्लोकोंमें अर्जुनको आश्वासन देकर अब भगवान् अगले श्लोकमें अपने उपदेशकी अत्यन्त गोपनीय सार बात बताते हैं।

श्लोक—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ ६६॥

व्याख्या—

'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' भगवान् कहते हैं कि सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय, धर्मके निर्णयका विचार छोड़कर अर्थात् क्या करना है और क्या नहीं करना है—इसको छोड़कर केवल एक मेरी ही शरणमें आ जा।

स्वयं भगवान्‌के शरणागत हो जाना—यह सम्पूर्ण साधनोंका सार है। इसमें शरणागत भक्तको अपने लिये कुछ भी करना शेष नहीं रहता; जैसे—पतिव्रताका अपना कोई काम नहीं रहता। वह अपने शरीरकी सार-सँभाल भी पतिके नाते, पतिके लिये ही करती है। वह घर, कुटुम्ब, वस्तु, पुत्र-पुत्री और अपने कहलानेवाले शरीरको भी अपना नहीं मानती, प्रत्युत पतिदेवका ही मानती है। तात्पर्य यह हुआ कि जिस प्रकार पतिव्रता पतिके परायण होकर

पतिके गोत्रमें ही अपना गोत्र मिला देती है और पतिके ही घरपर रहती है, उसी प्रकार शरणागत भक्त भी शरीरको लेकर माने जानेवाले गोत्र, जाति, नाम आदिको भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित करके निश्चिन्त, निर्भय, निःशोक और निःशङ्क हो जाता है।

गीताके अनुसार यहाँ 'धर्म' शब्द कर्तव्य-कर्मका वाचक है। कारण कि इसी अध्यायके इकतालीसवेंसे चौवालीसवें श्लोकतक 'स्वभावजं कर्म' पद आये हैं, फिर सैंतालीसवें श्लोकके पूर्वार्द्धमें 'स्वधर्म' पद आया है। उसके बाद, सैंतालीसवें श्लोकके ही उत्तरार्द्धमें तथा (प्रकरणके अन्तमें) अड़तालीसवें श्लोकमें 'कर्म' पद आया है। तात्पर्य यह हुआ कि आदि और अन्तमें 'कर्म' पद आया है और बीचमें 'स्वधर्म' पद आया है तो इससे स्वतः ही 'धर्म' शब्द कर्तव्य-कर्मका वाचक सिद्ध हो जाता है।

अब यहाँ प्रश्न यह होता है कि **'सर्वधर्मान्परित्यज्य'** पदसे क्या धर्म अर्थात् कर्तव्य-कर्मका स्वरूपसे त्याग माना जाय? इसका उत्तर यह है कि धर्मका स्वरूपसे त्याग करना न तो गीताके अनुसार ठीक है और न यहाँके प्रसङ्गके अनुसार ही ठीक है; क्योंकि भगवान्‌की यह बात सुनकर अर्जुनने कर्तव्य-कर्मका त्याग नहीं किया है, प्रत्युत **'करिष्ये वचनं तव'** (१८। ७३) कहकर भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार कर्तव्य-कर्मका पालन करना स्वीकार किया है। केवल स्वीकार ही नहीं किया है, प्रत्युत अपने क्षात्रधर्मके अनुसार युद्ध भी किया है। अतः उपर्युक्त पदमें धर्म अर्थात्

कर्तव्यका त्याग करनेकी बात नहीं है। भगवान् भी कर्तव्यके त्यागकी बात कैसे कह सकते हैं? भगवान्‌ने इसी अध्यायके छठे श्लोकमें कहा है कि यज्ञ, दान, तप और अपने-अपने वर्ण-आश्रमोंके 'जो कर्तव्य हैं, उनका कभी त्याग नहीं करना चाहिये, प्रत्युत उनको जरूर करना चाहिये*।

* तीसरे अध्यायमें तो भगवान्‌ने कर्तव्य-कर्मको न छोड़नेके लिये प्रकरण-का-प्रकरण ही कहा है—कर्मोंको त्यागनेसे न तो निष्कर्मताकी प्राप्ति होती है और न सिद्धि ही होती है (३ । ४); कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता (३ । ५), जो बाहरसे कर्मोंको त्यागकर भीतरसे विषयोंका चिन्तन करता है, वह मिथ्याचारी है (३ । ६); जो मन-इन्द्रियोंको वशमें करके कर्तव्य-कर्म करता है, वही श्रेष्ठ है (३ । ७); कर्म किये बिना शरीरका निर्वाह भी नहीं होता, इस वास्ते कर्म करना चाहिये (३ । ८); 'कर्मणा बध्यते जन्तुः'—इस बन्धनके भयसे भी कर्मोंका त्याग करना उचित नहीं है; क्योंकि केवल कर्तव्य-पालनके लिये कर्म करना बन्धनकारक नहीं है, प्रत्युत कर्तव्य-कर्मकी परम्परा सुरक्षित रखनेके सिवाय अपने लिये कुछ भी कर्म करना ही बन्धनकारक है (३ । ९); ब्रह्माजीने कर्तव्य-सहित प्रजाकी रचना करके कहा कि इस कर्तव्य-कर्मसे ही तुमलोगोंकी वृद्धि होगी और यही कर्तव्य-कर्म तुम लोगोंको कर्तव्य-सामग्री देनेवाला होगा (३ । १०); मनुष्य और देवता-दोनो ही कर्तव्यका पालन करते हुए कल्याणको प्राप्त होंगे (३ । ११); जो कर्तव्यका पालन किये बिना प्राप्त सामग्रीका उपभोग करता है, वह चोर है (३ । १२); कर्तव्य-कर्म करके अपना निर्वाह करनेवाला सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है और जो केवल अपने लिये ही कर्म करता है, वह पापी पापका ही भक्षण करता है (३ । १३); कर्तव्य-पालनसे ही सृष्टिचक्र चलता है, परंतु जो सृष्टिमें

गीताका पूरा अध्ययन करनेसे यह माल्रम होता है कि मनुष्यको किसी भी हालतमें कर्तव्य-कर्मका त्याग नहीं करना चाहिये। अर्जुन तो युद्धरूप कर्तव्य-कर्म छोड़कर भिक्षा माँगना श्रेष्ठ समझते थे (२ । ५), परंतु भगवान्ने इसका निषेध किया (२ । ३१–३८)। इससे भी यही सिद्ध होता है कि यहाँ स्वरूपसे धर्मोंका त्याग नहीं है।

अब विचार यह करना है यहाँ सम्पूर्ण धर्मोंके त्यागसे क्या लेना चाहिये ? गीताके अनुसार सम्पूर्ण धर्मों यानी कर्मोंको भगवान्के अर्पित करना ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। इसमें सम्पूर्ण धर्मोंके आश्रयका त्याग करना और केवल भगवान्का आश्रय लेना—दोनों बातें सिद्ध हो जाती हैं। धर्मका आश्रय लेनेवाले बार-बार जन्म-मरणको प्राप्त होते हैं—**'एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते'**

रहकर अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, उसका जीना व्यर्थ है (३ । १६); आसक्तिसे रहित होकर कर्तव्य-कर्म करनेवाला मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है (३ । १९); जनकादि ज्ञानीजन भी कर्तव्य-कर्म करनेसे सिद्धिको प्राप्त हुए हैं, लोकसंग्रहकी दृष्टिसे भी कर्तव्य-कर्म करना चाहिये (३ । २०); भगवान् अपना उदाहरण देते हुए कहते हैं कि अगर मैं सावधान रहकर कर्तव्य-कर्म न करूँ तो मैं वर्ण-संकरताका उत्पादक और लोकोंका नाश करनेवाला बनूँ (३ । २३-२४); ज्ञानी पुरुषको भी आसक्तिरहित होकर आसक्त अज्ञानीकी तरह अपना कर्तव्य-कर्म करना चाहिये (३ । २५); ज्ञानीको चाहिये कि वह अज्ञानियोंमें बुद्धिभेद पैदा न करके अपने कर्तव्यका अच्छी तरहसे पालन करते हुए उनसे भी वैसे ही कराये (३ । २६)। इस प्रकार तीसरे अध्यायमें भगवान्ने कर्तव्य-कर्मोंका पालन करनेमें बड़ा जोर दिया है।

(गीता ९ । २१) । इस वास्ते धर्मका आश्रय त्यागकर भगवान्‌का ही आश्रय लेनेपर फिर अपने धर्मका निर्णय करनेकी जरूरत नहीं रहती । आगे अर्जुनके जीवनमें ऐसा हुआ भी है ।

अर्जुनका कर्णके साथ युद्ध हो रहा था । इस बीच कर्णके रथका चक्का पृथ्वीमें धँस गया । कर्ण रथसे नीचे उतरकर रथके चक्केको निकालनेका उद्योग करने लगा और अर्जुनसे बोला कि 'जबतक मैं यह चक्का निकाल न लूँ, तबतक तुम ठहर जाओ; क्योंकि तुम रथपर हो और मै रथसे रहित हूँ और दूसरे कार्यमें लगा हुआ हूँ । ऐसे समय रथीको उचित है कि उसपर बाण न छोड़े । तुम सहस्रार्जुनके समान शस्त्र और शास्त्रके ज्ञाता हो और धर्मको जाननेवाले हो, इसलिये मेरे ऊपर प्रहार करना उचित नहीं है ।' कर्णकी बात सुनकर अर्जुन बाण नहीं चलाते । तब भगवान् कर्णसे कहते हैं कि 'तुम्हारे-जैसे आततायीको किसी तरहसे मार देना धर्म ही है, पाप नहीं *; क्योंकि आततायीके छहो लक्षण तुम्हारेमें हैं † और अभी-अभी तुम छः महारथियोंने

---

* आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ।
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।
(मनु० ८ । ३५०-३५१)

'अपना अनिष्ट करनेके लिये आते हुए आततायीको बिना विचार किये ही मार डालना चाहिये । आततायीको मारनेसे मारनेवालेको कुछ भी दोष नहीं लगता ।'

† अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्याततायिनः ॥
(वसिष्ठ० ३ । १९)

मिलकर अकेले अभिमन्युको घेरकर उसे मार डाला। इस वास्ते धर्मकी दुहाई देनेसे कोई लाभ नहीं है। हाँ, यह सौभाग्यकी बात है कि इस समय तुम्हे धर्मकी बात याद आ रही है, पर जो स्वयं धर्मका पालन नहीं करता, उसे धर्मकी दुहाई देनेका कोई अधिकार नहीं है।' ऐसा कहकर भगवान्‌ने अर्जुनको बाण मारनेकी आज्ञा दी तो अर्जुनने बाण मारना आरम्भ कर दिया।

इस प्रकार यदि अर्जुन अपनी बुद्धिसे धर्मका निर्णय करते तो भूल कर बैठते; अतः उन्होंने धर्मका निर्णय भगवान्‌पर ही रखा और भगवान्‌ने धर्मका निर्णय किया भी।

अर्जुनके मनमें सन्देह था कि हम लोगोंके लिये युद्ध करना श्रेष्ठ है अथवा युद्ध न करना श्रेष्ठ है (२।६)। यदि हम युद्ध करते हैं तो अपने कुटुम्बका नाश होता है और अपने कुटुम्बका नाश करना बड़ा भारी पाप है—**'स एव पापिष्ठतमो यः कुर्यात् कुलनाशनम्'**। इससे तो अनर्थ-परम्परा ही बढ़ेगी (२।४०–४४)। दूसरी तरफ हमलोग देखते हैं तो क्षत्रियके लिये युद्धसे बढ़कर श्रेयका कोई साधन नहीं है। तो भगवान् कहते हैं कि क्या करना है और क्या नहीं करना है, क्या धर्म है और क्या अधर्म है, इस पचड़ेमें तू क्यो पड़ता है? तू धर्मके निर्णयका भार मेरेपर छोड़ दे। यही **'सर्वधर्मान्परित्यज्य'** का तात्पर्य है।

'आग लगानेवाला, विष देनेवाला, हाथमें शस्त्र लेकर मारनेको उद्यत, धनका हरण करनेवाला, जमीन छीननेवाला और स्त्रीका हरण करनेवाला—ये छहों ही आततायी हैं।

'मामेकं शरणं व्रज'—इन पदोमें 'एकम्' पद 'माम्' का विशेषण नहीं हो सकता; क्योंकि 'माम्' (भगवान्) एक ही हैं, अनेक नहीं। इस वास्ते 'एकम्' पदका अर्थ 'अनन्य' लेना ही ठीक बैठता है। दूसरी बात, अर्जुनने 'तदेकं वद निश्चित्य' (३ । २) और 'यच्छ्रेय एतयोरेकम्' (५ । १) पदोमें भी 'एकम्' पदसे सांख्य और कर्मयोगके विषयमें एक निश्चित श्रेयका साधन पूछा है। उसी 'एकम्' पदको लेकर भगवान् यहाँ यह बताना चाहते हैं कि सांख्ययोग, कर्मयोग आदि जितने भी भगवत्प्राप्तिके साधन हैं, उन सम्पूर्ण साधनोंमें मुख्य साधन एक अनन्य शरणागति ही है।

गीतामें अर्जुनने अपने कल्याणके साधनके विषयमें कई तरहके प्रश्न किये और भगवान्ने उनके उत्तर भी दिये। वे सब साधन होते हुए भी गीताके पूर्वापरको देखनेसे यह बात स्पष्ट दीखती है कि सम्पूर्ण साधनोंका सार और शिरोमणि साधन भगवान्के अनन्यशरण होना ही है।

भगवान्ने गीतामें जगह-जगह अनन्यभक्तिकी बहुत महिमा गायी है। जैसे, दुस्तर मायाको सुगमतासे तरनेका उपाय अनन्य शरणागति ही है* (७ । १४); अनन्यचेताके लिये मैं सुलभ हूँ† (८ । १४); परम पुरुषकी प्राप्ति अनन्य भक्तिसे ही होती है (८ । २२); अनन्य भक्तोंका योगक्षेम मैं वहन करता हूँ (९ । २२); अनन्य भक्तिसे ही भगवान्को जाना, देखा तथा प्राप्त किया जा

* इस श्लोकमें 'एव' पद अनन्यताका ही वाचक है।

† इस श्लोकमें 'अनन्यचेताः' पद अनन्य आश्रयका वाचक है।

सकता है (११ । ५४); अनन्य भक्तोंका मैं बहुत जल्दी उद्धार करता हूँ (१२ । ६-७); गुणातीत होनेका उपाय अनन्यभक्ति ही है (१४ । २६)। इस प्रकार अनन्य भक्तिकी महिमा गाकर भगवान् यहाँ पूरी गीताका सार बताते हैं—**'मामेकं शरणं व्रज'**। तात्पर्य यह कि उपाय और उपेय, साधन और साध्य मैं ही हूँ।

'मामेकं शरणं व्रज'का तात्पर्य मन-बुद्धिके द्वारा शरणागतिको स्वीकार करना नहीं है, प्रत्युत स्वयंको भगवान्‌की शरणमें जाना है। कारण कि स्वयंके शरण होनेपर मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदि भी उसीमें आ जाते हैं, अलग नहीं रहते।

'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः'—यहाँ कोई ऐसा मान सकता है कि पहले अध्यायमें अर्जुनने जो युद्धसे पाप होनेकी बातें कही थीं, उन पापोंसे छुटकारा दिलानेका प्रलोभन भगवान्‌ने दिया है। परंतु यह मान्यता युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि जब अर्जुन सर्वथा भगवान्‌के शरण हो गया है, तब उसके पाप कैसे रह सकते हैं* और उसके लिये प्रलोभन कैसे दिया जा सकता है अर्थात् उसके लिये प्रलोभन देना बनता ही नहीं। हाँ, पापोंसे मुक्त करनेका प्रलोभन देना हो तो वह शरणागत होनेके पहले ही दिया जा सकता है, शरणागत होनेके बाद नहीं।

---

* सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥
(मानस ५।४३।१)

'मै तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा'—इसका भाव यह है कि जब तू सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय छोड़कर मेरी शरणमें आ गया और शरण होनेके बाद भी तुम्हारे भावों, वृत्तियों, आचरणों आदिमें फर्क नहीं पड़ा अर्थात् उनमें सुधार नहीं हुआ; भगवत्प्रेम, भगवद्दर्शन आदि नहीं हुए और अपनेमें अयोग्यता, अनधिकारता, निर्बलता आदि मालूम होती है, तो भी उनको लेकर तुम चिन्ता या भय मत करो। कारण कि जब तुम मेरी अनन्य-शरण हो गये तो वह कमी तुम्हारी कमी कैसे रही? उसका सुधार करना तुम्हारा काम कैसे रहा? वह कमी मेरी कमी है। अब उस कमीको दूर करना, उसका सुधार करना मेरा काम रहा। तुम्हारा तो बस, एक ही काम है; वह काम है—निश्चिन्त, निःशोक, निर्भय और निःशङ्क होकर मेरे चरणोंमें पडे रहना !* परंतु अगर तेरेमें चिन्ता, भय, वहम आदि दोष आ जायँगे तो वे शरणागतिमें बाधक हो जायँगे और सब भार तेरेपर आ जायगा। शरण होकर अपनेपर भार लेना शरणागतिमें कलङ्क है।

जैसे विभीषण भगवान् रामके चरणोंकी शरण हो जाता है तो फिर विभीषणके दोषको भगवान् अपना ही दोष मानते हैं। एक समय विभीषणजी समुद्रके इस पार आये। वहाँ विप्रघोष नामक गाँवमें उनसे एक अज्ञात ब्रह्महत्या हो गयी। इसपर वहाँके ब्राह्मणोंने इकट्ठे होकर विभीषणको खूब मारा-पीटा, पर वे मरे नहीं। फिर

* काहू के बल भजन कौ, काहू के आचार।
'व्यास' भरोसे कुँवरि के, सोवत पाँव पसार॥

ब्राह्मणोंने उन्हें जंजीरोंसे बाँधकर जमीनके भीतर एक गुफामें ले जाकर बन्द कर दिया। रामजीको विभीषणके कैद होनेका पता लगा तो वे पुष्पकविमानके द्वारा तत्काल विप्रघोष नामक गाँवमें पहुँच गये और वहाँ विभीषणका पता लगाकर उनके पास गये। ब्राह्मणोंने रामजीका बहुत आदर-सत्कार किया और कहा कि 'महाराज! इसने ब्रह्महत्या कर दी है। इसको हमने बहुत मारा, पर यह मरा नहीं।' भगवान् रामने कहा कि 'हे ब्राह्मणो! विभीषणको मैंने कल्पतककी आयु और राज्य दे रखा है, वह कैसे मारा जा सकता है! और उसको मारनेकी जरूरत ही क्या है? वह तो मेरा भक्त है। भक्तके लिये मैं स्वयं मरनेको तैयार हूँ। दासके अपराधकी जिम्मेवारी वास्तवमें उसके मालिकपर ही होती है अर्थात् मालिक ही उसके दण्डका पात्र होता है। इस वास्ते विभीषणके बदलेमें आपलोग मेरेको ही दण्ड दें*।' भगवान्की यह शरणागतवत्सलता देखकर सब ब्राह्मण आश्चर्य करने लगे और उन सबने भगवान्की शरण ले ली।

तात्पर्य यह हुआ कि 'मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इस अपनेपनके समान योग्यता, पात्रता, अधिकारिता आदि कुछ भी नहीं है। यह सम्पूर्ण साधनोंका सार है। छोटा-सा बच्चा

---

* वरं ममैव मरणं मद्भक्तो हन्यते कथम्।
राज्यमायुर्मया दत्तं तथैव स भविष्यति॥
भृत्यापराधे सर्वत्र स्वामिनो दण्ड इष्यते।
रामवाक्यं द्विजाः श्रुत्वा विस्मयादिदमब्रुवन्॥
(पद्मपुराण, पाताल० १०४। १५०-१५१)

भी अपनेपनके बलपर ही आधी रातमें सारे घरको नचाता है अर्थात् जब वह रातमें रोता है तो सारे घरवाले उठ जाते हैं और उसे राजी करते हैं। इस वास्ते शरणागत भक्तको अपनी योग्यता आदिकी तरफ न देखकर भगवान्‌के साथ अपने अपनेपनकी तरफ ही देखते रहना चाहिये।

'मा शुचः' का तात्पर्य है—

(१) मेरे शरण होकर तू चिन्ता करता है, यह मेरे प्रति अपराध है, तेरा अभिमान है और शरणागतिमें कलंक है।

मेरे शरण होकर भी मेरा पूरा विश्वास, भरोसा न रखना ही मेरे प्रति अपराध है। अपने दोषोंको लेकर चिन्ता करना वास्तवमें अपने बलका अभिमान है; क्योंकि दोषोंको मिटानेमें अपनी सामर्थ्य मालूम देनेसे ही उनको मिटानेकी चिन्ता होती है। हाँ, अगर दोषोंको मिटानेमें चिन्ता न होकर दुःख होता है तो दुःख होना इतना दोषी नहीं है। जैसे, छोटे बालकके पास कुत्ता आता है तो वह कुत्तेको देखकर रोता है, चिन्ता नहीं करता। ऐसे ही दोषोंका न सुहाना दोष नहीं है, प्रत्युत चिन्ता करना दोष है। चिन्ता करनेका अर्थ यही होता है कि भीतरमें अपने छिपे हुए बलका आश्रय है* और यही तेरा अभिमान है। मेरा भक्त होकर भी

* कौरवोंकी सभामें द्रौपदीका चीर खींचा गया तो द्रौपदी अपनी साड़ीको हाथोंसे, दाँतोंसे पकड़ती है और भगवान्‌को पुकारती है। अपने बलका आश्रय रखते हुए भगवान्‌को पुकारनेसे भगवान्‌के आनेमें देरी लगती है। परंतु जब द्रौपदी अपना उद्योग सर्वथा छोड़कर भगवान्‌पर ही निर्भर हो जाती है तो दुःशासन चीरको खींच-खींचकर थक जाता है और चीरोंका ढेर लग जाता है, पर द्रौपदीका कोई भी अङ्ग उघड़ता नहीं।

तू चिन्ता करता है तो तेरी चिन्ता दूर कहाँ होगी ? लोग भी देखेंगे तो यही कहेंगे कि यह भगवान्‌का भक्त है और चिन्ता करता है ! भगवान् इसकी चिन्ता नहीं मिटाते ! तू मेरा विश्वास न करके चिन्ता करता है तो विश्वासकी कमी तो है तेरी और कलंक आता है मेरेपर, मेरी शरणागतिपर । इनको तू छोड़ दे ।

(२) तेरे भाव, वृत्तियाँ, आचरण शुद्ध नहीं हुए हैं तो भी तू इनकी चिन्ता मत कर । इनकी चिन्ता मैं करूँगा ।

(३) दूसरे अध्यायके सातवें श्लोकमें अर्जुन भगवान्‌के शरण हो जाते हैं और फिर आठवें श्लोकमें कहते हैं कि इस भूमण्डलका धन-धान्यसे सम्पन्न निष्कण्टक राज्य मिलनेपर अथवा देवताओंका आधिपत्य मिलनेपर भी इन्द्रियोंको सुखानेवाला मेरा शोक दूर नहीं हो सकता । भगवान् मानो कह रहे हैं कि तेरा कहना ठीक ही है; क्योंकि भौतिक नाशवान् पदार्थोंके सम्बन्धसे किसीका शोक कभी दूर हुआ नहीं, हो सकता नहीं और होनेकी सम्भावना भी नहीं । परंतु मेरी शरण लेकर जो तू शोक करता है, यह तेरी बड़ी भारी गलती है । तू मेरे शरण होकर भी भार अपने सिरपर ले रहा है ।

(४) शरणागत होनेके बाद भक्तको लोक-परलोक, सद्गति-दुर्गति आदि किसी भी बातकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये । इस विषयमें किसी भक्तने कहा है—

दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो नरके वा नरकान्तक प्रकामम् ।
अवधीरितशारदारविन्दौ चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि ॥

'हे नरकासुरका अन्त करनेवाले प्रभो! आप मेरेको चाहे स्वर्गमें रखें, चाहे भूमण्डलपर रखें और चाहे यथेच्छ नरकमें रखें अर्थात् आप जहाँ रखना चाहें, वहाँ रखें। जो कुछ करना चाहें, वह करें। इस विषयमें मेरा कुछ भी कहना नहीं है। मेरी तो एक यही माँग है कि शरद्ऋतुके कमलकी शोभाको तिरस्कृत करनेवाले आपके अति सुन्दर चरणोंका मृत्यु-जैसी भयंकर अवस्थामें भी चिन्तन करता रहूँ; आपके चरणोंको भूलूँ नहीं।'

विशेष बात

शरणागत भक्त 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं' इस भावको दृढ़तासे पकड़ लेता है, स्वीकार कर लेता है तो उसकी चिन्ता, भय, शोक, शंका आदि दोषोंकी जड़ कट जाती है-अर्थात् दोषोंका आधार कट जाता है। कारण कि भक्तिकी दृष्टिसे सभी दोष भगवान्‌की विमुखतापर ही टिके रहते हैं।

भगवान्‌के सम्मुख होनेपर भी संसार और शरीरके आश्रयके संस्कार रहते हैं, जो भगवान्‌के सम्बन्धकी दृढ़ता होनेपर मिट जाते हैं*। उनके मिटनेपर सब दोष भी मिट जाते हैं।

सम्बन्धका दृढ़ होना क्या है? चिन्ता, भय, शोक, शङ्का, परीक्षा और विपरीत भावनाका न होना ही सम्बन्धका दृढ़ होना है। अब इनपर विचार करें।

---

* भगवान्‌के सम्बन्धकी दृढ़ता होनेपर जब संसार-शरीरका आश्रय सर्वथा नहीं रहता, तब जीनेकी आशा, मरनेका भय, करनेका राग और पानेकी लालच—ये चारों ही नहीं रहते।

(१) **निश्चिन्त होना**—जब भक्त अपनी मानी हुई वस्तुओं-सहित अपने-आपको भगवान्‌के समर्पित कर देता है, तब उसको लौकिक-पारलौकिक किंचिन्मात्र भी चिन्ता नहीं होती अर्थात् अभी जीवन-निर्वाह कैसे होगा ? कहाँ रहना होगा ? मेरी क्या दशा होगी ? क्या गति होगी ? आदि चिन्ताएँ बिल्कुल नहीं रहतीं * ।

भगवान्‌के शरण होनेपर शरणागत भक्तमें यह एक बात आती है कि 'अगर मेरा जीवन प्रभुके लायक सुन्दर और शुद्ध नहीं बना तो भक्तोंकी बात मेरे आचरणमें कहाँ आयी ? अर्थात् नहीं आयी; क्योंकि मेरी वृत्तियाँ ठीक नहीं रहतीं' । वास्तवमें 'मेरी वृत्तियाँ हैं' ऐसा मानना ही दोष है, वृत्तियाँ उतनी दोषी नहीं हैं । मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदिमें जो मेरापन है—यही गलती है; क्योंकि जब मैं भगवान्‌के शरण हो गया और जब सब कुछ उनके समर्पित कर दिया तो मन, बुद्धि, आदि मेरे कहाँ रहे ? इस वास्ते शरणागतको मन, बुद्धि आदिकी अशुद्धिकी चिन्ता कभी नहीं करनी चाहिये अर्थात् मेरी वृत्तियाँ ठीक नहीं हैं—ऐसा भाव कभी नहीं लाना चाहिये । किसी कारणवश अचानक ऐसी वृत्तियाँ आ भी जायँ तो आर्तभावसे 'हे मेरे नाथ ! हे मेरे प्रभो ! बचाओ ! बचाओ !! बचाओ !!!' ऐसे प्रभुको पुकारना चाहिये; क्योंकि वे मेरे अपने स्वामी हैं, मेरे सर्व-समर्थ प्रभु हैं तो अब मैं चिन्ता क्यों करूँ ? और भगवान्‌ने भी

---

* चिन्ता दीनदयालको, मो मन सदा अनन्द ।
जायो सो प्रतिपालसी, रामदास गोविन्द ॥

कह दिया है कि 'तू चिन्ता मत कर' (मा शुचः) । इस वास्ते मैं निश्चिन्त हूँ---ऐसा कहकर मनसे भगवान्‌के चरणोंमें गिर जाओ, और निश्चिन्त होकर भगवान्‌से कह दो---'हे नाथ ! यह सब आपके हाथकी बात है, आप जानो ।'

सर्वसमर्थ प्रभुके शरण भी हो गये और चिन्ता भी करें---ये दोनों बातें बड़ी विरोधी हैं; क्योंकि शरण हो गये तो चिन्ता कैसी ? और चिन्ता होती है तो शरणागति कैसी ? इस वास्ते शरणागतको ऐसा सोचना चाहिये कि जब भगवान् यह कहते हैं कि मैं सम्पूर्ण पापोंसे छुड़ा दूँगा तो क्या ऐसी वृत्तियोंसे छूटनेके लिये मेरेको कुछ करना पडेगा ? 'मै तो बस, आपका हूँ । हे भगवन् ! मेरेमें वृत्तियोंको अपना माननेका भाव कभी आये ही नहीं । हे नाथ ! शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि---ये कभी मेरे दीखें ही नहीं । परंतु हे नाथ ! सब कुछ आपको देनेपर भी ये शरीर आदि कभी-कभी मेरे दीख जाते हैं; अब इस अपराधसे मेरेको आप ही छुड़ाइये'---ऐसा कहकर निश्चिन्त हो जाओ ।

(२) **निर्भय होना**---आचरणोंकी कमी होनेसे भीतरसे भय पैदा होता है और साँप, बिच्छू, बाघ आदिसे बाहरसे भय पैदा होता है। शरणागत भक्तके ये दोनों ही प्रकारके भय मिट जाते हैं । इतना ही नहीं, पतञ्जलि महाराजने जिस मृत्युके भयको पाँचवाँ क्लेश माना है*

---

* अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः । (योगदर्शन २ । ३)

और जो बड़े-बड़े विद्वानोंको भी होता है *, वह भय भी सर्वथा मिट जाता है †।

अब मेरी वृत्तियाँ खराब हो जायँगी !—ऐसा भयका भाव भी साधकको भीतरसे ही निकाल देना चाहिये; क्योंकि 'मैं भगवान्‌की कृपामें तरान्तर हो गया हूँ, अब मेरेको किसी बातका भय नहीं है। इन वृत्तियोंको मेरी माननेसे ही मैं इनको शुद्ध नहीं कर सका; क्योंकि इनको मेरी मानना ही मलिनता है—'ममता मल जरि जाइ' (मानस ७। ११७ क) । इस वास्ते अब मैं कभी भी इनको मेरी नहीं मानूँगा। जब वृत्तियाँ मेरी हैं ही नहीं तो मेरेको भय किस बातका ? अब तो केवल भगवान्‌की कृपा-ही-कृपा है ! भगवान्‌की कृपा ही सर्वत्र परिपूर्ण हो रही है ! यह बड़ी खुशीकी, बड़ी प्रसन्नताकी बात है !'

लोग ऐसी शङ्का करते हैं कि भगवान्‌के शरण होकर उनका भजन करनेसे तो द्वैत हो जायगा अर्थात् भगवान् और भक्त—ये

---

* स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः। (योगदर्शन २। ९)

† तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो॥
(श्रीमद्भा० १० । २ । ३३)

'भगवन् ! जो आपके भक्त हैं, जिन्होंने आपके चरणोंमें अपनी सच्ची प्रीति जोड़ रखी है, वे कभी ज्ञानाभिमानियोंकी तरह अपने साधनसे गिरते नहीं। प्रभो ! वे बड़े-बड़े विघ्न डालनेवाली सेनाके सरदारोंके सिरपर पैर रखकर निर्भय होकर विचरते हैं, कोई भी विघ्न उनके मार्गमें रुकावट नहीं डाल सकते।'

दो हो जायँगे और दूसरेसे भय होता है—'द्वितीयाद्वै भयं भवति'। पर यह शङ्का निराधार है। भय द्वितीयसे तो होता है, पर आत्मीयसे भय नहीं होता अर्थात् भय दूसरेसे होता है, अपनेसे नहीं। प्रकृति और प्रकृतिका कार्य शरीर-संसार द्वितीय है, इस वास्ते इनसे सम्बन्ध रखनेपर ही भय होता है; क्योंकि इनके साथ सदा सम्बन्ध रह ही नहीं सकता। कारण यह है कि प्रकृति और पुरुषका स्वभाव सर्वथा भिन्न-भिन्न है; जैसे एक जड़ है और एक चेतन; एक विकारी है और एक निर्विकार; एक परिवर्तनशील है और एक अपरिवर्तनशील; एक प्रकाश्य है और एक प्रकाशक इत्यादि।

भगवान् द्वितीय नहीं हैं। वे तो आत्मीय हैं; क्योंकि जीव उनका सनातन अंश है, उनका स्वरूप है। इस वास्ते भगवान्‌के शरण होनेपर उनसे भय कैसे हो सकता है? प्रत्युत उनके शरण होनेपर मनुष्य सदाके लिये अभय हो जाता है। स्थूल दृष्टिसे देखा जाय तो बच्चेको माँसे दूर रहनेपर तो भय होता है, पर माँकी गोदीमें चले जानेपर उसका भय मिट जाता है; क्योंकि माँ उसकी अपनी है। भगवान्‌का भक्त इससे भी विलक्षण होता है। कारण कि बच्चे और माँमें तो भेदभाव दीखता है, पर भक्त और भगवान्‌में भेदभाव सम्भव ही नहीं है।

(३) **निःशोक होना**—जो बात बीत चुकी है, उसको लेकर शोक होता है। बीती हुई बातको लेकर शोक करना बड़ी भारी भूल है; क्योंकि जो हुआ है, वह अवश्यम्भावी था और जो

नहीं होनेवाला है, वह कभी हो ही नहीं सकता तथा अभी जो हो रहा है, वह ठीक-ठीक (वास्तविक) होनेवाला ही हो रहा है, फिर उसमें शोक करनेकी कोई बात ही नहीं है *। प्रभुके इस मङ्गलमय विधानको जानकर शरणागत भक्त सदा निःशोक रहता है; शोक उसके पास कभी आता ही नहीं।

(४) **निःशङ्क होना**—भगवान्‌के सम्बन्धमें कभी यह सन्देह न करें कि मैं भगवान्‌का हुआ या नहीं? भगवान्‌ने मुझे स्वीकार किया या नहीं? प्रत्युत इस बातको देखें कि 'मैं तो अनादिकालसे भगवान्‌का ही था, भगवान्‌का ही हूँ और आगे भी सदा भगवान्‌का ही रहूँगा। मैंने ही अपनी मूर्खतासे अपनेको भगवान्‌से अलग—विमुख मान लिया था। परंतु मैं अपनेको भगवान्‌से कितना ही अलग मान लूँ तो भी उनसे अलग हो सकता ही नहीं और होना सम्भव भी नहीं। अगर मै भगवान्‌से अलग होना भी चाहूँ तो भी अलग कैसे हो सकता हूँ? क्योंकि भगवान्‌ने कहा है कि यह जीव मेरा ही अंश है—'**मम एव अंशः**' (गीता १५। ७)'। इस प्रकार 'मै भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इस वास्तविकताकी स्मृति आते ही शङ्काएँ-सन्देह मिट जाते हैं; शङ्काओं-सन्देहोंके लिये किञ्चिन्मात्र भी गुंजाइश नहीं रहती।

---

* राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई ॥
(मानस १। १२७। १)

होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढावै साखा ॥
(मानस १। ५१। ४)

(५) **परीक्षा न करना**—भगवान्‌के शरण होकर ऐसी परीक्षा न करें कि 'जब मै भगवान्‌के शरण हो गया हूँ तो मेरेमें ऐसे-ऐसे लक्षण घटने चाहिये। यदि ऐसे-ऐसे लक्षण मेरेमें नहीं हैं तो मै भगवान्‌के शरण कहाँ हुआ ?' प्रत्युत 'अद्वेष्टा' आदि (गीता १२।१३-१९) गुणोंकी अपनेमें कमी दीखे तो आश्चर्य करे कि मेरेमें यह कमी कैसे रह गयी !* ऐसा भाव आते ही यह कमी नहीं रहेगी,

---

* इसे समझनेके लिये एक ग्रामीण कहानी है। एक माँके तीन लड़के थे। दो लड़के बड़े थे और काम-धंधा करते थे। तीसरा लड़का सीधा-सादा और भोला था। उनकी माँ मर गयी। तो दोनों बड़े भाइयोंने छोटे भाईसे कहा कि माँके फूल गङ्गाजीमें डाल दे, इतना काम तू कर दे। उसने कहा—बहुत ठीक है! वह माँके फूल लेकर अपने घरसे चला। घरसे गङ्गाजी ३०० कोस दूर थीं। पैदल रास्ता चलते-चलते वह थक गया तो किसीसे पूछा—भैया! गङ्गाजी कितनी दूर है? वह बोला—तुम तो १५० कोस आये हो, अभी १५० कोस गङ्गाजी और अगाडी हैं। उसने सोचा कि गङ्गाजी कब पहुँचूँगा और फिर लौटकर कब आऊँगा! ऐसे दुःखी हो करके उसने वे हड्डियाँ जंगलमें ही फेंक दीं और गाँवके पाससे वर्षाका मीठा जल बर्तनमे भर लिया; क्योंकि गङ्गाजी जाते हैं तो लौटते वक्त गङ्गाजल लाते हैं। फिर वह वहाँसे पीछे चला आया और अपने गाँव पहुँच गया। बड़े भाई सोचने लगे कि अगर यह गङ्गाजी जाकर आता तो इतने दिनोंमें नहीं आ सकता था, यह गङ्गाजी गया ही नहीं। बड़े भाइयोंने उससे पूछा—तू गङ्गाजी जाकर आया है क्या? उसने कहा—हाँ, गङ्गाजी जाकर आया हूँ; ठेठ गङ्गाजीके ब्रह्मकुण्डमें फूल डालकर वहाँसे गङ्गाजीका यह जल लाया हूँ। ऐसे वह झूठ बोल गया। भाइयोंने समझ लिया कि यह ठीक नहीं बोल रहा है, इस वास्ते वे चुप हो गये।

सच्चे हृदयसे प्रभुके चरणोंकी शरण होनेपर उस शरणागत भक्तमें यदि किसी भाव, आचरण आदिकी किञ्चित् कमी रह जाय, वक्तपर विपरीत वृत्ति पैदा हो जाय अथवा किसी परिस्थितिमें पड़कर परवशतासे कभी किञ्चित् कोई दुष्कर्म हो जाय, तो उसके हृदयमें जलन पैदा हो जायगी। इस वास्ते उसके लिये अन्य कोई प्रायश्चित्त करनेकी आवश्यकता नहीं है। भगवान् कृपा करके उसके उस पापको सर्वथा नष्ट कर देते हैं*।

भगवान् भक्तके अपनेपनको ही देखते हैं, गुणों और अवगुणोंको नहीं† अर्थात् भगवान्‌को भक्तके दोष दीखते ही नहीं, उनको तो केवल भक्तके साथ जो अपनापन है, वही दीखता है। कारण कि स्वरूपसे भक्त सदासे ही भगवान्‌का है। दोष आगन्तुक होनेसे आते-जाते रहते हैं और वह नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों ही रहता है। इस वास्ते भगवान्‌की दृष्टि इस वास्तविकतापर ही सदा जमी रहती है। जैसे, कीचड़ आदिसे सना हुआ बच्चा जब

---

* स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद् धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः॥
(श्रीमद्भा० ११।५।४२)

'जो प्रेमी भक्त भगवान्‌के चरणोंका अनन्यभावसे भजन करता है, उसके द्वारा यदि अकस्मात् कोई पाप-कर्म बन भी जाय तो उसके हृदयमें विराजमान परमपुरुष भगवान् श्रीहरि उसे सर्वथा नष्ट कर देते हैं।'

† रहति न प्रभु चित चूक किए की।
करत सुरति सय बार हिए की॥
(मानस १।२८।३)

माँके सामने आता है तो माँकी दृष्टि केवल अपने बच्चेकी तरफ ही जाती है, बच्चेके मैलेकी तरफ नहीं जाती। बच्चेकी दृष्टि भी मैलेकी तरफ नहीं जाती। माँ साफ करे या न करे, पर बच्चेकी दृष्टिमें तो मैला है ही नहीं, उसकी दृष्टिमें तो केवल माँ ही है। द्रौपदीके मनमें कितना द्वेष और क्रोध भरा हुआ था कि जब दुःशासनके खूनसे अपने केश धोऊँगी, तभी केशोंको बाँधूँगी! परंतु द्रौपदी जब भी भगवान्‌को पुकारती है, भगवान् चट आ जाते हैं; क्योंकि भगवान्‌के साथ द्रौपदीका गाढ़ अपनापन था।

भगवान्‌के साथ अपनापन होनेमें दो भाव रहते हैं—(१) भगवान् मेरे हैं और (२) मै भगवान्‌का हूँ। इन दोनोंमें ही भगवान्‌का सम्बन्ध समान रीतिसे रहते हुए भी 'भगवान् मेरे हैं'—इस भावमें भगवान्‌से अपनी अनुकूलताकी इच्छा हो सकती है कि भगवान् मेरे हैं तो मेरी इच्छाकी पूर्ति क्यो नहीं करते? और 'मैं भगवान्‌का हूँ' इस भावमें भगवान्‌से अपनी अनुकूलताकी इच्छा नहीं हो सकती; क्योंकि मै भगवान्‌का हूँ तो भगवान् मेरे लिये जैसा ठीक समझे, वैसा ही निःसंकोच होकर करें। इस वास्ते साधकको चाहिये कि वह भगवान्‌की ही मर्जीमें सर्वथा अपनी मर्जी मिला दे; भगवान्‌पर अपना किञ्चित् भी आधिपत्य न माने, प्रत्युत अपनेपर उनका पूरा आधिपत्य माने। कहीं भी भगवान् हमारे मनकी करें तो उसमें संकोच हो कि मेरे लिये भगवान्‌को ऐसा करना पड़ा! यदि अपने मनकी बात पूरी होनेसे संकोच नहीं होता, प्रत्युत संतोष होता है तो यह शरणागति नहीं है। शरणागत

कमी मिट जायगी। कारण कि यह उसका प्रत्यक्ष अनुभव है कि पहले अद्वेष्टा आदि गुण जितने कम थे, उतने कम अब नहीं हैं। शरणागत होनेपर भक्तोंके जितने भी लक्षण हैं, वे बिना प्रयत्न किये ही आते हैं।

(६) **विपरीत धारणा न करना**—भगवान्के शरणागत भक्तमें यह विपरीत धारणा भी कैसे हो सकती है कि 'मैं भगवान्का नहीं हूँ'; क्योंकि यह मेरे मानने अथवा न माननेपर निर्भर नहीं है। भगवान्का और मेरा परस्पर जो सम्बन्ध है, वह अटूट है,

---

दूसरे दिन नींदसे उठकर एक भाई छोटे भाईसे बोला—अरे भाई! तू सच्ची बात बता दे, क्या तू ठेठ गङ्गाजी हो आया और फूल ठेठ गङ्गाजीमें डाल दिये। उसने कहा—हाँ, बिल्कुल गङ्गाजी जाकर आया हूँ। बड़े भाईने कहा—देख, रातको स्वप्नमें मेरेको माँ मिली थी और माँने मेरेसे कहा कि इसने तो मेरेको ठेठ गङ्गाजी पहुँचाया ही नहीं, बीचमें ही डालकर आ गया। तो अब तू ही बता कि माँकी बात सच्ची या तेरी बात सच्ची? छोटा भाई बोला—माँ इधर ही क्यों आयी, उधर क्यों नहीं गयी? अर्थात् १५० कोस तो मैंने पहुँचा ही दिया था, यहाँ न आकर उधर ही चली जाती तो ठेठ गङ्गाजी पहुँच जाती!

इस कहानीका तात्पर्य यह हुआ कि भगवान्के शरण होनेके बाद यह कसौटी कसते हैं, परीक्षा करते हैं कि 'भक्तोंके, सन्तोंके लक्षण मेरेमें नहीं आये तो मैं भगवान्के शरण नहीं हुआ'—यह माँ उल्टी क्यों आयी, सुल्टी ही क्यों नहीं गयी कि 'जब मैं भगवान्के शरण हो गया तो अब इन लक्षणोंकी कमी क्यों रह गयी? मेरेमें ये लक्षण क्यों नहीं आये?' ऐसी मान्यतासे तो आप शरणागत हो जाओगे और पूर्णता भी हो जायगी। परंतु यह मान्यता करोगे कि 'मेरेमें ऐसे लक्षण नहीं आये तो मैं शरण नहीं हुआ' तो धोखा हो जायगा!

अखण्ड है, नित्य है, मैंने इस सम्बन्धकी तरफ ख्याल नहीं किया, यह मेरी गलती थी। अब वह गलती मिट गयी तो फिर विपरीत धारणा हो ही कैसे सकती है ?

जो मनुष्य सच्चे हृदयसे प्रभुकी शरणागतिको स्वीकार कर लेता है, उसमें चिन्ता, भय, शोक आदि दोष नहीं रहते। उसका शरण-भाव स्वतः ही दृढ होता चला जाता है, वैसे ही जैसे विवाह होनेके बाद कन्याका अपने पिताके घरसे सम्बन्ध-विच्छेद और पतिके घरसे सम्बन्ध स्वतः ही दृढ होता चला जाता है। वह सम्बन्ध यहाँतक दृढ हो जाता है कि जब वह कन्या दादी-परदादी बन जाती है, तब उसके स्वप्नमें भी यह भाव नहीं आता कि मैं यहाँकी नहीं हूँ। उसके मनमें यह भाव दृढ हो जाता है कि मैं तो यहाँकी ही हूँ और ये सब हमारे ही हैं। जब उसके पौत्रकी स्त्री आती है और घरमें उद्दण्डता करती है, खटपट मचाती है तो वह (दादी) कहती है कि इस परायी जायी छोकरीने मेरा घर बिगाड़ दिया, पर उस बूढ़ी दादीको यह बात याद ही नहीं आती कि मैं भी तो परायी जायी (पराये घरमें जन्मी) हूँ। तात्पर्य यह हुआ कि जब बनावटी सम्बन्धमें भी इतनी दृढता हो सकती है, तब भगवान्‌के ही अंश इस प्राणीका भगवान्‌के साथ जो नित्य सम्बन्ध है, वह दृढ हो जाय तो क्या आश्चर्य है! वास्तवमें भगवान्‌के सम्बन्धकी दृढताके लिये केवल संसारके माने हुए सम्बन्धोंका त्याग करनेकी ही आवश्यकता है।

कमी मिट जायगी । कारण कि यह उसका प्रत्यक्ष अनुभव है कि पहले अद्वेष्टा आदि गुण जितने कम थे, उतने कम अब नहीं हैं । शरणागत होनेपर भक्तोंके जितने भी लक्षण हैं, वे बिना प्रयत्न किये ही आते हैं ।

(६) **विपरीत धारणा न करना**—भगवान्‌के शरणागत भक्तमें यह विपरीत धारणा भी कैसे हो सकती है कि 'मैं भगवान्‌का नहीं हूँ'; क्योंकि यह मेरे मानने अथवा न माननेपर निर्भर नहीं है । भगवान्‌का और मेरा परस्पर जो सम्बन्ध है, वह अटूट है,

---

दूसरे दिन नींदसे उठकर एक भाई छोटे भाईसे बोला—अरे भाई ! तू सच्ची बात बता दे, क्या तू ठेठ गङ्गाजी हो आया और फूल ठेठ गङ्गाजीमें डाल दिये । उसने कहा—हाँ, बिल्कुल गङ्गाजी जाकर आया हूँ । बड़े भाईने कहा—देख, रातको स्वप्नमें मेरेको माँ मिली थी और माँने मेरेसे कहा कि इसने तो मेरेको ठेठ गङ्गाजी पहुँचाया ही नहीं, बीचमें ही डालकर आ गया । तो अब तू ही बता कि माँकी बात सच्ची या तेरी बात सच्ची ? छोटा भाई बोला—माँ इधर ही क्यों आयी, उधर क्यों नहीं गयी ? अर्थात् १५० कोस तो मैंने पहुँचा ही दिया था, यहाँ न आकर उधर ही चली जाती तो ठेठ गङ्गाजी पहुँच जाती !

इस कहानीका तात्पर्य यह हुआ कि भगवान्‌के शरण होनेके बाद यह कसौटी कसते हैं, परीक्षा करते हैं कि 'भक्तोंके, सन्तोंके लक्षण मेरेमें नहीं आये तो मैं भगवान्‌के शरण नहीं हुआ'—यह माँ उल्टी क्यों आयी, सुल्टी ही क्यों नहीं गयी कि 'जब मैं भगवान्‌के शरण हो गया तो अब इन लक्षणोंकी कमी क्यों रह गयी ? मेरेमें ये लक्षण क्यों नहीं आये ?' ऐसी मान्यतासे तो आप शरणागत हो जाओगे और पूर्णता भी हो जायगी । परंतु यह मान्यता करोगे कि 'मेरेमें ऐसे लक्षण नहीं आये तो मैं शरण नहीं हुआ' तो धोखा हो जायगा !

अखण्ड है, नित्य है, मैंने इस सम्बन्धकी तरफ ख्याल नहीं किया, यह मेरी गल्ती थी। अब वह गलती मिट गयी तो फिर विपरीत धारणा हो ही कैसे सकती है?

जो मनुष्य सच्चे हृदयसे प्रभुकी शरणागतिको स्वीकार कर लेता है, उसमें चिन्ता, भय, शोक आदि दोष नहीं रहते। उसका शरण-भाव स्वतः ही दृढ़ होता चला जाता है, वैसे ही जैसे विवाह होनेके बाद कन्याका अपने पिताके घरसे सम्बन्ध-विच्छेद और पतिके घरसे सम्बन्ध स्वतः ही दृढ़ होता चला जाता है। वह सम्बन्ध यहाँतक दृढ़ हो जाता है कि जब वह कन्या दादी-परदादी बन जाती है, तब उसके स्वप्नमें भी यह भाव नहीं आता कि मैं यहाँकी नहीं हूँ। उसके मनमें यह भाव दृढ़ हो जाता है कि मैं तो यहाँकी ही हूँ और ये सब हमारे ही हैं। जब उसके पौत्रकी स्त्री आती है और घरमें उद्दण्डता करती है, खटपट मचाती है तो वह (दादी) कहती है कि इस परायी जायी छोकरीने मेरा घर बिगाड़ दिया, पर उस बूढ़ी दादीको यह बात याद ही नहीं आती कि मैं भी तो परायी जायी (पराये घरमें जन्मी) हूँ। तात्पर्य यह हुआ कि जब बनावटी सम्बन्धमें भी इतनी दृढ़ता हो सकती है, तब भगवान्‌के ही अंश इस प्राणीका भगवान्‌के साथ जो नित्य सम्बन्ध है, वह दृढ़ हो जाय तो क्या आश्चर्य है! वास्तवमें भगवान्‌के सम्बन्धकी दृढ़ताके लिये केवल संसारके माने हुए सम्बन्धोंका त्याग करनेकी ही आवश्यकता है।

सच्चे हृदयसे प्रभुके चरणोंकी शरण होनेपर उस शरणागत भक्तमें यदि किसी भाव, आचरण आदिकी किञ्चित् कमी रह जाय, वक्तपर विपरीत वृत्ति पैदा हो जाय अथवा किसी परिस्थितिमें पड़कर परवशतासे कभी किञ्चित् कोई दुष्कर्म हो जाय, तो उसके हृदयमें जलन पैदा हो जायगी। इस वास्ते उसके लिये अन्य कोई प्रायश्चित्त करनेकी आवश्यकता नहीं है। भगवान् कृपा करके उसके उस पापको सर्वथा नष्ट कर देते हैं* ।

भगवान् भक्तके अपनेपनको ही देखते हैं, गुणों और अवगुणोंको नहीं† अर्थात् भगवान्‌को भक्तके दोष दीखते ही नहीं, उनको तो केवल भक्तके साथ जो अपनापन है, वही दीखता है। कारण कि स्वरूपसे भक्त सदासे ही भगवान्‌का है। दोष आगन्तुक होनेसे आते-जाते रहते हैं और वह नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों ही रहता है। इस वास्ते भगवान्‌की दृष्टि इस वास्तविकतापर ही सदा जमी रहती है। जैसे, कीचड़ आदिसे सना हुआ बच्चा जब

---

* स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद् धुनोति सर्वं हृदि संनिविष्टः॥
(श्रीमद्भा० ११। ५। ४२)

'जो प्रेमी भक्त भगवान्‌के चरणोंका अनन्यभावसे भजन करता है, उसके द्वारा यदि अकस्मात् कोई पाप-कर्म बन भी जाय तो उसके हृदयमें विराजमान परमपुरुष भगवान् श्रीहरि उसे सर्वथा नष्ट कर देते हैं।'

† रहति न प्रभु चित चूक किए की।
करत सुरति सय बार हिए की॥
(मानस १। २८। ३)

मॉके सामने आता है तो मॉकी दृष्टि केवल अपने बच्चेकी तरफ ही जाती है, बच्चेके मैलेकी तरफ नहीं जाती। बच्चेकी दृष्टि भी मैलेकी तरफ नहीं जाती। मॉ साफ करे या न करे, पर बच्चेकी दृष्टिमें तो मैला है ही नहीं, उसकी दृष्टिमें तो केवल मॉ ही है। द्रौपदीके मनमें कितना द्वेष और क्रोध भरा हुआ था कि जब दुःशासनके खूनसे अपने केश धोऊँगी, तभी केशोंको बॉधूँगी ! परंतु द्रौपदी जब भी भगवान्‌को पुकारती है, भगवान् चट आ जाते हैं; क्योंकि भगवान्‌के साथ द्रौपदीका गाढ़ अपनापन था।

भगवान्‌के साथ अपनापन होनेमें दो भाव रहते हैं—(१) भगवान् मेरे हैं और (२) मै भगवान्‌का हूँ। इन दोनोंमें ही भगवान्‌का सम्बन्ध समान रीतिसे रहते हुए भी 'भगवान् मेरे हैं'—इस भावमें भगवान्‌से अपनी अनुकूलताकी इच्छा हो सकती है कि भगवान् मेरे हैं तो मेरी इच्छाकी पूर्ति क्यों नहीं करते ? और 'मैं भगवान्‌का हूँ' इस भावमें भगवान्‌से अपनी अनुकूलताकी इच्छा नहीं हो सकती; क्योकि मैं भगवान्‌का हूँ तो भगवान् मेरे लिये जैसा ठीक समझें, वैसा ही निःसंकोच होकर करें। इस वास्ते साधकको चाहिये कि वह भगवान्‌की ही मर्जीमें सर्वथा अपनी मर्जी मिला दे; भगवान्‌पर अपना किञ्चित् भी आधिपत्य न माने, प्रत्युत अपनेपर उनका पूरा आधिपत्य माने। कहीं भी भगवान् हमारे मनकी करें तो उसमें संकोच हो कि मेरे लिये भगवान्‌को ऐसा करना पड़ा ! यदि अपने मनकी बात पूरी होनेसे संकोच नहीं होता, प्रत्युत संतोष होता है तो यह शरणागति नहीं है। शरणागत

जीव सदासे साक्षात् भगवान्का ही अंश है। इस वास्ते सम्पूर्ण जीवोंके साथ भगवान्की आत्मीयता अक्षुण्ण, अखण्डितरूपसे स्वाभाविक ही बनी हुई है। इसीसे वे मात्र जीवोंपर कृपा करनेके लिये अर्थात् भक्तोंकी रक्षा, दुष्टोंका विनाश और धर्मकी स्थापना—इन तीन बातोंके लिये वक्त-वक्तपर अवतार लेते हैं*। इन तीनों बातोंमें केवल भगवान्की आत्मीयता ही टपक रही है, नहीं तो भक्तोंकी रक्षा, दुष्टोंका विनाश और धर्मकी स्थापनासे भगवान्का क्या प्रयोजन सिद्ध होता है? अर्थात् कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। भगवान् तो ये तीनों ही काम केवल प्राणिमात्रके कल्याणके लिये ही करते हैं। इससे भी प्राणिमात्रके साथ भगवान्की स्वाभाविक आत्मीयता, कृपालुता, प्रियता, हितैषिता, सुहृत्ता और निरपेक्ष उदारता ही सिद्ध होती है, और यहाँ भी इसी दृष्टिसे अर्जुनसे कहते हैं—'**मद्भक्तो भव, मन्मना भव, मद्याजी भव, मां नमस्कुरु**'। इन चारों बातोंमें भगवान्का तात्पर्य केवल जीवको अपने सम्मुख करानेमें ही है, जिससे सम्पूर्ण जीव असत् पदार्थोंसे विमुख हो जायँ; क्योंकि दुःख, संताप, बार-बार जन्मना-मरना, मात्र विपत्ति आदिमें मुख्य हेतु भगवान्से विमुख होना ही है।

भगवान् जो कुछ भी विधान करते हैं, वह संसारमात्रके सम्पूर्ण प्राणियोंके कल्याणके लिये ही करते हैं—बस, भगवान्की इस कृपाकी तरफ प्राणीकी दृष्टि हो जाय तो फिर उसके लिये क्या करना बाकी

---

* परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
(गीता ४। ८)

रहा ! प्राणियोंके हितके लिये भगवान्‌के हृदयमें एक तड़फन है, इसी वास्ते भगवान् **'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'** वाली अत्यन्त गोपनीय बात कह देते हैं। कारण कि भगवान् जीवमात्रको अपना मित्र मानते हैं—**'सुहृदं सर्वभूतानाम्'** (५ । २९) और उन्हें यह स्वतन्त्रता देते हैं कि वे कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि जितने भी साधन हैं, उनमेंसे किसी भी साधनके द्वारा सुगमता-पूर्वक मेरी प्राप्ति कर सकते हैं और दुःख, संताप आदिको सदाके लिये समूल नष्ट कर सकते हैं।

वास्तवमें जीवका उद्धार केवल भगवत्कृपासे ही होता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, अष्टाङ्गयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग, मन्त्रयोग आदि जितने भी साधन हैं, वे सब-के-सब भगवान्‌के द्वारा और भगवत्तत्त्वको जाननेवाले महापुरुषोंके द्वारा ही प्रकट किये गये हैं*। इस वास्ते इन सब साधनोंमें भगवत्कृपा ही ओतप्रोत है। साधन करनेमें तो साधक निमित्तमात्र होता है, पर साधनकी सिद्धिमें भगवत्कृपा ही मुख्य है।

शरणागत भक्तको तो ऐसी चिन्ता भी कभी नहीं करनी चाहिये कि अभी भगवान्‌के दर्शन नहीं हुए, भगवान्‌के चरणोंमें प्रेम नहीं हुआ, अभी वृत्तियाँ शुद्ध नहीं हुईं, आदि। इस प्रकारकी चिन्ताएँ करना मानो बंदरीका बच्चा बनना है। बंदरीका बच्चा स्वयं ही बंदरीको पकड़े रहता है। बंदरी कूदे-फाँदे, किधर भी जाय, बच्चा स्वयं बंदरीसे कहीं भी चिपक जाता है।

---

* हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥
(मानस ७ । ४६ । ३)

भक्त शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिके प्रतिकूल परिस्थितिमें भी भगवान्की मर्जी समझकर प्रसन्न रहता है।

शरणागत भक्तको अपने लिये कभी किञ्चिन्मात्र भी कुछ करना शेष नहीं रहता; क्योंकि उसने सम्पूर्ण ममतावाली वस्तुओंसहित अपने-आपको भगवान्के समर्पित कर दिया, जो वास्तवमें प्रभुका ही था। अब करने, कराने आदिका सब काम भगवान्का ही रह गया। ऐसी अवस्थामें वह कठिन-से-कठिन और भयंकर-से-भयंकर घटना, परिस्थितिमें भी अपनेपर प्रभुकी महान् कृपा मानकर सदा प्रसन्न रहता है, मस्त रहता है। जैसे, गरुड़जीके पूछनेपर काकभुशुण्डिजीने अपने पूर्वजन्मके ब्राह्मण-शरीरकी कथा सुनायी, जिसमें लोमश ऋषिने शाप देकर उन्हें (ब्राह्मणको) पक्षियोंमें नीच चाण्डाल पक्षी (कौआ) बना दिया; परंतु काकभुशुण्डिजीके मनमें न कुछ भय हुआ और न कुछ दीनता ही आयी! उन्होंने उसमें भगवान्का शुद्ध विधान ही समझा। केवल समझा ही नहीं, प्रत्युत मन-ही-मन बोल उठे—'उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन' (मानस ७ । ११२ । १)। ऐसा भयंकर शाप मिलनेपर भी जब काकभुशुण्डिजीकी प्रसन्नतामें कोई कमी नहीं आयी, तब लोमश ऋषिने उनको भगवान्का प्यारा भक्त समझकर अपने पास बुलाया और बालक रामजीका ध्यान बताया। फिर भगवान्की कथा सुनायी और अत्यन्त प्रसन्न होकर काकभुशुण्डिजीके सिरपर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया—'मेरी कृपासे तुम्हारे हृदयमें अबाध, अखण्ड रामभक्ति रहेगी। तुम रामजीको प्यारे हो जाओगे। तुम

सम्पूर्ण गुणोंकी खान बन जाओगे। जिस रूपकी इच्छा करोगे, वह रूप धारण कर लोगे। जिस स्थानपर तुम रहोगे, उसमें एक योजनपर्यन्त मायाका कण्टक किञ्चिन्मात्र भी नहीं आयेगा' आदि-आदि। इस प्रकार बहुत-से आशीर्वाद देते ही आकाशवाणी होती है कि 'हे ऋषे! तुमने जो कुछ कहा, वह सब सच्चा होगा; यह मन, वाणी, कर्मसे मेरा भक्त है'। इन्हीं बातोंको लेकर भगवान्‌के विधानमें सदा प्रसन्न रहनेवाले काकभुशुण्डिजीने कहा है—

भगति पच्छ हठ करि रहेउँ दीन्हि महा रिषि साप।
मुनि दुर्लभ बर पायउँ देखहु भजन प्रताप॥
(मानस ७। ११४ ख)

यहाँ 'भजन प्रताप' शब्दोंका अर्थ है—भगवान्‌के विधानमें हर समय प्रसन्न रहना। विपरीत-से-विपरीत अवस्थामें भी प्रेमी भक्तकी प्रसन्नता अधिक-से-अधिक बढ़ती रहती है; क्योंकि प्रेमका स्वरूप ही प्रतिक्षण वर्द्धमान है।

यह नियम है कि जो चीज अपनी होती है, वह सदैव अपनेको प्यारी लगती है। भगवान् सम्पूर्ण जीवोंको अपना प्रिय मानते हैं—'सब मम प्रिय सब मम उपजाए' (मानस ७। ८५। २) और इस जीवको भी प्रभु स्वतः ही प्रिय लगते हैं। हाँ, यह बात दूसरी है कि यह जीव परिवर्तनशील संसार और शरीरको भूलसे अपना मानकर अपने प्यारे प्रभुसे विमुख हो जाता है। इसके विमुख होनेपर भी भगवान्‌ने अपनी तरफसे किसी भी जीवका त्याग नहीं किया है और न कभी त्याग कर ही सकते हैं। कारण कि

जीव सदासे साक्षात् भगवान्‌का ही अंश है। इस वास्ते सम्पूर्ण जीवोंके साथ भगवान्‌की आत्मीयता अक्षुण्ण, अखण्डितरूपसे स्वाभाविक ही बनी हुई है। इसीसे वे मात्र जीवोंपर कृपा करनेके लिये अर्थात् भक्तोंकी रक्षा, दुष्टोंका विनाश और धर्मकी स्थापना—इन तीन बातोंके लिये वक्त-वक्तपर अवतार लेते हैं*। इन तीनों बातोंमें केवल भगवान्‌की आत्मीयता ही टपक रही है, नहीं तो भक्तोंकी रक्षा, दुष्टोंका विनाश और धर्मकी स्थापनासे भगवान्‌का क्या प्रयोजन सिद्ध होता है? अर्थात् कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। भगवान् तो ये तीनों ही काम केवल प्राणिमात्रके कल्याणके लिये ही करते हैं। इससे भी प्राणिमात्रके साथ भगवान्‌की स्वाभाविक आत्मीयता, कृपालुता, प्रियता, हितैषिता, सुहृत्ता और निरपेक्ष उदारता ही सिद्ध होती है, और यहाँ भी इसी दृष्टिसे अर्जुनसे कहते हैं—**'मद्भक्तो भव, मन्मना भव, मद्याजी भव, मां नमस्कुरु'**। इन चारों बातोंमें भगवान्‌का तात्पर्य केवल जीवको अपने सम्मुख करानेमें ही है, जिससे सम्पूर्ण जीव असत् पदार्थोंसे विमुख हो जायँ; क्योंकि दुःख, संताप, बार-बार जन्मना-मरना, मात्र विपत्ति आदिमें मुख्य हेतु भगवान्‌से विमुख होना ही है।

भगवान् जो कुछ भी विधान करते हैं, वह संसारमात्रके सम्पूर्ण प्राणियोंके कल्याणके लिये ही करते हैं—बस, भगवान्‌की इस कृपाकी तरफ प्राणीकी दृष्टि हो जाय तो फिर उसके लिये क्या करना बाकी

---

* परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
(गीता ४।८)

रहा ! प्राणियोंके हितके लिये भगवान्‌के हृदयमें एक तड़फन है, इसी वास्ते भगवान् 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' वाली अत्यन्त गोपनीय बात कह देते हैं। कारण कि भगवान् जीवमात्रको अपना मित्र मानते हैं—'सुहृदं सर्वभूतानाम्' (५ । २९) और उन्हें यह स्वतन्त्रता देते हैं कि वे कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि जितने भी साधन हैं, उनमेंसे किसी भी साधनके द्वारा सुगमता-पूर्वक मेरी प्राप्ति कर सकते हैं और दुःख, संताप आदिको सदाके लिये समूल नष्ट कर सकते हैं।

वास्तवमें जीवका उद्धार केवल भगवत्कृपासे ही होता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, अष्टाङ्गयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग, मन्त्रयोग आदि जितने भी साधन हैं, वे सब-के-सब भगवान्‌के द्वारा और भगवत्तत्त्वको जाननेवाले महापुरुषोंके द्वारा ही प्रकट किये गये हैं*। इस वास्ते इन सब साधनोंमें भगवत्कृपा ही ओतप्रोत है। साधन करनेमें तो साधक निमित्तमात्र होता है, पर साधनकी सिद्धिमें भगवत्कृपा ही मुख्य है।

शरणागत भक्तको तो ऐसी चिन्ता भी कभी नहीं करनी चाहिये कि अभी भगवान्‌के दर्शन नहीं हुए, भगवान्‌के चरणोंमें प्रेम नहीं हुआ, अभी वृत्तियाँ शुद्ध नहीं हुई, आदि। इस प्रकारकी चिन्ताएँ करना मानो बंदरीका बच्चा बनना है। बंदरीका बच्चा स्वयं ही बंदरीको पकड़े रहता है। बंदरी कूदे-फाँदे, किधर भी जाय, बच्चा स्वयं बंदरीसे कहीं भी चिपक जाता है।

---

* हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥
(मानस ७। ४६। ३)

भक्तको तो अपनी सब चिन्ताएँ भगवान्‌पर ही छोड़ देनी चाहिये अर्थात् भगवान् दर्शन दें या न दें, प्रेम दें या न दें, वृत्तियोंको ठीक करें या न करें, हमें शुद्ध बनायें या न बनायें—यह सब भगवान्‌की मर्जीपर छोड़ देना चाहिये। उसे तो बिल्लीका बच्चा बनना चाहिये। बिल्लीका बच्चा अपनी माँपर निर्भर रहता है। बिल्ली चाहे जहाँ रखे, चाहे जहाँ ले जाय। बिल्ली अपनी मर्जीसे बच्चेको उठाकर ले जाती है तो वह पैर समेट लेता है। ऐसे ही शरणागत भक्त संसारकी तरफसे अपने हाथ-पैर समेटकर* केवल भगवान्‌का चिन्तन, नाम-जप आदि करते हुए भगवान्‌की तरफ ही देखता रहता है। भगवान्‌का जो विधान है, उसमें परम प्रसन्न रहता है, अपने मनकी कुछ भी नहीं लगाता।

जैसे, कुम्हार पहले मिट्टीको सिरपर उठाकर लाता है तो कुम्हारकी मर्जी, फिर उस मिट्टीको गीला करके उसे रौंदता है तो कुम्हारकी मर्जी, फिर चक्केपर चढ़ाकर घुमाता है तो कुम्हारकी मर्जी। मिट्टी कभी कुछ नहीं कहती कि तुम घड़ा बनाओ, सकोरा बनाओ, मटकी बनाओ। कुम्हार चाहे जो बनाये, उसकी मर्जी है। ऐसे ही शरणागत भक्त अपनी कुछ भी मर्जी, मनकी बात नहीं रखता। वह जितना अधिक निश्चिन्त और निर्भय होता है, भगवत्कृपा उसको अपने-आप उतना ही अधिक अपने अनुकूल

---

* भक्त जो कुछ काम करता है, उसको भगवान्‌का ही समझकर, भगवान्‌की ही शक्ति मानकर, भगवान्‌के ही लिये करता है, अपने लिये किंचिन्मात्र भी नहीं करता—यही उसका हाथ-पैर समेटना है।

बना लेती है और जितनी वह चिन्ता करता है, अपना बल मानता है, उतना ही वह आती हुई भगवत्कृपामें बाधा लगाता है अर्थात् शरणागत होनेपर भगवान्‌की ओरसे जो विलक्षण, विचित्र, अखण्ड, अटूट कृपा आती है, अपनी चिन्ता करनेसे उस कृपामें बाधा लग जाती है।

जैसे, धीवर (मछुआ) मछलियोंको पकड़नेके लिये नदीमें जाल डालता है तो जालके भीतर आनेवाली सब मछलियाँ पकड़ी जाती हैं; परंतु जो मछली जाल डालनेवाले मछुएके चरणोंके पास आ जाती है, वह नहीं पकड़ी जाती। ऐसे ही भगवान्‌की माया (संसार) में ममता करके जीव फँस जाते हैं और जन्मते-मरते रहते हैं; परंतु जो जीव मायापति भगवान्‌के चरणोंकी शरण हो जाते हैं, वे मायाको तर जाते हैं—**'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'** (गीता ७ । १४) । इस दृष्टान्तका एक ही अंश ग्रहण करना चाहिये; क्योंकि धीवरका तो मछलियोंको पकड़नेका भाव होता है; परंतु भगवान्‌का जीवोंको मायामें फँसानेका किञ्चिन्मात्र भी भाव नहीं होता। भगवान्‌का भाव तो जीवोंको मायाजालसे मुक्त करके अपने शरण लेनेका होता है, तभी तो वे कहते हैं—**'मामेकं शरणं व्रज'**। जीव संयोगजन्य सुखकी लोलुपतासे खुद ही मायामें फँस जाते हैं।

जैसे, चलती हुई चक्कीके भीतर आनेवाले सभी दाने पिस जाते हैं*; परंतु जिसके आधारपर चक्की चलती है, उस कीलके

---

* चलती चक्की देखकर, दिया कबीरा रोय।
दो पाटनमें आयके, साबुत बचा न कोय॥

आस-पास रहनेवाले दाने ज्यो-के-त्यों साबूत रह जाते हैं। ऐसे ही जन्म-मरणरूप संसारकी चलती हुई चक्कीमें पड़े हुए सब-के-सब जीव पिस जाते हैं अर्थात् दुःख पाते हैं; परंतु जिसके आधारपर संसार-चक्र चलता है, उन भगवान्‌के चरणोका सहारा लेनेवाला जीव पिसनेसे बच जाता है—'कोई हरिजन ऊबरे, कील माकड़ी पास'। यह दृष्टान्त भी पूरा नहीं घटता; क्योंकि दाने तो स्वाभाविक ही कीलके पास रह जाते हैं। वे बचनेका कोई उपाय नहीं करते। परंतु भगवान्‌के भक्त संसारसे विमुख होकर प्रभुके चरणोका आश्रय लेते हैं। तात्पर्य यह कि जो भगवान्‌का अंश होकर भी संसारको अपना मानता है अथवा संसारसे कुछ चाहता है, वही जन्म-मरणरूप चक्रमें पड़कर दुःख भोगता है।

संसार और भगवान्—इन दोनोका सम्बन्ध दो तरहका होता है। संसारका सम्बन्ध केवल माना हुआ है और भगवान्‌का सम्बन्ध वास्तविक है। संसारका सम्बन्ध तो मनुष्यको पराधीन बनाता है, गुलाम बनाता है, पर भगवान्‌का सम्बन्ध मनुष्यको स्वाधीन बनाता है, चिन्मय बनाता है और बनाता है भगवान्‌का भी मालिक !

किसी बातको लेकर अपनेमें कुछ भी अपनी विशेषता दीखती है, वही वास्तवमें पराधीनता है। यदि मनुष्य विद्या, बुद्धि, धन-सम्पत्ति, त्याग, वैराग्य आदि किसी बातको लेकर अपनी विशेषता मानता है तो यह उन विद्या आदिकी पराधीनता, दासता ही है। जैसे, कोई धनको लेकर अपनेमें विशेषता मानता है तो यह विशेषता वास्तवमें

धनकी ही हुई, खुदकी नहीं। वह अपनेको धनका मालिक मानता है, पर वास्तवमें वह धनका गुलाम है।

संसारका यह कायदा है कि सांसारिक पदार्थोंको लेकर जो अपनेमें कुछ विशेषता मानता है, उसको ये सासारिक पदार्थ तुच्छ बना देते हैं, पद-दलित कर देते हैं। परंतु जो भगवान्‌के आश्रित होकर सदा भगवान्‌पर ही निर्भर रहते हैं, उनको अपनी कुछ विशेषता दीखती ही नहीं, प्रत्युत भगवान्‌की ही अलौकिकता, विलक्षणता, विचित्रता दीखती है। भगवान् चाहे उसको अपना मुकुटमणि बना लें और चाहे अपना मालिक बना लें, तो भी उसको अपनेमें कुछ भी विशेषता नहीं दीखती। प्रभुका यह कायदा है कि जिस भक्तको अपनेमें कुछ भी विशेषता नहीं दीखती, अपनेमें किसी बातका अभिमान नहीं होता, उस भक्तमे भगवान्‌की विलक्षणता उतर आती है। किसी-किसीमें यहाँतक विलक्षणता आती है कि उसके शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि प्राकृत पदार्थ भी चिन्मय बन जाते हैं। उनमें जड़ताका अत्यन्त अभाव हो जाता है। ऐसे भगवान्‌के प्रेमी भक्त भगवान्‌में ही समा गये हैं, अन्तमें उनके शरीर नहीं मिले। जैसे, मीराबाई शरीर-सहित भगवान्‌के श्रीविग्रहमें लीन हो गयीं। केवल पहचानके लिये उनकी साड़ीका छोटा-सा छोर श्रीविग्रहके मुखमे रह गया और कुछ नहीं बचा। ऐसे ही सन्त श्रीतुकारामजी शरीर-सहित वैकुण्ठ चले गये।

ज्ञानमार्गमें शरीर चिन्मय नहीं होता; क्योंकि ज्ञानी असत्से सम्बन्ध-विच्छेद करके, असत्से अलग होकर स्वयं चिन्मय तत्त्वमें स्थित हो जाता है। परंतु जब भक्त भगवान्‌के सम्मुख होता है तो उसके शरीर, इन्द्रियाँ, मन, प्राण आदि सभी भगवान्‌के सम्मुख हो जाते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि जिनकी दृष्टि केवल चिन्मय तत्त्वपर ही है अर्थात् जिनकी दृष्टिमें चिन्मय तत्त्वसे भिन्न जड़ताकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं होती तो वह चिन्मयता उनके शरीर आदिमें भी उतर आती है और वे शरीर आदि चिन्मय हो जाते हैं। हाँ, लोगोंकी दृष्टिमें तो उनके शरीरमें जड़ता दीखती है, पर वास्तवमें उनके शरीर चिन्मय होते हैं।

भगवान्‌के सर्वथा शरण हो जानेपर शरणागतके लिये भगवान्‌की कृपा विशेषतासे प्रकट होती ही है, पर मात्र संसारका स्नेहपूर्वक पालन करनेवाली और भगवान्‌से अभिन्न रहनेवाली वात्सल्यमयी माता लक्ष्मीका प्रभु-शरणागतपर कितना अधिक स्नेह होता है, वे कितना अधिक प्यार करती हैं, इसका कोई भी वर्णन नहीं कर सकता। लौकिक व्यवहारमें भी देखनेमें आता है कि पतिव्रता स्त्रीको पितृभक्त पुत्र बहुत प्यारा लगता है।

दूसरी बात, प्रेमभावसे परिपूरित प्रभु जब अपने भक्तको देखनेके लिये गरुड़पर बैठकर पधारते हैं तो माता लक्ष्मी भी प्रभुके साथ गरुड़पर बैठकर आती हैं, जिस गरुड़की पाँखोंसे सामवेदके मन्त्रोंका गान होता रहता है। परंतु कोई भगवान्‌को न चाहकर केवल माता लक्ष्मीको ही चाहता है तो उसके स्नेहके कारण माता

लक्ष्मी आ भी जाती हैं, पर उनका वाहन दिवान्ध उल्लू होता है। ऐसे वाहनवाली लक्ष्मीको प्राप्त करके मनुष्य भी मदान्ध हो जाता है। अगर उस माँको कोई भोग्या समझ लेता है तो उसका बड़ा भारी पतन हो जाता है; क्योंकि वह तो अपनी माँको ही कुदृष्टिसे देखता है, इस वास्ते वह महान् अधम है।

तीसरी बात, जहाँ केवल भगवान्‌का प्रेम होता है, वहाँ तो भगवान्‌से अभिन्न रहनेवाली लक्ष्मी भगवान्‌के साथ आ ही जाती है, पर जहाँ केवल लक्ष्मीकी चाहना है, वहाँ लक्ष्मीके साथ भगवान् भी आ जायँ—यह नियम नहीं है।

शरणागतिके विषयमें एक कथा आती है। सीताजी, रामजी और हनुमान्‌जी जंगलमें एक वृक्षके नीचे बैठे थे। उस वृक्षकी शाखाओं और टहनियोंपर एक लता छायी हुई थी। लताके कोमल-कोमल तन्तु फैल रहे थे। उन तन्तुओंमें कहींपर नयी-नयी कोंपलें निकल रही थीं और कहींपर ताम्रवर्णके पत्ते निकल रहे थे। पुष्प और पत्तोंसे लता छायी हुई थी। उससे वृक्षकी सुन्दर शोभा हो रही थी। वृक्ष बहुत ही सुहावना लग रहा था। उस वृक्षकी शोभाको देखकर भगवान् श्रीराम हनुमान्‌जीसे बोले—'देखो हनुमान्! यह लता कितनी सुन्दर है! वृक्षके चारो ओर कैसी छायी हुई है! यह लता अपने सुन्दर-सुन्दर फल, सुगन्धित फूल और हरी-हरी पत्तियोंसे इस वृक्षकी कैसी शोभा बढ़ा रही है। इससे जंगलके अन्य सब वृक्षोंसे यह वृक्ष कितना सुन्दर दीख रहा है! इतना ही नहीं, इस वृक्षके कारण ही सारे जंगलकी शोभा हो रही है।

इस लताके कारण ही पशु-पक्षी इस वृक्षका आश्रय लेते हैं। धन्य है यह लता!'

भगवान् श्रीरामके मुखसे लताकी प्रशंसा सुनकर सीताजी हनुमान्‌जीसे बोलीं—'देखो बेटा हनुमान्! तुमने ख्याल किया कि नहीं? देखो, इस लताका ऊपर चढ जाना, फूल-पत्तोंसे छा जाना, तन्तुओंका फैल जाना—ये सब वृक्षके आश्रित हैं, वृक्षके कारण ही हैं। इस लताकी शोभा भी वृक्षके ही कारण है। इस वास्ते मूलमें महिमा तो वृक्षकी ही है। आधार तो वृक्ष ही है। वृक्षके सहारे बिना लता स्वयं क्या कर सकती है? कैसे छा सकती है? अब बोलो हनुमान्! तुम्हीं बताओ, महिमा वृक्षकी ही हुई न?'

रामजीने कहा—'क्यो हनुमान्! यह महिमा तो लताकी ही हुई न?'

हनुमान्‌जी बोले—'हमें तो तीसरी ही बात सूझती है।'

सीताजीने पूछा—'वह क्या है बेटा?'

हनुमान्‌जीने कहा—'माँ! वृक्ष और लताकी छाया बड़ी सुन्दर है। इस वास्ते हमें तो इन दोनोंकी छायामें रहना ही अच्छा लगता है अर्थात् हमें तो आप दोनोंकी छाया (चरणोंके आश्रय) में रहना ही अच्छा लगता है!'

सेवक सुत पति मातु भरोसें।
रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें॥
(मानस ४।२।२)

ऐसे ही भगवान् और उनकी दिव्य आह्लादिनी शक्ति—दोनों ही एक-दूसरेकी शोभा बढ़ाते हैं। परंतु कोई तो उन दोनोको श्रेष्ठ बताता है, कोई केवल भगवान्को श्रेष्ठ बताता है, और कोई केवल उनकी आह्लादिनी शक्तिको श्रेष्ठ बताता है। शरणागत भक्तके लिये तो प्रभु और उनकी आह्लादिनी शक्ति—दोनोका आश्रय ही श्रेष्ठ है।

एक बार एक प्रज्ञाचक्षु (नेत्रहीन) संत हाथमें लाठी पकड़े आगराके लिये यमुनाके किनारे-किनारे चले जा रहे थे। नदीमें बाढ़ आयी हुई थी। उससे एक जगह यमुनाका किनारा पानीमें गिर पड़ा तो बाबाजी भी पानीमें गिर पड़े। हाथसे लाठी छूट गयी थी। दीखता तो था ही नहीं, अब तैरें तो किधर तैरें? भगवान्की शरणागतिकी बात याद आते ही प्रयासरहित होकर शरीरको ढीला छोड़ दिया तो उनको ऐसा लगा कि किसीने हाथ पकड़कर किनारेपर डाल दिया। वहाँ दूसरी कोई लाठी हाथमें आ गयी और उसके सहारे वे चल पड़े। तात्पर्य यह कि जो भगवान्के शरण होकर भगवान्पर निर्भर रहता है, उसको अपने लिये करना कुछ नहीं रहता। भगवान्के विधानसे जो हो जाय, उसीमें वह प्रसन्न रहता है।

बहुत-सी भेड़-बकरियाँ जंगलमें चरने गयीं। उनमेंसे एक बकरी चरते-चरते एक लतामें उलझ गयी। उसको उस लतामेंसे निकलनेमें बहुत देर लगी, तबतक अन्य सब भेड़-बकरियाँ अपने घर पहुँच गयीं। अँधेरा भी हो रहा था। वह बकरी घूमते-घूमते एक

सरोवरके किनारे पहुँची। वहाँ किनारेकी गीली जमीनपर सिंहका एक चरण-चिह्न मँढ़ा हुआ था। वह उस चरण-चिह्नके शरण होकर उसके पास बैठ गयी। रातमें जंगली सियार, भेड़िया, बाघ आदि प्राणी बकरीको खानेके लिये पासमें जाते हैं तो वह बकरी बता देती है—'पहले देख लेना कि मै किसके शरणमें हूँ; तब मुझे खाना!' वे चिह्नको देखकर कहते हैं—'अरे, यह तो सिंहके चरण-चिह्नके शरण है, जल्दी भागो यहाँसे! सिंह आ जायगा तो हमको मार डालेगा।' इस प्रकार सभी प्राणी भयभीत होकर भाग जाते हैं। अन्तमें जिसका चरण-चिह्न था, वह सिंह स्वयं आया और बकरीसे बोला—'तू जंगलमें अकेली कैसे बैठी है?' बकरीने कहा—'यह चरण-चिह्न देख लेना, फिर बात करना। जिसका यह चरण-चिह्न है, उसीके मैं शरण हुए बैठी हूँ।' सिंहने देखा, ओह! यह तो मेरा ही चरण-चिह्न है, यह बकरी तो मेरे ही शरण हुई!' सिंहने बकरीको आश्वासन दिया कि अब तुम डरो मत, निर्भय होकर रहो।

रातमें जब जल पीनेके लिये हाथी आया तो सिंहने हाथीसे कहा—'तू इस बकरीको अपनी पीठपर चढ़ा ले। इसको जंगलमें चराकर लाया कर और हरदम अपनी पीठपर ही रखा कर, नहीं तो तू जानता नहीं, मै कौन हूँ? मार डालूँगा!' सिंहकी बात सुनकर हाथी थर-थर काँपने लगा। उसने अपनी सूँड़से झट बकरीको पीठपर चढ़ा लिया। अब वह बकरी निर्भय होकर हाथीकी पीठपर

बैठे-बैठे ही वृक्षोंकी ऊपरकी कोंपलें खाया करती और मस्त रहती।

खोज पकड़ सैंठे रहो, धणी मिलेंगे आय।
अजया गज मस्तक चढ़े, निर्भय कोंपल खाय॥

ऐसे ही जब मनुष्य भगवान्‌के शरण हो जाता है, उनके चरणोंका सहारा ले लेता है तो वह सम्पूर्ण प्राणियोंसे, विघ्न-बाधाओंसे निर्भय हो जाता है। उसको कोई भी भयभीत नहीं कर सकता, कोई भी कुछ बिगाड़ नहीं सकता।

जो जाको शरणो गहै, वाकहँ ताकी लाज।
उलटे जल मछली चले, बह्यो जात गजराज॥

भगवान्‌के साथ काम, भय, द्वेष, क्रोध, स्नेह आदिसे भी सम्बन्ध क्यों न जोड़ा जाय, वह भी जीवका कल्याण करनेवाला ही होता है*। तात्पर्य यह हुआ कि काम, भय, द्वेष आदि किसी

---

* कामाद् द्वेषाद् भयात् स्नेहाद् यथा भक्त्येश्वरे मनः।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः॥
गोप्यः कामाद् भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो॥
(श्रीमद्भा० ७। १। २९-३०)

'एक नहीं, अनेक मनुष्य कामसे, द्वेषसे, भयसे और स्नेहसे अपने मनको भगवान्‌में लगाकर तथा अपने सारे पाप धोकर वैसे ही भगवान्‌को प्राप्त हुए हैं, जैसे भक्त भक्तिसे। जैसे, गोपियोंने कामसे, कंसने भयसे, शिशुपाल-दन्तवक्त्र आदि राजाओंने द्वेषसे, यदुवंशियोंने परिवारके सम्बन्धसे, तुमलोगों (युधिष्ठिर आदि) ने स्नेहसे और हमलोगों (नारद आदि) ने भक्तिसे अपने मनको भगवान्‌में लगाया है।'

तरहसे भी जिनका भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जुड़ गया, उनका तो उद्धार हो ही गया, पर जिन्होंने किसी तरहसे भी भगवान्‌के

सत्सङ्गेन हि दैतेया यातुधाना मृगाः खगाः ।
गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धाश्चारणगुह्यकाः ॥
विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याः शूद्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः ।
रजस्तमःप्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन युगेऽनघ ॥
बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्रकायाधवादयः ।
वृषपर्वा बलिर्बाणो मयश्चाथ विभीषणः ॥
सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथः ।
व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे ॥
ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः ।
अव्रतातप्ततपसः सत्सङ्गान्मामुपागताः ॥

(श्रीमद्भा० ११ । १२ । ३–७)

भगवान् कहते हैं—'निष्पाप उद्धवजी ! यह एक युगकी नहीं सभी युगोंकी एक-सी बात है । सत्सङ्ग अर्थात् मेरे सम्बन्धद्वारा ही दैत्य-राक्षस, पशु-पक्षी, गन्धर्व-अप्सरा, नाग-सिद्ध, चारण-गुह्यक और विद्याधरोंको मेरी प्राप्ति हुई है । मनुष्योंमें वैश्य, शूद्र, स्त्री और अन्त्यज आदि रजोगुणी-तमोगुणी प्रकृतिके बहुत-से जीवोंने मेरा परमपद प्राप्त किया है । वृत्रासुर, प्रह्लाद, वृषपर्वा, बलि, बाणासुर, मयदानव, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान, जाम्बवान्, गजेन्द्र, जटायु, तुलाधार वैश्य, धर्मव्याध, कुब्जा, व्रजकी गोपियाँ, यज्ञपत्नियाँ और दूसरे लोग भी सत्सङ्गके प्रभावसे ही मुझे प्राप्त कर सके हैं ।'

'उन लोगोंने न तो वेदोंका स्वाध्याय किया था और न विधिपूर्वक महापुरुषोंकी उपासना ही की थी । इसी प्रकार उन्होंने कृच्छ्रचान्द्रायण आदि व्रत और कोई तपस्या भी नहीं की थी । बस, केवल सत्सङ्ग—मेरे सम्बन्धके प्रभावसे ही वे मुझे प्राप्त हो गये ।'

साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ा, उदासीन ही रहे, वे भगवत्प्राप्तिसे वञ्चित रह गये !

भगवान्‌के अनन्य भक्तोंके लिये नारदजीने कहा है—

नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः ।

(नारदभक्तिसूत्र ७२)

'उन भक्तोंमें जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदिका भेद नहीं है ।'

तात्पर्य यह कि जो सर्वथा भगवान्‌के अर्पित हो गये हैं अर्थात् जिन्होंने भगवान्‌के साथ आत्मीयता, परायणता, अनन्यता आदि वास्तविकताको स्वीकार कर लिया है तो स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरको लेकर सांसारिक जितने भी जाति, विद्या आदि भेद हो सकते हैं, वे सब उनपर लागू नहीं होते * । कारण कि

---

* पुंस्त्वे स्त्रीत्वे विशेषो वा जातिनामाश्रमादयः ।
न कारणं मद्भजने भक्तिरेव हि कारणम् ॥

(अध्यात्म० अरण्य० १० । २०)

'मेरे भजनमें पुरुष-स्त्रीका भेद अथवा जाति, नाम और आश्रम कारण नहीं है, प्रत्युत मेरी भक्ति ही एकमात्र कारण है ।'

किं जन्मना सकलवर्णजनोत्तमेन
किं विद्यया सकलशास्त्रविचारवत्या ।
यस्यास्ति चेतसि सदा परमेशभक्तिः
कोऽन्योस्ततस्त्रिभुवने पुरुषोऽस्ति धन्यः ॥

(ब्र० सं० भ० १७)

'सम्पूर्ण वर्णोंमें उत्तम वर्ण (ब्राह्मण-कुल) में जन्म होनेसे क्या हुआ ? सम्पूर्ण शास्त्रोंके गहरे अध्ययनसे क्या हुआ ? अर्थात् कुछ

वे अच्युत भगवान्‌के ही हैं—'यतस्तदीयाः' (नारदभक्तिसूत्र ७३), संसारके नहीं। अच्युत भगवान्‌के होनेसे वे 'अच्युत गोत्र' के ही कहलाते हैं *।

शरणागतिका रहस्य

शरणागतिका रहस्य क्या है ?—इसको वास्तवमें भगवान् ही जानते हैं। फिर भी अपनी समझमें आयी बात कहनेकी चेष्टा की जाती है; क्योंकि हरेक आदमी जो बात कहता है, उससे वह अपनी बुद्धिका ही परिचय देता है। पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे

नहीं हुआ। जिसके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति विराजमान है, इस त्रिलोकीमें उसके समान दूसरा कौन मनुष्य धन्य हो सकता है ?'

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का
का जातिर्विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम्।
कुब्जायाः किमु नाम रूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनं
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः॥

'व्याधका कौन-सा श्रेष्ठ आचरण था ? ध्रुवकी कौन-सी बड़ी उम्र थी ? गजेन्द्रके पास कौन-सी विद्या थी ? विदुरकी कौन-सी ऊँची जाति थी ? यदुपति उग्रसेनका कौन-सा पराक्रम था ? कुब्जाका कौन-सा सुन्दर रूप था ? सुदामाके पास कौन-सा धन था ? फिर भी उन लोगोंको भगवान्‌की प्राप्ति हो गयी। कारण कि भगवान्‌को केवल भक्ति ही प्यारी है, वे केवल भक्तिसे ही सन्तुष्ट होते हैं, आचरण, विद्या आदि गुणोंसे नहीं।'

* पितृगोत्री यथा कन्या स्वामिगोत्रेण गोत्रिका।
श्रीरामभक्तिमात्रेणाच्युतगोत्रेण गोत्रकः॥
(नारदपाञ्चरात्र)

यहाँ आयी बातोंका उल्टा अर्थ न निकालें; क्योंकि प्रायः लोग किसी तात्त्विक, रहस्यवाली बातको गहराईसे समझे बिना उसका उल्टा अर्थ जल्दी ले लेते हैं। इस वास्ते ऐसी बातको कहने-सुननेके पात्र बहुत कम होते हैं।

भगवान्‌ने गीतामें शरणागतिके विषयमें दो बातें बतायी हैं—(१) **'मामेकं शरणं व्रज'** (१८।६६) 'अनन्यभावसे केवल मेरी शरणमें आ जा' (२) **'स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत'** (१५।१९) 'वह सर्वज्ञ पुरुष सर्वभावसे मेरेको भजता है', **'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत'** (१८।६२) 'तू सर्वभावसे उस परमात्माकी शरणमें जा'। तो हम भगवान्‌के शरण कैसे हो जायँ? केवल एक भगवान्‌के शरण हो जायँ अर्थात् भगवान्‌के गुण, ऐश्वर्य आदिकी तरफ दृष्टि न रखें और सर्वभावसे भगवान्‌के शरण हो जायँ अर्थात् साथमें अपनी कोई सांसारिक कामना न रखें।

केवल एक भगवान्‌के शरण होनेका रहस्य यह है कि भगवान्‌के अनन्त गुण हैं, प्रभाव हैं, तत्त्व हैं, रहस्य हैं, महिमा है, लीलाएँ हैं, नाम हैं, धाम हैं; भगवान्‌का अनन्त ऐश्वर्य है, माधुर्य है, सौन्दर्य है—इन विभूतियोंकी तरफ शरणागत भक्त देखता ही नहीं। उसका यही एक भाव रहता है कि 'मैं केवल भगवान्‌का हूँ और केवल भगवान् ही मेरे हैं। अगर वह गुण, प्रभाव आदिकी तरफ देखकर भगवान्‌की शरण लेता है तो वास्तवमें वह गुण, प्रभाव आदिके ही शरण हुआ, भगवान्‌के शरण नहीं हुआ। परंतु इन बातोंका उल्टा अर्थ न लगा लें।

उल्टा अर्थ लगाना क्या है? भगवान्‌के गुण, प्रभाव, नाम, धाम, ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य आदिको मानना ही नहीं है, इनकी तरफ जाना ही नहीं है। अब कुछ करना है ही नहीं, न भजन करना है, न भगवान्‌के गुण, प्रभाव, लीला आदि सुननी है, न भगवान्‌के धाममें जाना है—यह उल्टा अर्थ लगाना है। इनका ऐसा अर्थ लगाना महान् अनर्थ करना है।

केवल एक भगवान्‌के शरण होनेका तात्पर्य है—केवल भगवान् मेरे हैं, अब वे ऐश्वर्य-सम्पन्न हैं तो बड़ी अच्छी बात। और कुछ भी ऐश्वर्य नहीं है तो बड़ी अच्छी बात। वे बड़े दयालु हैं तो बड़ी अच्छी बात और बडे निष्ठुर, कठोर हैं कि उनके समान दुनियामें कोई कठोर है ही नहीं, तो बड़ी अच्छी बात। उनका बड़ा भारी प्रभाव है तो बड़ी अच्छी बात, और उनमें कोई प्रभाव नहीं है तो बड़ी अच्छी बात। शरणागतमें इन बातोंकी कोई परवाह नहीं होती। उसका तो एक ही भाव रहता है कि भगवान् जैसे भी हैं, हमारे हैं*। भगवान्‌की इन बातोंकी परवाह न होनेसे

---

* असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा गुणैर्विहीनो गुणिनां वरो वा।
द्वेषी मयि स्यात् करुणाम्बुधिर्वा श्यामः स एवाद्य गतिर्ममायम्॥

'मेरे प्रियतम श्रीकृष्ण असुन्दर हों या सुन्दर-शिरोमणि हों, गुणहीन हों या गुणियोंमें श्रेष्ठ हों, मेरे प्रति द्वेष रखते हों या करुणासिन्धु-रूपसे कृपा करते हों; वे चाहे जैसे हों, मेरी तो वे ही एकमात्र गति हैं।'

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मामदर्शनान्मर्महतां करोतु वा।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः॥

'वे चाहे मुझे हृदयसे लगा लें या चरणोंमें लिपटे हुए मुझे पैरोंतले रौंद डालें अथवा दर्शन न देकर मर्माहत ही करें। वे परम स्वतन्त्र श्रीकृष्ण जैसे चाहें वैसे करें, मेरे तो वे ही प्राणनाथ हैं, दूसरा कोई नहीं।'

भगवान्‌का ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य, गुण, प्रभाव आदि चले जायँगे, ऐसी बात नहीं है। पर हम उनकी परवाह नहीं करेंगे तो हमारी असली शरणागति होगी।

जहाँ गुण, प्रभाव आदिको लेकर भगवान्‌की शरण होते हैं, वहाँ केवल भगवान्‌की शरण नहीं होते, प्रत्युत गुण, प्रभाव आदिकी ही शरण होते हैं; जैसे—कोई रुपयोंवाले आदमीका आदर करे तो वास्तवमें वह आदर उस आदमीका नहीं, रुपयोंका है। किसी मिनिस्टरका कितना ही आदर किया जाय तो वह आदर उसका नहीं, मिनिस्टरी (पद) का है। किसी बलवान् व्यक्तिका आदर किया जाय तो वह उसके बलका आदर है, उसका खुदका आदर नहीं है। परंतु अगर कोई केवल व्यक्ति (धनी आदि)का आदर करे तो इससे धनीका धन या मिनिस्टरकी मिनिस्टरी चली जायगी—यह बात नहीं है। वह तो रहेगी ही। ऐसे ही केवल भगवान्‌की शरण होनेसे भगवान्‌के गुण, प्रभाव आदि चले जायँगे—ऐसी बात नहीं है। परंतु हमारी दृष्टि तो केवल भगवान्‌पर ही रहनी चाहिये; उनके गुण आदिपर नहीं।

सप्तर्षियोंने जब पार्वतीजीके सामने शिवजीके अनेक अवगुणोंका और विष्णुके अनेक सद्‌गुणोंका वर्णन करते हुए उन्हें शिवजीका त्याग करनेके लिये कहा तो पार्वतीजीने उन्हे यही उत्तर दिया—

महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुन धाम।
जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम॥
(मानस १ । ८०)

ऐसी ही बात गोपियोंने भी उद्धवजीसे कही थी—

ऊधौ ! मन माने की बात ।
दाख छोहारा छाड़ि अमृतफल, बिषकीरा बिष खात ॥
जो चकोर को दै कपूर कोउ, तजि अंगार अघात ।
मधुप करत घर कोरे काठ में, बँधत कमल के पात ॥
ज्यों पतंग हित जान आपनो, दीपक सों लपटात ।
'सूरदास' जाको मन जासों, ताको सोइ सुहात ॥

भगवान्‌के प्रभाव आदिकी तरफ देखनेवालेको, उससे प्रेम करनेवालेको मुक्ति, ऐश्वर्य आदि तो मिल जायगा, पर भगवान् नहीं मिल सकते। भगवान्‌के प्रभावकी तरफ न देखनेवाला भगवत्प्रेमी भक्त ही भगवान्‌को पा सकता है। इतना ही नहीं, वह प्रेमी भक्त भगवान्‌को बाँध सकता है, उनकी भी बिक्री कर सकता है! भगवान् देखते हैं कि वह मेरेसे प्रेम करता है, मेरे प्रभावकी तरफ देखतातक नहीं तो भगवान्‌के मनमें उसका बड़ा आदर होता है।

प्रभावकी तरफ देखना यह सिद्ध करता है कि हमारेमें कुछ पानेकी कामना है। हमारे मनमें उस कामनावाले पदार्थका आदर है। जबतक हमारेमें कामना है, तबतक हम प्रभावको देखते हैं। अगर हमारे मनमें कोई कामना न रहे तो भगवान्‌के प्रभाव, ऐश्वर्यकी तरफ हमारी दृष्टि नहीं जायगी। केवल भगवान्‌की तरफ दृष्टि होगी तो हम भगवान्‌की शरण हो जायँगे, भगवान्‌के अपने हो जायँगे।

विचार करें, पूतना राक्षसी जहर लगाकर स्तन मुखमें देती

है। उसको भगवान्‌ने माताकी गति दे दी*—'जसुमति की गति पाई' अर्थात् जो मुक्ति यशोदा मैयाको मिले, वह मुक्ति पूतनाको मिल गयी। जो मुखमें जहर देती है, उसे तो भगवान्‌ने मुक्ति दे दी। अब जो रोजाना दूध पिलाती है, उस मैयाको भगवान् क्या दें? तो अनन्त जीवोंको मुक्ति देनेवाले भगवान् मैयाके अधीन हो गये, उन्हें अपने-आपको ही दे दिया। मैयाके इतने वशीभूत हो गये कि मैया छड़ी दिखाती है तो वे डरकर रोने लग जाते हैं। कारण कि मैयाकी भगवान्‌के प्रभाव, ऐश्वर्यकी तरफ दृष्टि ही नहीं है। इस प्रकार जो भगवान्‌से मुक्ति चाहते हैं, उन्हे भगवान् मुक्ति दे देते हैं, पर जो कुछ भी नहीं चाहता, उसे भगवान् अपने-आपको ही दे देते हैं।

सर्वभावसे भगवान्‌की शरण होनेका रहस्य यह है कि हमारा शरीर अच्छा है, इन्द्रियाँ वशमें हैं, मन शुद्ध निर्मल है, बुद्धिसे हम ठीक जानते हैं, हम पढ़े-लिखे हैं, हम यशस्वी हैं, हमारा संसारमें मान है—इस प्रकार 'हम भी कुछ हैं' ऐसा मानकर भगवान्‌की शरण होना शरणागति नहीं है। भगवान्‌की शरण होनेके बाद

---

* अहो बकी यं स्तनकालकूटं जिघांसयापाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥
(श्रीमद्भा० २। ३। २३)

'अहो! इस पापिनी पूतनाने जिसे मार डालनेकी इच्छासे अपने स्तनोंपर लगाया हुआ कालकूट विष पिलाकर भी वह गति प्राप्त की, जो धात्रीको मिलनी चाहिये, उसके अलावा और कौन दयालु है, जिसकी शरणमें जायँ।'

शरणागतको ऐसा विचार भी नहीं करना चाहिये कि हमारा शरीर ऐसा होना चाहिये; हमारी बुद्धि ऐसी होनी चाहिये; हमारा मन ऐसा होना चाहिये; हमारा ऐसा ध्यान लगना चाहिये; हमारी ऐसी भावना होनी चाहिये; हमारे जीवनमें ऐसे-ऐसे लक्षण आने चाहिये; हमारे ऐसे आचरण होने चाहिये; हमारेमें ऐसा प्रेम होना चाहिये कि कथा-कीर्तन सुननेपर आँसू बहने लगें, कण्ठ गद्‌गद हो जाय; पर ऐसा हमारे जीवनमें हुआ ही नहीं तो हम भगवान्‌की शरण कैसे हुए ? आदि-आदि । ये बातें अनन्य शरणागतिकी कसौटी नहीं हैं । जो अनन्य शरण हो जाता है, वह यह देखता ही नहीं कि शरीर बीमार है कि स्वस्थ है ? मन चंचल है कि स्थिर है ? बुद्धिमें जानकारी है कि अनजानपना है ? अपनेमें मूर्खता है कि विद्वत्ता है ? योग्यता है कि अयोग्यता है ? आदि इन सबकी तरफ वह स्वप्नमें भी नहीं देखता; क्योंकि उसकी दृष्टिमें ये सब चीजें कूड़ा-करकट हैं, जिन्हें अपने साथ नहीं लेता है । यदि इन चीजोंकी तरफ देखेगा तो अभिमान ही बढ़ेगा कि मै भगवान्‌का शरणागत भक्त हूँ अथवा निराश होना पड़ेगा कि मै भगवान्‌की शरण तो हो गया, पर भक्तोंके गुण (**अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च । निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥** इत्यादि, गीता १२ । १३–१९) तो मेरेमें आये ही नहीं ! तात्पर्य यह हुआ कि अगर अपनेमें भक्तोंके गुण दिखायी देंगे तो उनका अभिमान हो जायगा और अगर नहीं दिखायी देंगे तो निराशा हो जायगी । इस वास्ते यही अच्छा है कि भगवान्‌की

शरण होनेके बाद इन गुणोंकी तरफ भूलकर भी नहीं देखे। इसका यह उलटा अर्थ न लगा लें कि हम चाहे वैर-विरोध करें, चाहे द्वेष करें, चाहे ममता करें, चाहे जो कुछ करें! यह अर्थ बिल्कुल नहीं है। तात्पर्य है कि इन गुणोंकी तरफ ख्याल ही नहीं होना चाहिये। भगवान्‌की शरण होनेवाले भक्तमें ये सब-के-सब गुण अपने-आप ही आयेंगे, पर इनके आने या न आनेसे उसको कोई मतलब नहीं रखना चाहिये। अपनेमें ऐसी कसौटी नहीं लगानी चाहिये कि अपनेमें ये गुण या लक्षण हैं या नहीं।

सच्चा शरणागत भक्त तो भगवान्‌के गुणोंकी तरफ भी नहीं देखता और अपने गुणोंकी तरफ भी नहीं देखता। वह भगवान्‌के ऊँचे-ऊँचे प्रेमियोंकी तरफ भी नहीं देखता कि ऊँचे प्रेमी ऐसे-ऐसे होते हैं; तत्त्वको जाननेवाले जीवन्मुक्त ऐसे-ऐसे होते हैं।

प्रायः लोग ऐसी कसौटी लगाते हैं कि यह भगवान्‌का भजन करता है तो बीमार कैसे हो गया? भगवान्‌का भक्त हो गया तो उसको बुखार क्यों आ गया? उसपर दुःख क्यों आ गया? उसका बेटा क्यों मर गया? उसका धन क्यों चला गया? उसका संसारमें अपयश क्यों हो गया? उसका निरादर क्यों हो गया? आदि-आदि। ऐसी कसौटी कसना बिल्कुल फालतू बात है, बड़े नीचे दर्जेकी बात है। ऐसे लोगोंको क्या समझायें! वे सत्सङ्गके नजदीक ही नहीं आये, इसी वास्ते उनको इस बातका पता ही नहीं है कि भक्ति क्या होती है? शरणागति क्या होती है? वे इन बातोंको समझ ही नहीं सकते, परंतु इसका अर्थ यह

भी नहीं है कि भगवान्का भक्त दरिद्र होता ही है, उसका ससारमे अपमान होता ही है, उसकी निन्दा होती ही है। शरणागत भक्तको तो निन्दा-प्रशसा, रोग-नीरोगता आदिसे कोई मतलब ही नहीं होता। इनकी तरफ वह देखता ही नहीं। वह यही देखता है कि मैं हूँ और भगवान् हैं, वस। अव संसारमें क्या है, क्या नहीं है? त्रिलोकीमें क्या है, क्या नहीं है? प्रभु ऐसे हैं, वे उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाले हैं—इन वातोकी तरफ उसकी दृष्टि जाती ही नहीं।

किसीने एक सन्तसे पूछा—'आप किस भगवान्के भक्त हो? जो उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करते हैं, उनके भक्त हो क्या?' तो उस सन्तने उत्तर दिया—'हमारे भगवान्का तो उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयके साथ कोई सम्बन्ध है ही नहीं। यह तो हमारे प्रभुका एक ऐश्वर्य है। यह कोई विशेष वात नहीं है।' शरणागत भक्तको ऐसा होना चाहिये। ऐश्वर्य आदिकी तरफ उसकी दृष्टि ही नहीं होनी चाहिये।

ऋषिकेशमें गङ्गाजीके किनारे टीवड़ीपर शामको सत्सङ्ग हो रहा था। गरमी पड़ रही थी। उधरसे गङ्गाजीकी ठण्डी हवाकी लहर आयी तो एक सज्जनने कहा—'कैसी ठण्डी हवाकी लहर आ रही है!' पास वैठे दूसरे सज्जनने उनसे कहा—'हवाको देखनेके लिये तुम्हें वक्त कैसे मिल गया? यह ठण्डी हवा आयी, यह गरम हवा आयी—इस तरफ तुम्हारा ख्याल कैसे चला गया?' भगवान्के भजनमें लगे हो तो हवा ठण्डी आयी या गरम आयी,

सुख आया या दुःख आया—इस तरफ जबतक ख्याल है, तब-तक भगवान्‌की तरफ ख्याल कहाँ ? इसी विषयमें हमने एक कहानी सुनी है। कहानी तो नीचे दर्जेकी है, पर उसका निष्कर्ष बड़ा अच्छा है।

एक कुलटा स्त्री थी। उसको किसी पुरुषसे संकेत मिला कि इस समय अमुक स्थानपर तुम आ जाना। तो वह समयपर अपने प्रेमीके पास जा रही थी। रास्तेमें एक मस्जिद पड़ती थी। मस्जिदकी दीवारें छोटी-छोटी थीं। दीवारके पास ही वहाँका मौलवी झुककर नमाज पढ़ रहा था। वह कुलटा अनजानेमें उसके ऊपर पैर रखकर निकल गयी। मौलवीको बड़ा गुस्सा आया कि कैसी औरत है यह! इसने मेरेपर जूतीसहित पैर रखकर हमको नापाक (अशुद्ध) बना दिया! वह वहीं बैठकर उसको देखता रहा कि कब आयेगी। जब वह कुलटा पीछे लौटकर आयी तो मौलवीने उसको धमकाया कि 'कैसी बेअक्ल हो तुम! हम परवरदिगारकी बंदगीमें बैठे थे, नमाज पढ़ रहे थे और तुम हमारेपर पैर रखकर चली गयी!' तब वह बोली—

> मैं नर-राची ना लखी, तुम कस लख्यो सुजान।
> पढ़ि कुरान बौरा भया, राच्यो नहिं रहमान॥

एक पुरुषके ध्यानमें रहनेके कारण मेरेको इसका पता ही नहीं लगा कि सामने दीवार है या कोई मनुष्य है, पर तू तो भगवान्‌के ध्यानमें था, फिर तूने मेरेको कैसे पहचान लिया कि वह यही थी ? तू केवल कुरान पढ़-पढ़कर बावला हो गया है। अगर

तू भगवान्‌के ध्यानमें रचा हुआ होता तो मुझे पहचान लेता ? कौन आया, कैसे आया, मनुष्य था कि पशु-पक्षी था, क्या था, क्या नहीं था, कौन ऊपर आया, कौन नीचे आया, किसने पैर रखा—इधर तेरा ख्याल ही क्यों जाता ? तात्पर्य है कि एक भगवान्‌को छोड़कर किसीकी तरफ ध्यान ही कैसे जाय ? दूसरी बातोंका पता ही कैसे लगे ? जबतक दूसरी बातोंका पता लगता है, तबतक वह शरण कहाँ हुआ ?

कौरव-पाण्डव जब लड़के थे तो वे अस्त्र-शस्त्र सीख रहे थे। सीखकर जब तैयार हो गये तो उनकी परीक्षा ली गयी। एक वृक्षपर एक बनावटी चिड़िया बैठा दी गयी और सबसे कहा गया कि उस चिड़ियाके कण्ठपर तीर मारकर दिखाओ। एक-एक करके सभी आने लगे। गुरुजी पहले सबसे अलग-अलग पूछते कि बताओ, तुम्हें वहाँ क्या दीख रहा है ? तो कोई कहता कि हमें तो वृक्ष दीखता है; कोई कहता कि हमें तो टहनी दीखती है; कोई कहता कि हमें तो चिड़िया दीखती है, चोंच भी दीखती है, पंख भी दीखते हैं। ऐसा कहनेवालोंको वहाँसे हटा दिया गया। जब अर्जुनकी बारी आयी तो उनसे पूछा गया कि तुमको क्या दीखता है, तो अर्जुनने कहा कि मेरेको तो केवल कण्ठ ही दीखता है और कुछ भी नहीं दीखता। तब अर्जुनसे बाण मारनेके लिये कहा गया। अर्जुनने अपने बाणसे उस चिड़ियाका कण्ठ बेध दिया; क्योंकि उसकी लक्ष्यपर दृष्टि ठीक थी। अगर चिड़िया दीखती है, वृक्ष, टहनी आदि दीखते हैं तो लक्ष्य कहाँ सधा है ? अभी तो

दृष्टि फैली हुई है। लक्ष्य होनेपर तो वही दीखेगा, जो लक्ष्य होगा। लक्ष्यके सिवाय दूसरा कुछ दीखेगा ही नहीं। इसी प्रकार जबतक मनुष्यका लक्ष्य एक नहीं हुआ है, तबतक वह अनन्य कैसे हुआ? अव्यभिचारी 'अनन्ययोग' होना चाहिये—**'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी'** (गीता १३। १०)। 'अन्ययोग' नहीं होना चाहिये अर्थात् शरीर, मन, बुद्धि, अहं आदिकी सहायता नहीं होनी चाहिये। वहाँ तो केवल एक भगवान् ही होने चाहिये।

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजसे किसीने कहा— 'तुम जिन रामलल्लाकी भक्ति करते हो, वे तो बारह कलाके अवतार हैं, पर सूरदासजी जिन भगवान् कृष्णकी भक्ति करते हैं, वे सोलह कलाके अवतार हैं! यह सुनते ही गोस्वामीजी महाराज उसके चरणोंमें गिर पड़े और बोले—'अहो! आपने बड़ी भारी कृपा कर दी! मैं तो रामको दशरथजीके लाडले कुँवर समझकर ही भक्ति करता था। अब पता लगा कि वे बारह कलाके अवतार हैं! इतने बड़े हैं वे? आपने आज नयी बात बताकर बड़ा उपकार किया।' अब कृष्ण सोलह कलाके अवतार हैं—यह बात उन्होंने सुनी ही नहीं, इस तरफ उनका ध्यान ही नहीं गया।

भगवान्‌के प्रति भक्तोंके अलग-अलग भाव होते हैं। कोई कहता है कि दशरथजीकी गोदमें खेलनेवाले जो रामलला हैं, वे ही हमारे इष्ट हैं—**'इष्टदेव मम बालक रामा'** (मानस ७। ७४। ३); राजाधिराज रामचन्द्रजी नहीं, छोटा-सा रामलल्ला। कोई भक्त कहता है कि हमारे इष्ट तो लड्डूगोपाल हैं, नन्दके लाला हैं। वे भक्त

कि महाराज ! आप कृपा करो । कन्हैया तो भोला-भाला है, वह क्या समझेगा और क्या करेगा ? कन्हैयासे क्या मिलेगा ? अरी सखी ! वह कन्हैया हमारा है, और क्या मिलेगा ?' हम भी अकेले हैं और वह कन्हैयाँ भी अकेला है । हमारे पास भी कुछ सामान नहीं, और उसके पास भी कुछ सामान नहीं, बिल्कुल नंग-धड़ंग बाबा—'नगन मूरति बाल गोपालकी, कतरनी बरनी जग-जालकी ।' अब ऐसे कन्हैयासे क्या मिलेगा ?

यशोदा मैया दाऊजीसे कहती हैं—'देख दाऊ ! यह कन्हैया बहुत भोला-भाला है, तू इसका ख्याल रखा कर कि कहीं यह जंगलमें दूर न चला जाय ।' दाऊजी कहते हैं—'मैया ! यह कन्हैया बड़ा चंचल है । जंगलमें मेरे साथ चलता है तो चलते-चलते कोई साँपका बिल देखता है तो उसमें हाथ डाल देता है, अब इसे कोई साँप काट ले तो ?' मैया कहती है—'बेटा ! अभी यह छोटा-सा अबोध बालक है, तू बड़ा है, इस वास्ते तू इसकी निगाह रखा कर ।' अब दाऊ भैया और सब ग्वाल-बाल कन्हैयाकी निगाह रखते हैं । ग्वाल-बाल और यशोदा मैयासे कोई कहे कि कन्हैया तो सब दुनियाका पालन करता है तो वे यही कहेंगे कि तुम्हारा ऐसा भगवान् होगा जो सब दुनियाका पालन करता होगा । हमारा तो ऐसा नहीं है । हमारा छोटा-सा कन्हैया दुनियाका क्या पालन करेगा ?

एक बाबाजीकी गोपियोंसे बातचीत चली । वे बाबाजी बात करते-करते कहने लगे कि कृष्ण इतने ऐश्वर्यशाली हैं, उनका

इतना माधुर्य है, उनके पास ऐश्वर्यका इतना खजाना है आदि। तो गोपियाँ कहने लगीं—'महाराज ! उस खजानेकी चाबी तो हमारे पास है ! कन्हैयाके पास क्या है ? उसके पास तो कुछ भी नहीं है। कोई उससे माँगेगा तो वह कहाँसे देगा ? इस वास्ते किसीको कुछ चाहिये तो कन्हैयाके पास न जाये। कन्हैयाके पास, उसकी शरणमें तो वही जाये, जिसको कभी कुछ नहीं चाहिये। किसी भी अवस्थामें कुछ भी नहीं चाहिये अर्थात् विपत्ति, मौत आदिकी अवस्थामें भी 'मेरी थोड़ी सहायता कर दो, रक्षा कर दो' ऐसा भाव नहीं हो।

भगवान् श्रीरामसे वाल्मीकिजी कहते हैं—

> जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
> बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥
> (मानस २। १३१)

कुछ भी चाहनेका भाव न होनेसे भगवान् स्वाभाविक ही प्यारे लगते हैं, मीठे लगते हैं—'तुम्ह सन सहज सनेहु'। जिसमें चाह नहीं है, वह भगवान्का खास घर है—'सो राउर निज गेहु।' यदि चाहना भी साथमें रखें और भगवान्को भी साथमें रखें तो वह भगवान्का खास घर नहीं है। भगवान्के साथ 'सहज' स्नेह हो, स्नेहमें कोई मिलावट न हो अर्थात् कुछ भी चाहना न हो। जहाँ कुछ भी चाहना हो जाय, वहाँ प्रेम कैसा ? वहाँ तो आसक्ति, वासना, मोह, ममता ही होते हैं। इस वास्ते गोपियाँ सावधान करती हुई कहती हैं—

अपने रामलल्लाको, नन्दलालाको सन्तोंसे आशीर्वाद दिलाते हैं तो भगवान्‌को यह बहुत प्यारा लगता है । तात्पर्य है कि भक्तोंकी दृष्टि भगवान्‌के ऐश्वर्यकी तरफ जाती ही नहीं ।

या ब्रजरज को परस से, मुक्ति मिलत है चार ।
वा रज को नित गोपिका, डारत डगर बुहार ॥

आँगनकी जिस रजमें कन्हैया खेलते हैं, वह रज कोई ले ले तो उसको चारों प्रकारकी मुक्ति मिल जाय । पर यशोदा मैया उसी रजको बुहारकर बाहर फेंक देती है । मैयाके लिये तो वह कूड़ा-करकट है । अब मुक्ति किसको चाहिये ? मैयाका केवल कन्हैयाकी तरफ ही ख्याल है । न तो कन्हैयाके ऐश्वर्यकी तरफ ख्याल है और न योग्यताकी तरफ ही ख्याल है ।

सन्तोंने कहा है कि अगर भगवान्‌से मिलना हो तो साथमें साथी नहीं होना चाहिये और सामान भी नहीं होना चाहिये अर्थात् साथी और सामानके बिना उनसे मिलो । जब साथी, सहारा साथमें है तो तुम क्या मिले भगवान्‌से ? और मन, बुद्धि, विद्या, धन आदि सामान साथमें बँधा रहेगा तो उसका परदा (व्यवधान) रहेगा । परदेमें मिलन थोड़े ही होता है! वहाँ तो कपडेका भी व्यवधान होता है । कपड़ा ही नहीं, माला भी आड़में आ जाय तो मिलन क्या हुआ ? इस वास्ते साथमें कोई साथी और सामान न हो तो भगवान्‌से जो मिलन होगा, वह बड़ा विलक्षण और दिव्य होगा ।

एक महात्माजीको खेतमें काम करनेवाला एक ब्रजवासी ग्वाला मिल गया । वह भगवान्‌का भक्त था । महात्माजीने उससे

पूछा—'तुम क्या करते हो?' उसने कहा—'हम तो अपने लाला कन्हैयाका काम करते हैं।' महात्माजीने कहा—'हम भगवान्‌के अनन्य भक्त हैं, तुम क्या हो?' उसने कहा—'हम फनन्य भक्त हैं।' महात्माजीने पूछा—'फनन्य भक्त क्या होता है?' तो उसने भी पूछा—'अनन्य भक्त क्या होता है?' महात्माजीने कहा—'अनन्य भक्त वह होता है जो सूर्य, शक्ति, गणेश, ब्रह्मा आदि किसीको भी न माने, केवल हमारे कन्हैयाको ही माने।' उसने कहा—बाबाजी, हम तो इन ससुरोंका नाम भी नहीं जानते कि ये क्या होते हैं, क्या नहीं होते; हमें इनका पता ही नहीं है; तो हम फनन्य हो गये कि नहीं?' इस प्रकार ब्रह्म क्या होता है? आत्मा क्या होती है? सगुण और निर्गुण क्या होता है? साकार और निराकार क्या होता है? इत्यादि बातोंकी तरफ शरणागत भक्तका ख्याल ही नहीं होना चाहिये।

व्रजकी एक बात है। एक सन्त कुएँपर किसीसे बात कर रहे थे कि ब्रह्म है, परमात्मा है, जीवात्मा है आदि। वहाँ एक गोपी जल भरने आयी। उसने कान लगाया कि बाबाजी क्या बात कर रहे हैं। जब वह गोपी दूसरी गोपीसे मिली तो उससे पूछा—'अरी सखी! यह ब्रह्म क्या होता है?' उसने कहा—'हमारे लालाका ही कोई अड़ोसी-पड़ोसी, सगा-सम्बन्धी होगा! हमलोग तो जानती नहीं सखी! ये लोग उसीकी धुनमें लगे हैं न? इस वास्ते सब जानते हैं। हमारे तो एक नन्दके लाला ही हैं। कोई काम हो तो नन्दबाबासे कह देंगे, गिरिराज़से कह देंगे

कि महाराज ! आप कृपा करो । कन्हैया तो भोला-भाला है, वह क्या समझेगा और क्या करेगा ? कन्हैयासे क्या मिलेगा ? अरी सखी ! वह कन्हैया हमारा है, और क्या मिलेगा ?' हम भी अकेले हैं और वह कन्हैया भी अकेला है । हमारे पास भी कुछ सामान नहीं, और उसके पास भी कुछ सामान नहीं, बिल्कुल नंग-धड़ंग बाबा—'नगन मूरति बाल गोपालकी, कतरनी बरनी जग-जालकी ।' अब ऐसे कन्हैयासे क्या मिलेगा ?

यशोदा मैया दाऊजीसे कहती हैं—'देख दाऊ ! यह कन्हैया बहुत भोला-भाला है, तू इसका ख्याल रखा कर कि कहीं यह जंगलमें दूर न चला जाय ।' दाऊजी कहते हैं—'मैया ! यह कन्हैया बड़ा चंचल है । जंगलमें मेरे साथ चलता है तो चलते-चलते कोई साँपका बिल देखता है तो उसमें हाथ डाल देता है, अब इसे कोई साँप काट ले तो ?' मैया कहती है—'बेटा ! अभी यह छोटा-सा अबोध बालक है, तू बड़ा है, इस वास्ते तू इसकी निगाह रखा कर ।' अब दाऊ भैया और सब ग्वाल-बाल कन्हैयाकी निगाह रखते हैं । ग्वाल-बाल और यशोदा मैयासे कोई कहे कि कन्हैया तो सब दुनियाका पालन करता है तो वे यही कहेंगे कि तुम्हारा ऐसा भगवान् होगा जो सब दुनियाका पालन करता होगा । हमारा तो ऐसा नहीं है । हमारा छोटा-सा कन्हैया दुनियाका क्या पालन करेगा ?

एक बाबाजीकी गोपियोंसे बातचीत चली । वे बाबाजी बात करते-करते कहने लगे कि कृष्ण इतने ऐश्वर्यशाली हैं, उनका

इतना माधुर्य है, उनके पास ऐश्वर्यका इतना खजाना है आदि। तो गोपियाँ कहने लगीं—'महाराज ! उस खजानेकी चाबी तो हमारे पास है ! कन्हैयाके पास क्या है ? उसके पास तो कुछ भी नहीं है। कोई उससे माँगेगा तो वह कहाँसे देगा ? इस वास्ते किसीको कुछ चाहिये तो कन्हैयाके पास न जाये। कन्हैयाके पास, उसकी शरणमें तो वही जाये, जिसको कभी कुछ नहीं चाहिये। किसी भी अवस्थामें कुछ भी नहीं चाहिये अर्थात् विपत्ति, मौत आदिकी अवस्थामें भी 'मेरी थोड़ी सहायता कर दो, रक्षा कर दो' ऐसा भाव नहीं हो।

भगवान् श्रीरामसे वाल्मीकिजी कहते हैं—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥
(मानस २। १३१)

कुछ भी चाहनेका भाव न होनेसे भगवान् स्वाभाविक ही प्यारे लगते हैं, मीठे लगते हैं—'तुम्ह सन सहज सनेहु'। जिसमें चाह नहीं है, वह भगवान्‌का खास घर है—'सो राउर निज गेहु।' यदि चाहना भी साथमें रखें और भगवान्‌को भी साथमें रखें तो वह भगवान्‌का खास घर नहीं है। भगवान्‌के साथ 'सहज' स्नेह हो, स्नेहमें कोई मिलावट न हो अर्थात् कुछ भी चाहना न हो। जहाँ कुछ भी चाहना हो जाय, वहाँ प्रेम कैसा ? वहाँ तो आसक्ति, वासना, मोह, ममता ही होते हैं। इस वास्ते गोपियाँ सावधान करती हुई कहती हैं—

आ यात पान्थाः पथि भीमरथ्या दिगम्बरः कोऽपि तमालनीलः ।
विन्यस्तहस्तोऽपि नितम्बविम्बे धूतः समाकर्षति चित्तवित्तम् ॥

'अरे पथिको ! उस गलीसे मत जाना, वह बड़ी भयावनी है ! वहाँ अपने नितम्बबिम्बपर दोनों हाथ रखे जो तमालके समान नीले रंगका एक नंग-धड़ंग बालक खड़ा है, वह केवल देखनेमात्रका अवधूत है । वास्तवमें तो वह अपने पासमेंसे होकर निकलनेवाले किसी भी पथिकके चित्तरूपी धनको लूटे बिना नहीं रहता ।'

वह जो काला-काला नंग-धड़ंग बालक खड़ा है न ? उससे तुम लुट जाओगे, रीते रह जाओगे ! वह ऐसा चोर है कि सब खत्म कर देगा । उधर जाना ही मत, पहले ही ख्याल रखना । अगर चले गये तो फिर सदाके लिये ही चले गये ! इस वास्ते कोई अच्छी तरहसे जीना चाहे तो उधर मत जाय । उसका नाम कृष्ण है न ? कृष्ण कहते हैं खींचनेवालेको । एक बार खींच ले तो फिर छोड़े ही नहीं । उससे पहचान न हो, तबतक तो ठीक है । अगर उससे पहचान हो गयी तो फिर मामला खत्म । फिर किसी कामके नहीं रहोगे, त्रिलोकीभरमें निकम्मे हो जाओगे !

'नारायन' बौरी भई डोलै, रही न काहू काम की ॥
जाहि लगन लगी घनस्याम की ।

हाँ, जो किसी कामका नहीं होता, वह सबके लिये सब कामका होता है । परंतु उसको किसी कामसे कोई मतलब नहीं होता ।

शरणागत भक्तको भजन भी करना नहीं पड़ता। उसके द्वारा स्वतः स्वाभाविक भजन होता है। भगवान्‌का नाम उसे स्वाभाविक ही बड़ा मीठा, प्यारा लगता है। अगर कोई पूछे कि तुम श्वास क्यो लेते हो? यह हवाको भीतर-बाहर करनेका क्या धंधा शुरू कर रखा है? तो यही कहेगे कि भाई! यह धंधा नहीं है, इसके बिना हम जी ही नहीं सकते। ऐसे ही शरणागत भक्त भजनके बिना रह ही नहीं सकता। जिसको सब कुछ अर्पित कर दिया, उसके विस्मरणमें परम व्याकुलता, महान् छटपटाहट होने लगती है—'तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति' (नारदभक्तिसूत्र १९)। ऐसे भक्तसे अगर कोई कहे कि आधे क्षणके लिये भगवान्‌को भूल जाओ तो त्रिलोकीका राज्य मिलेगा तो वह इसे भी ठुकरा देगा। भागवतमें आया है—

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठस्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥

(श्रीमद्भा० ११।२।५३)

'तीनों लोकोंके समस्त ऐश्वर्यके लिये भी उन देवदुर्लभ भगवच्चरणकमलोको जो आधे निमेषके लिये भी नहीं त्याग सकते, वे ही श्रेष्ठ भगवद्भक्त हैं।'

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद् विनान्यत्॥

(श्रीमद्भा० ११।१४।१४)

'भगवान् कहते हैं कि स्वयंको मेरे अर्पित करनेवाला भक्त मुझे छोड़कर ब्रह्माका पद, इन्द्रका पद, सम्पूर्ण पृथ्वीका राज्य,

पातालादि लोकोंका राज्य, योगकी समस्त सिद्धियाँ और मोक्षको भी नहीं चाहता ।'

भरतजी कहते हैं—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरवान ।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन ॥
(मानस २ । २०४)

सम्बन्ध—

इस अत्यन्त गोपनीय रहस्यको अनधिकारियोंके सामने कहनेका निषेध करनेके लिये कृपालु भगवान् अगला श्लोक कहते हैं ।

श्लोक—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥

व्याख्या—

'इदम्'—पिछले (छाछठवें) श्लोकमें आये **'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'**—इस सर्वगुह्यतम रहस्यके लिये यहाँ **'इदम्'** पद आया है ।

'नातपस्काय'—जो सहिष्णु अर्थात् सहनशील नहीं है, उसको यह सर्वगुह्यतम रहस्य नहीं कहना चाहिये । यह सहिष्णुता चार प्रकारकी होती है—

(१) द्वन्द्वसहिष्णुता—राग-द्वेष, हर्ष-शोक, सुख-दुःख, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति आदि द्वन्द्वोंसे रहित हो जाना—'ते

द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः' (गीता ७ । २८); 'द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैः' (गीता १५ । ५)।

(२) वेगसहिष्णुता—काम, क्रोध, लोभ, द्वेष आदिके वेगोको उत्पन्न न होने देना—'कामक्रोधोद्भवं वेगम्' (गीता ५ । २३)।

(३) परमतसहिष्णुता—दूसरोके मतकी युक्ति, प्रमाण आदिकी महिमा सुनकर अपने मतमें सन्देह न होना और उनके मतसे उद्विग्न न होना*—'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति' (गीता ५ । ५)।

(४) परोत्कर्षसहिष्णुता—अपनेमे योग्यता, अधिकार, पद, त्याग, तपस्या आदिकी कमी है, तो भी दूसरोकी योग्यता, अधिकार आदिकी प्रशंसा सुनकर अपनेमें कुछ भी विकार न होना—'विमत्सरः' (गीता ४ । २२); 'हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तः' (गीता १२ । १५)।

ये चारो सहिष्णुताऍ सिद्धोकी हैं। ये सहिष्णुताएँ जिसका लक्ष्य हो, वही तपस्वी है और जिसका लक्ष्य न हो, वही अतपस्वी है।

ऐसे अतपस्वी अर्थात असहिष्णु † को सर्वगुह्यतम रहस्य न सुनानेका मतलब है कि 'सम्पूर्ण धर्मोंको मेरेमे अर्पण करके तू

---

* आपसमे मतभेद होना और अपने मतके अनुसार साधन करके जीवन बनाना दोषी नहीं है, प्रत्युत दूसरोंका मत बुरा लगना, उनके मतसे घृणा होना ही दोषी है।

† असहिष्णुता और असूयामें थोड़ा अन्तर है। दूसरोंकी विशेषताको न सहना 'असहिष्णुता' है और दूसरोंके गुणोंमें दोष देखना 'असूया' है।

अनन्यभावसे मेरी शरण आ जा'—इस बातको सुनकर उसके मनमें कोई विपरीत भावना या दोष आ जाय तो वह मेरी इस सर्वगुह्यतम बातको सह नहीं सकेगा और इसका निरादर करेगा, जिससे उसका पतन हो जायगा ।

दूसरा भाव यह है कि जिसका अपनी वृत्तियों, आचरणों, भावों आदिको शुद्ध करनेका उद्देश्य नहीं है, वह यदि मेरी 'तू मेरी शरणमें आ जा, मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू चिन्ता मत कर'—इन बातोंको सुनेगा तो 'मैं चिन्ता क्यों करूँ ? चिन्ता भगवान् करेंगे' ऐसा उलटा समझकर दुर्गुण-दुराचारोंमें लग जायगा और अपना अहित कर लेगा । इससे मेरी सर्वगुह्यतम बातका दुरुपयोग होगा । इस वास्ते इसे कुपात्रको कभी मत सुनाना ।

'नाभक्ताय'—जो भक्तिसे रहित है, जिसका भगवान्‌पर भरोसा, श्रद्धा-विश्वास नहीं है, उसको भी यह बात मत कहना; क्योंकि श्रद्धा-विश्वास और भक्ति न होनेसे उसकी यह विपरीत धारणा (गीता १८ । ३२) हो सकती है कि भगवान् तो आत्मश्लाघी हैं, स्वार्थी हैं और दूसरोंको वशमें करना चाहता है; जो दूसरोंको अपनी आज्ञामें चलाना चाहता है, वह दूसरोंको क्या निहाल करेगा ? उसके शरण होनेसे क्या फायदा ? आदि-आदि । इस प्रकार दुर्भाव करके वह अपना पतन कर लेगा । इस वास्ते ऐसे अभक्तको कभी मत कहना ।

'न चाशुश्रूषवे वाच्यम्'—जो इस रहस्यको सुनना नहीं चाहता, इसकी उपेक्षा करता है, उसको भी कभी मत सुनाना;

क्योंकि बिना रुचिके, जबर्दस्ती सुनानेसे वह इस बातका तिरस्कार करेगा, उसको सुनना अच्छा नहीं लगेगा; उसका मन इस बातको फेंकेगा। यह भी उसका एक अपराध होगा। अपराध करनेवालेका भला नहीं होता। इस वास्ते जो सुनना नहीं चाहता, उसको मत सुनाना।

'न च मां योऽभ्यसूयति'—जो गुणोंमें दोषारोपण करता है, उसको भी मत सुनाना; क्योंकि उसका अन्तःकरण अत्यधिक मलिन होनेके कारण वह भगवान्‌की बात सुनकर उलटे उनमें दोषारोपण ही करेगा।

मनुष्यमें यह एक दोषदृष्टि रहनेसे वह कितने महान् लाभसे वञ्चित हो जाता है और अपना पतन कर लेता है। इस वास्ते दोषदृष्टि करना बड़ा भारी दोष है। यह दोष श्रद्धालुओंमें भी रहता है। अतः साधकको सावधान होकर इस भयंकर दोषसे बचते रहना चाहिये। भगवान्‌ने भी इसीलिये (गीता ३। ३१ में) जहाँ अपना मत बताया, वहाँ **'श्रद्धावन्तः अनसूयन्तः'** पदोंसे यह बात कही कि श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टिसे रहित पुरुष कर्मोंसे छूट जाता है। ऐसे ही गीताके माहात्म्य (गीता १८। ७१) में भी **'श्रद्धावाननसूयश्च'** पदोंसे यह बताया कि श्रद्धावान् और दोषदृष्टिसे रहित मनुष्य केवल गीताको सुननेमात्रसे वैकुण्ठ आदि लोकोंको चला जाता है।

इस गोपनीय रहस्यको औरोंसे मत कहना—यह कहनेका तात्पर्य दूसरोंको इस गोपनीय तत्त्वसे वञ्चित रखना नहीं है,

प्रत्युत जिसकी भगवान् और उनके वचनोंपर श्रद्धा-भक्ति नहीं है, वह भगवान्को स्वार्थी समझकर (जैसे साधारण मनुष्य अपने स्वार्थके लिये ही किसीको स्वीकार करते हैं), भगवान्पर दोषारोपण करके महान् पतनकी तरफ न चला जाय, इस वास्ते उसको कहनेका निषेध किया है ।

सम्बन्ध—

गीताजीका यह प्रभाव है कि जो इसका प्रचार करेगा, उससे बढ़कर मेरा प्यारा कोई नहीं होगा—यह बतानेके लिये भगवान् अगले दो श्लोक कहते हैं ।

श्लोक—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥

व्याख्या—

'य इमं परमं गुह्यम्'—इन पदोंसे पूरी गीताका परमगुह्य संवाद लेना चाहिये, जो कि गीता-ग्रन्थ कहलाता है । **'परमं गुह्यम्'** पदोंमें ही गुह्य, गुह्यतर, गुह्यतम और सर्वगुह्यतम—ये सब बातें आ जाती हैं । भगवान् कहते हैं कि जो मेरेमें पराभक्ति करके इस परम गुह्य संवादको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मेरेको प्राप्त होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है ।

'मद्भक्तेष्वभिधास्यति'—जिनकी भगवान् और उनके वचनोंमें पूज्यबुद्धि है, आदर बुद्धि है, श्रद्धा-विश्वास है और सुनना चाहता है, वह भक्त हो गया । ऐसे मेरे भक्तोंमें जो इस संवादको कहेगा, वह मेरेको प्राप्त होगा ।

पिछले श्लोकमें 'नाभक्ताय' पदमें एकवचन दिया और यहाँ 'मद्भक्तेषु' पदमें बहुवचन दिया। इसका तात्पर्य है कि जहाँ बहुत-से श्रोता सुनते हों, वहाँ पहले बताये दोषोंवाला कोई व्यक्ति बैठा हो तो वक्ताके लिये पहले कहा निषेध लागू नहीं पड़ेगा; क्योंकि वक्ता केवल उस (दोषी) व्यक्तिको गीता सुनाता ही नहीं। जैसे कोई कबूतरोंको अनाजके दाने डालता है और कबूतर दाने चुगते हैं। यदि उनमें कोई कौआ आकर दाने चुगने लग जाय तो उसको उड़ाया थोड़े ही जा सकता है। क्योंकि दाना डालनेवालेका लक्ष्य कबूतरोंको दाना डालना ही रहता है, कौओंको नहीं। ऐसे ही कोई गीताका प्रवचन कर रहा है और उस प्रवचनको सुननेके लिये कोई नया व्यक्ति आ जाय अथवा कोई उठकर चल दे तो वक्ताका ध्यान उसकी तरफ नहीं रहता। वक्ताका ध्यान तो सुननेवाले लोगोंकी तरफ होता है और उन्हींको वह सुनाता है।

'भक्तिं मयि परां कृत्वा'—मेरेमें पराभक्ति करके इस गीताको कहता है। इसका तात्पर्य है कि जो रुपये, मान-बड़ाई, भेंट-पूजा, आदर-सत्कार आदि किसी भी वस्तुके लिये नहीं कहता, प्रत्युत भगवान्‌में भक्ति हो जाय, भगवद्भावोंका मनन हो जाय, इन भावोंका प्रचार हो जाय, इनकी आवृत्ति हो जाय, सुनकर लोगोंका दुःख, जलन, सन्ताप आदि दूर हो जाय, सबका कल्याण हो जाय—ऐसे उद्देश्यसे कहता है। इस प्रकार भगवान्‌की भक्तिका उद्देश्य रखकर कहना ही पराभक्ति करके कहना है।

इसी अध्यायके चौवनवें श्लोकमें कही गयी और इस श्लोकमें कही गयी पराभक्तिमे अन्तर है। वहाँ **'मद्भक्तिं लभते पराम्'** पदोंसे कहा गया है कि ब्रह्मभूत होनेके बाद सांख्ययोगी पराभक्तिको प्राप्त हो जाता है अर्थात् भगवान्‌से जो अनादिकालका सम्बन्ध है, उसकी स्मृति हो जाती है। परंतु यहाँ सांसारिक मान-बड़ाई आदि किसीकी भी किञ्चिन्मात्र कामना न रखकर केवल भगवद्भक्तिकी, भगवत्प्रेमकी अभिलाषा रखना पराभक्ति है, इस वास्ते यहाँ **'भक्तिं मयि परां कृत्वा'** 'मेरेमें पराभक्ति करके'—ऐसा कहा गया है।

'मामेवैष्यत्यसंशयः'—जब गीता सुनानेवालेका केवल मेरा ही उद्देश्य होगा तो वह मेरेको प्राप्त हो जायगा, इसमें कोई सन्देहकी बात नहीं है। कारण कि गीताकी यह एक विचित्र कला है कि मनुष्य अपने स्वाभाविक कर्मोंसे भी परमात्माका निष्कामभावपूर्वक पूजन करता हुआ परमात्माको प्राप्त हो जाता है (१८। ४६), और जो खाना-पीना, शौच-स्नान आदि शारीरिक कार्योंको भी भगवान्‌के अर्पण कर देता है, वह भी शुभ-अशुभ फलरूप कर्मबन्धन-से मुक्त होकर भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है*। तो फिर जो केवल

---

* यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥
(गीता ९। २७-२८)

भगवान्‌की भक्तिका लक्ष्य करके गीताका प्रचार करता है, वह भगवान्‌को प्राप्त हो जाय, इसमें कहना ही क्या है !

श्लोक—

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥

व्याख्या—

'न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः'—जो अपनेमें लौकिक-पारलौकिक प्राकृत पदार्थोंकी महत्ता, लिप्सा, आवश्यकता रखता है और रखना चाहता है, वह पराभक्ति (१८ । ६८)के अन्तर्गत नहीं आ सकता । पराभक्तिके अन्तर्गत वही आ सकता है, जिसका प्राकृत पदार्थोंको प्राप्त करनेका किञ्चिन्मात्र भी उद्देश्य नहीं है और जो भगवत्प्राप्ति, भगवद्दर्शन, भगवत्प्रेम आदि पारमार्थिक उद्देश्य रखकर गीताके अनुसार ही अपना जीवन बनाना चाहता है । ऐसा पुरुष ही भगवद्गीताके प्रचारका अधिकारी होता है । यदि उसमें कभी मान-बड़ाई आदिकी इच्छा भी आ जाय तो वह टिकेगी नहीं; क्योंकि मान-बड़ाई आदि प्राप्त करना उसका उद्देश्य नहीं है ।

भगवान्‌के भक्तोंमें गीताका प्रचार करनेवाले उपर्युक्त अधिकारी पुरुषके लिये ही **'तस्मात्'** पद देकर भगवान् कहते हैं कि उसके समान मनुष्योंमें मेरा प्रियकृत्तम अर्थात् अत्यन्त प्रिय कार्य करनेवाला कोई भी नहीं होगा; क्योंकि गीता-प्रचारके समान दूसरा मेरा कोई प्रिय कार्य है ही नहीं ।

'प्रियकृत्तमः' पदमें जो **'कृत्'** पद आया है, उसका तात्पर्य है कि गीताका प्रचार करनेमें उसका अपना कोई स्वार्थ नहीं है

मान-बड़ाई, आदर-सत्कार आदिकी कोई कामना नहीं है; केवल भगवत्प्रीत्यर्थ गीताके भावोंका प्रचार करता है। इस वास्ते वह प्रियकृत्तम—भगवान्‌का अत्यन्त प्रिय कार्य करनेवाला है।

मनुष्योंमें प्रियकृत्तम कहनेका तात्पर्य है कि भगवान्‌का अत्यन्त प्यारा बननेके लिये मनुष्योंको ही अधिकार है। संसारमें कामनाओंकी पूर्ति कर लेना कोई महत्त्वकी, बहादुरीकी बात नहीं है। देवता, पशु-पक्षी, नारकीय जीव, कीट-पतङ्ग, वृक्ष-लता आदि सभी योनियोंमें कामनाकी पूर्ति करनेका अवसर मिलता है; परंतु कामनाका त्याग करके परमात्माकी प्राप्ति करनेका अवसर तो केवल मनुष्ययोनिमें ही मिलता है। इस मनुष्ययोनिको प्राप्त करके परमात्माकी प्राप्ति करनेसे, परमात्माका अत्यन्त प्यारा बननेसे ही मनुष्यजन्मकी सफलता है।

'भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि'—जिसमें अपनी मान-बड़ाईकी वासना है, कुछ स्वार्थभाव भी है और जिसका अपना उद्धार करनेका तथा गीताके अनुसार जीवन बनानेका उद्देश्य वैसा (प्रियकृत्तमके समान) नहीं बना है; परंतु उसके हृदयमें गीताका विशेष आदर है और गीताका पाठ करवाना, गीता कण्ठस्थ करवाना, गीता मुद्रित करके उसकी सस्ती बिक्री करना आदि किसी तरहसे गीताका प्रचार करता है और लोगोंको गीतामें लगाता है, उसके समान पृथ्वीमण्डलपर मेरा दूसरा कोई प्रियतर नहीं होगा।

अपने धर्म, सम्प्रदाय, सिद्धान्त आदिका प्रचार करनेवाला व्यक्ति भगवान्‌का प्रिय तो हो सकता है, पर प्रियतर नहीं होगा। प्रियतर तो किसी तरहसे गीताका प्रचार करनेवाला ही होगा।

भगवद्गीतामें अपना उद्धार करनेकी ऐसी-ऐसी विलक्षण, सुगम और सरल युक्तियाँ बतायी गयी है, जिनको मनुष्यमात्र अपने आचरणोंमे ला सकता है। तात्पर्य यह है कि जो गीताका आदर करता है, ऐसा मनुष्य हिंदू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी, पारसी, बौद्ध आदि किसी भी धर्मको माननेवाला क्यो न हो; किसी भी देश, वेष, वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिका क्यो न हो; अपनी रुचिके अनुसार किसी भी शैली, उपाय, सिद्धान्त, साधनको माननेवाला क्यो न हो, वह यदि अपना किसी तरहका आग्रह न रखकर, पक्षपात-विषमताको त्यागकर, किसी भी प्राणीको दुःख पहुँचानेवाली चेष्टाको त्यागकर, मनमे किसी भी लौकिक-पारलौकिक उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुकी कामना न रखकर, अपना सम्प्रदाय, अपनी टोली बनानेका उद्देश्य न रखकर, केवल अपने कल्याणका उद्देश्य रखकर गीताके अनुसार चलता है (अकर्तव्यका सर्वथा त्याग करके प्राप्त परिस्थितिके अनुसार अपने-अपने कर्तव्यका लोकहितार्थ, निष्कामभावपूर्वक पालन करता है), तो वह भी जीविका-सम्बन्धी और खाना-पीना, सोना-जगना आदि शरीर-सम्बन्धी सब काम करते हुए परमात्माकी प्राप्ति कर सकता है, महान् आनन्द, महान् सुखको प्राप्त कर सकता है, जिसका वर्णन छठे अध्यायके बाईसवे श्लोकमें आया है*।

---

* यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥
(गीता ६ । २२)

भावार्थ यह है कि जिस लाभको प्राप्त हो करके 'उससे अधिक कोई लाभ हो सकता है'—ऐसी मान्यता स्वप्नमें भी नहीं होती, उस

गीता वेष, आश्रम, अवस्था, क्रिया आदिका परिवर्तन करनेके लिये नहीं कहती, प्रत्युत परिमार्जन करनेके लिये कहती है अर्थात् केवल अपने भाव और उद्देश्यको शुद्ध बनानेके लिये कहती है। गीताकी ऐसी युक्तियोंको जो भगवान्‌की तरफ चलनेवाले भक्तोंमें कहेगा, तो उन भक्तोंको पारमार्थिक मार्गमें बढ़नेकी युक्तियाँ मिलेंगी, शंकाओंका समाधान होगा, साधनकी उलझनें सुलझेंगी, पारमार्थिक मार्गकी बाधाएँ दूर होंगी, जिससे वे उत्साहसे सुगमतापूर्वक बहुत ही जल्दी अपने लक्ष्यको प्राप्त कर सकेंगे। इस वास्ते वह भगवान्‌को सबसे अत्यधिक प्यारा होगा; क्योंकि भगवान् जीवके उद्धारसे बड़े राजी होते हैं, बड़े प्रसन्न होते हैं।

विशेष बात

कामना दो तरहकी होती है—पारमार्थिक और लौकिक।

(१) पारमार्थिक कामना—पारमार्थिक कामना दो तरहकी होती है—मुक्ति (कल्याण) की और भक्ति (भगवत्प्रेम) की।

जो मुक्तिकी कामना है, उसमें तत्त्वको जाननेकी इच्छा होती है, जिसे जिज्ञासा कहते हैं। वह जिज्ञासा जिसमें होती है, वह जिज्ञासु होता है। गहरा विचार किया जाय तो जिज्ञासा कामना

स्वाभाविकतामें अटल स्थित होनेपर मनुष्य बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं होता अर्थात् जीते-जी शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर दिये जायँ, दो पहाड़ोंके बीचमें शरीर दबकर पिस जाय, शरीरमें तरह-तरहके छेद किये जायँ, शरीरकी चमड़ी उतारी जाय, उबलते हुए तेलमें शरीरको डाला जाय आदि-आदि भयंकर-से-भयंकर दुःखद परिस्थितिके प्राप्त हो जानेपर भी वह अपने स्वरूपसे कभी विचलित नहीं हो सकता।

नहीं है; क्योंकि वह अपने स्वरूपको अर्थात् तत्त्वको जानना चाहता है, जो वास्तवमें उसकी आवश्यकता है। आवश्यकता उसको कहते हैं, जो जरूर पूरी होती है और पूरी होनेपर फिर दूसरी आवश्यकता पैदा नहीं होती*। यह आवश्यकता सत् विषयकी होती है।

दूसरी कामना प्रभु-प्रेमप्राप्तिकी होती है। उसको प्राप्ति तो कहते हैं, पर वास्तवमें वह प्राप्ति अपने लिये नहीं होती, प्रत्युत प्रभुके लिये ही होती है। उसमें अपना किञ्चिन्मात्र प्रयोजन नहीं रहता; प्रभुके समर्पित करना ही प्रयोजन रहता है। प्रेमी तो अपने-आपको प्रभुके समर्पित कर देता है, जो कि उसीका अंश है।†

---

* कामना वह होती है, जो कभी पूरी नहीं होती। एक कामना पूरी होनेपर फिर दूसरी कामना पैदा हो जाती है। जैसे, धनकी कामना हुई। जितना धन चाहता है, उतना धन मिल जाय तो फिर और अधिक धनकी कामना होती है। धनकी तरह ही मान-बड़ाईकी, जीनेकी, भोगकी, नीरोगताकी, यश-कीर्तिकी, स्त्री-पुत्रकी आदि-आदि उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंकी कामना होती है। ये धनादि वस्तुएँ अपनी नहीं हैं; क्योंकि इनमेंसे कोई भी वस्तु स्वयंतक पहुँचती ही नहीं। इनकी कामनापूर्ति केवल शरीर और नामतक ही पहुँचती है। कामना असत्-विषयकी होती है। कामनापूर्तिके बाद फिर और कामना जाग्रत् हो जाती है, तो अपूर्ति ही बाकी रहती है। इस वास्ते कामना त्याज्य है; क्योंकि ये चीजें तो रहेंगी नहीं और उनकी पूर्तिके लिये की हुई कामना और प्रयत्न—ये दोनों ही निष्फल होंगे।

† मुक्तिकी अपेक्षा भक्तिकी कामना श्रेष्ठ है; क्योंकि मुक्तिमें स्वयं मुक्त होना चाहता है और भक्तिमें भगवान्‌के समर्पित होना चाहता है।

उपर्युक्त दोनो ही पारमार्थिक कामनाएँ वास्तवमें कामना नहीं है।

(२) लौकिक कामना—लौकिक कामना भी दो तरहकी होती है—सुख प्राप्त करनेकी और दुःख दूर करनेकी।

शरीरको आराम मिले; जीते-जी मेरा आदर-सत्कार होता रहे और मरनेके बाद मेरा नाम अमर हो जाय, मेरा स्मारक बन जाय, कोई ग्रन्थ बना दे, जिसको लोग देखते रहें, पढते रहे और यह जान जायँ कि ऐसा कोई विलक्षण पुरुष हुआ है; मरनेके बाद स्वर्ग आदिमे भोग भोगते रहे आदि-आदि लौकिक सुख-प्राप्तिकी कामनाएँ होती हैं। ऐसी कामनाओंसे तो वासना ही बढ़ती है, जिससे बन्धन और पतन ही होता है, उद्धार नहीं होता। यह कामना आसुरी-सम्पत्ति है, इस वास्ते यह त्याज्य है।

दूसरी कामना दुःख दूर करनेकी है। दुःख तीन प्रकारके है—आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक।

अतिवृष्टि, अनावृष्टि, शीत, घाम, वायु आदिसे जो दुःख होता है, उसको 'आधिदैविक' कहते हैं। यह दुःख देवताओंके अधिकारसे होता है।

सिंह, साँप, चोर आदि प्राणियोंसे जो दुःख होता है, उसको 'आधिभौतिक' कहते हैं।

तात्पर्य है कि मुक्तिमें लेनेकी इच्छा और भक्तिमें देनेकी इच्छा रहती है। इस वास्ते मुक्तिमें तो सूक्ष्म अहं रहता है, पर भक्तिमें अहं बिल्कुल नहीं रहता।

शरीर और अन्तःकरणको लेकर जो दुःख होता है, वह 'आध्यात्मिक' होता है ।*

इन दुःखोंको दूर करनेकी और सुख प्राप्त करनेकी जो कामना होती है, वह सर्वथा निरर्थक है; क्योंकि उस कामनाकी पूर्ति नहीं होती । पूर्ति हो भी जाती है तो दूसरी नयी कामना पैदा हो जाती है और अन्तमें अपूर्ति ही बाकी रहती है । इस वास्ते इन दोनों कामनाओंकी पूर्ति किसी भी प्राणीकी कभी भी नहीं हुई, न होती है, और न भविष्यमें ही पूरी होनेवाली है ।

इस प्रकारकी लौकिक कामनापूर्तिका किञ्चिन्मात्र भी उद्देश्य न हो, प्रत्युत भगवान्‌में ही प्रेम हो, भक्ति हो—ऐसा पराभक्तिका उद्देश्य रखकर निष्कामभावसे केवल जीवोंके उद्धारके लिये ही भक्तोंमें गीताका कथन करता है, उसके लिये भगवान् कहते हैं कि उसके समान मेरा कोई प्यारा नहीं है और भविष्यमें भी उससे बढ़कर कोई प्यारा नहीं होगा । कारण है कि वह प्राणिमात्रका परम सुहृद् है और भगवान् भी प्राणिमात्रके परम सुहृद् हैं । भगवान्‌को परम सुहृद् जानकर मनुष्य शान्तिको प्राप्त होता है—**'सुहृदं सर्वभूतानां**

* आध्यात्मिक दुःखके दो प्रकार हैं—आधि और व्याधि । मनकी चिन्ता 'आधि' है और शरीरका रोग 'व्याधि' है ।

आधि भी दो तरहकी होती है—(१) पागलपन और (२) चिन्ता, शोक, भय, उद्वेग आदि । पागलपन तो प्रारब्धसे होता है और चिन्ता, शोक आदि अज्ञानसे होते हैं । ज्ञान होनेपर चिन्ता, शोक आदि तो मिट जाते हैं, पर पागलपन हो सकता है ।

ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति' (गीता ५ । २९) । यह तो सर्वसमर्थ और सर्वज्ञ परमात्माकी बात है । परन्तु जो न तो भगवान्‌के समान समर्थ है और न प्राणिमात्रके दुःखको जानता है, अर्थात् सर्वज्ञ है, फिर भी उसके हृदयमें केवल जीवोंके कल्याणकी उत्कट अभिलाषा जाग्रत् हो गयी है और प्राणियोंके कल्याणके लिये भगवद्गीताका कथन करता है—प्रचार करता है । ऐसे उदार भाववाले भक्तको भगवान् अपनी प्राप्ति कराके भी सन्तोष नहीं करते । इस वास्ते भगवान्‌ने उस गीता-प्रचारककी महिमा गायी है ।

सम्बन्ध—

जिसमें गीताका प्रचार करनेकी योग्यता नहीं है, वह क्या करे ? इसको भगवान् अगले श्लोकमें बताते हैं ।

श्लोक—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

व्याख्या—

'**अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः**'—'तुम्हारा और हमारा यह धर्ममय अर्थात् धर्मसे परिपूर्ण संवाद' कहनेका तात्पर्य है कि यह बहुत विचित्र बात है कि परस्पर साथ रहते हुए तुम्हारे-हमारे बहुत वर्ष बीत गये; परन्तु हम दोनोंका ऐसा संवाद कभी नहीं हुआ । ऐसा संवाद तो कोई विलक्षण अलौकिक अवसर आनेपर ही होता है ।

जबतक प्राणीकी संसारसे उकताहट न हो, वैराग्य या उपरति न हो और हृदयमें जोरदार हलचल न मची हो, तबतक उसकी

असली जिज्ञासा जाग्रत् नहीं होती। किसी कारणवश जब यह प्राणी अपने कर्तव्यका निर्णय करनेके लिये व्याकुल हो जाता है, जब अपने कल्याणके लिये कोई रास्ता नहीं दीखता, बिना समाधानके और कोई सांसारिक वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि किञ्चिन्मात्र भी अच्छी नहीं लगती, एकमात्र हृदयका सन्देह दूर करनेकी धुन चटपटी लग जाती है, एक जोरदार जिज्ञासा होती है और दूसरी तरफसे मन सर्वथा हट जाता है; तब यह प्राणी, जहाँसे प्रकाश और समाधान मिलनेकी सम्भावना होती है, वहाँ अपना हृदय खोलकर बात पूछता है, प्रार्थना करता है, शरण हो जाता है, शिष्य हो जाता है।

पूछनेवालेके मनमे जैसी-जैसी उत्कण्ठा बढती है, कहनेवालेके मनमे वैसे-वैसे बड़े विचित्रता और विलक्षणतासे समाधान करनेवाली बाते पैदा होती हैं। जैसे दूध पीनेके समय बछड़ा गायके थनोपर मुँहसे बार-बार धक्का मारता है और थनोसे दूध खींचता है तो गोमाताके शरीरमें रहनेवाला दूध थनोमे एकदम उतर आता है। ऐसे ही मनमे जोरदार जिज्ञासा होनेसे जब जिज्ञासु बार-बार प्रश्न करता है तो कहनेवालेके मनमे नये-नये उत्तर पैदा होते है। सुननेवालेको ज्यो-ज्यो नई बाते मिलती हैं, त्यो-त्यो उसमे सुननेकी नई-नई उत्कण्ठा पैदा होती रहती है। तभी वक्ता और श्रोता—इन दोनोंका संवाद बढ़िया होता है।

अर्जुनने ऐसी उत्कण्ठासे पहले कभी बात नहीं पूछी और भगवान्‌के मनमे भी ऐसी बातें कहनेकी कभी नहीं आयीं। पन्तु जब

अर्जुनने जिज्ञासापूर्वक 'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा.........'(२ । ५४)—यहाँसे पूछना आरम्भ किया, वहींसे उन दोनोंका संवाद आरम्भ हुआ है*। इसमें वेदों तथा उपनिषदोंका सार और भगवान्‌के हृदयका असली भाव है, जिसको धारण करनेसे मनुष्य भयंकर-से-भयंकर परिस्थितिमें भी अपने मनुष्यजन्मके ध्येयको सुगमतापूर्वक सिद्ध कर सकता है। प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थिति आनेपर भी घबराये नहीं, प्रत्युत प्रतिकूल परिस्थितिका आदर करते हुए उसका सदुपयोग करे अर्थात् अनुकूलताकी इच्छाका त्याग करे; क्योंकि प्रतिकूलता पहले किये पापोंका नाश करने और आगे अनुकूलताकी इच्छाका त्याग करनेके लिये ही आती है। अनुकूलताकी इच्छा जितनी ज्यादा होगी, उतनी ही प्रतिकूल अवस्था भयंकर होगी। अनुकूलताकी इच्छाका ज्यों-ज्यों त्याग होता जायगा, त्यों-त्यों अनुकूलताका राग और प्रतिकूलताका भय मिटता जायगा। राग और भय—दोनोंके मिटनेसे समता आ जायगी। समता परमात्माका साक्षात् स्वरूप है। गीतामें समताकी बात विशेषतासे बतायी गयी है और गीताने इसीको योग कहा है। इस प्रकार कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग,

* यद्यपि भगवान्‌का उपदेश दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे प्रारम्भ हुआ है, तथापि भगवान् और अर्जुनका संवाद चौवनवें श्लोकसे ही प्रारम्भ हुआ है। उपदेशके आरम्भमें भगवान्‌ने पहले सांख्ययोगका वर्णन किया, जिसका उपसंहार 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिः' (२ । ३९) पदोंमें किया। फिर 'योगे त्विमां शृणु' (२ । ३९) पदोंसे कर्मयोगका वर्णन आरम्भ किया, जिसका उपसंहार 'तदा योगमवाप्स्यसि' (२ । ५३) पदोंमें किया। इसके बाद अर्जुनने पूछना आरम्भ किया।

प्राणायाम आदिकी विलक्षण-विलक्षण बातोंका इसमे वर्णन हुआ है ।

'अध्येष्यते' का तात्पर्य है कि ऐसा तेरा-मेरा संवाद कोई ज्यो-ज्यो पढ़ेगा, पाठ करेगा, याद करेगा, उसके भावोको समझनेका प्रयास करेगा, त्यो-ही-त्यो उसके हृदयमे तेरी तरह उत्कण्ठा बढ़ेगी । वह ज्यो-ज्यो समझेगा, त्यो-त्यो उसकी शङ्काका समाधान होगा । ज्यो-ज्यो समाधान होगा, त्यो-त्यो इसमें अधिक रुचि पैदा होगी । ज्यों-ज्यो रुचि अधिक पैदा होगी, त्यो-त्यों गहरेभाव उसकी समझमें आयेंगे और फिर वे भाव उसके आचरणोमे, क्रियाओमें, वर्तावमें आने लगेंगे । आदरपूर्वक आचरण करनेसे वह गीताकी मूर्ति बन जायगा, उसका जीवन गीतारूपी साँचेमें ढल जायगा अर्थात् वह चलती-फिरती भगवद्गीता हो जायगी । उसको देखकर लोगोको गीताकी याद आने लगेगी, वैसे ही जैसे निषादराज गुहको देखकर माताओको और दूसरे लोगोको लखनलालकी याद आती है*।

'ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्याम्'—यज्ञ दो प्रकारके होते हैं—द्रव्ययज्ञ और ज्ञानयज्ञ । जो यज्ञ पदार्थ और क्रियाओकी प्रधानतासे किया जाता है, वह 'द्रव्ययज्ञ' कहलाता है; और उत्कण्ठासे केवल अपनी आवश्यक वास्तविकताको जाननेके लिये जो प्रश्न किये जाते हैं, विज्ञ पुरुषोद्वारा उनका समाधान किया

---

* जानि लखन सम देहिं असीसा । जिअहु सुखी सय लाख बरीसा ॥
निरखि निषादु नगर नर नारी । भए सुखी जनु लखनु निहारी ॥
(मानस २ । १९९ । ३)

जाता है, उनपर गहरा विचार किया जाता है, विचारके अनुसार अपनी वास्तविक स्थिति बनायी जाती है तथा वास्तविक तत्त्वको जानकर कृतकृत्य हो जाता है, वह 'ज्ञानयज्ञ' कहलाता है। परंतु यहाँ भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि तुम्हारे-हमारे संवादका कोई पाठ करेगा तो मैं उसके द्वारा भी ज्ञानयज्ञसे पूजित हो जाऊँगा। इसमें कारण यह है कि जैसे प्रेमी भक्तको कोई भगवान्‌की बात सुनाये, उसकी याद दिलाये तो वह बड़ा प्रसन्न होता है, ऐसे ही कोई गीताका पाठ करे, अभ्यास करे तो भगवान्‌को अपने अनन्य भक्तकी, उसकी उत्कण्ठापूर्वक जिज्ञासाकी और उसे दिये हुए उपदेशकी याद आ जाती है और वे बडे प्रसन्न होते हैं। उस पाठ, अभ्यास आदिको ज्ञानयज्ञ मानकर उससे पूजित होते हैं। कारण कि पाठ, अभ्यास आदि करनेवालेके हृदयमें उसके भावोंके अनुसार भगवान्‌का नित्यज्ञान विशेषतासे स्फुरित होने लगता है।

'**इति मे मतिः**'—ऐसी मेरी मति है—यह कहनेका तात्पर्य है कि जब कोई गीताका पाठ करता है तो मै उसको सुनता हूँ; क्योंकि मै सब जगह रहता हूँ—'**मया ततमिदं सर्वम्**' (गीता ९। ४) और सब जगह ही मेरे कान हैं—'**सर्वतःश्रुतिमल्लोके**' (गीता १३। १३)। अतः उस पाठको सुनते ही मेरे हृदयमे विशेषतासे ज्ञान, प्रेम, दया आदिका समुद्र लहराने लगता है और उसकी यादमें मेरी बुद्धि सराबोर हो जाती है। वह पूजन करता है—ऐसी बात नहीं है, वह तो पाठ करता है। परंतु मै उससे पूजित हो जाता हूँ अर्थात् उसको ज्ञानयज्ञका फल मिल जाता है।

दूसरा भाव यह है कि पाठ करनेवाला यदि उतने गहरे भावोंमें नहीं उतरता, केवल पाठमात्र या यादमात्र करता है, तो भी उससे मेरे हृदयमें तेरे और मेरे सारे संवादकी (उत्कण्ठापूर्वक किये गये तेरे प्रश्नोंकी और मेरे दिये हुए गहरे वास्तविक उत्तरोंकी) एक गहरी मीठी-मीठी स्मृति बार-बार आने लगती है । इस प्रकार गीताका अध्ययन करनेवाला मेरी बड़ी भारी सेवा करता है, ऐसा मै मान लेता हूँ और मेरी बुद्धि तत्क्षण वैसी हो जाती है ।

विदेशमें किसी जगह एक जलसा हो रहा था । उसमें बहुत-से लोग इकट्ठे हुए थे । एक पादरी उस जलसेमें एक लड़केको ले आया । वह लड़का पहले नाटकमें काम करता था । पादरीने उसके घरवालोंको पैसे देकर उसको मोल ले लिया था । पादरीने उस लड़केको दस-पन्द्रह मिनटका एक बहुत बढ़िया व्याख्यान सिखाया । साथ ही ढंगसे उठना, बैठना, खडे होना, इधर-उधर ऐसा-ऐसा देखना आदि व्याख्यानकी कला भी सिखायी । व्याख्यानमें बडे ऊँचे दर्जेकी अंग्रेजीका प्रयोग किया गया था । व्याख्यानका विषय भी बहुत गहरा था । पादरीने व्याख्यान देनेके लिये उस बालकको टेबुलपर खड़ा कर दिया । बच्चा खड़ा हो गया और बडे मिजाजसे दायें-बायें देखने लगा और बोलनेकी जैसी-जैसी रिवाज है, वैसे-वैसे सम्बोधन देकर बोलने लगा । वह नाटकमें रहा हुआ था, उसको बोलना आता ही था । इस वास्ते वह गम्भीरतासे, मानो अर्थोंको समझते हुएकी मुद्रामें ऐसा विलक्षण बोला कि जितने सदस्य बैठे थे, वे सब अपनी-अपनी कुर्सियोंपर

उछलने लगे। सदस्य इतने प्रसन्न हुए कि व्याख्यान पूरा होते ही वे रुपयोकी बौछार करने लगे। अब वह बालक सभाके ऊपर-ऊपर ही घुमाया जाने लगा। उसको सब लोग अपने-अपने कन्धेपर लेने लगे। परन्तु उस बालकको यह पता ही नहीं था कि मैने क्या कहा है! वह तो बेचारा ज्यादा पढा-लिखा नहीं था और अंग्रेजीके भावोको भी पूरा नहीं समझता था, पर सभावाले सभी लोग समझते थे। इसी प्रकार कोई गीताका अध्ययन करता है, पाठ करता है, तो वह भले ही उसके अर्थको, भावोको न समझे, पर भगवान् तो उसके अर्थको, भावोंको समझते हैं। इस वास्ते भगवान् कहते हैं कि मै उसके अध्ययनरूप, पाठरूप ज्ञानयज्ञसे पूजित हो जाता हूँ। सभामें जैसे बालकके व्याख्यानसे सभापति तो खुश हुआ ही, पर उसके साथ-साथ सभासद् भी बड़े खुश हुए और उत्साहपूर्वक बच्चेका आदर करने लगे, ऐसे ही गीतापाठ करनेवालेसे भगवान् ज्ञानयज्ञसे पूजित होते हैं तथा स्वयं वहाँ निवास करते हैं, साथ-ही-साथ प्रयाग आदि तीर्थ, देवता, ऋषि, योगी, दिव्य नाग, गोपाल, गोपिकाएँ, नारद, उद्धव आदि भी वहाँ निवास करते हैं *।

---

* गीतायाः पुस्तक यत्र यत्र पाठः प्रवर्तते।
तत्र सर्वाणि तीर्थानि प्रयागादीनि तत्र वै॥
सर्वे देवाश्च ऋषयो योगिनः पन्नगाश्च ये।
गोपाला गोपिका वापि नारदोद्धवपार्षदैः।
सहायो जायते शीघ्र यत्र गीता प्रवर्तते॥
यत्र गीताविचारश्च पठनं पाठनं श्रुतम्।
तत्राह निश्चित पृथ्वि निवसामि सदैव हि॥

सम्बन्ध—

जो गीताका प्रचार और अध्ययन भी न कर सके, तो वह क्या करे ? इसके लिये अगले श्लोकमें उपाय बताते है ।

श्लोक—

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ ७१ ॥

व्याख्या—

'श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः'—गीताकी बातोंको जैसा सुन ले, उसको प्रत्यक्षसे भी बढकर पूज्यभावसहित वैसा-का-वैसा माननेवालेका नाम **'श्रद्धावान्'** है, और उन बातोंमे कहीं भी किसी भी विषयमें किञ्चिन्मात्र भी कमी न देखनेवालेका नाम **'अनसूयः'** है । ऐसा श्रद्धावान् और दोषदृष्टिसे रहित पुरुष गीताको केवल सुन भी ले, तो वह भी सम्पूर्ण पापोसे मुक्त होकर पुण्यकारियोंके शुभ लोकोको प्राप्त कर लेता है—**'सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम्'** ।

यहाँ दो वार 'अपि' पद देनेका तात्पर्य है कि जो गीताका प्रचार करता है, अध्ययन करता है, उसके लिये तो कहना ही क्या है ! पर जो सुन भी लेता है, वह पुरुष भी पापोसे छूटकर शुभ लोकोको प्राप्त हो जाता है ।

मनुष्यकी वाणीमें प्रायः भ्रम, प्रमाद, लिप्सा और करणापाटव—ये चार दोष होते हैं* । अतः मनुष्यकी वाणी सर्वथा

* (१) वक्ता जिस विषयका प्रतिपादन करते है, उस विषयमें वह विल्कुल निःसन्देह न हो, उसे 'भ्रम' कहते हैं; (२) वक्ता विवेचनमे

निर्भ्रान्त (भ्रान्तिरहित) नहीं हो सकती। परंतु भगवान्‌की दिव्य वाणीमें इन चारोंमेंसे कोई भी दोष नहीं रह सकता; क्योंकि भगवान् निर्दोषताकी परावधि हैं अर्थात् भगवान्‌से बढ़कर निर्दोषता किसीमें कभी होती ही नहीं। इस वास्ते भगवान्‌के वचनोंमें किसी प्रकारके संशयकी सम्भावना ही नहीं है। अतः गीता सुननेवालेको कोई विषय समझमें कम आये, विचारद्वारा कोई बात न जँचे, तो समझना चाहिये कि इस विषयको समझनेमें मेरी बुद्धिकी कमी है, मैं समझ नहीं पा रहा हूँ—इस भावको दृढ़तासे धारण करनेपर असूया दोष मिट जाता है। भगवान्‌में अत्यधिक श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भक्ति होनेपर भी असूया दोष नहीं रहता।

चैतन्य महाप्रभुका एक भक्त था। वह रोज गीताका पाठ करते हुए मस्त हो जाता था, गद्‌गद हो जाता था और रोने लगता था। वह शुद्ध पाठ नहीं करता था, उसके पाठमें अशुद्धियाँ आती थीं। उसके विषयमें किसीने चैतन्य महाप्रभुसे शिकायत कर दी कि 'देखिये प्रभु, वह बड़ा पाखण्ड करता है; पाठ तो शुद्ध करता नहीं और रोता रहता है।' चैतन्य महाप्रभुने उसको अपने पास बुलाकर

आलस्य, उपेक्षा, उदासीनता, तत्परताकी कमी, लोग समझें या न समझें—इसकी बेपरवाह करता है, उसे 'प्रमाद' कहते हैं; (३) वक्ताकी रुपये-पैसे, मान-बड़ाई, आदर-सत्कार, सुख-आराम आदि लौकिक-पारलौकिक कुछ भी पानेकी इच्छा है, उसे 'लिप्सा' कहते हैं; और (४) वक्ता जिन इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, वाणी आदिसे अपने भाव प्रकट करता है, उन करणोंमें पटुता, कुशलता नहीं है और वह श्रोताकी भाषा, भाव, योग्यताको नहीं जानता, उसे 'करणापाटव' कहते हैं।

पूछा—'तुम गीताका पाठ करते हो, तो क्या उसका अर्थ जानते हो?' उसने कहा—'नहीं प्रभु!' फिर पूछा—'तो फिर तुम रोते क्यों हो?' उसने कहा—'मैं जब **'अर्जुन उवाच'** पढ़ता हूँ, तो अर्जुन भगवान्से पूछ रहे हैं—ऐसा मेरेको प्रत्यक्ष दीखता है और जब मैं **'श्रीभगवानुवाच'** पढ़ता हूँ, तो भगवान् अर्जुनके प्रश्नोंका उत्तर दे रहे हैं—ऐसा मेरेको प्रत्यक्ष दीखता है। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनका आपसमें संवाद हो रहा है—ऐसा प्रत्यक्ष दीखता है; परन्तु अर्जुन क्या पूछते हैं और भगवान् क्या उत्तर देते हैं, यह मेरी समझमें नहीं आता। मैं तो उन दोनोंके दर्शन कर-करके राजी होता हूँ।' उसकी ऐसी श्रद्धा-भक्ति देखकर चैतन्य महाप्रभु बहुत राजी हुए। इस प्रकारकी श्रद्धा-भक्तिवाला पुरुष गीताको केवल सुन भी लेता है, तो उसकी मुक्तिमें कोई सन्देह नहीं है। वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होकर पुण्यकारियोंके शुभ लोकोंको प्राप्त हो जाता है।

यहाँ **'पुण्यकर्मणाम्'** पदसे सकामभावपूर्वक यज्ञ, अनुष्ठान आदि पुण्य-कर्म करनेवालोंको नहीं लेना चाहिये; क्योंकि भगवान्ने उनको ऊँचा नहीं माना है, प्रत्युत उनके बारेमें कहा है कि वे बार-बार आवागमनको प्राप्त होते हैं।* यहाँ उन पुण्यकर्मा भक्तोंको लेना चाहिये, जिनको भगवान्का प्रेम, दर्शन आदिकी प्राप्ति होती है।

* त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥
(गीता ९। २०-२१)

ऐसे पुण्यकर्मा भक्तोंको अपने-अपने इष्टके अनुसार वैकुण्ठ, साकेत, गोलोक, कैलास आदि जिन दिव्य लोकोंकी प्राप्ति होती है, असूया दोषरहित श्रद्धावान् पुरुषको गीता सुननेमात्रसे उन लोकोंकी प्राप्ति हो जाती है ।

सम्बन्ध—

पिछले श्लोकमें गीता सुननेका माहात्म्य बताकर अब अर्जुनकी क्या स्थिति है, क्या दशा है आदि सब कुछ जानते हुए भी भगवान् भगवद्गीता-श्रवणके माहात्म्यको सबके सामने प्रकट करनेके उद्देश्यसे अगले श्लोकमें अर्जुनसे प्रश्न करते हैं ।

श्लोक—

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥ ७२ ॥

व्याख्या—

'कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा'—'एतत्' शब्द अत्यन्त समीपका वाचक होता है और यहाँ अत्यन्त समीप इकहत्तरवाँ श्लोक है । उनहत्तरवें-सत्तरवे श्लोकोंमें जो गीताका प्रचार और अध्ययन करनेवालेकी महिमा कही है, उस प्रचार और अध्ययनका तो अर्जुनके सामने कोई प्रश्न ही नहीं था । इस वास्ते पिछले (इकहत्तरवे) श्लोकका लक्ष्य करके भगवान् अर्जुनसे मानो कह रहे है कि श्रद्धापूर्वक और दोषदृष्टिरहित होकर गीता सुने—यह बात तुमने ध्यानपूर्वक सुनी कि नहीं ? अर्थात् तुमने श्रद्धापूर्वक और दोषदृष्टिरहित होकर गीता सुनी कि नहीं ?

'एकाग्रेण चेतसा' कहनेका तात्पर्य है कि गीतामें भी जिस अत्यन्त गोपनीय रहस्यको अभी पहले चौसठवें श्लोकमें कहनेकी प्रतिज्ञा की, सड़सठवें श्लोकमें 'इदं ते नातपस्काय' कहकर निषेध किया और मेरे वचनोंमें जिसको मैंने परम वचन कहा, उस सर्वगुह्यतम शरणागतिकी बात (१८ । ६६) को तुमने ध्यानपूर्वक सुना कि नहीं ? उसपर ख्याल किया कि नहीं ? अश्रद्धा और दोषदृष्टिसे रहित होकर गीता सुननेसे स्वतः शरणागतिपर लक्ष्य जाता है ।

'कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय'—भगवान् दूसरा प्रश्न करते हैं कि तुम्हारा अज्ञानसे उत्पन्न हुआ मोह नष्ट हुआ कि नहीं ? अगर मोह नष्ट हो गया तो तुमने मेरा उपदेश सुन लिया और अगर मोह नष्ट नहीं हुआ तो तुमने मेरा यह रहस्यमय उपदेश एकाग्रतासे सुना ही नहीं; क्योंकि यह एकदम पक्का नियम है कि जो दोषदृष्टिसे रहित होकर श्रद्धापूर्वक गीताके उपदेशको सुनता है, उसका मोह नष्ट हो ही जाता है ।

'पार्थ' सम्बोधन देकर भगवान् अपनेपनसे, बहुत प्यारसे पूछ रहे हैं कि तुम्हारा मोह नष्ट हुआ कि नहीं ? पहले अध्यायके पचीसवें श्लोकमें भी भगवान्‌ने अर्जुनको सुननेके उन्मुख करनेके लिये 'पार्थ' (पृथा यानी कुन्तीका पुत्र) सम्बोधन देकर सबसे प्रथम अपनी जबान खोली और कहा कि हे पार्थ ! युद्धके लिये इकट्ठे हुए इन कुटुम्बियोंको देखो—

उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥

ऐसा कहनेका तात्पर्य यह था कि अर्जुनके अन्तःकरणमें छिपा हुआ जो कौटुम्बिक मोह है, वह जाग्रत् हो जाय और उस मोहसे छूटनेके लिये उसको चटपटी लग जाय, जिससे वह केवल मेरे सम्मुख होकर सुननेके लिये तत्पर हो जाय। अब यहाँ उसी मोहके दूर होनेकी बातका उपसंहार करते हुए भगवान् **'पार्थ'** सम्बोधन देते हैं।

'धनंजय' सम्बोधन देकर भगवान् कहते हैं कि तुम लौकिक धनको लेकर धनंजय (राजाओंके धनको जीतनेवाले) बने हो। अब इस वास्तविक तत्त्वरूप धनको प्राप्त करके अपने मोहका नाश कर लो और सच्चे अर्थमें 'धनंजय' बन जाओ।

सम्बन्ध—

साधक जब भगवान्‌के सर्वथा शरण हो जाता है, तब वह शरण्यसे अभिन्न होकर उसीका स्वरूप हो जाता है। ऐसे शरणागतके जीवनमें जो कुछ भी होता है, वह सब शरण्यका किया हुआ ही होता है—इस बातको अब प्रकटरूपसे भगवत्स्वरूप अर्जुनके मुखसे कहलानेके लिये अगला श्लोक कहलाते हैं।

श्लोक—

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

व्याख्या—

दूसरे अध्यायमें अर्जुनने **'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'** (२ । ७) कहकर भगवान्‌की शरणागति स्वीकार की थी । यहाँ (उपर्युक्त श्लोकमें) उस शरणागतिकी पूर्णता होती है ।*

दसवें अध्यायके अन्तमें भगवान्‌ने अर्जुनसे यह कहा कि 'तेरेको बहुत जाननेकी क्या जरूरत है, मै सम्पूर्ण संसारको एक अंशमें व्याप्त करके स्थित हूँ !' भगवान्‌की इस बातको सुनते ही अर्जुनके मनमें एक विशेष भाव पैदा हुआ कि भगवान् कितने विलक्षण हैं । भगवान्‌की विलक्षणताकी ओर लक्ष्य जानेसे अर्जुनको एक प्रकाश मिला । उस प्रकाशकी प्रसन्नतामें अर्जुनके मुखसे यह बात निकली कि 'मेरा मोह चला गया'—**'मोहोऽयं विगतो मम'** (११ । १) । परन्तु भगवान्‌के विराट्‌रूपको देखकर जब अर्जुनके हृदयमें भयके कारण हलचल पैदा हो गयी, तब भगवान्‌ने कहा कि यह तुम्हारा मूढ़भाव है, तुम व्यथित और मोहित मत होओ— **'मा ते व्यथा मा च विमूढभावः'** (११ । ४९) । इससे सिद्ध होता है कि अर्जुनका मोह तब नष्ट नहीं हुआ था । अब यहाँ सर्वज्ञ भगवान्‌के पूछनेपर भगवान्‌से सर्वथा अभिन्न हुए अर्जुन कह रहे हैं कि मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे तत्त्वकी स्मृति प्राप्त हो गयी है— **'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा ।'**

---

* इसका विस्तृत विवेचन इसी पुस्तकके अन्तमें 'गीता-परिमाण और पूर्ण शरणागति' शीर्षकके अन्तर्गत देखना चाहिये ।

'अविद्या' होती है। परंतु परमात्मा अविद्यासे रहित है। इस वास्ते परमात्माकी स्मृति 'स्वयं' से ही होती है, वृत्ति या करणसे नहीं। जब परमात्माकी स्मृति जाग्रत् होती है, तो फिर उसकी कभी विस्मृति नहीं होती, जब कि अन्तःकरणकी वृत्तिमें स्मृति और विस्मृति—दोनों होती हैं।

परमात्मतत्त्वकी विस्मृति या भूल तो असत् संसारको सत्ता और महत्ता देनेसे ही हुई है। यह विस्मृति अनादिकालसे है। अनादिकालसे होनेपर भी इसका अन्त हो जाता है। जब इसका अन्त हो जाता है और अपने स्वरूपकी स्मृति जगती है तो इसको **'स्मृतिर्लब्धा'** कहते है अर्थात् असत्‌के सम्बन्धके कारण जो स्मृति सुषुप्तिरूपसे थी, वह जाग्रत् हो गयी। जैसे एक आदमी सोया हुआ है और एक मुर्दा पड़ा हुआ है—इन दोनोंमें महान् अन्तर है, ऐसे ही अन्तःकरणकी स्मृति-विस्मृति दोनो ही मुर्देकी तरह जड़ है, पर स्वरूपकी स्मृति सुषुप्त है, जड़ नहीं। केवल जड़का आदर करनेसे सोये हुएकी तरह ऊपरसे वह स्मृति लुप्त रहती है अर्थात् आवृत रहती है। उस आवरणके न रहनेपर उस स्मृतिका प्राकट्य हो जाता है तो उसे **'स्मृतिर्लब्धा'** कहते है अर्थात् पहलेसे जो तत्त्व मौजूद है, उसका प्रकट होना **'स्मृति'** है, और आवरण हटनेका नाम **'लब्धा'** है।

साधकोंकी रुचिके अनुसार उसी स्मृतिके तीन भेद हो जाते हैं—(१) कर्मयोग अर्थात् निष्कामभावकी स्मृति, (२) ज्ञानयोग अर्थात् अपने स्वरूपकी स्मृति और (३) भक्तियोग अर्थात् भगवान्-

के सम्बन्धकी स्मृति । इस प्रकार इन तीनो योगोकी स्मृति जाग्रत् हो जाती है; क्योंकि ये तीनों योग स्वतःसिद्ध और नित्य हैं । ये तीनों योग जब वृत्तिके विषय होते हैं, तब ये साधन कहलाते हैं; परंतु स्वरूपसे ये तीनों नित्य हैं । इस वास्ते नित्यकी प्राप्तिको स्मृति कहते है । तात्पर्य यह हुआ कि इन साधनोकी विस्मृति हुई है, अभाव नहीं हुआ है ।

असत् संसारके पदार्थोंको आदर देनेसे अर्थात् इनको सत्ता और महत्ता देनेसे राग पैदा हुआ—यह 'कर्मयोग'की विस्मृति (आवरण) है । असत् पदार्थोंके सम्बन्धसे अपने स्वरूपकी विमुखता हुई अर्थात् अज्ञान हुआ—यह 'ज्ञानयोग'की विस्मृति है । अपना स्वरूप साक्षात् परमात्माका अंश है । इस परमात्मासे विमुख होकर संसारके सम्मुख हो गया, जिससे संसारमें आसक्ति हो गयी । उस आसक्तिसे प्रेम ढक गया—यह 'भक्तियोग'की विस्मृति है ।

स्वरूपकी विस्मृति अर्थात् विमुखताका नाश होना यहाँ 'स्मृति' है । उस स्मृतिका प्राप्त होना अप्राप्तका प्राप्त होना नहीं है, प्रत्युत नित्यप्राप्तका प्राप्त होना है । नित्य स्वरूपकी प्राप्ति होनेपर फिर उसकी विस्मृति होना सम्भव नहीं है; क्योंकि स्वरूपमें कभी परिवर्तन हुआ नहीं । वह सदा निर्विकार और एकरस रहता है । परन्तु वृत्तिरूप स्मृतिकी विस्मृति हो सकती है; क्योंकि वह प्रकृतिका कार्य होनेसे परिवर्तनशील है ।

इन सबका तात्पर्य यह हुआ कि संसार तथा शरीरके साथ अपने स्वरूपको मिला हुआ समझना 'विस्मृति' है और संसार तथा शरीरसे

अन्तःकरणकी स्मृति और तत्त्वकी स्मृतिमें बड़ा अन्तर है। प्रमाणसे प्रमेयका ज्ञान होता है*; परन्तु परमात्मतत्त्व अप्रमेय है। इस वास्ते प्रमाण परमात्माको व्याप्त नहीं करता अर्थात् परमात्मा प्रमाणके अन्तर्गत आनेवाला तत्त्व नहीं है। परन्तु संसार सब-का-सब प्रमाणके अन्तर्गत आनेवाला है और प्रमाण प्रमाताके अन्तर्गत आनेवाला है।†

---

* हमें जो संसारका ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंके द्वारा ही होता है; क्योंकि संसार विवेक-विचारका विषय है। परन्तु जो विवेक-विचारका विषय नहीं है, प्रत्युत विवेक-विचारका प्रकाशक है, उसको विवेक-विचारद्वारा नहीं जान सकते। कारण कि जो वस्तु प्रकाश्य होती है, वह प्रकाशकको प्रकाशित करनेमें असमर्थ होती है। इस वास्ते जो सबका प्रकाशक और आश्रय है, वह परमात्मतत्त्व श्रद्धा-विश्वासका विषय है, विचारका नहीं।

जिन लोगोंकी शास्त्रोंपर श्रद्धा होती है, वे शास्त्रोंसे परमात्माको मान लेते हैं अथवा जिनकी तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त अनुभवी भगवत्प्रेमी सन्त-महापुरुषोंपर श्रद्धा होती है, वे उनके वचनोंसे परमात्माको मान लेते हैं, स्वीकार कर लेते हैं। इसमें उनका अन्तःकरण और इन्द्रियाँ प्रमाण नहीं हैं। इसमे तो शास्त्र और सन्त-महापुरुष ही प्रमाण हैं। जो श्रद्धालु और आस्तिक हैं, उनके लिये तो शास्त्र और सन्त-महापुरुष प्रमाण हो सकते हैं, पर जो अश्रद्धालु और नास्तिक हैं, उनके लिये शास्त्र और सन्त-महापुरुष प्रमाण कैसे हो सकते हैं? तात्पर्य यह हुआ कि इन्द्रियों और अन्तःकरणका जो विषय है, वह तो प्रत्यक्ष प्रमाण है और अनुमान आदि जो प्रमाण है, वे प्रत्यक्षमूलक युक्ति-प्रमाण हैं। परन्तु संत-महापुरुष और शास्त्र-प्रमाणमे तो केवल श्रद्धा ही मुख्य हेतु है।

† जिससे जाना जाता है, वह 'प्रमाण' होता है; जिसका ज्ञान होता है, वह 'प्रमेय' होता है; और जो जाननेवाला है, वह 'प्रमाता' होता है अर्थात् इन्द्रियाँ एवं अन्तःकरण 'प्रमाण' हैं, संसार 'प्रमेय' है और स्वयं (चेतन) 'प्रमाता' है।

प्रमाता एक होता है और प्रमाण अनेक होते हैं। प्रमाणोंके बारेमें कई प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम—ये तीन मुख्य प्रमाण मानते हैं; कई प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द—ये चार प्रमाण मानते हैं; और कई इन चारोंके सिवाय अर्थापत्ति, अनुपलब्धि और ऐतिह्य—ये तीन प्रमाण और भी मानते हैं। इस प्रकार प्रमाणोंके माननेमें अनेक मतभेद हैं; परन्तु प्रमाताके विषयमें किसीका कोई मतभेद नहीं है। ये प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण वृत्तिरूप होते हैं; परन्तु प्रमाता वृत्तिरूप नहीं होता, वह तो स्वयं अनुभवरूप होता है।

अब इस 'स्मृति' शब्दकी जहाँ व्याख्या की गयी है, वहाँ उसके ये लक्षण बताये हैं—

(१) **अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः।** (योगदर्शन १। ११)

'अनुभूत विषयका न छिपना अर्थात् प्रकट हो जाना स्मृति है।'

(२) **संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः।** (तर्कसंग्रह)

'संस्कारमात्रसे जन्य हो और ज्ञान हो, उसको स्मृति कहते हैं।'

यह स्मृति अन्तःकरणकी एक 'वृत्ति' है। यह वृत्ति प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति—पाँच प्रकारकी होती है, तथा हर प्रकारकी वृत्तिके दो भेद होते हैं—क्लिष्ट और अक्लिष्ट। संसारकी वृत्तिरूप स्मृति 'क्लिष्ट' होती है अर्थात् बाँधनेवाली होती है, और भगवत्सम्बन्धी वृत्तिरूप स्मृति 'अक्लिष्ट' होती है अर्थात् क्लेशको दूर करनेवाली होती है। इन सब वृत्तियोंका कारण

'अविद्या' होती है। परंतु परमात्मा अविद्यासे रहित है। इस वास्ते परमात्माकी स्मृति 'स्वयं' से ही होनी है, वृत्ति या करणसे नहीं। जब परमात्माकी स्मृति जाग्रत् होती है, तो फिर उसकी कभी विस्मृति नहीं होती, जब कि अन्तःकरणकी वृत्तिमें स्मृति और विस्मृति—दोनों होती हैं।

परमात्मतत्त्वकी विस्मृति या भूल तो असत् संसारको सत्ता और महत्ता देनेसे ही हुई है। यह विस्मृति अनादिकालसे है। अनादिकालसे होनेपर भी इसका अन्त हो जाता है। जब इसका अन्त हो जाता है और अपने स्वरूपकी स्मृति जगती है तो इसको **'स्मृतिर्लब्धा'** कहते हैं अर्थात् असत्के सम्बन्धके कारण जो स्मृति सुषुप्तिरूपसे थी, वह जाग्रत् हो गयी। जैसे एक आदमी सोया हुआ है और एक मुर्दा पड़ा हुआ है—इन दोनोंमें महान् अन्तर है, ऐसे ही अन्तःकरणकी स्मृति-विस्मृति दोनो ही मुर्देकी तरह जड़ हैं, पर स्वरूपकी स्मृति सुषुप्त है, जड़ नहीं। केवल जड़का आदर करनेसे सोये हुएकी तरह ऊपरसे वह स्मृति लुप्त रहती है अर्थात् आवृत रहती है। उस आवरणके न रहनेपर उस स्मृतिका प्राकट्य हो जाता है तो उसे **'स्मृतिर्लब्धा'** कहते है अर्थात् पहलेसे जो तत्त्व मौजूद है, उसका प्रकट होना **'स्मृति'** है, और आवरण हटनेका नाम **'लब्धा'** है।

साधकोंकी रुचिके अनुसार उसी स्मृतिके तीन भेद हो जाते हैं—(१) कर्मयोग अर्थात् निष्कामभावकी स्मृति, (२) ज्ञानयोग अर्थात् अपने स्वरूपकी स्मृति और (३) भक्तियोग अर्थात् भगवान्-

के सम्बन्धकी स्मृति । इस प्रकार इन तीनो योगोंकी स्मृति जाग्रत् हो जाती है; क्योंकि ये तीनों. योग स्वतःसिद्ध और नित्य हैं । ये तीनों योग जब वृत्तिके विषय होते हैं, तब ये साधन कहलाते हैं; परंतु स्वरूपसे ये तीनों नित्य हैं । इस वास्ते नित्यकी प्राप्तिको स्मृति कहते हैं । तात्पर्य यह हुआ कि इन साधनोंकी विस्मृति हुई है, अभाव नहीं हुआ है ।

असत् संसारके पदार्थोंको आदर देनेसे अर्थात् इनको सत्ता और महत्ता देनेसे राग पैदा हुआ—यह 'कर्मयोग'की विस्मृति (आवरण) है । असत् पदार्थोंके सम्बन्धसे अपने स्वरूपकी विमुखता हुई अर्थात् अज्ञान हुआ—यह 'ज्ञानयोग'की विस्मृति है । अपना स्वरूप साक्षात् परमात्माका अंश है । इस परमात्मासे विमुख होकर संसारके सम्मुख हो गया, जिससे संसारमें आसक्ति हो गयी । उस आसक्तिसे प्रेम ढक गया—यह 'भक्तियोग'की विस्मृति है ।

स्वरूपकी विस्मृति अर्थात् विमुखताका नाश होना यहाँ 'स्मृति' है । उस स्मृतिका प्राप्त होना अप्राप्तका प्राप्त होना नहीं है, प्रत्युत नित्यप्राप्तका प्राप्त होना है । नित्य स्वरूपकी प्राप्ति होनेपर फिर उसकी विस्मृति होना सम्भव नहीं है; क्योंकि स्वरूपमें कभी परिवर्तन हुआ नहीं । वह सदा निर्विकार और एकरस रहता है । परन्तु वृत्तिरूप स्मृतिकी विस्मृति हो सकती है; क्योंकि वह प्रकृतिका कार्य होनेसे परिवर्तनशील है ।

इन सबका तात्पर्य यह हुआ कि संसार तथा शरीरके साथ अपने स्वरूपको मिला हुआ समझना 'विस्मृति' है और संसार तथा शरीरसे

अलग होकर अपने स्वरूपका अनुभव करना 'स्मृति' है। अपने स्वरूपकी स्मृति स्वयंसे होती है। इसमें करण आदिकी अपेक्षा नहीं होती; जैसे—मनुष्यको अपने होनेपनका जो ज्ञान होता है, उसमें किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं होती। जिसमें करण आदिकी अपेक्षा होती है, वह स्मृति अन्तःकरणकी एक वृत्ति ही है।

स्मृति तत्काल प्राप्त होती है। इसकी प्राप्तिमे देरी अथवा परिश्रम नहीं है। कर्ण कुन्तीके पुत्र थे। परंतु जन्मके बाद जब कुन्तीने उनका त्याग कर दिया, तब अधिरथ नामक सूतकी पत्नी राधाने उनका पालन-पोषण किया। इससे वे राधाको ही अपनी माँ मानने लगे। जब सूर्यदेवसे उनको यह पता लगा कि वास्तवमें मेरी माँ कुन्ती है, तो उनको स्मृति प्राप्त हो गयी। अब 'मैं कुन्तीका पुत्र हूँ'—ऐसी स्मृति प्राप्त होनेमें कितना समय लगा? कितना परिश्रम या अभ्यास करना पड़ा? कितना जोर आया? पहले उधर लक्ष्य नहीं था, अब उधर लक्ष्य हो गया—केवल इतनी ही बात है।

स्वरूप निष्काम है, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है और भगवान्‌का है। स्वरूपकी विस्मृति अर्थात् विमुखतासे ही जीव सकाम, बद्ध और सांसारिक होता है। ऐसे स्वरूपकी स्मृति वृत्तिकी अपेक्षा नहीं रखती अर्थात् अन्तःकरणकी वृत्तिसे स्वरूपकी स्मृति जाग्रत् होना सम्भव नहीं है। स्मृति तभी जगेगी, जब अन्तःकरणसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होगा। स्मृति अपने ही द्वारा अपने-आपमें जाग्रत् होती है। इस वास्ते स्मृतिकी प्राप्तिके लिये किसीके सहयोगकी या अभ्यासकी जरूरत नहीं है। कारण कि जड़ताकी सहायताके बिना

अभ्यास नहीं होता, जबकि स्वरूपके साथ जड़ताका लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। स्मृति अनुभवसिद्ध है, अभ्याससाध्य नहीं है। इस वास्ते एक बार स्मृति जाग्रत् होनेपर फिर उसकी पुनरावृत्ति नहीं करनी पड़ती।

स्मृति भगवान्‌की कृपासे जाग्रत् होती है। कृपा होती है भगवान्‌के सम्मुख होनेसे, और भगवान्‌की सम्मुखता होती है संसार-मात्रसे विमुख होनेपर। जैसे अर्जुनने कहा कि मैं केवल आपकी आज्ञाका ही पालन करूँगा—**'करिष्ये वचनं तव'**, ऐसे ही संसार-का आश्रय छोड़कर केवल भगवान्‌के शरण होकर कह दे कि हे नाथ! अब मैं केवल आपकी आज्ञाका ही पालन करूँगा।

'त्वत्प्रसादात् मयाच्युत'—अर्जुन कह रहे हैं कि आपने विशेषतासे जो सर्वगुह्यतम तत्त्व बतलाया, उसकी मुझे विशेषतासे स्मृति आ गयी कि मैं आपका ही था, आपका ही हूँ और आपका ही रहूँगा। यह जो स्मृति आ गयी है, यह मेरी एकाग्रतासे सुननेकी प्रवृत्तिसे नहीं आयी है अर्थात् यह मेरे एकाग्रतासे सुननेका फल नहीं है, प्रत्युत यह स्मृति तो आपकी कृपासे ही आयी है।

तात्पर्य है कि इस स्मृतिकी लब्धिमें साधककी सम्मुखता और भगवान्‌की कृपा ही कारण है। इस वास्ते अर्जुनने स्मृतिके प्राप्त होनेमें केवल भगवान्‌की कृपाको ही माना है। भगवान्‌की कृपा तो मात्र प्राणियोंपर अपार-अटूट-अखण्डरूपसे है। जब प्राणी भगवान्‌के सम्मुख हो जाता है, तब उसको उस कृपाका अनुभव हो जाता है—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं । जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं ॥
(मानस ५ । ४३ । १)

'त्वत्प्रसादात्' का तात्पर्य है कि मैंने एकाग्रतासे गीता सुनी और उससे मेरा मोह नष्ट हुआ—ऐसा मै नहीं मानता हूँ । मै तो केवल आपकी कृपा ही मानता हूँ; क्योंकि पहले मैंने शरण होकर शिक्षा देनेकी प्रार्थना की थी, और फिर यह कहा था कि मै युद्ध नहीं करूँगा । परंतु मेरेको जबतक वास्तविकताका बोध नहीं हुआ, तबतक आप मेरे पीछे पडे ही रहे । इसमें तो आपकी कृपा ही कारण है । मेरेको जैसा सम्मुख होना चाहिये, वैसा मै सम्मुख नहीं हुआ हूँ; परंतु आपने बिना कारणके मेरेपर कृपा की अर्थात् मेरेपर कृपा करनेके लिये आप अपनी कृपाके परवश हो गये, वशीभूत हो गये और बिना पूछे ही आपने शरणागतिकी सर्वगुह्यतम बात कह दी (१८ । ६४—६६) । उसी अहैतुकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हुआ है ।

अर्जुनने यहाँ भगवान्‌के लिये **'अच्युत'** सम्बोधनका प्रयोग किया है । इसका तात्पर्य है कि जीव तो च्युत हो जाता है अर्थात् अपने स्वरूपसे विमुख हो जाता है तथा पतनकी तरफ चला जाता है; परंतु भगवान् कभी भी च्युत नहीं होते । वे सदा एकरस रहते हैं । इसी बातका द्योतन करनेके लिये गीतामें अर्जुनने कुल तीन बार **'अच्युत'** सम्बोधन दिया है । पहली बार (गीता १ । २१ में) **'अच्युत'** सम्बोधनसे अर्जुनने भगवान्‌से कहा कि दोनों सेनाओंके बीचमें मेरा रथ खड़ा करो । ऐसी आज्ञा देनेपर भी

भगवान्‌के कोई फरक नहीं पड़ा। दूसरी बार (११ । ४२में) इस सम्बोधनसे अर्जुनने भगवान्‌के विश्वरूपकी स्तुति-प्रार्थना की, तो भगवान्‌के कोई फरक नहीं पड़ा। अन्तिम बार यहाँ (१८ । ७३ में) इस सम्बोधनसे अर्जुन सन्देहरहित होकर कहते हैं कि अब मै आपकी आज्ञाका पालन करूँगा, तो भगवान्‌के कोई फरक नहीं पड़ा। तात्पर्य यह हुआ कि अर्जुनकी तो आदि, मध्य और अन्तमें तीन प्रकारकी अवस्था हुई, पर भगवान् आदि, मध्य और अन्तमें एकरस ही बने रहे।

'**स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव**'—अर्जुन कहते हैं कि मूलमें मेरा जो यह सन्देह था कि युद्ध करूँ या न करूँ ('**न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयः**' २ । ६), वह मेरा सन्देह सर्वथा नष्ट हो गया है और मै अपनी वास्तविकतामें स्थित हूँ। वह सन्देह ऐसा नष्ट हो गया है कि न तो युद्ध करनेकी मनमें रही और न युद्ध न करनेकी ही मनमें रही। अब तो यही एक मनमें रही है कि आप जैसा कहो, वैसा मै करूँ अर्थात् अब तो बस, आपकी आज्ञाका ही पालन करूँगा—'**करिष्ये वचनं तव**'। अब मेरेको युद्ध करने अथवा न करनेसे किसी तरहका किञ्चिन्मात्र भी प्रयोजन नहीं है। अब तो आपकी आज्ञाके अनुसार लोकसंग्रहार्थ युद्ध आदि जो कर्तव्य-कर्म होगा, वह करूँगा।

अब एक ध्यान देनेकी बात है कि पहले कुटुम्बका स्मरण होनेसे अर्जुनको मोह हुआ था। उस मोहके वर्णनमें भगवान्‌ने यह प्रक्रिया बतायी थी कि विषयोंके चिन्तनसे आसक्ति, आसक्तिसे

कामना, कामनासे क्रोध, क्रोधसे मोह, मोहसे स्मृतिभ्रंश, स्मृतिभ्रंशसे बुद्धिनाश और बुद्धिनाशसे पतन होता है* । अर्जुन भी यहाँ उसी प्रक्रियाको याद दिलाते हुए कहते है कि मेरा मोह नष्ट हो गया है, और मोहसे जो स्मृति भ्रष्ट होती है, वह स्मृति मिल गयी है—**'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा'** । स्मृति नष्ट होनेसे बुद्धिनाश हो जाता है, इसके उत्तरमें अर्जुन कहते हैं कि मेरा सन्देह चला गया है—**'गतसन्देहः'** । बुद्धिनाशसे पतन होता है, उसके उत्तरमें कहते हैं कि मै अपनी स्वाभाविक स्थितिमें स्थित हूँ—**'स्थितोऽस्मि'** । इस प्रकार उस प्रक्रियाको बतानेमें अर्जुनका तात्पर्य है कि मैंने आपके मुखसे ध्यानपूर्वक गीता सुनी है, तभी तो आपने सम्मोहका कहाँ प्रयोग किया है और सम्मोहकी परम्परा कहाँ कही है, वह भी मेरेको याद है । परंतु मेरे मोहका नाश होनेमें तो आपकी कृपा ही कारण है ।

यद्यपि वहाँका और यहाँका—दोनो विषय भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं; क्योंकि वहाँ विषयोंके चिन्तन करने आदि क्रमसे सम्मोह होनेकी बात है और यहाँ सम्मोह मूल अज्ञानका वाचक है, फिर भी गहरा विचार किया जाय तो भिन्नता नहीं दीखेगी । वहाँका विषय ही यहाँ है ।

---

* ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥
(गीता २ । ६२-६३)

दो तरहके प्राणी होते हैं—(१) आसुरी-सम्पत्तिवाले और (२) दैवी-सम्पत्तिवाले। भोग और ऐश्वर्यको चाहनेवाले आसुरी-सम्पत्तिवाले कहलाते है और परमात्माकी तरफ चलनेवाले दैवी-सम्पत्तिवाले कहलाते हैं। आसुरी-सम्पत्ति बन्धनके लिये और दैवी-सम्पत्ति मुक्तिके लिये होती है—**'दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता'** (गीता १६।५)।

दूसरे अध्यायके इकसठवेंसे तिरसठवें श्लोकतक भगवान्‌ने यह बात बतायी कि इन्द्रियोंको वशमें करके अर्थात् संसारसे सर्वथा विमुख होकर केवल मेरे परायण होनेसे बुद्धि स्थिर हो जाती है। परंतु मेरे परायण न होनेसे मनसे स्वाभाविक ही विषयोंका चिन्तन होता है। विषयोंका चिन्तन होनेसे सङ्ग, काम, क्रोध, सम्मोह आदिकी प्रक्रिया बतायी। इससे तो पतन ही होता है; क्योंकि यह आसुरी-सम्पत्ति है। परंतु यहाँ उत्थानकी बात बतायी है कि संसारसे विमुख होकर भगवान्‌के सम्मुख होनेसे मोह नष्ट हो जाता है; क्योंकि यह दैवी-सम्पत्ति है। तात्पर्य यह हुआ कि वहाँ भगवान्‌से विमुख होकर इन्द्रियों और विषयोंके परायण होना पतनमें हेतु है, और यहाँ भगवान्‌के सम्मुख होनेपर भगवान्‌के साथ वास्तविक सम्बन्धकी स्मृति आनेमें भगवत्कृपा ही हेतु है।

भगवत्कृपासे जो काम होता है, वह श्रवण, मनन, निदिध्यासन, ध्यान, समाधि आदि साधनोंसे नहीं होता। कारण कि अपना पुरुषार्थ मानकर जो भी साधन किया जाता है, उस साधनमें अपना सूक्ष्म व्यक्तित्व अर्थात् अहंभाव रहता है। वह व्यक्तित्व तो साधनमें अपना पुरुषार्थ न मानकर केवल भगवत्कृपा माननेसे ही मिटता है।

मार्मिक बात

अर्जुनने कहा कि मुझे स्मृति मिल गयी—'**स्मृतिर्लब्धा**'। तो विस्मृति किसी कारणसे हुई थी? जीवने असत्के साथ तादात्म्य मानकर असत्की मुख्यता मान ली। इसीसे अपने सत्-स्वरूपकी विस्मृति हो गयी। विस्मृति होनेसे इसने असत्की कमीको अपनी कमी मान ली, अपनेको शरीर मानने (मैं-पन) तथा शरीरको अपना मानने (मेरापन) के कारण इसने असत् शरीरकी उत्पत्ति और विनाशको अपनी उत्पत्ति और विनाश मान लिया, एवं जिससे शरीर पैदा हुआ, उसीको अपना उत्पादक मान लिया।

अब कोई प्रश्न करे कि भूल पहले हुई कि असत्का सम्बन्ध पहले हुआ? अर्थात् भूलसे असत्का सम्बन्ध हुआ कि असत्के सम्बन्धसे भूल हुई? तो इसका उत्तर है कि अनादिकालसे जन्म-मरणके चक्करमें पड़े हुए जीवको जन्म-मरणसे छुड़ाकर सदाके लिये महान् सुखी करनेके लिये अर्थात् केवल अपनी प्राप्ति करानेके लिये भगवान्ने जीवको मनुष्यशरीर दिया। संसारकी रचना भगवान्ने भले ही मनुष्यके लिये की हो, पर मनुष्यकी रचना केवल अपने लिये की।

भगवान्का अकेलेमें मन नहीं लगा—'**एकाकी न रमते**' (बृहदारण्यक १।४।३)। इस वास्ते उन्होंने अपने साथ खेलनेके लिये मनुष्यशरीरकी रचना की। खेल तभी होता है, जब दोनों तरफके खिलाड़ी स्वतंत्र होते हैं। इस वास्ते भगवान्ने मनुष्यशरीर देनेके साथ-साथ इसे स्वतंत्रता भी दी, और विवेक

(सत्-असत्का ज्ञान) भी दिया । दूसरी बात, अगर इसे स्वतन्त्रता और विवेक न मिलता, तो यह पशुकी तरह ही होता, इसमें मनुष्यताकी किञ्चिन्मात्र भी कोई विशेषता नहीं होती ।

इस विवेकके कारण असत्को असत् जानकर भी मनुष्यने मिली हुई स्वतंत्रताका दुरुपयोग किया और असत्में (संसारके संयोग और संग्रहके सुखमें) आसक्त हो गया । असत्में आसक्त होनेसे ही भूल हुई है । तो असत्को असत् जानकर भी यह उसमें आसक्त क्यों होता है ? क्योंकि असत्के सम्बन्धसे प्रतीत होनेवाले तात्कालिक सुखकी तरफ तो यह दृष्टि रखता है, पर उसका परिणाम क्या होगा, उस तरफ अपनी दृष्टि रखता ही नहीं । (जो परिणामकी तरफ दृष्टि रखते हैं, वे साधक होते हैं, और जो परिणामकी तरफ दृष्टि नहीं रखते, वे संसारी होते हैं ।)

इस वास्ते असत्के सम्बन्धसे ही भूल पैदा हुई है । इसका पता कैसे लगता है ? जब यह अपने अनुभवमें आनेवाले असत्की आसक्तिका त्याग करके परमात्माके सम्मुख हो जाता है, तो यह भूल मिट करके स्मृति जाग्रत् हो जाती है । इससे सिद्ध हुआ कि परमात्मासे विमुख होकर जाने हुए असत्में आसक्ति होनेसे ही यह भूल हुई है ।

असत्को महत्त्व देनेसे होनेवाली भूल स्वाभाविक नहीं है । इसको प्राणीने खुद पैदा किया है । जो चीज स्वाभाविक होती है, उसमें परिवर्तन भले ही हो, पर उसका अत्यन्त अभाव नहीं होता ।

परन्तु भूलका अत्यन्त अभाव होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि इस भूलको मनुष्यने खुद उत्पन्न किया है; क्योंकि जो वस्तु मिटनेवाली होती है, वह उत्पन्न होनेवाली ही होती है। इस वास्ते इस भूलको मिटानेका दायित्व भी मनुष्यपर है, जिसको वह सुगमतापूर्वक निभा सकता है। तात्पर्य है कि अपने ही द्वारा उत्पन्न की हुई इस भूलको मिटानेमें मनुष्यमात्र समर्थ और सबल है। भूलको मिटानेकी शक्ति भगवान्ने पूरी दे रखी है। भूल मिटते ही अपने वास्तविक स्वरूपकी स्मृति अपने-आपमें ही जाग्रत् हो जाती है और मनुष्य सदाके लिये कृतकृत्य, ज्ञात-ज्ञातव्य और प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाता है।

अबतक हमने अनेक बार जन्म लिया है और अनेक बार कई वस्तुओं, व्यक्तियों, परिस्थितियों, अवस्थाओं, घटनाओं आदिका हमारेसे संयोग हुआ है; परन्तु उन सभीका हमारेसे वियोग हो गया और हम वही रहे। कारण कि वियोगका संयोग अवश्यम्भावी नहीं है, पर संयोगका वियोग अवश्यम्भावी है। इससे सिद्ध हुआ कि संसारसे वियोग-ही-वियोग है, संयोग है ही नहीं। अनादिकालसे वस्तुओं आदिका निरन्तर वियोग ही होता चला आ रहा है, इस वास्ते वियोग ही सच्चा है। इस प्रकार संसारसे सर्वथा वियोगका अनुभव हो जाना ही 'योग' है—**'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्'** (गीता ६। २३)। यह योग नित्यसिद्ध है। स्वरूप अथवा परमात्माके साथ हमारा नित्ययोग है* और शरीर-संसारके साथ

---

* कर्मयोग तथा ज्ञानयोगसे स्वरूपके साथ नित्ययोग है, और भक्तियोगसे भगवान्के साथ नित्ययोग है।

नित्यवियोग है । संसारके संयोगकी सद्भावना होनेसे ही वास्तवमें नित्ययोग अनुभवमें नहीं आता । सद्भावना मिटते ही नित्ययोगका अनुभव हो जाता है, जिसका कभी वियोग हुआ ही नहीं ।

संसारसे संयोग मानना ही 'विस्मृति' है और संसारसे नित्य-वियोगका अनुभव होना अर्थात् वास्तवमें संसारके साथ मेरा संयोग था नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता भी नहीं—ऐसा अनुभव होना ही 'स्मृति' है ।

सम्बन्ध—

पहले अध्यायके बीसवें श्लोकमें 'अथ' पदसे गीताका आरम्भ हुआ था, अब अगले श्लोकमें 'इति' पदसे उसकी समाप्ति करते हुए संजय इस संवादकी महिमा गाते हैं ।

श्लोक—

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

व्याख्या—

'इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः'—संजय कहते हैं कि ऐसा मैंने भगवान् वासुदेव और महात्मा पृथानन्दन अर्जुनका यह संवाद सुना, जो कि अत्यन्त अद्भुत, विलक्षण है, और इसको याद करनामात्र हर्षके मारे रोमाञ्चित करनेवाला है ।

यहाँ **'इति'** पदका तात्पर्य है कि पहले अध्यायके बीसवें श्लोकमें **'अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः'** पदोंसे

संजय गीताका आरम्भ करते हैं और यहाँ 'इति' पदसे पूरे संवादकी समाप्ति करते हैं।

अर्जुनको 'महात्मनः' विशेषण देनेका तात्पर्य है कि अर्जुन कितने महान् विलक्षण पुरुष हैं, जिनकी आज्ञाका पालन स्वयं भगवान् करते हैं। अर्जुन कहते हैं कि हे अच्युत! मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीच खड़ा कर दो (गीता १। २१)। तो भगवान् दोनों सेनाओंके बीच रथको खड़ा कर देते हैं (गीता १। २४)। दूसरी बात, गीतामें अर्जुन जहाँ-जहाँ प्रश्न करते हैं, वहाँ-वहाँ भगवान् बड़े प्यारसे और बड़ी विलक्षण रीतिसे प्रायः विस्तारपूर्वक उत्तर देते हैं। इस प्रकार महात्मा अर्जुनके और भगवान् वासुदेवके संवादको मैंने सुना है।

'संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्'—इस संवादमें अद्भुत और रोमहर्षणपना क्या है? शास्त्रोंमें प्रायः ऐसा लेख आता है कि संसारसे निवृत्ति करनेसे ही मनुष्य परमार्थिक मार्गपर चल सकता है और उसका कल्याण हो सकता है। मनुष्योंमें भी प्रायः ऐसी ही धारणा बैठी हुई है कि घर, कुटुम्ब आदिको छोड़कर साधु-संन्यासी होनेसे ही कल्याण होता है। परन्तु गीता कहती है कि कोई भी परिस्थिति, अवस्था, घटना, देश, काल आदि क्यों न हो, उसीके सदुपयोगसे मनुष्यका कल्याण हो सकता है। इतना ही नहीं, वह परिस्थिति चाहे बढ़िया-से-बढ़िया हो या घटिया-से-घटिया, सौम्य-से सौम्य हो या घोर-से-घोर हो; चाहे विहित युद्ध-जैसी प्रवृत्ति हो, जिसमें दिनभर मनुष्योंका गला काटना पड़ता है, उसमें भी मनुष्यका

कल्याण हो सकता है, मुक्ति हो सकती है *! कारण कि जन्म-मरणरूप बन्धनमें संसारका राग ही कारण है† । उस रागको मिटानेमें परिस्थितिका सदुपयोग करना ही हेतु है अर्थात् जो पुरुष परिस्थितिमें राग-द्वेष न करके अपने कर्तव्यका पालन करता है, वह सुखपूर्वक मुक्त हो जाता है‡ । यही इस संवादमें अद्भुतपना है ।

भगवान्‌का स्वयं अवतार लेकर मनुष्य-जैसा काम करते हुए अपने-आपको प्रकट कर देना और 'मेरी शरणमें आ जा' यह अत्यन्त गोपनीय रहस्यकी बात कह देना—यही संवादमें रोमहर्षण करनेवाला, प्रसन्न करनेवाला, आनन्द देनेवाला है ।

---

* जब हर एक परिस्थितिसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेसे ही कल्याण होता है, तब तो प्राकृत परिस्थितिका घटिया या बढ़िया होना कोई महत्त्व नहीं रखता । हाँ, उससे अलग होनेके उपाय, तरीके (कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि) अलग-अलग हो सकते हैं । परंतु इनमें राग मिटाना ही खास तरीका है; क्योंकि राग मिटनेसे द्वेष मिट जाता है, राग-द्वेषके मिटनेसे संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होना ही मुक्ति है ।

वास्तवमें जो बद्ध होता है, वह मुक्त नहीं होता और जो मुक्त होता है, वह मुक्त क्या होगा ? क्योंकि वह तो मुक्त ही है । तो फिर मुक्त होना क्या है ? वास्तवमें मुक्त होते हुए भी जिस बन्धनको स्वीकार किया है, उस बन्धनसे छूटनेका नाम ही मुक्त होना है ।

† कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ (गीता १३ । २१)

‡ ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥
(गीता ५ । ३)

सम्बन्ध—

पारमार्थिक मार्गमें सच्चे साधकको जिस किसीसे लाभ होता है, उसकी वह कृतज्ञता प्रकट करता है। इसी भावसे भावित होकर संजय अगले तीन श्लोकोंमें व्यासजीकी कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

श्लोक—

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥

व्याख्या—

संजयने जब भगवान् कृष्ण और महात्मा अर्जुनका पूरा संवाद सुना, तो वे बड़े प्रसन्न हुए। अब उसी प्रसन्नतामें वे कह रहे हैं कि ऐसा परम गोपनीय योग मैंने भगवान् व्यासजीकी कृपासे सुना।

संजयके आनन्दकी कोई सीमा नहीं रही है। इस वास्ते वे हर्षोल्लासमें भरकर कह रहे हैं कि इस योगको मैंने समस्त योगोंके महान् ईश्वर स्वयं भगवान् कृष्णके मुखसे साक्षात् सुना है।

'व्यासप्रसादात् श्रुतवानेतद्'—व्यासजीकी कृपासे सुननेका तात्पर्य है कि भगवान्ने 'यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया' (१० । १), 'इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्' (१८ । ६४), 'मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे' (१८ । ६५), 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः' (१८ । ६६) आदि-आदि प्यारे वचनोंसे अपना हृदय खोलकर अर्जुनसे जो बातें कही हैं, उन बातोंको सुननेमें केवल व्यासदेवजीकी कृपा ही है अर्थात् वे सब बातें मैंने व्यासजीकी कृपासे ही सुनी हैं।

महाभारतके भीष्मपर्वके आदिमें व्यासजी अत्यन्त कृपालुतासे धृतराष्ट्रके सामने प्रकट होकर कहते हैं कि 'धृतराष्ट्र ! अब महान् नरसंहार होगा, इसको कोई रोक नहीं सकता। इसको तुम देखना चाहो तो मै तुम्हारेको दिव्यचक्षु दे सकता हूँ।' तब धृतराष्ट्रने कहा कि 'महाराज ! उम्रभर मै अंधा रहा। अब अपने कुटुम्बका संहार मै अपनी आँखोसे देखना नहीं चाहता; परंतु सुननेकी तो मेरे मनमें जरूर है।' तो उस समय व्यासजीने कहा कि 'देख, यह जो तेरा सारथी संजय है, यह युद्धका सब समाचार तेरेको सुना देगा। इसको मै ऐसी विलक्षण दिव्यता देता हूँ, जिससे युद्धस्थलीमें होनेवाली कोई भी घटना इससे छिपी नहीं रहेगी। और तो क्या योद्धाओंके मनमें आयी बातोंको भी यह जान लेगा। इसको शस्त्र नहीं छू सकेगा। इसको थकावट नहीं होगी। युद्धमें जो कुछ होगा वह सब तेरेको सुना देगा।' इस बातको याद करके संजय कह रहे है कि मैने तो केवल व्यासदेवकी कृपासे ही इस परमगुह्य योग (गीताशास्त्र) को सुना है।

'गुह्यं परं योगम्'—समस्त योगोंके महान् ईश्वरके कहनेसे यह गीताशास्त्र 'योग' अर्थात् योगशास्त्र है। यह गीताशास्त्र अत्यन्त श्रेष्ठ और गोपनीय है। इसके सिवाय श्रेष्ठ और गोपनीय कोई दूसरा संवाद देखने-सुननेमें नहीं आता।

जीवका भगवान्‌के साथ जो नित्य-सम्बन्ध है, उसका नाम 'योग' है। उस नित्ययोगकी पहचान करानेके लिये कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि योग कहे गये हैं। उन योगोंके समुदायका वर्णन गीतामें होनेसे गीता भी योग अर्थात् योगशास्त्र है।

'योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्'—संजयको 'योगेश्वरात्, कृष्णात्, साक्षात्, कथयतः, स्वयम्'—ये पाँच शब्द कहनेकी क्या आवश्यकता थी ? संजय इन शब्दोंका प्रयोग करके यह कहना चाहते हैं कि मैने यह संवाद परम्परासे नहीं सुना है, और किसीने मुझे सुनाया हो—ऐसी बात भी नहीं है। संजय विशेष प्रसन्नतामें आकर कहते है कि इसको तो मैने खुद भगवान्‌के कहते-कहते सुना है !

श्लोक—

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥

व्याख्या—

संजय कहते हैं कि हे महाराज ! भगवान् कृष्ण और अर्जुनका यह बहुत अलौकिक विलक्षण संवाद हुआ है। इसमें कितना रहस्य भरा हुआ है कि घोर-से-घोर युद्धरूप क्रिया करते हुए भी ऊँची-से-ऊँची पारमार्थिक सिद्धि हो सकती है ! मनुष्यमात्र हरेक परिस्थितिमें अपना उद्धार कर सकता है। इस प्रकारके संवादको याद कर करके मै बड़ा हर्षित हो रहा हूँ, खुश हो रहा हूँ।

श्रीभगवान् और अर्जुनके इस अद्भुत संवादकी महिमा भी बहुत विलक्षण है। भगवान् कृष्ण और अर्जुन सदा साथमें रहनेपर भी इन दोनोका ऐसा संवाद कभी नहीं हुआ। युद्धके समय अर्जुन घबरा गये; क्योकि एक ओर तो कुटुम्बका मोह तंग कर रहा था और दूसरी ओर क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे युद्ध करना अवश्यकर्तव्य समझते थे। मनुष्यकी जब किसी एक सिद्धान्तपर, मतपर स्थिति

नहीं होती तो उसकी व्याकुलता बड़ी विचित्र होती है*। अर्जुन भी 'युद्ध करना श्रेष्ठ है या युद्ध न करना श्रेष्ठ है' इन दोनोंमेंसे एक निश्चित निर्णय नहीं कर सके। इसी व्याकुलताके कारण अर्जुन भगवान्‌की तरफ खिंच गये, उनके सम्मुख हो गये। सम्मुख होनेसे भगवान्‌की कृपा उनको विशेषतासे प्राप्त हुई। अर्जुनकी अनन्य भावना, उत्कण्ठाके कारण भगवान् योगमें स्थित हो गये अर्थात् ऐश्वर्य आदिमें स्थित न रहकर केवल अपने प्रेमतत्त्वमें सराबोर हो गये और उसी स्थितिमें अर्जुनको समझाया। इस प्रकार उत्कट अभिलाषासम्पन्न अर्जुन और अलौकिक अटलयोगमें स्थित भगवान्‌के संवादकी क्या महिमा कहें? उसकी महिमाको कहनेमें कोई भी समर्थ नहीं है।

श्लोक—

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः॥ ७७॥

व्याख्या—

हे राजन्! भगवान् कृष्णके उस अत्यन्त अद्भुत विराट्‌रूपको याद कर-करके मेरेको बड़ा भारी आश्चर्य हो रहा है और मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ।

---

* आजकल मनुष्योंमें पारमार्थिक बातोंको जाननेकी जो विशेष व्याकुलता नहीं दिखायी देती, उसका कारण है कि वे धन, कुटुम्ब, मान, बड़ाई, वर्ण, आश्रम, विद्या, बुद्धि, भोग, ऐश्वर्य आदि क्षणिक सुखोंको लेकर संतोष करते रहते हैं। इससे उनकी (वास्तविकताको जाननेकी) व्याकुलता दब जाती है।

संजयने पिछले श्लोकमें भगवान् कृष्ण और अर्जुनके संवादको 'अद्भुत' बताया और यहाँ भगवान्के विराट्रूपको 'अत्यन्त अद्भुत' बताते हैं। इसका तात्पर्य है कि संवादको तो अब भी पढ़ सकते हैं, उसका विचार कर सकते हैं, पर उस विराट्रूपके दर्शन अब नहीं हो सकते। इस वास्ते वह रूप अत्यन्त अद्भुत है।

ग्यारहवें अध्यायके नवें श्लोकमें संजयने भगवान्को **'महायोगेश्वरः'** कहा है। यहाँ **'विस्मयो मे महान्'** पदोंसे कहते हैं कि ऐसे महायोगेश्वर भगवान्के रूपको याद करनेसे महान् विस्मय होगा ही। दूसरी बात, अर्जुनको तो भगवान्ने कृपासे द्रवित होकर विश्वरूप दिखाया, पर मेरेको तो व्यासजीकी कृपासे देखनेको मिल गया।

अर्जुनने जब यह कहा कि महाराज! मैं आपके विराट्रूपको देख सकता हूँ कि नहीं? तो भगवान्ने अर्जुनको अपना रूप दिखाया। भगवान्ने कहा कि मेरे आश्चर्यमय रूपोंको तू मेरे शरीरके एक देशमें देख—**'इहैकस्थं.....मम देहे'** (११।७)। एक देशमें देखनेका अर्थ हुआ कि तू जहाँ दृष्टि लगायेगा, वहीं तुम्हारेको अनन्त ब्रह्माण्ड दीखेंगे। भगवान्के शरीरमें सब बातें वर्तमान थीं अर्थात् जो बातें भूतकालमें बीत गयी हैं और जो भविष्यमें बीतनेवाली हैं, वे सब बातें भगवान्के शरीरमें वर्तमान थीं। इस वास्ते भगवान्ने **'यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि'** (११।७) पदसे अर्जुनको मानो यह कहा कि तेरे मनमें यह जो जाननेकी इच्छा है कि कौन जीतेगा? किस पक्षमें क्या होगा? कौन मरेगा? वह सब भी मेरे शरीरमें देख ले। इस प्रकार भगवान्ने चार बार **'पश्य'** (देख)

कहा*, परंतु अर्जुनको कुछ दीखा ही नहीं ! अर्जुन देखनेका खूब उद्योग करते हैं, आँखें फाड़-फाड़कर देखते हैं, पर कुछ दीखा नहीं तो भगवान्‌ने कहा कि तू इन चर्मचक्षुओंसे मेरे विश्वरूपको नहीं देख सकता। कारण कि ये चर्मचक्षु बेचारे एक सूर्यके सामने ही मिच जाते हैं, खुले नहीं रह सकते, तो फिर हजारों सूर्योंके एक साथ उदित होनेसे उत्पन्न प्रकाशसे भी बढ़कर प्रकाशवाले भगवान्‌के विराट्‌रूपको कैसे देख सकते हैं ? अतः भगवान्‌ने अर्जुनको दिव्यचक्षु दिये। अर्जुन उस रूपको देखकर स्तुति करने लगे। अन्तमें विश्वरूपको देख-देखकर अर्जुन घबरा गये और भगवान्‌से चतुर्भुज-रूप दिखानेकी प्रार्थना करने लगे तो भगवान्‌ने कहा कि मैंने प्रसन्न होकर अपने योगसे अर्थात् अपने महान् प्रभावसे तेरेको परमश्रेष्ठ रूप दिखाया है। इस तेजोमय, अनादि, अनन्त रूपको तुम्हारे सिवाय और किसीने नहीं देखा है (११ । ४७)।

यद्यपि भगवान्‌ने रामावतारमें कौशल्या अम्बाको विराट्‌रूप दिखाया और कृष्णावतारमें यशोदा मैयाको तथा कौरव-सभामें दुर्योधन आदिको विराट्‌रूप दिखाया, तथापि वह रूप ऐसा अद्भुत नहीं था कि जिसकी दाढ़ोंमें भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि योद्धा फँसे हुए हैं और दोनों सेनाओंका महान् संहार हो रहा है। इस प्रकारके

---

* 'पश्य मे पार्थ रूपाणि' (गीता ११ । ५)
'पश्यादित्यान्वसून्रुद्रान्' (,, ११ । ६)
'पश्याश्चर्याणि भारत' (,, ,,)
'पश्याद्य सचराचरम्' (,, ११ । ७)

अत्यन्त अद्भुत रूपको याद करके संजय कहते है कि राजन् ! यह तो सब व्यासजी महाराजकी कृपासे मेरेको देखनेको मिला है। नहीं तो ऐसा रूप मेरे-जैसेको कहाँ देखनेको मिलता !

सम्बन्ध—

गीताके आरम्भमें धृतराष्ट्रका गूढाभिसन्धिरूप प्रश्न था कि युद्धका नतीजा क्या होगा ? अर्थात् मेरे पुत्रोंकी विजय होगी या पाण्डुपुत्रोंकी ? अगले श्लोकमें संजय धृतराष्ट्रके उसी प्रश्नका उत्तर देते हैं।

श्लोक—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

व्याख्या—

'यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः'—संजय कहते हैं कि राजन् ! जहाँ अर्जुनका संरक्षण करनेवाले, उनको सम्मति देनेवाले, सम्पूर्ण योगोंके महान् ईश्वर, महान् बलशाली, महान् ऐश्वर्यवान्, महान् विद्यावान्, महान् चतुर भगवान् कृष्ण हैं और जहाँ भगवान्‌की आज्ञा पालन करनेवाले, भगवान्‌के प्रिय सखा तथा भक्त गाण्डीव धनुर्धारी अर्जुन हैं, उसी पक्षमें श्री, विजय, विभूति और अचल नीति—ये सभी होंगे; और मेरी सम्मति भी उधर ही है।

भगवान्‌ने जब अर्जुनको दिव्य दृष्टि दी, उस समय संजयने भगवान्‌को **'महायोगेश्वरः'** कहा*, अब उसी महायोगेश्वरको याद

---

* योगीश्वर अर्थात् योगियोंके ईश्वर होना तो सरल बात है पर सम्पूर्ण योगोंके ईश्वर होना आखिरी हद है—'सा काष्ठा सा परा गतिः'।

दिखाते हुए यहाँ 'योगेश्वरः' कहते हैं। वे सम्पूर्ण योगोंके ईश्वर—मालिक भगवान् कृष्ण प्रेरक हैं और उनकी आज्ञा पालन करनेवाले धनुर्धारी अर्जुन प्रेर्य हैं।

योगी दो तरहके होते हैं—युक्तयोगी और युञ्जानयोगी। जो बिना ख्याल किये ही सब बातोंको जानता है, वह 'युक्तयोगी' होता है। ऐसे युक्तयोगी केवल भगवान् ही हैं, क्योंकि भगवान्का ज्ञान स्वतःसिद्ध है। इस वास्ते गीतामें भगवान्के लिये 'महायोगेश्वर', 'योगेश्वर' आदि शब्दोंका प्रयोग हुआ है। इनका तात्पर्य है कि भगवान् सब योगियोंको सिखानेवाले हैं। उनको खुदको सीखना नहीं पड़ता; क्योंकि उनका योग स्वतःसिद्ध है। सर्वज्ञता, ऐश्वर्य, सौन्दर्य, माधुर्य आदि जितने भी वैभवशाली गुण हैं, वे सब-के-सब भगवान्में स्वतः रहते हैं। वे गुण भगवान्में नित्य रहते हैं, असीम रहते हैं। जैसे पिताका पिता, फिर पिताका पिता—यह परम्परा अन्तमें जाकर परम-पिता परमात्मामें समाप्त होती है*, ऐसे ही जितने भी गुण हैं, उन सबकी समाप्ति परमात्मामें होती है।

पहले अध्यायमें जब युद्धकी घोषणाका प्रसङ्ग आया तो कौरवपक्षमें सबसे पहले भीष्मजीने शङ्ख बजाया। भीष्मजी कौरव-सेनाके

---

* पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। (योगदर्शन १। २६)
'वह ईश्वर सबके पूर्वजोंका भी गुरु है; क्योंकि उसका कालसे अवच्छेद नहीं है।'

अधिपति थे, इस वास्ते उनका शङ्ख बजाना उचित ही था। परतु भगवान् कृष्ण तो पाण्डव-सेनामे सारथी बने हुए है और सबसे पहले शङ्ख बजाकर युद्धकी घोषणा करते है। लौकिक दृष्टिसे देखा जाय तो सबसे पहले शङ्ख बजानेका भगवान्का कोई अधिकार नहीं दीखता। फिर भी वे शङ्ख बजाते हैं तो इससे सिद्ध होता है कि पाण्डव-सेनामें सबसे मुख्य भगवान् कृष्ण ही हैं, और दूसरे नम्बरमे अर्जुन है। इस वास्ते इन दोनोने पाण्डव-सेनामे सबसे पहले शङ्ख बजाये। तात्पर्य यह हुआ कि संजयने जैसे आरम्भमे (शङ्खवादन-क्रियामे) दोनोकी मुख्यता प्रकट की, ऐसे ही यहाँ अन्तमे भी इन दोनोंका नाम लेकर दोनोकी मुख्यता प्रकट करते हैं।

गीताभरमें **'पार्थ'** सम्बोधनकी अडतीस बार आवृत्ति हुई है। अर्जुनके लिये इतनी सख्यामे और कोई सम्बोधन नहीं आया है। इससे मालूम होता है कि भगवान्को 'पार्थ' सम्बोधन ज्यादा प्रिय लगता है। इसी रीतिसे अर्जुनको भी **'कृष्ण'** सम्बोधन ज्यादा प्रिय लगता है। इस वास्ते गीतामे 'कृष्ण' सम्बोधनकी आवृत्ति नो बार हुई है। भगवान्के सम्बोधनोमे इतनी सख्यामे दूसरे किसी भी सम्बोधनकी आवृत्ति नहीं हुई है। अन्तमें गीताका उपसंहार करते हुए सजयने भी **'कृष्ण'** और **'पार्थ'**—ये दो ही नाम लिये है।

'तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम'—लक्ष्मी, शोभा, सम्पत्ति—ये सब **'श्री'** शब्दके अन्तर्गत है। जहाँ श्रीपति भगवान् कृष्ण है, वहाँ श्री रहेगी ही।

'विजय' नाम अर्जुनका भी है और शूरवीरता आदिका भी। जहाँ धनुर्धारी विजयरूप अर्जुन होंगे, वहाँ शूरवीरता, उत्साह आदि क्षात्र-ऐश्वर्य रहेंगे ही।

ऐसे ही जहाँ योगेश्वर भगवान् कृष्ण होंगे, वहाँ **'विभूति'**—ऐश्वर्य, महत्ता, प्रभाव, सामर्थ्य आदि सब-के-सब भगवद्गुण रहेंगे ही; और जहाँ धर्मात्मा अर्जुन होंगे, वहाँ **'ध्रुवा नीति'**—अटल नीति, न्याय, धर्म आदि रहेंगे ही।

वास्तवमे श्री, विजय, विभूति और ध्रुवा नीति—ये सब गुण भगवान्मे और अर्जुनमें हरदम विद्यमान रहते है। उपर्युक्त दो विभाग तो मुख्यताको लेकर किये गये है। योगेश्वर कृष्ण और धनुर्धारी अर्जुन—ये दोनो जहाँ रहेंगे, वहाँ अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त माधुर्य, अनन्त सौशील्य, अनन्त सौजन्य, अनन्त सौन्दर्य आदि दिव्य गुण रहेंगे ही।

धृतराष्ट्रका विजयकी गूढाभिसन्धिरूप जो प्रश्न है, उसका उत्तर संजय यहाँ सम्यक् रीतिसे दे रहे हैं। तात्पर्य है कि पाण्डु-पुत्रोंकी विजय निश्चित है, इसमे कोई सन्देह नहीं है।

अठारहवें अध्यायके पद, अक्षर एवं उवाच

(१) इस अध्यायमे **'अथाष्टादशोऽध्यायः'** के तीन उवाचोंके आठ, श्लोकोंके नौ सौ नवासी और पुष्पिकाके तेरह पद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग एक हजार तेरह है।

(२) 'अथाष्टादशोऽध्यायः' में सात, उवाचोंमें पचीस-श्लोकोंमें दो हजार चार सौ छियानबे और पुष्पिकामें अड़तालीस अक्षर है। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग दो हजार पाँच सौ छिहत्तर है। इस अध्यायके सभी श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें दो 'अर्जुन उवाच', एक 'श्रीभगवानुवाच' और एक 'संजय उवाच'—इस प्रकार कुल चार उवाच हैं।

अठारहवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके अठहत्तर श्लोकोंमेंसे बारहवें, छियालीसवें और बावनवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'मगण' प्रयुक्त होनेसे 'म-विपुला'; तेईसवें, बत्तीसवें, सैंतीसवें, इकतालीसवें, पैंतालीसवें, छप्पनवें और सत्तरवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे 'न-विपुला', तैंतीसवें, छत्तीसवें, सैंतालीसवें और पचहत्तरवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'भगण' प्रयुक्त होनेसे 'भ-विपुला'; तेरहवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'मगण' प्रयुक्त होनेसे 'म-विपुला', छब्बीसवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'रगण' प्रयुक्त होनेसे 'र-विपुला'; अड़तीसवें और चौंसठवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे 'न-विपुला', उनचासवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'मगण' प्रयुक्त होनेसे 'म-विपुला' और तृतीय चरणमें 'भगण' प्रयुक्त होनेसे 'भ-विपुला' संज्ञावाले छन्द हैं। शेष उनसठ श्लोक ठीक 'पथ्यावक्त्र' अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

गीता-परिमाण और पूर्ण शरणागति

महर्षि श्रीवेदव्यास-रचित महाभारतमें ऋषिवर वैशम्पायनने गीताके परिमाणमें कुल ७४५ श्लोक बताये हैं—

षट्शतानि सविंशानि श्लोकानां प्राह केशवः।
अर्जुनः सप्तपञ्चाशत् सप्तषष्टिं तु सञ्जयः।
धृतराष्ट्रः श्लोकमेकं गीताया मानमुच्यते ॥
(भीष्म० ४३ । ४-५)

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने ६२० श्लोक कहे हैं, ५७ श्लोक अर्जुनने कहे हैं, ६७ श्लोक सञ्जयने कहे हैं और एक श्लोक धृतराष्ट्रने कहा है। यह गीताका परिमाण कहा जाता है।' *

---

* महाभारत, आदिपर्व १ । ७४–८३में आता है कि ब्रह्माजीके कहनेसे महर्षि वेदव्यासजीने गणेशजीसे महाभारत-ग्रन्थका लेखक बननेकी प्रार्थना की। इसपर गणेशजीने एक शर्त रखी कि यदि लिखते समय क्षणभरके लिये भी मेरी लेखनी न रुके तो मैं इस ग्रन्थका लेखक बन सकता हूँ। वेदव्यासजीने भी गणेशजीके सामने यह शर्त रखी कि आप भी बिना समझे किसी भी प्रसङ्गमें एक अक्षर भी न लिखें। गणेशजीने इसे स्वीकार कर लिया और महाभारत लिखने बैठ गये। लिखवाते समय बीच-बीचमें वेदव्यासजी ऐसे-ऐसे (गूढ़ अर्थवाले) कूटश्लोक बोल देते थे, जिनको समझनेके लिये गणेशजीको थोड़ा रुकना पड़ता था। उतने समयमें वेदव्यासजी और बहुत-से श्लोकोंकी रचना कर लेते थे। गीता-परिमाण सम्बन्धी श्लोक भी ऐसे ही कूट-श्लोक प्रतीत होते हैं। इसलिये कोई-कोई टीकाकार गीता-परिमाणकी सङ्गति बैठानेमें असमर्थ होकर इन श्लोकोंको प्रक्षिप्त (क्षेपक) मान लेते हैं। किन्तु वास्तवमें ये महाभारतके ही श्लोक प्रतीत होते हैं, क्योंकि एक तो ये महाभारतकी पुरानी-से-पुरानी

गीताकी प्रचलित प्रतिके अनुसार अठारह अध्यायोके सम्पूर्ण श्लोक जोड़नेपर ५७४ श्लोक भगवान् श्रीकृष्णके, ८४ अर्जुनके, ४१ संजयके और एक श्लोक धृतराष्ट्रका है, जिनका कुल योग ७०० होता है। इन सात सौ श्लोकोंमें ६४४ श्लोक बत्तीस अक्षरोके है, एक श्लोक (११ । १) तैतीस अक्षरोका है, ५१ श्लोक चौवालीस अक्षरोके हैं, तीन श्लोक (२ । २९, ८ । १० और

प्रतियोमे पाये जाते है और दूसरे, गीताका गहराईसे विचार करनेपर इन श्लोकोके अनुसार गीता-परिमाणकी संगति ठीक-ठीक बैठ जाती है।

महाभारतकी जिन प्रतियोमे हमे गीता-परिमाणबोधक उपर्युक्त श्लोक मिले है, उनका परिचय इस प्रकार है—

(१) गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित—
पृ० ७८१३

(२) सनातनधर्म प्रेस, मुरादाबादसे प्रकाशित—
श्रीरामस्वरूपकृत हिन्दी टीका, पृ० १८४

(३) महाभारत प्रकाशक मण्डल, मालीवाड़ा, दिल्लीसे प्रकाशित—
श्रीगंगाप्रसाद शास्त्रीकृत हिन्दी टीका, पृ० ३८७

(४) स्वाध्याय मण्डलद्वारा प्रकाशित—
श्रीपाद दामोदर सातवलेकरकृत हिन्दी टीका, पृ० २२१

(५) श्रीद्वारकाप्रसाद शर्माद्वारा किया महाभारतका हिन्दी अनुवादमात्र, पृ० १४६

(६) महाभारतकी नीलकण्ठी टीका—
मूलमें गीता-परिमाणबोधक श्लोक दिये है, किन्तु उनकी टीका न करके 'गीता सुगीता कर्तव्या' इत्यादयः सार्धाः पञ्च श्लोकाः गौडैर्न पठ्यन्ते' ऐसा लिखा है।

१५ । ३) पैंतालीस अक्षरोंके है, और एक श्लोक (२ । ६) छियालीस अक्षरोंका है । इस प्रकार गीताके श्लोकोंके सम्पूर्ण अक्षर २३०६६ है । पुष्पिकाओंके कुल ८७३ अक्षर है । उवाचोंके कुल ३८३ अक्षर है । 'अथ श्रीमद्भगवद्गीता', 'अथ प्रथमोध्याय ' आदिके कुल १३७ अक्षर हैं । इस प्रकार गीतामें कुल २४४५९ अक्षर हैं ।

प्राचीन कालसे ऐसी परम्परा है कि ३२ अक्षरोंका एक श्लोक मानकर किसी भी पुराण आदि ग्रन्थके श्लोकोंका परिमाण निर्धारित किया जाता है * । इसके अनुसार यदि गीताके श्लोकोंके सम्पूर्ण अक्षरोंका परिमाण निकाला जाय तो ७२०$\frac{२६}{३२}$ श्लोक होते है । यदि इनके साथ 'उवाच'के ३८३ अक्षर जोड़ दिये जायँ तो ७३२$\frac{२५}{३२}$ श्लोक होते है, और यदि इनके (श्लोकाक्षरोंके) साथ केवल 'पुष्पिका'के ८७३ अक्षर जोड दिये जायं तो ४७८$\frac{३}{३२}$ श्लोक होते है । यदि श्लोकोंके सम्पूर्ण अक्षरोंके साथ 'उवाच', 'पुष्पिका' और 'अथ प्रथमोऽध्याय.' आदिके कुल १३९३ अक्षर और जोड़े तो ७६४$\frac{११}{३२}$ श्लोक होते है । इस तरह किसी

* श्रीमद्भागवतमहापुराणकी 'अन्वितार्थप्रकाशिका' टीकाके लेखक पं० श्रीगङ्गासहायजी शर्माने भी श्रीमद्भागवतके श्लोकोंकी गणनाके लिये इसी अक्षर-गणनाकी (सम्पूर्ण अक्षरोंमें ३२का भाग देनेवाली) पद्धतिको अपनाया है और प्रत्येक अध्यायके अन्तमे उसके श्लोकोंकी गणनाको श्लोकबद्ध करके लिखा है । उन्होने इस पद्धतिसे दो बार श्रीमद्भागवतके श्लोकोंकी गणना की है । यह बात दूसरी है कि उनकी गणनाके अनुसार श्रीमद्भागवतके अठारह हजार श्लोकोंमेंसे केवल डेढ श्लोक ही कम हैं ।

इसी अक्षर-गणनाके आधारपर किसी ग्रन्थके लेखकको पारिश्रमिक देनेकी परम्परा भी प्राचीन कालसे है ।

भी प्रकार महाभारतकथित गीताके परिमाणकी संगति नहीं बैठती।'
फिर भी परिमाण-सूचक श्लोक उपलब्ध होनेके कारण परिमाणकी
संगति बैठाना आवश्यक समझकर एक संतके द्वारा प्राप्त संकेतके
अनुसार चेष्टा की गयी है। विद्वानोंसे निवेदन है कि वे इसपर
गम्भीरतासे विचार करके अपनी सम्मति देनेकी कृपा करें।

श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीमद्भगवद्गीताके प्रथम अध्यायको देखनेसे पता चलता है कि
अर्जुन युद्धके लिये पूर्णरूपसे तैयार है। वे स्वयं रथी बने हैं
और सारथि बने भगवान्‌को दोनों सेनाओंके बीच रथ खड़ा करनेकी
आज्ञा देते हैं—**'सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत'**
(१।२१)। सारथि बने भगवान् भी रथको दोनों सेनाओंके बीच,
पितामह भीष्म और आचार्य द्रोणके रथोंके ठीक सामने एक विशेष
कलाके साथ खड़ा करते हैं। भगवान्‌की यह कला युद्धोन्मुख
अर्जुनको श्रेयोन्मुख करनेके लिये मानो शक्तिपात थी (जिसकी
सिद्धि अठारहवें अध्यायके ७३वें श्लोकमें हो गयी)। भगवान्‌को
जीवोंके कल्याणार्थ अर्जुनको निमित्त बनाकर दिव्य गीताज्ञान कहना
था और इसके लिये अर्जुनको वैसा ही पात्र बनाना था। अब
युद्धस्थलमें पितामह भीष्म और आचार्य द्रोणको अपने सामने विपक्षमें
देखकर अर्जुनका छिपा मोह जग गया। इतना ही नहीं, भगवान्‌ने
स्वयं कहा भी कि युद्धके लिये एकत्र कुरुवंशियोंको देख—

उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति। (१।२५)

यहाँ भगवान्‌ने 'धृतराष्ट्रके पुत्रोंको देख' यह न कह करके
कुरुवंशियोंको देखनेके लिये कहा। इन वचनोंके प्रयोगमें भी स्पष्ट

ही अर्जुनका मोह जाग्रत् करनेका भाव मालूम देता है। यदि 'कुरून् पश्य' की जगह 'धार्तराष्ट्रान् पश्य' कह देते तो शायद अर्जुनका मोह जाग्रत् न होकर उनका युद्ध करनेका उत्साह ही विशेष बढ़ता, क्योंकि **'धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः'** (१ । २३) यह अर्जुनने पहले ही कहा था। पाण्डव और धृतराष्ट्र दोनो ही उस कुरुवंशके थे, इस वास्ते 'कुरु' शब्दसे अर्जुनका मोह जाग्रत् होना स्वाभाविक ही था। पहले युद्धकी भावनासे जिन्हे अर्जुन **'धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेः'** कह रहे थे, उन्हे ही अब वे स्वजन कहने लगे—**'दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण'** (१ । २८)। युद्धमे स्वजनोंके संहारकी आशङ्का है। इस मोहके कारण अर्जुन किंकर्तव्यविमूढ हो जाते है। फिर भी भगवान्‌के शरण होकर श्रेय (कल्याण) की बात पूछते हैं (२ । ७)। उत्तरमें भगवान् दिव्य गीताज्ञान सुनाते है। इससे पता चलता है कि अर्जुन गीता सुननेके लिये स्वयं उन्मुख नहीं हुए, प्रत्युत भगवान्‌के द्वारा उन्मुख किये गये। इस वास्ते यह 'भगवद्गीता' है, 'अर्जुनगीता' या 'कृष्णार्जुनगीता' नहीं। भगवद्गीता कहनेका तात्पर्य यही है कि इसमें श्रीकृष्णार्जुन-संवाद होते हुए भी भगवत्प्रेरित होकर ही अर्जुन बोल रहे हैं अर्थात् इसमें केवल भगवान्‌के वचन है।

उवाच भी श्लोक

अब गीताके परिमाणकी संगतिपर विचार किया जाता है। महाभारतके प्रवक्ता महर्षि वैशम्पायन है और श्रोता महाराज

छोड़कर केवल भगवान्‌को स्वीकार कर लेता है, तब भगवान्‌पर उसके कल्याणका उत्तरदायित्व आ जाता है। भगवान्‌का अर्जुनके प्रति कल्याणका भाव हो जानेसे अर्जुनका कल्याण तो निश्चित हो ही गया, किन्तु उनमें रहनेवाली कमियोंको दूर करानेके लिये भगवान् उनसे शङ्काएँ करवाते है एवं उनका समाधान करके उन्हें वैसे ही नष्ट कर देते है, जैसे आग ईंधनको।

गीताको देखनेसे पता चलता है कि भगवत्-शरणागतिके बाद भगवत्प्रेरित अर्जुन १७ बार बोलते है। शरणागतिके बाद सर्वप्रथम अर्जुन दूसरे अध्यायके ५४वें श्लोकमें स्थितप्रज्ञके लक्षण आदिकी बात पूछते है। यहाँ भगवत्प्रेरित अर्जुन ही बोल रहे हैं। यदि अर्जुन भगवत्प्रेरित न होते तो उनकी शङ्काएँ युद्धके विषयमें ही होतीं। वे ऐसी शङ्काएँ ही करते कि युद्ध करना चाहिये या नहीं अथवा युद्ध कैसे करें आदि; क्योंकि युद्धका उद्देश्य लेकर ही वे युद्धभूमिमें आये थे। किन्तु यहाँ अर्जुन ऊँचे-से-ऊँचे अध्यात्म-तत्त्वकी बात (स्थितप्रज्ञके विषयमें) पूछ रहे हैं। इससे सिद्ध होता है कि अध्यात्म-विषयक ये शङ्काएँ, जो अर्जुनके अन्तःकरणमें श्री भगवान्‌की प्रेरणासे जाग उठीं। उन्हें ही भगवत्प्रेरित अर्जुन पूछ रहे है।

श्रीभगवान्‌द्वारा अर्जुनको शरणागत स्वीकार करनेके बाद लोकोपकारके लिये भगवत्प्रेरित अर्जुनद्वारा की हुई शङ्काओंके आरम्भमें 'अर्जुन उवाच'-रूप श्लोक महर्षि वेदव्यासके द्वारा लिखे गये हैं एवं उन्होंने उन श्लोकोंको गीता-परिमाणमें श्रीभगवान्‌के ही श्लोक माने

है; ऐसा प्रतीत होता है। महर्षि वेदव्यासजी अधिकार लेकर आये हुए कारक महापुरुष हैं। उनके कहे श्लोकोको इधर-उधर करनेका किसे अधिकार है? जैसे उनके किये वेदोके चार भाग आज भी चार ही माने जाते है एवं गीतामे भगवान्‌के लगातार बोलते रहनेपर भी भगवान्‌के उपदेशको स्पष्टरूपसे समझानेके लिये उसे भिन्न-भिन्न अध्यायोके रूपमें विभक्त करके चौथे, छठे, सातवे, नवे, दसवें, तेरहवे, चौदहवे, पद्रहवें और सोलहवें अध्यायके आरम्भमें पुन **'श्रीभगवानुवाच'**रूप श्लोक देकर परिमाणमें उन्हे श्रीभगवान्‌के श्लोकोमें सम्मिलित किया है, वैसे ही भगवत्प्रेरित अर्जुनद्वारा की हुई शङ्काओके श्लोकोके आरम्भमे **'अर्जुन उवाच'**-रूप श्लोकोंको भी श्रीभगवान्‌के ही श्लोकोमे सम्मिलित किया है। परतु उन श्लोकोमें शङ्काएँ अर्जुनकी अपनी होनेसे उन श्लोकोको अर्जुनके श्लोकोके साथ ही परिमाणमे सम्मिलित किया गया है।

जिस प्रकार अपने पूर्वके गोत्रको छोडकर पत्नी पतिके ही गोत्रवाली हो जाती है एव शिष्य गुरुके ही गोत्रवाला हो जाता है—'मालिकको गोत, गोत होत है गुलामको', पर उसकी आन्तरिक मान्यता अपनी ही रहती है, उसी प्रकार भगवत्प्रेरित (शरणागत) अर्जुनके कहनेके भाव उठनेमें तो केवल भगवान्‌की ही प्रेरणा है और शङ्काएँ उनकी अपनी होनेसे व्यक्तिगत (अर्जुनकी) ही मानी जायँगी। यदि दूसरे अध्यायके ५४वें श्लोकसे लेकर अठारहवें अध्यायके पहले श्लोकतक आये 'अर्जुन उवाच'के बाद कहे हुए श्लोक अर्जुनके स्वयके शङ्का-द्योतक नहीं

होंगे तो 'श्रीकृष्णार्जुन-संवाद' ही नहीं बन पायेगा। अतः 'अर्जुन उवाच' तो भगवत्प्रेरित ही है और शङ्कामात्र अर्जुनकी है।

लोकसंग्राहक श्रीभगवान्

अठारहवे अध्यायके ७२वें श्लोकमे भगवान् स्वयं ही प्रश्न कर रहे है एवं ७३वे श्लोकमें लोकसंग्रहके लिये अर्जुनके माध्यमसे स्वयं ही उत्तर दे रहे हैं।

भगवान् और संत-महात्माओंकी वाणीमें कई जगह ऐसा पाया जाता है कि वे स्वयं ही साधक बनकर प्रश्न करते है एवं गुरु बनकर उत्तर भी देते है। उदाहरणार्थ, अनुगीता (महाभारत)में स्वयं श्रीभगवान्ने अर्जुनके प्रति यह रहस्य प्रकट किया है—

अहं गुरुर्महाबाहो मनः शिष्यं च विद्धि मे।
त्वत्प्रीत्या गुह्यमेतच्च कथितं ते धनञ्जय ॥

(महा० आश्वमेधिक० ५१।४६)

'महाबाहो ! मै ही गुरु हूँ और मेरे मनको ही शिष्य समझो। धनञ्जय ! तुम्हारे स्नेहवश मैने इस रहस्यका वर्णन किया है।'

श्रीशङ्कराचार्यजी महाराजकी वाणीमे भी ऐसा आता है कि वे स्वय ही शिष्य बनकर प्रश्न करते है और स्वयं ही गुरु बनकर उत्तर देते है—

अपारसंसारसमुद्रमध्ये सम्मज्जतो मे शरणं किमस्ति।
गुरो कृपालो कृपया वदैतद्विश्वेशपादाम्बुजदीर्घनौका ॥

(प्रश्नोत्तरी १)

'हे दयामय गुरुदेव ! कृपा करके यह बताइये कि अपार संसाररूप समुद्रमें मुझ डूबते हुएका आश्रय क्या है ? (गुरुका उत्तर मिलता है—) विश्वपति परमात्माके चरणकमलरूप जहाज ।'

इसी प्रकार यहाँ भी अठारहवें अध्यायके ७२ वें श्लोकमें भगवान्‌का प्रश्न 'अर्जुनका मोह नष्ट हुआ या नहीं ?' यह जाननेके लिये नहीं है । कारण कि भगवान् सर्वज्ञ है । वे नाटकके सूत्र-धारकी तरह संसाररूप नाटकको पूरा जानते है । वे जानते है कि अर्जुनका मोह नष्ट हो गया है । इसीलिये वे अठारहवें अध्यायके ६६ वे श्लोकमें अपने उपदेशका उपसंहार कर देते है और फिर गीताके अनधिकारी और अधिकारीका वर्णन करके गीताका माहात्म्य बतला देते है । इसका अभिप्राय यह हुआ कि भगवान्‌ने पहलेसे ही यह जान लिया है कि अर्जुनका मोह अब सर्वथा नष्ट हो गया है । तभी तो वे अपने उपदेशका उपसंहार कर देते है, जब कि अर्जुनने अभीतक मोह नष्ट होना स्वीकार नहीं किया है ।

अन्य परीक्षक तो 'परीक्षार्थी क्या जानता है ?' इसे जाननेके लिये ही परीक्षा लेते हैं अर्थात् जानते हुए भी उनमें अज्ञान दीखता है; किंतु भगवान्‌की परीक्षा जीव (भक्त) को उसकी वास्तविक स्थिति जनानेके लिये होती है अर्थात् वे दिखाते है कि तू देख ले, तेरी स्थिति कहाँतक है । भगवान् तो सर्वज्ञ होनेसे सबको जानते ही है । इसके प्रमाणके लिये गीतामें ही देखा जाय तो पता लग जाता है । जैसे, ग्यारहवे अध्यायके पहले श्लोकमे **'मोहोऽयं विगतो मम'** कहकर अर्जुन अपने मोहका चला जाना स्वीकार

करते हैं। परंतु भगवान् सर्वज्ञ होनेसे जानते हैं कि अभी अर्जुनका मोह नष्ट नहीं हुआ है। इसलिये अर्जुनकी बातको स्वीकार न करके अपना उपदेश चालू रखते हैं एवं उन्हें जनानेके लिये ग्यारहवें अध्यायके ही ४९वें श्लोकमें कहते हैं—'**मा ते व्यथा मा च विमूढभावः**' अर्थात् मोहके सर्वथा चले जानेपर व्याकुलता और विमूढभाव पैदा ही नहीं होते, किंतु मैया अर्जुन! तुझे व्याकुलता और विमूढभाव दोनो ही हो रहे हैं; अतः तू देख ले कि अभी तेरा मोह सर्वथा नष्ट नहीं हुआ है।

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि अर्जुनकी स्वीकृतिके बिना भी सर्वज्ञ भगवान् (१८। ६६ के बाद) यह जान जाते हैं कि उसका मोह सर्वथा नष्ट हो गया है, और अब यह मेरे साधर्म्यको प्राप्त हो गया है। परन्तु लोकसंग्रह करनेके लिये ७२वें श्लोकमें प्रश्न करते हैं एवं ७३वें श्लोकमें अर्जुनके माध्यमसे स्वयं ही उत्तर देते हैं, जिससे लोगोंको यह मालूम हो जाय कि गीताको एकाग्रतापूर्वक सुननेमात्रसे मोहका सर्वथा नाश हो जाता है और तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। अतः भगवत्-साधर्म्य-प्राप्त अर्जुनका यह (१८। ७३) श्लोक भगवान्‌का ही मानना चाहिये। वे लोकसंग्रहके लिये ही अर्जुनसे यह श्लोक कहलवाते हैं।

भगवत्स्वरूप अर्जुन

जिस प्रकार भगवत्-शरणागतिके बाद अर्जुनके 'भगवत्प्रेरित' होनेसे श्लोकरूप 'अर्जुन उवाच' भगवान्‌के ही श्लोक माने गये हैं,

उसी प्रकार मोहनाशके बाद अर्जुनके 'भगवत्स्वरूप' होनेसे अठारहवें अध्यायका ७३ वाँ श्लोक भी भगवान्‌का ही माना गया है।

अठारहवे अध्यायके ७३वें श्लोकको भगवान्‌का माननेपर यह शङ्का हो सकती है कि भगवान् स्वयं ही **'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादात्……'** आदि पदोंको अपने प्रति कैसे कह सकते है? ये शब्द तो साधक (अर्जुन) के ही होने चाहिये। इसका समाधान यह है कि यदि गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि मोह सर्वथा नष्ट होनेसे अर्जुनकी भगवान्‌के साथ एकता हो गयी। अर्जुनका अपना कुछ नहीं रहा, वे सर्वथा भगवान्‌के हो गये। उनके द्वारा होनेवाली सभी क्रियाएँ भगवान्‌की ही हुईं। इस वास्ते जीव भावविनिर्मुक्त भगवत्-साधर्म्य-प्राप्त अर्जुनका यह श्लोक तत्त्वदृष्टिसे भगवान्‌का ही कहा हुआ माना जा सकता है। कारण कि मोह सर्वथा नष्ट हो जानेपर भक्त और भगवान्‌में कोई भेद नहीं रहता—**'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्'** (नारद-भक्तिसूत्र ४१)। स्वयं भगवान्‌के वचन है—**'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'** (गीता ७। १८) 'ज्ञानी भक्त तो मेरा स्वरूप ही है, ऐसा मेरा मत है' और **'मम साधर्म्यमागताः'** (गीता १४। २) 'भक्त मेरी सहधर्मिताको प्राप्त हुए हैं' *। भगवत्-

---

* गीतामे भगवान् और महापुरुष (भगवद्भक्त)के लक्षणोंमे सहधर्मिताका वर्णन निम्नाङ्कित स्थलोंपर इस प्रकार हुआ है—

(१) भगवान् कहते है कि त्रिलोकीमे मेरे लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है—'न मे पार्थास्ति कर्तव्यम्' (३। २२) एवं किंचित् भी प्राप्त

सहधर्मिताको प्राप्त होनेपर भक्तके वचनको भगवान्‌का ही वचन मानना चाहिये ।

होनेयोग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है—'नानवाप्तमवाप्तव्यम्' (३ । २२) । इसी प्रकार महापुरुषोंके लिये भी कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता—'तस्य कार्यं न विद्यते' (३ । १७) एवं उनका किसी भी प्राणीसे कोई भी स्वार्थमय सम्बन्ध नहीं रहता अर्थात् किसी भी प्राणीसे कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहता—'न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः' (३ । १८) ।

(२) कर्तव्य और प्राप्तव्य न रहते हुए भी भगवान् लोकसंग्रहार्थ कर्म करते हैं । भगवान् कहते हैं कि यदि मैं सावधान ('अतन्द्रितः' ३ । २३) होकर कर्म न करूँ तो ये सब लोक भ्रष्ट हो जायँ और मैं वर्णसंकर उत्पन्न करनेवाला होऊँ तथा इस सारी प्रजाका हनन करूँ, मारनेवाला बनूँ—'उत्सीदेयुरिमे लोकाः' (३ । २४) इसी प्रकार भगवान् महापुरुषको भी उसके अपने लिये कर्तव्य और प्राप्तव्य न रहते हुए भी लोकसंग्रहार्थ तत्परतापूर्वक कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं—'कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्' (३ । २५)। अतः वे भी लोकहितार्थ कार्य करते हैं ।

(३) भगवान् अपने विषयमें कहते हैं कि 'मुझे सब कुछ करते हुए भी अकर्ता ही जानो अर्थात् मैं कर्तृत्व-अभिमानसे सर्वथा रहित हूँ—'तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्' (४ । १३) । इसी प्रकार महापुरुषके लिये भी कहा है कि वह अच्छी तरह कर्मोंको करता हुआ भी कुछ नहीं करता अर्थात् वह कर्तृत्व-अभिमानसे रहित होता है—'कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित् करोति सः' (४ । २०) ।

(४) भगवान् कहते हैं कि सम्पूर्ण कर्म करते हुए भी जिस प्रकार मुझे कर्म लिप्त नहीं करते—'न मां कर्माणि लिम्पन्ति' (४ । १४) और उनके फलोंमें मेरी स्पृहा (इच्छा) नहीं है—'न मे कर्मफले

स्पृहा' (४ । १४) । इसी प्रकार महापुरुषको भी कर्म लिप्त नहीं करते—'न हन्ति न निबध्यते' (१८ । १७) और कर्मफलमें भी उसकी इच्छा नहीं होती—'विगतस्पृहः' (२ । ५६) एवं 'पुमांश्चरति निःस्पृहः' (२ । ७१) ।

(५) भगवान् स्वभावसे ही प्राणिमात्रके सुहृद् हैं—'सुहृदं सर्वभूतानाम्' (५ । २९) । इसी प्रकार महापुरुष भी स्वभावतः सम्पूर्ण भूतोंके हितमें प्रीति रखते है—'सर्वभूतहिते रताः' (५ । २५; १२ । ४) ।

(६) भगवान्‌ने अपने-आपको तीनो गुणोंसे अतीत कहा है—'मामेभ्यः परमव्ययम्' (७ । १३) । इसी प्रकार महापुरुषको भी त्रिगुणातीत कहा गया है—'गुणातीतः स उच्यते' (१४ । २५) ।

(७) भगवान् कर्मोंमें आसक्तिरहित, उदासीनके सदृश स्थित हैं और उन्हे कर्म नहीं बॉधते—'उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु' (९ । ९) । इसी प्रकार महापुरुषका भी कर्मोंमें राग नहीं होता; अतः उन्हे भी कर्म नहीं बॉधते—'वीतरागः' (२ । ५६), 'यः सर्वत्रानभिस्नेहः' (२ । ५७), 'उदासीनवदासीनः' (१४ । २३) ।

(८) भगवान् कहते हैं कि सत्-असत् सब कुछ मैं ही हूॅ—'सदसच्चाहम्' (९ । १९) । इसी वास्तविकताका अनुभव करके महापुरुष भी कहते है कि 'सब कुछ वासुदेव ही है'—'वासुदेवः सर्वमिति' (७ । १९) ।

(९) भगवान् कहते है कि वेदोंको जाननेवाला मैं ही हूॅ—'वेदवित् अहम् एव' (१५ । १५) । इसी प्रकार महापुरुपको भी वेदोंको जाननेवाला कहा गया है—'सः वेदवित्' (१५ । १) ।

भगवत्-साधर्म्य होनेपर भी महापुरुष भगवान्‌की तरह ऐश्वर्य-सम्पन्न नहीं होता । पूर्ण ऐश्वर्य केवल भगवान्‌में ही है—'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य' (विष्णुपुराण ६ । ५ । ७४) । जगत्‌की उत्पत्ति, पालन और संहारका कार्य भी केवल भगवान्‌के द्वारा होता है, महापुरुषके द्वारा नहीं—'जगद् व्यापारवर्जम्' (ब्रह्मसूत्र ४ । ४ । १७) ।

जब गुरुका शिष्यमें शक्तिपात होता है तो शिष्य गुरुका ही स्वरूप हो जाता है, मानो शिष्यमें गुरुका अवतार हो जाता है। 'अद्वैतामृतवल्लरी' नामक वेदान्त-ग्रन्थमें चार प्रकारसे शक्तिपात होनेकी बात आयी है—(१) **स्पर्शसे**; जैसे मुर्गी अपने अण्डेपर बैठी रहती है और इस प्रकार उसके स्पर्श यानी सम्बन्धसे अण्डा पक जाता है, (२) **शब्दसे**; जैसे कुररी आकाशमें शब्द करती हुई घूमती रहती है और इस प्रकार उसके शब्दसे अण्डा पक जाता है, (३) **दृष्टिसे**; जैसे मछली थोड़ी-थोड़ी देरमें अपने अण्डेको देखती रहती है, जिससे अण्डा पक जाता है, (४) **स्मरणसे**; जैसे कछवी रेतीके भीतर अण्डा देती है, पर खुद पानीके भीतर रहती हुई उस अण्डेका निरन्तर स्मरण करती रहती है, जिससे अण्डा पक जाता है *। भगवान्‌की तो स्फुरणामात्रसे ही जीवका कल्याण हो जाता है, पर गीताको देखनेसे पता चलता है कि भगवान्‌का अर्जुनमें चारों ही प्रकारसे शक्तिपात हुआ है। भगवान् और अर्जुनका सम्बन्ध ही स्पर्शसे होनेवाला शक्तिपात है। दूसरे अध्यायके सातवें

---

* उदयपुरमें पिचोला नामक एक प्रसिद्ध सरोवर है। एक बार एक सन्त वहाँ गये और वहाँके नाविकोंसे उन्होंने कछवीके याद करनेमात्रसे अण्डोंका पोषण होनेकी सत्यताका पता किया। नाविकोंने इस बातकी पुष्टि की। वहाँ रेतीमें एक कछवीके अण्डे दबे पड़े थे, जिसका पता नाविकोंको था। नाविकोंने पानीमें अपना जाल फैलाया। जब उस जालमें वह कछवी फँस गयी तो उन सन्तने जाकर देखा कि उसके अण्डे गल गये थे। इससे पता चलता है कि जालमें फँसनेसे जब घबराहटमें कछवीका स्मरण छूट गया तो उसके अण्डे गल गये।

श्लोकमें अर्जुनने भगवान्‌से और अठारहवें अध्यायके तिहत्तरवें श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनसे विशेष सम्बन्ध जोड़ा है। और दूसरे, गीता 'श्रीकृष्णार्जुनसंवाद' है। जहाँ संवाद होता है, वहाँ सम्बन्ध तो रहता ही है। भगवान्‌ने अर्जुनकी शङ्काओंका समाधान किया—यह शब्दसे होनेवाला शक्तिपात है। कृपा-दृष्टिके द्वारा प्रकट होती है। भगवान् अर्जुनको कृपापूर्वक देखते हैं—यह दृष्टिसे होनेवाला शक्तिपात है। भगवान् अर्जुनका कल्याण करना चाहते हैं—यह मनसे होनेवाला शक्तिपात है।

सभी जीव भगवान्‌के अंश होनेके नाते मानो उनके अण्डे हैं। यदि जीव सर्वथा भगवान्‌के शरण हो जाय तो उसका मोहरूप आवरण नष्ट हो जाता है और उसे भगवत्-साधर्म्यकी स्मृति प्राप्त हो जाती है। अर्जुनका मोहरूप आवरण नष्ट हो गया है—**'नष्टो मोहः'** और उन्हें स्मृति प्राप्त हो गयी है—**'स्मृतिर्लब्धा,'** इस वास्ते अब उनमें और भगवान्‌में भेद नहीं रहा है।

दूसरी बात, यदि सुननेवाला वक्तासे अभिन्न नहीं हुआ तो वास्तवमें उसने सुना ही नहीं। विद्यार्थी पण्डितसे पढ़कर खुद पण्डित नहीं बना तो वास्तवमें उसने पढ़ा ही नहीं। ऐसे ही गुरुके पास जाकर भी यदि शिष्य संसारका गुरु अर्थात् तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त नहीं बना तो वास्तवमें उसने गुरुका उपदेश सुना ही नहीं अथवा उसे सच्चे गुरु मिले ही नहीं*।

---

* पारस केरा गुण किसा, पलटा नहीं लोहा।
कै तो निज पारस नहीं, कै बीच रहा बिछोहा॥

अब यह शङ्का रह जाती है कि भगवान् 'नष्टो मोहः…' आदि पद स्वयंके प्रति कैसे बोल गये ? इसके समाधानमें यह कहना है कि उन्हें लोगोंमें यह बतलाना था कि गीताके एकाग्रतापूर्वक श्रवण, पठन, मनन आदिसे साधककी स्वतः ऐसी स्थिति हो जाती है; किन्तु इसमें वह अपने साधन, श्रवण, पठन, मनन आदिको नहीं, प्रत्युत भगवत्कृपाको ही हेतु माने। साधनाकी ऊँची अवस्थामें भी अभिमानवश कहीं साधक अटक न जाय, यह तत्त्व लोगोंमें प्रकट करनेके लिये अर्जुनके माध्यमसे यह स्वीकार किया गया।

साधारणरूपमें विचार करें तो भी इस श्लोकके 'नष्टो मोहः … करिष्ये वचनं तव' पद भगवत्-साधर्म्यप्राप्त भगवत्स्वरूप पुरुषके ही हो सकते हैं, न कि साधकके। साधनाकी ऊँची-से-ऊँची अवस्थामें भी साधकमें अभिमान और स्वार्थका कुछ-न-कुछ अंश रहता ही है, तभी तो वह साधक कहलाता है। अतः वह अपने प्रति उपर्युक्त पदोंका प्रयोग कैसे कर सकता है ? ये पद तो पूर्णावस्थामें ही कहे जा सकते हैं।

जबतक मनुष्य अपने उद्योगसे अपना कल्याण मानता है और जबतक उसे बोध नहीं होता, तबतक उसमें अहंभाव पाया जाता है। अहंभावका सर्वथा नाश होनेपर उसे भगवान्से अपनी अभिन्नताका अनुभव हो जाता है। उसे पता लग जाता है कि वास्तवमें मैंने कुछ किया ही नहीं, सभी काम भगवत्कृपासे ही हुए हैं। जब भगवान्ने अर्जुनसे प्रश्न किया कि 'तूने एकाग्रतासे गीता सुनी या नहीं ?' तो अर्जुनने उत्तर दिया—'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्ध्वा

त्वत्प्रसादान्मयाच्युत'। तात्पर्य यह है कि अर्जुनने अपने सुननेके आधारपर मोहनाश होना नहीं माना, प्रत्युत केवल भगवत्कृपाको ही माना। इससे स्पष्ट है कि उनका अहंभाव सर्वथा मिट गया था। तभी तो उनकी दृष्टि केवल कृपाकी ओर है। अतएव भगवत्-साधर्म्यप्राप्त अर्जुनके ये वचन भगवान्‌के ही माने गये हैं।

एक शङ्का यह भी हो सकती है कि 'अर्जुन उवाच' एवं उसके बादका यह (१८। ७३ वाँ) श्लोक—दोनोंको मिलाकर एक ही श्लोक क्यों माना गया? 'उवाच'को अलग श्लोक क्यों नहीं मानते? इसके समाधानमें एक बात तो यह है कि यहाँ 'उवाच' भगवान्‌के वचनोंके ही अन्तर्गत है, उनसे अलग नहीं। दूसरी बात यह है कि यहाँ 'उवाच'को अलग माननेपर पुनरुक्ति होगी; क्योंकि अठारहवें अध्यायके दूसरे श्लोकसे ७२वें श्लोकतक भगवान् ही तो बोल रहे हैं। अतएव सम्पूर्ण गीतामें यह पहली पुनरुक्ति बचानेके लिये ही ऐसा किया गया है।

शरणागतिसे पूर्व 'अर्जुन उवाच'

एक प्रश्न होता है कि गीता-परिमाणमें भगवत्-शरणागति (२। ७) के बाद अठारह बार आये **'अर्जुन उवाच'** (१७बार 'उवाच' एवं एक बार अन्तिम श्लोक) को ही भगवान्‌के वचनोंके अन्तर्गत क्यों शामिल किया गया? और शरणागतिसे पहले (१। २१ एवं १। २८ श्लोकके बीच और २। ३ श्लोकके बाद) आये तीन **'अर्जुन उवाच'**को क्यों छोड़ा गया?

इसका उत्तर यह है कि भगवत्-शरणागतिसे पहले अर्जुन जो तीन बार बोले हैं, वे तीनों 'अर्जुन उवाच' संजयके ही वचनोंके अन्तर्गत हैं। अतः उन्हें भगवान्‌के वचनोंमें सम्मिलित नहीं किया गया है। संजय राजा धृतराष्ट्रसे कह रहे हैं कि अर्जुन ऐसा-ऐसा बोले। पहले अध्यायके 'अर्जुन उवाच'के आरम्भ और अन्त—दोनों ही स्थलोंपर आये **'आह'**, **'उक्त्वा'**, **'अब्रवीत्'** आदि पदोंको देखनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्जुनके वचनोंको संजय ही अपने शब्दोंमें बोल रहे हैं; जैसे—**'पाण्डवः'** (१ । २०), **'इदमाह महीपते'** (१ । २१), **'एवमुक्तो हृषीकेशः'** (१ । २४), **'कौन्तेयः'** (१ । २७), **'इदमब्रवीत्'** (१ । २८), और **'एवमुक्त्वार्जुनः'** (१ । ४७) आदि पदोंको तथा दूसरे अध्यायके 'अर्जुन उवाच'के बाद **'एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप'** एवं **'न योत्स्य इति'** (२ । ९)।

दूसरे अध्यायके चौथे श्लोकमें 'अर्जुन उवाच'के आरम्भमें ऐसे पद नहीं मिलते कि आगे आनेवाले अर्जुनके वचन संजय ही बोल रहे हों। कारण कि पहले अध्यायमें अर्जुनने युद्ध न करनेके लिये भगवान्‌के सामने जो युक्तियाँ रखीं, उन सबका युक्तिसंगत उत्तर दिये बिना ही भगवान्‌ने एकाएक (२ । २-३ में) अर्जुनको कायरतारूप दोषके लिये फटकारा और युद्धके लिये खड़े हो जानेकी आज्ञा दे दी। इस आज्ञाने अर्जुनके भाव उद्वेलित कर दिये। वे कायर बनकर युद्धसे विमुख नहीं हो रहे थे, प्रत्युत धर्मके भयसे, धर्मभीरु बनकर युद्धसे उपरत हो रहे थे। वे मरनेसे नहीं, प्रत्युत

स्वजनोको मारनेके पापसे डरते थे । अत ज्यो ही भगवान्ने दूसरे श्लोकमे **'कुतस्त्वा कश्मलमिदम्'** आदि पदोद्वारा अर्जुनको जोरसे फटकारा, त्यो ही अर्जुन भी अपने भावोका ठीक समाधान न पाकर अकस्मात् उत्तेजित होकर बोल उठे—**'कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन । इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन'** (२ । ४) 'मधुसूदन ! मै पितामह भीष्म और आचार्य द्रोणके प्रति बाण कैसे चलाऊँ, ऐसा मुझसे कैसे सम्भव है ? क्योकि वे दोनो ही पूजनीय है ।' 'मधुसूदन' और अरिसूदन' सम्बोधन देनेका तात्पर्य है कि आप तो दैत्यो और शत्रुओको मारनेवाले है, पर मेरे सामने तो युद्धमे पितामह भीष्म (दादाजी) और आचार्य द्रोण (विद्यागुरु) खड़े हैं । संसारमें मनुष्यके दो ही सम्बन्ध प्रमुख हैं—(१) कौटुम्बिक सम्बन्ध और (२) विद्या-सम्बन्ध । दोनो ही अर्जुनके सामने उपस्थित है । सम्बन्धमें बडे होनेके नाते दोनो ही आदरणीय और पूजनीय है । भगवान् उनके प्रति युद्धके लिये खड़ा होनेकी आज्ञा देते है, जिससे अर्जुन उद्विग्न होकर एकाएक बोल पड़ते है । इसलिये संजयको **'इदमाह'**, **'उक्त्वा'** आदि पदोंसे संकेत करनेका अवसर ही नहीं मिला ।

वैसे थोड़ी गम्भीरतासे देखे तो दूसरे अध्यायमें अर्जुनके बोलनेके पश्चात् (२ । ९-१०में) जहाँ संजय बोलते है, वहाँ उन्होने अपने वचनोंको दो भागोमें विभक्त किया है—(१) **'एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेश परंतप'** पदोसे दूसरे अध्यायके चौथेसे आठवें श्लोकतक कथित अर्जुनके वचनोकी ओर लक्ष्य कराते है और (२)

'न योत्स्ये' 'युद्ध नहीं करूँगा' पदोंसे अर्जुनके वचन स्पष्टरूपसे संजय अपने वचनोंमें कहते हैं।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि जब अर्जुनके श्लोकोंको इस प्रकार संजयके श्लोकोंके अन्तर्गत मानते हैं तो फिर ग्यारहवें अध्यायमें संजयके वचनोंमें **'एवमुक्त्वा'**(११ । ९), **'एतच्छ्रुत्वा'** (११ । ३५) और **'इत्यर्जुनम्'** (११ । ५०) पद भगवान्-द्वारा कथित श्लोकोंके बाद हैं तथा अठारहवें अध्यायमें **'इत्यहम्'** (१८ । ७४) पद भगवत्-साधर्म्यप्राप्त अर्जुनद्वारा कथित ७३वें श्लोकके बाद है। अतः इन पदोंसे निर्दिष्ट ये भगवान्‌के श्लोक भी संजयके ही वचन क्यों न मान लिये जायँ? यद्यपि इसका उत्तर सामान्य रीतिसे अन्यत्र भी दिया जा चुका है, फिर भी यहाँ कहा जा सकता है कि भगवान्‌के श्लोक किसी प्रकार क्यों न आयें, वे भगवान्‌के ही माने जा सकते हैं। दूसरी बात, संजय वेदव्यास-प्रदत्त दिव्य-दृष्टिसे सम्पन्न हैं और अर्जुनको भी भगवान्‌ने दिव्य-दृष्टि दी है (११ । ८)। अतः ग्यारहवें अध्यायमें संजयकी दिव्य-दृष्टि भगवत्प्रदत्त दिव्यदृष्टिसे अभिन्न हो जाती है, जिससे संजय श्रीकृष्ण और अर्जुनके वचन ही बोलते हैं न कि अपने वचन।

एक बात और है कि श्रीकृष्णार्जुनसंवादरूप गीताशास्त्र राजा धृतराष्ट्रको संजय सुना रहे हैं, जिसमें विवेचन करते हुए उन्होंने उपर्युक्त पदोंका प्रयोग किया है। संजय भगवत्-वाणीरूप मन्त्रके द्रष्टामात्र हैं। अतः भगवत्कथित श्लोक भगवान्‌के ही मानने चाहिये।

एक यह प्रश्न हो सकता है कि जैसे शरणागतिसे पहले आये अर्जुनके श्लोकोंको संजयकथित माना गया, वैसे शरणागतिसे पहले आये भगवान्‌के श्लोको (२ । २-३)को भी संजयकथित ही क्यों नहीं माना गया? क्योंकि भगवान्‌का उपदेश तो दूसरे अध्यायके ११ वे श्लोकसे आरम्भ होता है। इसका उत्तर यह है कि दूसरे अध्यायका दूसरा और तीसरा—दोनो श्लोक गीताके मूल श्लोक है और इनमें भगवान्‌ने **'अनार्यजुष्टम्', 'अस्वर्ग्यम्', 'अकीर्तिकरम्'** आदि पदोंसे स्वधर्म-त्यागकी जिन हानियोंका संक्षेपसे उल्लेख किया है, उन्हींका विस्तृत व्याख्यारूपसे वर्णन इसी दूसरे अध्यायके ३१वेंसे ३८वे श्लोकतक किया है। अतः ये दो श्लोक (२ । २-३) संजयके न मानकर भगवान्‌के ही मानने चाहिये। इसके अतिरिक्त इन श्लोकोमे (२ । ३ तथा २ । ३७)में भगवान्‌ने कायरता छोड़कर युद्धके लिये खड़े होनेकी जो आज्ञा दी है, उसीको भगवत्स्वरूप अर्जुनने उपदेशके अन्तमें शिरोधार्य किया है— **'करिष्ये वचनं तव'** (१८ । ७३)। अतः स्पष्ट है कि ये श्लोक संजयके न मानकर भगवान्‌के ही माने जायँ।

गहराईसे देखनेपर यह प्रतीत होता है कि भगवद्गीताको दो भागोमे बाँटा जा सकता है—(१) इतिहास-भाग, जो पहले अध्यायसे दूसरे अध्यायके १०वे श्लोकतक है और (२) उपदेश-भाग, जो दूसरे अध्यायके ११ वे श्लोकसे अठारहवे अध्यायके अन्ततक है। यद्यपि श्रीशङ्कराचार्यजी महाराजने दूसरे अध्यायके ११ वें श्लोकसे ही अपनी टीका लिखी है और वहाँसे गीतोपदेश मानते है, तथापि

गीताका मूल वह इतिहास-भाग ही है, जिसके आधारपर उपदेश-भाग टिका हुआ है। इन दोनो भागोमें इतिहास-भाग संजय-कथनके अन्तर्गत है और उपदेश-भाग श्रीकृष्णार्जुन-संवादके अन्तर्गत है। इतिहास-भागमे आया अर्जुन-कथन ही संजय-कथनमें लीन होगा न कि भगवत्कथन। कारण कि भगवान्की महिमा कहीं भी कम नहीं रह पाती, चाहे इतिहास हो या उपदेश।

एक प्रश्न यह भी हो सकता है कि यदि गीतामे आये सभी भगवत्-वचनोको भगवान्के श्लोकोकी गणनामे लेना आवश्यक है, तो फिर पहले अध्यायके २५वे श्लोकमे आया **'पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरून्'** भी तो भगवान्का वचन है। अतः इसे भी परिमाणमे भगवान्के श्लोकोके साथ क्यो नहीं सम्मिलित किया गया? इसके उत्तरमें पहली बात तो यह है कि पहले अध्यायका २५ वाँ श्लोक पूरा भगवान्द्वारा कथित नहीं है, प्रत्युत इस श्लोकके उत्तरार्धमें आये केवल ग्यारह अक्षर ही भगवान्के कहे हुए है। अतः पूरा श्लोक न होनेसे परिमाणमें सम्मिलित नहीं किया जा सकता। दूसरी बात, महर्षि वेदव्यासने ('श्रीभगवानुवाच' पद न देकर) इसे भगवान्का स्वतन्त्र श्लोक नही माना है, सजयके वचनोमे ही माना है। अतः स्वतन्त्ररूपसे भगवत्कथित श्लोक न होनेसे भगवान्के श्लोकोमे शामिल नहीं किया गया है। तीसरी बात, भगवान् इस श्लोकमें अर्जुनके निर्देशानुसार (१। २१-२२) सारथिरूपसे बोल रहे हैं। अत यह श्लोक स्वतन्त्ररूपसे भगवद्वाणी न होनेसे भगवान्के श्लोकोमे सम्मिलित नहीं किया जा सकता।

'श्रीभगवानुवाच'की पुनरुक्ति क्यों ?

गीताके परिमाणमें यह एक आवश्यक प्रश्न हो सकता है कि अध्यायोंके आरम्भमें आये **'श्रीभगवानुवाच'**को परिमाणकी गणनामें दूसरी बार पुनः सम्मिलित क्यों किया गया, जबकि पहलेसे भगवान् ही तो बोलते आ रहे हैं; जैसे तीसरे अध्यायके सैंतीसवें श्लोकसे भगवान् ही बोल रहे हैं, फिर भी चौथे अध्यायके आरम्भमें **'श्रीभगवानुवाच'**को परिमाणकी गणनामें श्लोकरूपसे पुनः सम्मिलित क्यों किया गया ?

इसका उत्तर यह है कि गीता साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके मुखारविन्दसे निकली वाणी है। कारक पुरुष महर्षि वेदव्यासजी इसके संकलनकर्ता हैं और उन्होंने ही पूरे ग्रन्थको अठारह अध्यायोंमें विभक्त किया है। श्रीभगवान्‌के वचन चालू रहते हुए भी उन्होंने चौथे अध्यायके आरम्भमें **'श्रीभगवानुवाच'**—रूप-श्लोक दिया है। यही बात अन्य (६ ठे, ७वें, ९ वें, १० वें, १३ वें, १४ वें, १५ वें और १६ वें) अध्यायोंके विषयमें भी समझनी चाहिये। कारण कि अधिकार-प्राप्त आप्तपुरुष होनेसे महर्षि वेदव्यासजीके वचन सभीको सदैव सर्वमान्य हैं। उन्होंने ही कृपा करके जैसे वेदको स्पष्टतया समझानेके लिये उसको अलग-अलग चार भागोंमें विभक्त किया है, वैसे ही गीतामें भगवान्‌के दिये उपदेशका जैसा अनुभव किया, वैसा स्पष्ट समझानेके लिये उसे अलग-अलग अध्यायोंमें विभक्त किया है।

दूसरी बात यह है कि अध्यायके आरम्भमें कौन बोल रहा है, यह बतानेके लिये 'उवाच' देना आवश्यक ही हो जाता है। अतः श्रीभगवान्‌के वचन चालू रहते हुए भी अध्यायके प्रारम्भमें पुनः **'श्रीभगवानुवाच'** श्लोक देकर परिमाणमें उन्हे श्रीभगवान्‌के ही श्लोक माना है।

तीसरी बात, अध्यायके अन्तमें पुष्पिकारूप 'इति' लगा देनेसे नये ग्रन्थके समान ही अगला अध्याय प्रारम्भ होता है। अतः अध्यायके आरम्भमे **'श्रीभगवानुवाच'** पुन. देना आवश्यक होनेसे ही श्रीव्यासजी महाराजने इसे पुनरुक्ति नहीं समझा। महर्षि वेदव्यासके माने हुए नियमोंको इधर-उधर करनेका किसीको भी अधिकार नहीं है।

श्रीभगवान्‌के ६२० श्लोक

इस प्रकार गीताकी प्रचलित प्रतिके अनुसार भगवान्‌के कहे ५७४ श्लोकोंके साथ **'श्रीभगवानुवाच'** रूप मन्त्र २८ बार तथा भगवत्-शरणागतिके बाद भगवत्प्रेरित **'अर्जुन उवाच'** रूप मन्त्र १७ बार तथा भगवत्स्वरूप **'अर्जुन उवाच'**—सहित एक श्लोक (१८ । ७३) और मिला देनेपर श्रीभगवान्‌के ६२० श्लोक हो जाते है। अत. महाभारतोक्त गीता-परिमाणका यह वचन प्रमाणित हो जाता है—

'षट्शतानि सविंशानि श्लोकानां प्राह केशवः।'

अर्जुनके ५७ श्लोक

प्रचलित गीतामें अर्जुनके ८४ श्लोक और २१ उवाच हैं; किन्तु महाभारतोक्त गीता-परिमाणमें अर्जुनके ५७ श्लोक ही बताये गये हैं। यद्यपि इस विषयपर लेखमें पर्याप्त प्रकाश डाला गया है, फिर भी पुनः स्पष्ट समझनेके लिये सारांशरूपमें लिखा जाता है कि भगवत्-शरणागतिके बाद अर्जुन १७ बार बोलते हैं और एक बार अन्तमें (१८ । ७३ वें श्लोकसे पहले) बोलते हैं। इस अन्तिम (१८ । ७३ के) **'उवाच'** सहित श्लोकको एक श्लोक माना है। ये १७ **'उवाच'**—रूप श्लोक एवं एक अन्तिम (१८ । ७३ का) **'उवाच'**—सहित श्लोक भगवत्प्रेरित होनेसे भगवान्‌के श्लोकोंके साथ सम्मिलित किये गये हैं तथा भगवत्-शरणागति (२ । ७) के पहले कथित तीन **'अर्जुन उवाच'** को परिमाणमें अलगसे न लेकर **'संजय उवाच'** में ही अन्तर्भूत किया गया है।

गीताकी यह शैली भी है कि एकके कथित वचन दूसरेके वचनोके अन्तर्गत आ जाते हैं; जैसे पहले अध्यायमें तीसरेसे ग्यारहवें श्लोकतक दुर्योधनके वचन संजयके वचनोके अन्तर्गत आये हैं, और तीसरे अध्यायमें दसवेंसे बारहवें श्लोकके पूर्वार्द्धतक प्रजापति ब्रह्माजीके वचन श्रीभगवान्‌के वचनोंके अन्तर्गत आये हैं। श्लोकोंमें अवान्तर **'न योत्स्ये'** (२ । ९) अर्जुनके वचन संजयके वचनोके अन्तर्गत आये हैं तथा **'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये'** (१५ । ४) साधकके वचन श्रीभगवान्‌के वचनोंके अन्तर्गत आये हैं। ऐसे ही पहले अध्यायमें इक्कीसवेंके उत्तरार्धसे तेईसवें श्लोकतक तथा अट्ठाईसवेंके

उत्तरार्धसे छियालीसवें श्लोकतक, और दूसरे अध्यायमे चौथेसे आठवें श्लोकतक अर्जुनके वचन (कुल २६ श्लोक) संजयके ही वचन हैं; जिसके परिमाणके लिये ऊपर बतलाया ही जा चुका है कि संजय राजा धृतराष्ट्रको श्रीकृष्णार्जुन-संवादरूप गीता-शास्त्र सुनाते हुए 'इदमाह महीपते' (१ । २१) आदि पदोंसे बता रहे है कि राजन् ! युद्धस्थलमें अर्जुनने ऐसा-ऐसा कहा । अतः ये २६ श्लोक संजयके श्लोकोकी गणनामे ही सम्मिलित करने चाहिये, न कि अर्जुनके श्लोकोकी गणनामें ।

इस प्रकार गीताकी प्रचलित प्रतिमें आये अर्जुनके ८४ श्लोकोंमेंसे उपर्युक्त (१+२६) २७ श्लोक घटा देनेपर ५७श्लोक स्वतः अर्जुनके रह जाते हैं । अतः गीता-परिमाणका यह वचन प्रमाणित हो जाता है—

'अर्जुनः सप्तपञ्चाशत्'

संजयके ६७ श्लोक

गीताकी प्रचलित प्रतिके अनुसार संजयके ४१ ही श्लोक हैं एवं ९ **'संजय उवाच'** है; किन्तु गीता-परिमाणमें ६७ श्लोक बताये गये है । अतः परिमाणके अनुसार विचार करना है । गीता-परिमाणमें **'संजय उवाच'** को संजयके श्लोकोमें ही अन्तर्भूत किया गया है; क्योंकि गीतामें केवल-कृष्णार्जुनसंवाद होनेसे **'श्रीभगवानुवाच'** एवं भगवत्प्रेरित **'अर्जुन उवाच'** ही अलग श्लोकरूप माने गये है । संजय और धृतराष्ट्रके उवाचोंको अलग-अलग मानकर उनका उन-उन स्थलोंमें ही अन्तर्भाव समझना चाहिये ।

दूसरी बात, धृतराष्ट्र और संजयका संवाद हस्तिनापुरमें हुआ था, न कि भगवान्‌के सामने। जिनका संवाद भगवान्‌के सामने नहीं हुआ, उनके उवाचको श्लोकरूप नहीं माना गया और '**अर्जुन उवाच**' को इसलिये श्लोकरूप माना गया कि वे भगवान्‌के सामने बोल रहे थे। इसी वास्ते पुष्पिकामें गीताको श्रीकृष्णार्जुनसंवाद कहा गया है, न कि धृतराष्ट्र-संजयसंवाद।

यह तो ऊपर ही बताया जा चुका है कि पहले और दूसरे अध्यायोंके अर्जुन-कथित २६ श्लोक परिमाणमें संजयके ही श्लोक मानने चाहिये। अतः इन २६ श्लोकोंको संजयके ४१ श्लोकोंके साथ योग देनेपर (४१+२६) ६७ श्लोक संजयके हो जाते हैं। अतः गीता-परिमाणका यह वचन प्रमाणित हो जाता है—

'सप्तषष्टिं तु संजयः'

धृतराष्ट्रका एक श्लोक

गीताकी प्रचलित प्रतिमें धृतराष्ट्रका एक श्लोक ही है। अतः इस श्लोकके परिमाणमें कोई मतभेद नहीं है। हाँ, उवाचको अलगसे न लेकर '**संजय उवाच**' की तरह ही '**धृतराष्ट्र उवाच**' का भी धृतराष्ट्रके श्लोकमें अन्तर्भाव है। '**धृतराष्ट्र उवाच**' और '**संजय उवाच**'—दोनो ही महाभारतके वक्ता महर्षि वैशम्पायनजीके वचनोंके अन्तर्गत हैं।

यह शंका भी हो सकती है कि धृतराष्ट्र-कथित श्लोक गीतामें सम्मिलित क्यों किया जाय? इसके समाधानमें पहली बात तो यह

है कि धृतराष्ट्रका मूल प्रश्न (१ । १) ही गीताके प्राकट्यमें हेतु है । अपने प्रश्नके माध्यमसे धृतराष्ट्र युद्धस्थलमें होनेवाली समस्त घटनाओंको विस्तारसे सुनना चाहते है । उसके उत्तरमें महर्षि वेदव्यासजीके कृपापात्र मन्त्री सजय श्रीकृष्णार्जुन-संवादरूप गीता-शास्त्रको (जो कि युद्धस्थलमें सबसे पहली घटना है) वेदव्यासजीके विशेष कृपापात्र राजा धृतराष्ट्रको सुनाते हैं ।* अतः गीताके प्राकट्यमें मूल प्रश्न होनेसे ही यह धृतराष्ट्रका श्लोक गीतामें सम्मिलित किया गया है ।

---

* महाभारत देखनेसे पता चलता है कि महर्षि वेदव्यासजीकी धृतराष्ट्रपर बड़ी कृपा थी । जब दोनों ओरसे महाभारत-युद्धकी पूरी तैयारी हो गयी तो वेदव्यासजीने धृतराष्ट्रके समीप जाकर उनसे कहा कि 'महा-भारतका युद्ध अनिवार्य है । यह होनी है, जो अवश्य होगी । यदि इस घोर संग्रामको देखना चाहो तो तुम्हें दिव्यनेत्र प्रदान कर सकता हूँ' (महा० भीष्म० २ । ४–६) । धृतराष्ट्रने कहा कि 'ब्रह्मर्षिश्रेष्ठ ! मैं उम्रभर अंधा रहा, अब मैं अपने ही कुलका संहार अपने नेत्रोंसे देखना नहीं चाहता । हाँ, युद्धकी घटनाओंको भलीभाँति सुनना अवश्य चाहता हूँ (भीष्म० २ । ७) । वेदव्यासजीको तो पता ही था कि युद्धके पहले भगवान् अर्जुनको दिव्य गीताज्ञानका उपदेश देंगे । अतः उस दिव्य गीताज्ञानके उपदेशको धृतराष्ट्रके कल्याण-हेतु सुननेके लिये उन्होंने उनके मन्त्री महात्मा संजयको दिव्यदृष्टि प्रदान की और धृतराष्ट्रसे कहा कि संजय तुम्हे युद्धका सारा वृत्तान्त सुनायेगा । यह दिव्यचक्षु हो जायगा और युद्धकी समस्त घटनाओंको प्रत्यक्ष देख, सुन और जान सकेगा । सामने या पीछे, दिनमें या रातमें, गुप्त या प्रकट, क्रियारूपमें परिणत या सैनिकोंमें-से किसीके मनमें आयी कोई बात इससे तनिक भी छिपी न रह सकेगी' (भीष्म० २ । ९–११) ।

दूसरी बात, जैसे प्रथम अध्यायमें अर्जुनका विषाद भी श्रीभगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़नेवाला तथा कल्याणकी ओर अग्रसर करनेवाला होनेके कारण योग हो गया,* वैसे ही धृतराष्ट्रका प्रश्न भी भगवद्वाणीके प्राकट्यमें हेतु होनेके कारण भगवद्गीताके साथ सम्मिलित हो गया।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट हो जाता है कि महर्षि वेदव्यास-रचित महाभारतमें महर्षि वैशम्पायनने जो गीताका परिमाण बताया है, वह यथार्थ है; क्योंकि इस लेखके अनुसार उसकी संगति ठीक बैठ जाती है। अतः पाठकी दृष्टिसे उवाचसहित प्रचलित पाठ्यक्रम ही उपयुक्त है और परिमाणकी दृष्टिसे उपर्युक्त क्रम ही उपयुक्त है।

गीता-परिमाणकी संगति ठीक-ठीक बैठ जानेसे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राणी जब संसारसे हटकर अपना कल्याण चाहता है एवं वचनमात्रसे भी भगवान्‌की शरण हो जाता है तो (भगवत्परायण होनेसे) उसका कल्याण होना निश्चित है। पूर्ण शरणागत होनेपर एक भगवान् ही रह जाते हैं अर्थात् भक्त और भगवान्‌में कोई भेद नहीं रह जाता।

---

* श्रीमद्भगवद्गीताके प्रथम अध्यायका नाम 'अर्जुनविषादयोग' है।

गीता-परिमाणके अनुसार तालिका

अध्याय	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	योग
धृतराष्ट्र	१																		१
संजय	४६	८									८							५	६७
अर्जुन		१ (२।५४)	३	१	१	५		२		७	३३	१		१			१	१	५७
श्रीभगवान्		६७	४४	४४	३०	४७	३१	२८	३५	३८	२२	२१	३५	२९	२१	२५	२९	७४	६२०
पूर्ण संख्या	४७	७६	४७	४५	३१	५२	३१	३०	३५	४५	६३	२२	३५	३०	२१	२५	३०	८०	७४५

भगवद्गीतामें अपना उद्धार करनेकी ऐसी-ऐसी विलक्षण, सुगम और सरल युक्तियाँ बतायी गयी हैं, जिनको मनुष्यमात्र अपने आचरणोंमें ला सकता है। तात्पर्य यह है कि जो गीताका आदर करता है, ऐसा मनुष्य हिंदू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी, पारसी, बौद्ध आदि किसी भी धर्मको माननेवाला क्यों न हो; किसी भी देश, वेष, वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिका क्यों न हो; अपनी रुचिके अनुसार किसी भी शैली, उपाय, सिद्धान्त, साधनको माननेवाला क्यों न हो, वह यदि अपना किसी तरहका आग्रह न रखकर, पक्षपात-विषमताको त्यागकर, किसी भी प्राणीको दुःख पहुँचानेवाली चेष्टाको त्यागकर, मनमें किसी भी लौकिक-पारलौकिक उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुकी कामना न रखकर, अपना सम्प्रदाय, अपनी टोली बनानेका उद्देश्य न रखकर, केवल अपने कल्याणका उद्देश्य रखकर गीताके अनुसार चलता है (अकर्तव्यका सर्वथा त्याग करके प्राप्त परिस्थितिके अनुसार अपने-अपने कर्तव्यका लोकहितार्थ, निष्कामभावपूर्वक पालन करता है), तो वह भी जीविका-सम्बन्धी और खाना-पीना, सोना-जगना आदि शरीर-सम्बन्धी सब काम करते हुए परमात्माकी प्राप्ति कर सकता है, महान् आनन्द, महान् सुखको प्राप्त कर सकता है।

आरती

जय भगवद्गीते, जय भगवद्गीते ।

हरि-हिय-कमल-विहारिणि सुन्दर सुपुनीते ॥

कर्म-सुमर्म-प्रकाशिनि कामासक्तिहरा ।

तत्त्वज्ञान-विकाशिनि विद्या ब्रह्म परा ॥ जय०

निश्चल-भक्ति-विधायिनि निर्मल मलहारी ।

शरण-रहस्य-प्रदायिनि सब विधि सुखकारी ॥ जय०

राग-द्वेष-विदारिणि कारिणि मोद सदा ।

भव-भय-हारिणि तारिणि परमानन्दप्रदा ॥ जय०

आसुर-भाव-विनाशिनि नाशिनि तम-रजनी ।

दैवी सद्गुणदायिनि हरि-रसिका सजनी ॥ जय०

समता, त्याग सिखावनि, हरि-मुखकी बानी ।

सकल शास्त्रकी स्वामिनि, श्रुतियोंकी रानी ॥ जय०

दया-सुधा बरसावनि मातु ! कृपा कीजै ।

हरिपद-प्रेम दान कर अपनो कर लीजै ॥ जय०